डॉ. कृष्णलाल

गृह्य-मन्त्र और उनका विनियोग

डॉ॰ कृष्णलाल
अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
प॰ गि॰ दयानन्द एंग्लो वैदिक कॉलेज
नई दिल्ली

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

मूल्य : दो सौ रुपये (दुर्लभ)
प्रथम संस्करण, सं० २०२७ (१९७०)

प्रकाशक :
नेशनल पब्लिशिंग हाउस,
२/३५, अन्सारी रोड, दरियागंज, दिल्ली-६

मुद्रक : राधा प्रेस, दिल्ली-३१

पूज्या माँ को

प्राक्कथन

डा० कृष्णलाल-रचित 'गृह्यमन्त्र और उनका विनियोग' नामक ग्रन्थ के प्रकाशन से सभी वेदाध्यायियों को सामान्यतया और मुझे विशेषतया हर्ष का अनुभव हो रहा है, क्योंकि डा० कृष्णलाल ने लगभग चौदह वर्षों के अनथक तथा धैर्यपूर्ण अनुसन्धान द्वारा गृह्यमन्त्रों से सम्बद्ध उन जटिल समस्याओं का समाधान प्रस्तुत किया है जो 'इण्डिया ऑफ वैदिक कल्पसूत्राज़' के निर्माण के समय मेरे सामने उपस्थित हुईं और जिन्हें वैदिक कल्पसूत्रों के सभी विद्यार्थी चिरकाल से अनुभव करते रहे हैं। यह सुविदित है कि गृह्य तथा श्रौतसूत्रों का समस्त क्रिया-कलाप विशेष मन्त्रों के विनियोग से जुड़ा हुआ है। उन में से कुछ मन्त्र वर्तमान वैदिक संहिताओं से लिये गये हैं, जब कि शेष मन्त्र ब्राह्मणों, आरण्यकों, मन्त्रसंग्रहों इत्यादि में मिलते हैं। सम्भवतः इनमें से कतिपय मन्त्र उत्सन्न वैदिक शाखाओं से लिये गये होंगे। इस सम्बन्ध में अनक प्रश्न उठते हैं। सूत्रकारों ने गृह्य कर्मों में विनियुक्त मन्त्रों का चयन कहाँ-कहाँ से किस आधार पर किया होगा? एक ही स्रोत से लिये गये समान मन्त्रों में इतने पाठ-भेद क्यों हैं? समान गृह्यकर्म के लिये सूत्रों में विभिन्न मन्त्रों का विनियोग क्यों मिलता है और एक ही मन्त्र विभिन्न गृह्यकर्मों में क्यों विनियुक्त किया गया है? गृह्यमन्त्रों से सम्बद्ध इन सभी समस्याओं पर डा० कृष्णलाल ने प्रस्तुत ग्रन्थ में ऐतिहासिक, आलोचनात्मक, तुलनात्मक तथा विश्लेषणात्मक पद्धति से सूक्ष्म और विशद विवेचन किया है। पन्द्रह अध्यायों में लगभग सभी प्रमुख गृह्यकर्मों से सम्बद्ध एक सहस्र से ऊपर गृह्यमन्त्रों का विवेचन किया गया है। डा० कृष्णलाल के इस सूक्ष्म अन्वेषण से प्राचीन भारतीय आर्य संस्कृति के विकास की (तथा कुछ अंशों में ह्रास की भी) एक महत्त्वपूर्ण स्थिति का परिचय मिलता है। एक ओर तो वैदिक मन्त्रों के प्रति इतनी अगाध आस्था थी कि उनके उच्चारणमात्र को सब सिद्धियों तथा सफलताओं का मूल आधार माना जाता था। दूसरी ओर उन मन्त्रों के अर्थज्ञान तथा पाठशुद्धि पर अपेक्षित ध्यान नहीं दिया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि कर्मकाण्ड के आधिक्य ने अर्थज्ञान के पक्ष को दुर्बल कर दिया। प्रस्तुत ग्रन्थ के अध्ययन से पाठक को उस काल के कर्मकाण्ड की भी यथेष्ट ज्ञान होगा।

डा० कृष्णलाल का ग्रन्थ वैदिक साहित्य तथा धर्म-परम्पराओं के प्रत्येक विद्यार्थी के लिये उपयोगी सिद्ध होगा। इस ग्रन्थ का अपना स्वतन्त्र तथा मौलिक

महत्त्व तो है ही। इसके साथ-साथ यह ब्लूमफील्ड के 'वैदिक कान्कार्डेन्स' का भी, कुछ अंशों में, पूरक है। प्रस्तुत ग्रन्थ में जिस अन्वेषण-परम्परा का सूत्रपात किया गया है उसे श्रौतसूत्रादि अन्य ग्रन्थों में विनियुक्त मन्त्रों के अध्ययन में लागू करने की महती आवश्यकता है।

डा० कृष्णलाल का यह श्लाघ्य प्रयास सर्वथा सराहनीय है और वैदिक अनुसन्धान के इतिहास में यह ग्रन्थ सर्वदा एक महत्त्वपूर्ण तथा मौलिक उपक्रम का प्रतीक माना जायगा। इस प्रशंसनीय शोध-कृति के लिये डा० कृष्णलाल सभी वैदिक अन्वेषकों की हार्दिक बधाई के सुयोग्य पात्र हैं। मुझे पूर्ण आशा है कि डा० कृष्णलाल इस शोधकार्य को इसी प्रकार आगे बढ़ाते हुए वैदिक ऋषियों के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करते रहेंगे और वैदिक अध्ययन की पावन परम्परा को जीवित रखेंगे।

—रामगोपाल

रीडर, संस्कृत विभाग,
पंजाब विश्वविद्यालय,
चण्डीगढ़।
१५ अप्रैल, १९७०

भूमिका

सत्यान्वेषण का क्षेत्र कभी सीमित नहीं हो सकता। गृह्य मन्त्रों के अध्ययन का बहुविध महत्त्व है। इस अध्ययन की सब से महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इससे विभिन्न गृह्य और श्रौत कर्मों में मन्त्रविनियोग के पीछे कर्मकाण्डियों की मनोवृत्ति का ज्ञान होता है। इससे समस्त वैदिक साहित्य में मन्त्र विनियोग का इतिहास बनता है। विभिन्न ग्रन्थों में वेदमन्त्रों के पाठान्तरों का अध्ययन वेद की व्याख्या के निमित्त भी महत्त्वपूर्ण है। मन्त्रविनियोग के अध्ययन से श्रौत और गृह्य कर्मकाण्ड का परस्पर सम्बन्ध भी स्पष्ट होता है। इससे यह स्पष्ट है कि गृह्य कर्मकाण्ड की विभिन्न क्रियाओं के विश्लेषण से गृह्यमन्त्रों का अध्ययन किसी प्रकार कम महत्त्व का नहीं है।

इस विषय पर अब तक जो थोड़ा कार्य हुआ है, उसमें 'ऋग्वेद-मन्त्रज़ इन दी गृह्यसूत्रज़' नामक फ़ेय् की कृति केवल छः के लगभग गृह्यसूत्रों के ऋग्वेदीय मन्त्रों तक सीमित है। डॉ० आप्टे की दो लघु पुस्तकों (दे० सहायक ग्रन्थों की सूची) का सम्बन्ध केवल आश्वलायन गृह्यसूत्र के मन्त्रों से है। डॉ० पिल्ले ने केवल विवाह-संस्कार के ऋग्वेदेतर मन्त्रों के विनियोग का विवेचन किया है। परन्तु इस समय मुद्रितरूप में प्राप्य सभी गृह्यसूत्रों द्वारा सभी प्रमुख गृह्यकर्मों में विनियुक्त गृह्यमन्त्रों का विस्तृत और तुलनात्मक अध्ययन अभी तक नहीं किया गया है। इस ग्रन्थ में ऐसे ही अध्ययन का प्रयास किया गया है। यहाँ गृह्यमन्त्र शब्द गृह्यसूत्रों द्वारा विभिन्न कर्मों में विनियुक्त सभी पद्यात्मक और गद्यात्मक मन्त्रों के लिये प्रयुक्त किया गया है। केवल देवनाम के चतुर्थ्यन्त रूप के आगे स्वाहा जोड़कर बनाये जाने वाले मन्त्रों को छोड़ दिया है क्योंकि उनसे न तो कोई पाठसम्बन्धी और न ही कर्मसम्बन्धी समस्या उत्पन्न होती है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में लगभग ११०० मन्त्रों का विविध दृष्टियों से विवेचन किया गया है। यदि इनमें पाठान्तरों की भी गणना की जाये तो यह संख्या चौगुनी हो जायेगी। मन्त्रों की उपर्युक्त संख्या में वे मन्त्रसमूह, सूक्त अथवा अनुवाक भी सम्मिलित नहीं हैं जिनका पूर्ण पाठ न देकर केवल आद्य शब्द दे दिये गये हैं। यथासम्भव इन सभी मन्त्रों के आदिस्रोत जानने का प्रयत्न किया गया है। और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये समस्त प्राग्-गृह्यसूत्र साहित्य यथा संहिताओं, ब्राह्मणों,

आरण्यकों और श्रौत सूत्रों का यथेष्ट उपयोग किया गया है । इस प्रकार विवेचित मन्त्रों का सम्पूर्ण इतिहास यहां प्राप्त होता है । इसके आधार पर ही यहाँ गृह्यसूत्रों तथा अन्य ग्रन्थों के परस्पर सम्बन्ध की झांकी भी मिलती है । कहीं-कहीं यह देखने में आता है कि एक ही मन्त्र विभिन्न गृह्यसूत्रों में ही नहीं, अपितु एक ही गृह्यसूत्र में भी विभिन्न कर्मों में विनियुक्त हुआ है'। अतः मन्त्रों के इस प्रकार के बहुविध-प्रयोग का सम्भव आधार बताने का प्रयत्न भी किया गया है । कुछ स्थलों पर प्राग्-गृह्यसूत्र साहित्य में से उद्धृत मन्त्रों का विनियोग मन्त्र के केवल एक शब्द की ध्वनि के आधार पर किया गया है । इससे मन्त्रों और कर्मों के ऊपरी सम्बन्ध का संकेत मिलता है । इस प्रकार के ऊपरी विनियोगों का कारण जानने का प्रयास भी प्रस्तुत ग्रन्थ में किया गया है । इस अध्ययन के परिणामस्वरूप स्वतः एव यह ज्ञान होता है कि गृह्यसूत्र मन्त्रों के उद्धरण के विषय में अपने वेद की विशिष्ट शाखा पर किस सीमा तक निर्भर रहे ।

प्रस्तुत ग्रन्थ में न केवल विभिन्न गृह्यसूत्रों के, अपितु संहिताओं, ब्राह्मणों और श्रौतसूत्रों के मन्त्रों के पाठान्तरों का भी तुलनात्मक अध्ययन किया गया है । इन पाठान्तरों के कारण ढूंढने का प्रयास भी किया गया है । मैंने यह जानने का प्रयत्न भी किया है कि गृह्यसूत्रों में केवल अपनी शाखा की संहिता से उद्धृत मन्त्रों के पाठ ही स्वेच्छापूर्वक परिवर्तित किये गये हैं या इतर संहिताओं से उद्धृत मन्त्रपाठ भी ? यहां यह उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा कि अथर्ववेद के मन्त्रों के पाठ गृह्यसूत्रों में शाखा-निरपेक्ष रूप से स्वेच्छापूर्वक तथा पौनःपुन्येन परिवर्तित किये गये हैं । इस प्रसंग में यह भी ध्यान देने योग्य है कि संहिता-मन्त्रों के गृह्यसूत्रों में प्राप्त पाठान्तर सदैव अधिक अच्छे नहीं होते । इसके विपरीत उनसे बहुधा मूल मन्त्रों का भाव एवं छन्द भी विकृत हो जाता है । गृह्यसूत्रों में मन्त्र स्वरांकित नहीं हैं, अतः मैंने भी इस ग्रन्थ में मन्त्रों के स्वरों को अंकित नहीं किया है ।

पाठान्तरों से ही सम्बद्ध समस्या मन्त्रों के अर्थ की भी है क्योंकि पाठभेद से अर्थभेद होना स्वाभाविक है । यद्यपि मन्त्रों का अर्थ अपने आप में एक बृहती और जटिल समस्या है, तथापि इस ग्रन्थ के विनियोगसम्बद्ध होने के कारण उनका केवल विनियोग-परक अर्थ देकर मैंने संतोष किया है । जहाँ कहीं किसी अन्य विद्वान् का मन्त्रार्थ उद्धृत किया है, वहां अन्त में उसका नामसंक्षेप है । मन्त्र उद्धृत करने में प्रायः उनके प्राचीनतम स्रोत या सुष्ठु विनियोग को प्रमुखता प्राप्त हुई है ।

मनुष्य इस संसार में कोई भी कार्य नितान्त एकाकी होकर नहीं कर सकता ।

किसी न किसी रूप में उसे समाज के सभी वर्गों से या तो सहायता स्वतः मिलती है, या लेनी पड़ती है। इस ग्रन्थ के प्रणयन में भी जिन प्राचीन ऋषियों तथा आधुनिक विद्वानों की कृतियाँ सहायक सिद्ध हुई हैं उनके प्रति आभार प्रदर्शन मेरा पवित्र कर्तव्य है। इनमें से आधारभूत ग्रन्थों की सूची संक्षेप-सहित प्रारम्भ में, और सहायक ग्रन्थों की सूची पुस्तक के अन्त में दी गई है।

और गुरु के मार्गदर्शन के अभाव में तो सारा ज्ञान निरर्थक हो जाता है। पंजाब विश्वविद्यालय में संस्कृत-विभाग के रीडर डॉ० राम गोपाल जी से मैंने बी.ए. ऑनर्ज और एम.ए. में ही शिक्षा प्राप्त नहीं की, अपितु वे इस शोधकार्य में दिल्ली विश्वविद्यालय की ओर से मेरे निरीक्षक भी थे।* वस्तुतः यह शोधकार्य उनकी सत्प्रेरणा का ही फल है। उन्होंने ही मुझमें अनुसन्धानात्मक प्रवृत्ति उत्पन्न की। उनकी सत्यपरता और उनके कर्मठ व्यक्तित्व ने सदैव मेरा पथप्रदर्शन किया है। उनके व्यक्तिगत निर्बाध मार्गदर्शन के अतिरिक्त मैंने बार-बार उनके ग्रन्थ 'इंडिया ऑफ़ वैदिक कल्पसूत्रज़' से दिशासंकेत प्राप्त किया है। और अब इस पुस्तक का प्राक्कथन लिखकर उन्होंने मुझ पर दोहरा अनुग्रह किया है। ऐसे पूज्य उदात्त गुरु के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए मैं स्वयं को धन्य मानता हूँ।

इसके साथ ही अपने दिवंगत गुरु श्री महेन्द्र कुमार सरकार का नामस्मरण मेरे लिये अपरिहार्य हो जाता है। उन्होंने ही महर्षियों की इस देववाणी के अध्ययनार्थ मुझे प्रेरित किया। परन्तु दुर्भाग्यवश मेरे एम.ए. के अध्ययन के मध्य ही उनका स्वर्गवास हो गया। उस पुण्यात्मा से आंशिक शिक्षा प्राप्त करके भी मैं अपने आप को कृतकृत्य समझता हूँ।

इस पुस्तक के लेखन और मुद्रण के समय मेरी पत्नी श्रीमती शशिप्रभा ने विद्यालय की सेवा करते-करते जो गार्हस्थ्य का अतिरिक्त भारवहन किया है और मुद्रणार्थ जो विपुल धनराशि व्यय करने की अनुमति दी है, उससे उनका भारतीय नारी का सच्चा स्वरूप प्रकट होता है।

---

* प्रस्तुत पुस्तक दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा पीएच. डी. की उपाधि के लिये स्वीकृत शोधप्रबन्ध 'ए क्रिटिकल स्टडी ऑफ़ दी गृह्यमन्त्रज़ विद स्पेशल रेफ़रेंस टु देयर रिचुअल एप्लिकेशन' पर आधारित है।

पुस्तक के मुद्रणार्थ आवश्यक और हितकर सुझाव देने के लिये अपने हितैषी मित्र श्री भीमसेन शास्त्री का, विविध सहायताओं के लिये अपने सहपाठी श्री विश्व मोहन का और ग्रन्थ को लिपिबद्ध करने में सहायता के लिये श्री प्रह्लादकुमार का धन्यवाद करते हुए मुझे अवर्णनीय सुख का अनुभव होता है।

शोधकार्य में जो सहायता मुझे दिल्लीविश्वविद्यालय, हंसराज कालेज और प. गि. द. एं. वै. कालेज के पुस्तकालयों से प्राप्त हुई, उसके लिये मैं उनका आभारी हूँ। मुद्रणकार्य में जो सुविधायें मुझे राधाप्रेस के स्वामी श्री व्यासनन्दन जी से प्राप्त हुई वे उनकी धार्मिक-प्रवृत्ति के अनुरूप ही हैं। इस पुस्तक का अक्षरयोजन करने वाले सभी कर्मचारी और विशेषरूप से उनके अग्रणी श्री तिलकराज जी मेरे विशेष धन्यवाद के पात्र हैं क्योंकि इस पुस्तक का अक्षरयोजन विशेषतया प्रयत्नसाध्य था।

विद्वान् पाठकों से मेरा विनम्र निवेदन है कि वे मुझे पुस्तक के दोष और त्रुटियों से अवगत कराने का कष्ट करें।

—कृष्णलाल

क्रम

आधारग्रन्थ

(नामसंक्षेपसहित)

क. संहिताएँ

अथर्व० —अथर्ववेद शौनकसंहिता : सं. सातवलेकर।
अथर्व० पै०—अथर्ववेद पैप्पलाद संहिता : सं. रघुवीर, लाहौर, १९३६।
ऋ० —ऋग्वेद शाकलसंहिता : सं. मॅक्स म्यूलर, १८९०-९२।
" " : सं. सातवलेकर, औंध, १९४०।
कपि० सं० —कपिष्ठलकठ संहिता : सं. रघुवीर, लाहौर, १९३२।
का० सं० —काठकसंहिता : सं. सातवलेकर।
जै० सं० —जैमिनीय संहिता : सं. कैलेंड, ब्रेसलॉ, १९०७।
तै० सं० —तैत्तिरीय संहिता : सं. सातवलेकर।
मै० सं० —मैत्रायणी संहिता : सं. सातवलेकर।
वा० सं० —वाजसनेयी संहिता : सं. सातवलेकर, पारडी, १९५७।
साम० —सामवेदसंहिता : सं. सातवलेकर, पारडी, १९५६।

ख. ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्

ऐ० ब्रा० —ऐतरेय ब्राह्मण : सं. औफ्रेख्त, बॉन, १८७९।
ऐ० आ० —ऐतरेय आरण्यक : सं. ए. बी. कीथ, ऑक्सफ़ोर्ड, १९०९।
कौ० ब्रा० —कौषीतकि ब्राह्मण : सं. बी. लिड्नर, येना, १८८७।
गो० ब्रा० —गोपथ ब्राह्मण : सं. डी. गास्त्रा, लीडन, १९१९।
जै० ब्रा० —जैमनीय ब्राह्मण : सं. लोकेशचन्द्र, नागपुर, १९५०।
ताण्ड्य० ब्रा० या पं० ब्रा०—ताण्ड्यमहाब्राह्मण या पञ्चविंशब्राह्मण; सं. ए. चिन्नस्वामी शास्त्री, वाराणसी, १९३५।
तै० आ० —तैत्तिरीय आरण्यक : पूना।
तै० ब्रा० —तैत्तिरीय ब्राह्मण : पूना।
बृ० उ० —बृहदारण्यक उपनिषद् : गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० २०१२।
श० ब्रा० —शतपथ ब्राह्मण : सं. चन्द्रधर शर्मा, काशी, सं० १९९४-९७।
ष० ब्रा० —षड्विंश ब्राह्मण : सं. एच. एफ़. ईलसिंह, लीडन, १९०८।
साम० ब्रा० —सामविधान ब्राह्मण : ए. सी बर्नेल, लन्दन, १८७३।

ग. श्रौतसूत्र

आ० श्रौ० —आश्वलायन श्रौतसूत्र : सं. गणेश शास्त्री, पूना, १९१७।

आप० श्रौ० —आपस्तम्ब श्रौतसूत्र : सं. आर. गार्बे, १८८२-१९०२।
जर्मन अनुवाद, कैलेंड, गोटिंगन, १९२१; एम्स्टर्डम, १९२४, २८।

का० श्रौ० —कात्यायन श्रौतसूत्र : सं. विद्याधर शर्मा, वाराणसी, सं० १९८७।

बौ०श्रौ० —बौधायन श्रौतसूत्र : सं. कैलेंड, १९०४-२३।

भा० श्रौ० —भारद्वाज श्रौतसूत्र : वैदिकसंशोधन मण्डल, पूना।

मा० श्रौ० —मानवश्रौतसूत्र : सं. गेल्डर, नई दिल्ली, १९६१।
उसी लेखक द्वारा आंग्लानुवाद, नई दिल्ली, १९६३।

ला० श्रौ० —लाटयायन श्रौतसूत्र : सं. आनन्द चन्द्र, कलकत्ता, १८७२।

वै० श्रौ० —वैखानस श्रौतसूत्र : सं. कैलेंड, कलकत्ता, १९४१।

वैतान० —वैतानसूत्र : सं. तथा जर्मन अनुवाद, आर. गार्बे, लन्दन, स्ट्रास्बर्ग, १८७८।

शां० श्रौ० —शांखायन श्रौतसूत्र : सं. ए. हिल्लॅब्रांट, कलकत्ता, १८८६-८९।
आंग्लानुवाद, कैलेंड, नागपुर, १९५३।

घ. गृह्यसूत्र

आ० गृ० —आश्वलायन गृह्यसूत्र (नारायण भाष्य) सं. वी. एस. एस. रानाडे, पूना, १९३६।
(जर्मन-अनुवाद-सहित) सं. ए. एफ़ स्तेन्त्ज्लर, लीप्ज़िग, १८६४।
(हरदत्तभाष्य-सहित) सं. टी. गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम्, १९२३।
आंग्लानुवाद—एच. ओल्डनबर्ग, से. बु. ई., ऑक्सफ़ोर्ड, १८८६।

आग्नि० गृ०—आग्निवेश्य गृह्यसूत्र, सं. एल. ए. रवि वर्मन्, त्रिवेन्द्रम्, १९४०।

आप० गृ० —आपस्तम्ब गृह्यसूत्र; सं. एम. विन्तरनित्ज़, विएना, १८८७।
(हरदत्त-सुदर्शनाचार्य-भाष्यसहित), सं. चिन्नस्वामी शास्त्री, वाराणसी, १९२८।
आंग्लानुवाद—एच. ओल्डनबर्ग, से. बु. ई., ऑक्सफ़ोर्ड, १८९२।

का० गृ० —काठकगृह्यसूत्र; सं. कैलेंड, लाहौर, १९२५।

कौ० गृ० —कौषीतकि गृह्यसूत्र (पं. वासुदेवकृत सांख्यायन गृह्यसंग्रह सहित), सं. रत्नगोपाल भट्ट, वाराणसी, १९०८।
कौषीतक गृह्यसूत्र, सं. टी. आर. चिन्तामणि, मद्रास, १९४४।

कौशिक० —कौशिकसूत्र (अथर्ववेदीय), सं. एम. ब्लूमफ़ील्ड, न्यू हेवन, १८९० ।

खा० गृ० —खादिर गृह्यसूत्र; सं. ए. महादेव शास्त्री और श्रीनिवासाचार्य, मैसूर, १९१३ ।
आंग्लानुवाद—एच. ओल्डनबर्ग, से. बु. ई., ऑक्सफ़ोर्ड, १८८६ ।

गो० गृ० —गोभिल गृह्यसूत्र (भट्टनारायण-भाष्यसहित), सं. चिन्तामणि भट्टाचार्य, कलकत्ता, १९३६ ।
(जर्मन-अनुवाद-सहित) : सं. एफ़. क्नॉअॅर, डोर्पाट, १८८४, ८६ ।
आंग्लानुवाद—एच. ओल्डनबर्ग, से. बु. ई., ऑक्सफ़ोर्ड, १८९२ ।

जै० गृ० —जैमिनि गृह्यसूत्र (आंग्लानुवादसहित) : सं. कैलेंड, लाहौर, १९२२ ।

द्रा० गृ० —द्राह्यायण गृह्यसूत्र (हिन्दी-अनुवादसहित) : सं. ठा. उदय नारायण सिंह, मुज़फ्फ़रपुर, १९३४ ।

पा० गृ० —पारस्कर गृह्यसूत्र (पञ्चभाष्योपेत) : सं. महादेव गंगाधर बक्रे, बम्बई, १९१७ ।
(जर्मन अनुवाद सहित) : सं. ए. एफ़. स्तेंत्स्लर, १८७६-७८ ।
आंग्लानुवाद—एच. ओल्डनबर्ग, से. बु. ई., ऑक्सफ़ोर्ड, १८८६ ।

बौ० गृ० —बोधायन अथवा बौधायन गृह्यसूत्र : सं. आर. शाम शास्त्री, मैसूर १९२० ।

भा०गृ० —भारद्वाज गृह्यसूत्र : सं. जे. डब्लू. सलोमोन्स, लीडन, १९१३ ।

मा० गृ० —मानवगृह्यसूत्र (अष्टावक्रभाष्योपेत) : सं. रामकृष्ण हर्ष जी शास्त्री, बड़ोदा, १९२६ ।
सं. एफ़. क्नॉअर, सेंट पीटर्सबर्ग, १८९७ ।
आंग्लानुवाद—एम. जे. ड्रेस्डन, बटाविया, १९४१ ।

लौ० गृ० —लौगाक्षिगृह्यसूत्र (देवपालभाष्योपेत) : सं. मधुसूदन कौल शास्त्री, श्रीनगर, १९२८, १९३४ ।

वा० गृ० —वाराह गृह्यसूत्र : सं. रघुवीर, लाहौर, १९३२ ।
सं. आर. शाम शास्त्री, बड़ोदा, १९२० ।

वै० गृ० —वैखानस गृह्यसूत्र, सं. कैलेंड, कलकत्ता, १९२७ ।
आंग्लानुवाद—कैलेंड, कलकत्ता, १९२९ ।

शां० गृ० —शाङ्खायन गृह्यसूत्र; (जर्मन अनुवाद सहित) : एच. ओल्डनबर्ग, लीप्ज़िग, १८७८ ।
सं. सीताराम सहगल, नई दिल्ली, १९६० ।
आंग्लानुवाद—ओल्डनबर्ग, से. बु. ई., ऑक्सफ़ोर्ड, १८८६ ।

हि० गृ० —हिरण्यकेशि-गृह्यसूत्र : सं. जे. किर्स्ते, विॲन्ना, १८८९ ।
आंग्लानुवाद—एच. ओल्डनबर्ग, से. बु. ई., ऑक्सफ़ोर्ड, १८९२ ।

ङ. गृह्यकर्मों के मन्त्रसंग्रह

आ०गृ०मं० —आश्वलायन गृह्यमन्त्र व्याख्या (हरदत्तमिश्रकृत) : सं. के. साम्बशिव शास्त्री, त्रिवेन्द्रम्, १९३८ ।

मं० पा० —आपस्तम्बीय मन्त्रपाठ : सं. एम. विन्तरनित्ज़, ऑक्सफ़ोर्ड, १८९७ ।

मं० ब्रा० —मन्त्रब्राह्मण (भाष्यसहित) : सं. सत्यव्रत सामश्रमी, कलकत्ता, १८९० ।
छान्दोग्यमन्त्रब्राह्मण : सं. दुर्गामोहन भट्टाचार्य ।

च. इतर ग्रन्थ

अमर० —अमरकोष, निर्णयसागर प्रेस, १९५० ।

कौथुम० —कौथुमगृह्य : सं. सूर्यकान्त, कलकत्ता, १९५६ ।

गृह्य० —गृह्यसंग्रह—सं. तर्कालंकार, कलकत्ता, १९१० ।

नि० —यास्कीय निरुक्त; सं. लक्ष्मण सरूप, लाहौर, १९२७ ।

बृ०दे० —बृहद्देवता (आंग्लानुवादसहित) : सं. मैक्डॉनल, कैम्ब्रिज, १९०४ ।

सर्व० —कात्यायनीय सर्वानुक्रमणी : सं. मैकडॉनल, ऑक्सफ़ोर्ड, १८८६ ।

सां० गृह्य०—सांख्यायन गृह्यसंग्रह (वासुदेवकृत) : सं. सोमनाथ उपाध्याय, वाराणसी, १९०८ ।

अन्य संक्षेप

इं०वै०कल्प० —इण्डिया ऑफ़ वैदिक कल्पसूत्रज़ ।
इं० स्टू० —इंडिशे स्टूडिअन ।
ओ० ब० —ओल्डनबर्ग ।
गु० वि० —गुणविष्णु (छान्दोग्यमन्त्रब्राह्मण—भाष्यकार) ।
ज० रा० —जयराम (पारस्कर गृह्यसूत्र—भाष्यकार) ।
तु० —तुलना कीजिये ।
दे० —देखिये ।
दे० पा० —देवपाल (काठकगृह्यसूत्र-भाष्यकार)
पा० टि० —पादटिप्पणी ।
प्रि० र० —प्रियरत्न (लेखक, यमपितृपरिचय) ।
भू० —भूमिका ।
वि०इं०ज० —विश्वेश्वरानन्द इंडॉलॉजिकल जर्नल ।
वै० इं० —वैदिक इंडेक्स ।
वै० कॉन्० —वैदिक कॉन्कॉर्डेंस ।
वै०ग्रा०स्टू०—वैदिक ग्रामर फ़ॉर स्टूडेंट्स ।
सं० वि० —संस्कारविधि ।
से०बु०ई० —सेक्रिड बुक्स ऑफ़ दी ईस्ट ।
स्वा० द० —स्वामी दयानन्द ।
ह० मि० —हरदत्त मिश्र ।

विद्ययैवाभ्यस्ति प्रीतिस्तदेतत्पश्यन्नृषिरुवाच—

अगोरुधाय गविषे द्युक्षाय दस्म्यं वचः।
घृतात्स्वादीयो मधुनश्च वोचत ॥
(ऋ० ८।२४।२०)

इति वच एव म इदं घृताच्च मधुनश्च स्वादीयोऽस्ति प्रीतिः स्वादीयोऽस्त्वित्येव तदाह।

आ ते अग्न ऋचा हविर्हृदा तष्टं भरामसि।
ते ते भवन्तूक्षण ऋषभासो वशा उत ॥
(ऋ० ६।१६।४७)

इति एत एव म उक्षाणश्च ऋषभाश्च वशाश्च भवन्ति। य इमं स्वाध्यायमधीयत इति यो नमसा स्वध्वर इति नमस्कारेण वै खल्वपि, न वै देवा नमस्कारमति, यज्ञो वै नम इति हि ब्राह्मणं भवति ॥
(आ० गृ० १।१।५)

प्रथम अध्याय

मन्त्र-विनियोग

यास्क (नि० ७।१२-मन्त्रा मननात्) तथा अन्य विद्वानों के द्वारा मन् धातु से निरुक्त शब्द **मन्त्र** सर्वप्रथम ऋग्वेद में अनेक अर्थों में आया है यथा **पवित्र वाणी, प्रार्थना, स्तुति-गान, मन्त्रणा, योजना, यज्ञ-वाक्य** इत्यादि। परन्तु ऋग्वेद में मन्त्र शब्द का सर्व-प्रमुख भाव ऋषियों द्वारा विरचित प्रार्थना अथवा स्तुति है। इस अर्थ में मन्त्र शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में एक दर्जन से अधिक सन्दर्भों में हुआ है (दे० ग्रासमैन, वोर्तरबुख त्सुम ऋग्वेद)। क्योंकि समस्त वैदिक और वैदिकोत्तर वाङ्मय के विपुल भाण्डार में मन्त्र शब्द के इतिहास और प्रयोग का सुविस्तृत अन्वीक्षण करना प्रस्तुत प्रबन्ध के क्षेत्र से बाहर का विषय है, अतः यहां हमारे विमर्श का सम्बन्ध केवल मन्त्रों के यज्ञपरक प्रयोग और उनके विनियोग की विभिन्न अवस्थाओं से ही होगा।

जहां तक यज्ञों में मन्त्रों के प्रथम-विनियोग का प्रश्न है, यह संकेत करना उचित होगा कि वह (विनियोग) ऋषियों द्वारा देवताओं की प्रार्थना एवं स्तुति के रूप में उनके प्रथम उच्चारण में ही अन्तर्निहित था, क्योंकि यदि यज्ञ से हमारा अभिप्राय किसी भी रूप में देवताओं की पूजा ही तो उसका प्राचीनतम रूप प्रार्थनाओं का उच्चारण मात्र रहा होगा। जब मानव को वाणी की उपलब्धि हुई और उसने अपने चारों ओर प्रकृति के चमत्कारों का अवलोकन किया तभी उसने उन शक्तियों के प्रति प्रार्थनाओं का उच्चारण किया होगा जो उसकी नियति की नियामक थीं और जो उसके नियन्त्रण तथा अवबोध से परे थीं। प्रथम मन्त्र अथवा प्रार्थना का स्रोत सभ्यता के उषःकाल में इस प्रकार के प्राचीनतम उद्‌गारों में ढूंढा जा सकता है। वाक्-शक्ति और चिन्तन-शक्ति के विकास के साथ ही साथ प्रार्थनाएं भी आकार में बढ़ने लगीं। एन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स (खण्ड-१०) में आदिम-प्रार्थना की निम्नलिखित परिभाषा दी गई है:— "अपने साधारणतम तथा आदिमतम रूप में प्रार्थना किसी अतिमानुष समझी जाने वाली शक्ति को प्रभावित करने के लिये अभ्यर्थना-रूप में उपनिबद्ध अभिलाषा की अभिव्यक्ति है।"

यद्यपि यह निश्चय करना कठिन है कि भारोपीय लोगों के पूर्वजों ने सर्वप्रथम अपने देवी देवताओं के प्रति प्रार्थनाओं का उच्चारण कब प्रारम्भ किया, विभिन्न देवताओं के नामों में तथा कुछ धर्मकृत्यों और प्रथाओं में आकर्षक समानता इस बात की ओर संकेत करते हैं कि अत्यन्त प्राचीन काल में अवश्य ही किसी प्रकार की उपासना का अस्तित्व रहा होगा। उदाहरणार्थ वेद के **द्यौः** और **द्यौष्पितर्** तथा ग्रीक और रोमन **ज़ीयस** और **जुपीटर** आकाश अथवा आकाश पिता के भाव की अभिव्यक्ति करते हैं। इसी प्रकार वैदिक देवता **वरुण** का नाम भी ग्रीक **ओरेनोस** का सजातीय है। वैदिक देवता **उषस्** ग्रीक **एओस** के समान है।[1] जहाँ तक धार्मिक कृत्यों और प्रथाओं का सम्बन्ध है भारतीयों में प्रचलित **पाणिग्रहण कर्म** अर्थात् वधू का हाथ पकड़ने का कर्म और प्राचीन रोम के लोगों में **डेक्सट्रेरम जंक्शो** प्रथा बहुत समान हैं। इसी प्रकार विवाह के समय वर-वधू द्वारा अग्नि की परिक्रमा का कर्म, शिखा-विमोचन कर्म अर्थात् वधू की वेणी को खोलने का कर्म और सप्तपदीकर्म अर्थात् वर-वधू दोनों का एक साथ सात पद चलना यह सभी कर्म भी अन्य भारोपीय परिवार की जातियों में किसी न किसी रूप में विद्यमान हैं।[2] यह बहुत सम्भव है कि इन कर्मों के साथ साथ विशिष्ट प्रार्थनाओं का उच्चारण होता होगा। ईसापूर्व चतुर्दश शताब्दी के आरम्भ में घोषित हिटाइट और मितन्नी राजाओं के मध्य की संधियों में मित्र, वरुण, इन्द्र, और नासत्यौ जैसे वैदिक देवताओं की स्तुति भी भारोपीय परिवार की जातियों में प्रार्थनाओं के द्वारा देवताओं की पूजा को प्रमाणित करती है।[3]

अवेस्ता और वेद के देव-शास्त्र तथा कर्मकाण्ड की समानताओं से स्पष्ट पता चलता है कि भारतीयों और ईरानियों के पृथक् होने के बहुत पूर्व ही मन्त्रोच्चारण से युक्त यज्ञ-कर्मों का पूर्ण विकास हो चुका था। अधिकतर देवताओं आदि के नाम समान हैं, यदि कोई भेद है तो वह केवल ध्वनिपरिवर्तन सम्बन्धी है, यथा वैदिक सोम—अवेस्ता हओम, वैदिक मित्र—अवेस्ता मिथ्र, वैदिक यम—अवेस्ता यिमा, वैदिक यज्ञ—अवेस्ता यस्न, वैदिक होतर्—अवेस्ता ज़ओतर् आदि। यह समानता केवल देवताओं, पुरोहितों और कर्मों के नामों तक ही सीमित नहीं है, अपितु कुछ अवेस्ता गाथाएं भी वैदिक मन्त्रों के समान हैं और यदि एक दो स्थलों पर कुछ ध्वनि-परिवर्तन कर दिये जायें तो ठीक उन जैसा ही उनका पाठ हो

१. हिन्दुइज्म (मोनियर विलियम्स) पृष्ठ १५-१७
२. इं० स्ट्ड० खं० ५, पृ० २७७-३२१, आल्ट० होख०, पृ० ४९-५३
३. हि० आॅ० इं० लि० खण्ड-१, पृ० ३०४ (विंटरनित्स)

जायगा। उदाहरणार्थ अवेस्ता की अधोलिखित गाथा प्रासङ्गिक ध्वनि-परिवर्तनों से ठीक वैदिक मन्त्र के समान प्रतीत होगी:—

"यो यथा पुथ्रं तउरुनं हओमं वन्दएते मश्यो फ्र
आब्यो तनुब्यो हओम विसऐते बएसजै ।।"
यो यथा पुत्रं तरुणं सोमं वन्दते मर्त्यः प्र
आभ्यस्तनुभ्यः सोमो विशते भेषजाय ।। [१]

रोम की प्राचीन संस्कृति में भी प्रार्थनाओं, आहुतियों, पशुबलि आदि जैसे तत्त्वों का पता चलता है। प्रार्थना अथवा कर्म की शुद्धता का पूरा ध्यान रखा जाता था क्योंकि ऐसा न होने पर अपेक्षित फल की प्राप्ति में बाधा होती थी। आगे चल कर स्तोत्र इतने रूढ़ हो गये कि पुरोहित उनका अर्थ समझे बिना भी उनका उच्चारण करता था।[१]

ऋग्वेद में एक स्थान पर होता, पोता, नेष्टा, अग्निध्, प्रशास्ता, अध्वर्यु और ब्रह्मा, इन सात पुरोहितों का नामोल्लेख हुआ है।[२] एक अन्य स्थान पर होता, उद्गाता, अध्वर्यु और ब्रह्मा, इन चार प्रमुख पुरोहितों के कार्यों का भी उल्लेख किया गया है। और उससे यह स्पष्ट है कि यज्ञ में होता ऋचाओं का पाठ किया करता था और उद्गाता सामगान किया करता था।[३] पारिभाषिक शब्दावली में इन मन्त्रों को शस्त्रों की संज्ञा दी गई है।[४] निम्नलिखित वाक्यों से भी यह बात प्रकट होती है कि ऋग्वेदकाल में यज्ञों में मन्त्रों का प्रयोग होता था :—

बृहद्वदेम विदथे सुवीराः (ऋ० २।१।१६ आदि) [३]
स होता यस्य रोदसी चिदुर्वी यज्ञं यज्ञमभिवृधे गृणीतः ।।(ऋ० ३।६।१०)[४]

इससे इस बात की पुष्टि होती है कि होता का कर्म प्रत्येक यज्ञ में (यज्ञं यज्ञम्) मन्त्रों का उच्चारण (गृणीतः) था। आगे चलकर केवल ऋग्वेद के मन्त्रों का उच्चारण

---

१. दि रोमन्ज़, पृ० १५, १७

२. **तवाग्ने होत्रं तव पोत्रमृत्वियं तव नेष्ट्रं त्वमग्निदृतायतः ।**
तव प्रशास्त्रं त्वमध्वरीयसि ब्रह्मा चासि गृहपतिश्च नो दमे ।। [२]
(ऋ० २।१।२)

३. **ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु ।**
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां वि मिमीत उ त्वः । [५]
(ऋ० १०।७१।११)

४. वैदिक इण्डेक्स खं० २, पृ० ५०८।

होता के लिए निर्धारित कर दिया गया।[१] यास्क भी इस बात को स्वीकार करता है कि संहिताओं के मन्त्र स्वयं अपने विनियोग की बात कहते हैं। इस सम्बन्ध में वह एक ब्राह्मण का संदर्भ (गो० ब्रा० २।६; ऐ० ब्रा० १।१३।२८) उद्धृत करता है। उसका अर्थ इस प्रकार है—"निश्चय ही यह यज्ञ की पूर्णता है कि उसके रूप की पूर्णता अर्थात् उसमें किये जाने वाले कर्म का संकेत ऋग्वेद अथवा यजुर्वेद का मन्त्र ही कर देता है।"[२] इस संदर्भ के उदाहरणस्वरूप वह ऋ० (१०।८५।४२) के **क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिः** को उद्धृत करता है।

शां० गृ० १।१६।१२ में विधान है कि इस मन्त्र से लेकर शेष सूक्त के द्वारा वधू को वर के बन्धु-बान्धव घर में प्रविष्ट कराते हैं। आप० गृ० २।६।१० (मं० पा० १।८।८) के अनुसार गृहप्रवेश के अवसर पर वर-वधू द्वारा अर्पित की जाने वाली आहुतियों में इसका विनियोग है।

श्रौत यज्ञों में मन्त्र विनियोग की यह परम्परा परवर्ती संहिताओं, ब्राह्मणों और सूत्रों में निर्बाध चलती रही है। यह कहना कठिन है कि ऋग्वेद के सारे मन्त्र मूल रूप में यज्ञों में विनियोग के लिए रचे गये थे अथवा श्रौत यज्ञों के विकास के कारण परवर्ती काल में यज्ञों में मन्त्रों का अधिकाधिक प्रयोग होने लगा। यद्यपि सायण जैसे भारतीय भाष्यकारों ने ऋग्वेद के अधिकांश मन्त्रों का यज्ञों में विनियोग दिखाने का प्रयत्न किया है तथापि ऋग्वेद के मन्त्र इस बात की पुष्टि नहीं करते कि उन सबकी रचना यज्ञों में उनके प्रयोग के आधार पर हुई। ऋग्वेद में मन्त्रों का क्रम भी इस बात की पुष्टि करता है कि न तो उनकी रचना और न ही उनका संकलन यज्ञकर्म के उद्देश्य से हुआ, क्योंकि मन्त्रों का क्रम किसी भी यज्ञ के कर्मों के अनुकूल नहीं है। परन्तु इसके विपरीत यजुर्वेद के मन्त्रों का क्रम प्रायः दर्शपौर्णमास, अग्न्याधान आदि प्रमुख श्रौत यज्ञों के कर्मों के क्रम के अनुकूल ही है। इसके अतिरिक्त यजुर्वेद में बहुत से ऋग्वेद के मन्त्रों को भी यज्ञों में विनियोग के अनुकूल ढाला गया है। ब्राह्मणों में भी बहुत से ऋग्वैदिक मन्त्रों का श्रौत यज्ञों में विनियोग किया गया है। इससे यह स्पष्ट है कि यजुर्वेद के मन्त्रों की रचना तथा संकलन मूल रूप में यज्ञों में विनियोग के उद्देश्य से हुए। अथर्ववेद के मन्त्र प्रायः ब्राह्मणों और श्रौतसूत्रों में वर्णित किसी भी महत्त्वपूर्ण श्रौत यज्ञ में विनियुक्त नहीं देखे जाते, और इस सम्बन्ध में गो० ब्रा० और वैतानसूत्र को अधिक महत्त्वशाली

१. डि० हि० माइ०, पृ० १२२।
२. नि० १।१६—**एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणमृग्वा यजुर्वाभिवदति ॥**

नहीं माना जा सकता जहाँ उन्हीं आथर्वण मन्त्रों को विशेष श्रौत यज्ञों से सम्बद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। कुछ दार्शनिक सूक्तों को छोड़कर अथर्ववेद के मन्त्र प्रमुख रूप से गृह्य-कर्मों से ही सम्बद्ध हैं।

ब्राह्मणों में यज्ञों में ऐसे मन्त्रों का भी विनियोग प्राप्त होता है जो किसी भी उपलब्ध संहिता में प्राप्य नहीं। यद्यपि श्रौत यज्ञों के वर्णन में प्रायः श्रौतसूत्रों ने ब्राह्मणों का ही अनुसरण किया है तथापि उनमें उद्धृत बहुत से मन्त्र न तो किसी उपलब्ध संहिता में और न ही ब्राह्मण में प्राप्त होते हैं। यह वहुत सम्भव है कि ये मन्त्र या तो ऐसी संहिताओं से लिये गये होंगे जो अब विलुप्त हो गईं अथवा अन्य ऐसे स्रोतों से जिनका हमें ज्ञान नहीं। यह विश्वास करना कठिन है कि ब्राह्मणों या श्रौतसूत्रों के रचयिताओं ने स्वयं उन मन्त्रों की रचना की। पूर्वमीमांसा (२।१।३४) में तो ऊहयुक्त मन्त्रों को भी वस्तुतः मन्त्र नहीं माना गया—उन्हें केवल सहायक मन्त्र की संज्ञा दी गई है। दूसरे शब्दों में कल्पसूत्रों के मानव रचयिताओं द्वारा ऊह तक किये जाने पर भी मन्त्र का मन्त्रत्व नहीं रहता, फिर उन्हें पूर्ण मन्त्रों की रचना का तो अधिकार ही कैसे सम्भव है ?[1]

यज्ञपरक प्रविधि और पारिभाषिक शब्दावली में गृह्यसूत्र ब्राह्मणों और श्रौतसूत्रों का अत्यधिक अनुसरण करते हैं और उनके समान ही अपनी अपनी शाखा की संहिताओं के मन्त्रों का विनियोग करते हैं। कुछ गृह्यकर्मों का भी सर्वप्रथम वर्णन ब्राह्मणों तथा श्रौतसूत्रों में हुआ है। उदाहरणार्थ उपनयन का वर्णन श० ब्रा० ११।३-५ तथा जातकर्म और पुंसवन का वर्णन श० ब्रा० ४।३,५ में हुआ है—और इन कर्मों के अनेकों मन्त्र गृह्यसूत्रों तथा ब्राह्मणों में समान हैं। राजा के द्वारा पुरोहित की नियुक्ति के प्रसङ्ग में ऐ०ब्रा० ८।२७ में मधुपर्क के समान एक कर्म का वर्णन हुआ है। और शां० श्रौ० ४।२१ ने तो मधुपर्क का ही वर्णन किया है। अतः इस कर्म के भी बहुत से मन्त्र ऐ० ब्रा०, शां० श्रौ० और गृह्यसूत्रों में समान हैं। आहिताग्नि के दाहकर्म का वर्णन सामान्यतया ब्राह्मणों और श्रौतसूत्रों में किया ही गया है।[2] अतः यह बहुत स्वाभाविक ही है कि गृह्यसूत्रों में इन कर्मों के अधिकांश मन्त्र ब्राह्मणों और श्रौतसूत्रों के मन्त्रों के समान ही होंगे। श्रौत और गृह्य कर्मकाण्ड के

---

१. पू० मी० २।१।३२—अनाम्नातेष्वमन्त्रत्वमाम्नातेषु हि विभागः स्यात् (रामेश्वर सूरिविरचिता जैमिनिसूत्रवृत्ति—अधिकरण ६) (पूर्वमीमांसा इन इट्स सोर्सज़—म० म० गङ्गानाथझा पृ० ३४०)

२. वि० इं० ज० खण्ड १, अंक २, पृ०२९१-२९८ (इन्फ्लुएंस आँफ दि ब्राह्मणज़ आँन दि गृह्यसूत्रज़—डा० रामगोपाल)

इन समान यज्ञों के अतिरिक्त कुछ ऐसे सामान्य गौण कर्म भी हैं जो श्रौत और गृह्य यज्ञों में या तो वही हैं या समान हैं। परन्तु गृह्यसूत्र ब्राह्मणों और श्रौतसूत्रों से उन मन्त्रों के विषय में भिन्न है जो या तो अथर्व० से उद्धृत हैं या ऐसे स्रोतों से लिये गये हैं जो उन (ब्राह्मणों और श्रौतसूत्रों) के द्वारा अस्पृष्ट रहे। गृह्यकर्मोंमें विनियुक्त ऋग्मन्त्रों के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से अवधारण नहीं किया जा सकता कि मूलरूप में उनकी रचना गृह्यकर्मों के लिये हुई थी। इस विषय में प्रतिष्ठित विद्वानों ने विभिन्न विचार प्रस्तुत किये हैं। उदाहरणार्थ ओल्डनबर्ग के मतानुसार ऋग्वेद काल में गृह्यकर्म 'उन काव्यात्मक वाक्यों के पाठ से सज्जित नहीं होते थे जिनसे वे आगे चलकर संयुक्त होने लगे।' वह इस बात को स्वीकार करता है कि 'ऋग्वैदिक मन्त्रों का कुछ अंश' निस्सन्देह 'उसी गृह्यकर्म के लिये विरचित सिद्ध होता है' जिसमें गृह्यसूत्रों में उसका विनियोग हुआ है, 'परन्तु ये मन्त्र ऋग्वेद के पुरातन अंशों से अधिक अर्वाचीन हैं।' ओल्डनबर्ग ने छन्द:सम्बन्धी विशेषताओं के आधार पर भी इन मन्त्रों का अर्वाचीन उद्भव सिद्ध करने का प्रयास किया है।[1] दूसरी ओर विंटरनित्स के मतानुसार "ऋग्वैदिक सूक्तों के रूप में उपलब्ध ब्राह्मणों का कृत्रिम काव्य और आथर्वण प्रथाओं तथा गृह्यकर्मों से सम्बद्ध अथर्ववेद संहिता में उपलब्ध लोककाव्य भिन्न प्रणालियों में बहने वाली उन दो धाराओं के समान हैं जो कभी तो एक दूसरे से मिल जाती हैं और कभी दूरान्तरवर्तिनी हो जाती हैं।"[2] विंटरनित्स के विचारों से सहमत डा० राम गोपाल ने यह मत अभिव्यक्त किया है— "यह असम्भव नहीं है कि ऋग्वेद काल में गृह्यकर्मों के अनुष्ठान के अवसर पर जिन मन्त्रों का उच्चारण होता था वे इतने सामान्य एवं प्रचलित थे कि असामान्य एवं दुर्लभ सूक्तों के संग्रहभूत ऋग्वेद में उनका समावेश आवश्यक नहीं समझा गया। हाँ, विवाह और दाहकर्म से सम्बद्ध कुछ अत्युत्तम सूक्तों का समावेश दशम मण्डल में कर लिया गया, जिसे अपनी विषय वस्तु के आधार पर विविध विषयों की सञ्चिति की संज्ञा दी जा सकती है।"[3] **गृभ्णामि ते सौभगत्वाय** इत्यादि तथा **सुमङ्गलीरियं वधूः** इत्यादि जैसे मन्त्रों के वर्ण्य विषयों से प्रकट होता है कि इन मन्त्रों की रचना पाणिग्रहण और प्रेक्षकानुमन्त्रण कर्मों के लिये हुई और ऋग्वेद काल में इनका उच्चारण इन्हीं कर्मों पर होता था। फ़ेय् और आप्टे ने गृह्यकर्मों में विनियुक्त ऋग्वैदिक मन्त्रों का वर्गीकरण करने का प्रयत्न किया है। फ़ेय् के अनुसार

---

१. से० बु० ई०, खं० ३०, पृ० ix–xiv
२. मन्त्रपाठ, भूमिका, पृ० liv से।
३. इं० वैं० कल्प०, पृ० १६।

इन मन्त्रों को निम्नोक्त चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है:—

१. प्रथम वर्ग में 'मन्त्र की सामान्य विनियोगार्हता मात्र होती है और वह जिस अवसर पर विनियुक्त देखा जाता है उसके साथ साथ किसी भी कल्पनीय अवसर पर काम दे सकता है।'

२. द्वितीय वर्ग में 'मन्त्र की विशेष विनियोगार्हता होती है।'

३. तृतीय वर्ग में मन्त्रों 'का कर्म से लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं होता परन्तु केवल अकस्मात् सूत्र से सम्बद्ध किसी एक शब्द के मन्त्र में आ जाने से उनको उक्त कर्म के साथ जोड़ दिया जाता है।'

४. चतुर्थ वर्ग में 'कभी कोई मन्त्र किसी विश्वास के प्रमाण के रूप में उद्धृत किया जाता है—बहुत कुछ उसी प्रकार जैसे आजकल वैधानिक उद्धरण होते हैं अथवा बाइबल के सिद्धान्त सम्बन्धी अध्ययन में प्रमाण ग्रन्थ।[१]

फ़ेय् का अनुसरण करते हुए आप्टे ने इन मन्त्रों को निम्नोक्त पाँच वर्गों में विभाजित किया है:—

१. संस्कार वर्ग में 'उन मन्त्रों का समावेश है जिनकी संस्कारगत स्थिति अथवा प्रसङ्ग ऋग्वेद में उसके समान है जैसी आ० गृ० में है जहाँ पर ये उद्धत किये गये हैं।

२. स्तुति वर्ग 'सामान्यतया आशीर्वचन के लिये प्रार्थना से युक्त मन्त्रों अथवा सूक्तों वाला है।'

३. देवता वर्ग—उन मन्त्रों के उद्धरण जो किसी कर्म में मुख्यतया इसलिये उपयुक्त होते हैं क्योंकि वे उस कर्म से सम्बद्ध देवता के प्रति सम्बोधित होते हैं।'

४. आहुति वर्ग—इस वर्ग में उन मन्त्रों की समावेश है 'जो किसी यज्ञ—कर्म में अग्नि के प्रति आहुति के कारण उसके उपयुक्त होते हैं।'

५. ऊपरी वर्ग अथवा असम्बद्ध वर्ग—वे मन्त्र 'जिनका यज्ञसन्दर्भ के साथ एक मात्र सूत्र किसी एक शब्द अथवा वाक्यांश के रूप में कोई ऊपरी समानता होती है यद्यपि उसका अर्थ से कोई सम्बन्ध न हो।'[२]

परन्तु आगामी पृष्ठों में मन्त्रों के सूक्ष्म और विस्तृत अध्ययन से यह स्पष्ट है कि इस प्रकार के मन्त्रों के वर्गीकरण का कोई उचित आधार नहीं है क्योंकि वही

---

१. ऋग्० मन्त्र० गृ०, पृ० १४-२२।
२. ऋग्० मन्त्र० आ० गृ०, पृ० ३-४

एक मन्त्र विविध यज्ञकर्मों में विनियुक्त देखा जाता है। और फिर इस प्रकार का वर्गीकरण प्राक्–गृह्यसूत्र वाङ्मय में उन मन्त्रों के विनियोग को भी दृष्टिगत नहीं करता। उदाहरणार्थ ऋ० ८।१०१।१५ के **माता रुद्राणाम्** इत्यादि मन्त्र को संस्कार वर्ग में रखा गया है,[1] परन्तु इसके अर्थ और ऋ० में इसके प्रसङ्ग से केवल मात्र उस मधुपर्क के साथ इसके सम्बन्ध का कोई संकेत प्राप्त नहीं होता, जहाँ गृह्यसूत्रों में इसका विनियोग हुआ है।[2] ऋग्वेद के उक्त स्थल में सामान्यतया गौ को न मारने की बात कही गई है। और आगामी मन्त्र (ऋ० ८।१०१।१६) में स्पष्ट रूप से वाणी की स्तुति की गई है जिससे यह संकेत भी प्राप्त हो सकता है कि पहला मन्त्र भी वाणी से सम्बद्ध होगा।[3] तै० आ० (६।१२।१) में यद्यपि गौ को मुक्त करने के अवसर पर ही इसका विनियोग किया गया है, तथापि वहाँ भी प्रसङ्ग मधुपर्क का न होकर दाहकम का है। केवल इस आधार पर कि मन्त्र की देवता गौ है, हम संस्कार वर्ग में इसका अटल वर्गीकरण नहीं कर सकते। इसी प्रकार से ऋ० १०।६३।१० **सुत्रामाणं पृथिवीम्** इत्यादि मन्त्र को भी किसी वर्गविशेष में सीमित नहीं किया जा सकता क्योंकि जहाँ इसका सम्बन्ध नौकारोहण से है वहाँ यह **ऊपरी वर्ग** के अन्तर्गत होगा और जहाँ इसका विनियोग पृथ्वी सम्बन्धी कर्म में हुआ है वहाँ यह **देवता वर्ग** के अन्तर्गत होगा।[4]

दूसरी ओर अथर्व० के मन्त्रों की रचना मूल रूप से गृह्यकर्मों के लिये की गई प्रतीत होती है। यजुर्वेद के मन्त्रों का उद्देश्य प्रमुख रूप से श्रौत यज्ञ हैं, और इसीलिए जब कभी भी गृह्यसूत्रों में उनका विनियोग मिलता है, तो वहां श्रौत और गृह्ययज्ञों में कोई सामान्य गौण कर्म ही उनके मध्य संयोजक-सूत्र होता है। उदाहरणार्थ ये कर्म अग्नि में आहुति-विसर्जन, किसी पदार्थ का पवित्रीकरण, पितृकर्मों में पितरों को पिण्डदान, किसी पदार्थ का ग्रहण करना इत्यादि हैं।

गृह्यसूत्रों के रचयिताओं ने अपनी अपनी शाखा की संहिता से ही यथा सम्भव अधिकतम मन्त्र ग्रहण करने का प्रयास किया है परन्तु जहाँ भी वे अपनी संहिता से कोई उपयुक्त मन्त्र प्राप्त करने में समर्थ नहीं हुए, वहां उन्होंने दूसरी शाखाओं अथवा दूसरे वेदों से भी मन्त्र ग्रहण करने में संकोच नहीं किया।

---

१. **ऋग्० मन्त्र० आ० गृ०, पृ० २२ से**
२. **दे० मन्त्र सं० ६३**
३. वचोविदं वाचमुदीरयन्तीं विश्वाभिर्धीभिरुपतिष्ठमानाम्।
देवीं देवेभ्यः पर्येयुषीं गामा मावृक्त मर्त्यो दभ्रचेताः॥ (ऋ० ८।१०१।१६)
४. **दे० मन्त्र सं० २०९, १०२५, १०२६**

उदाहरणार्थ शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध होने पर भी पारस्कर गृह्यसूत्र ने तैत्तिरीय संहिता, ऋग्वेद तथा अथर्ववेद से भी अनेक मन्त्र उद्धृत किये हैं।[१] इसी प्रकार वृषोत्सर्ग के वर्णन में शां० गृ० (३।११।१४) ने तै० सं० (३।३।६।१) के एक मन्त्र का विनियोग किया है। इसी रीति से साम० से सम्बद्ध जै० गृ० ने भी इतर वेदों से भी मन्त्र उद्धृत किये हैं।[२] जैसा कि पहले ही संकेत किया जा चुका है, अथर्ववेद से प्रायः सभी गृह्यसूत्रों ने मन्त्र उद्धृत किये हैं। गृह्यसूत्रों में विनियुक्त कुछ मन्त्र केवल ब्राह्मणों और सूत्रों में प्राप्य हैं और निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि ये मन्त्र कभी किसी वैदिक संहिता का अंग थे या नहीं। गृह्यसूत्रों में विनियुक्त दूसरे कुछ मन्त्र केवल गृह्यसूत्रों अथवा केवल गृह्यकर्मों के लिये संगृहीत मन्त्रों के संकलनों यथा आपस्तम्बीय मन्त्र पाठ और सामवेद मन्त्र ब्राह्मण (अथवा छान्दोग्य ब्राह्मण) में ही उपलब्ध होते हैं। उपर्युक्त दोनों प्रकार के मन्त्र या तो उन संहिताओं के अंग थे जो अब विलुप्त हो गई हैं या वे लोक में प्रचलित रहे और संहिता-रूप में कभी उनका संकलन किया ही नहीं गया।

इस बात की ओर संकेत करना भी आवश्यक है कि गृह्यसूत्रों के रचयिताओं ने कुछ गृह्यकर्मों में कुछ ऐसे मन्त्रों के उच्चारण का विधान भी किया है जो उस कर्म से किसी प्रकार भी सम्बद्ध नहीं। उदाहरणार्थ समशन कर्म में दधिभक्षण के निमित्त गृह्यसूत्रों में दधि से आरम्भ होने वाले मन्त्र का विनियोग किया गया है।[३] इस मन्त्र के विनियोग का एक मात्र आधार इसमें विद्यमान **दधि** वर्णसमूह ही प्रतीत होता है, अन्यथा इस कर्म के साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं। **सुत्रामाणं पृथिवीम्** इत्यादि मन्त्र का विनियोग नौकारोहण कर्म में केवल **नावम्** शब्द के आधार पर हुआ है।[४] इस प्रकार के उदाहरणों से प्रकट होता है कि वैदिक मन्त्रों के अर्थ अति प्राचीन काल से ही अस्फुट होने लगे थे जैसा कि यास्क ने भी कहा है कि—"जो वेदों का अध्ययन करके भी उनके अर्थ नहीं समझता, वह ठूंठ निश्चय ही बोझा ढोने वाला है।"[५]

पुरोहितों के इस अज्ञान और उपेक्षा का वर्णन आदित्य दर्शन द्वारा अपनी पाकयज्ञविवृति में उल्लिखित शब्दों में अधिक अच्छी प्रकार से किया जा सकता है।

---

१. दे० मन्त्र सं० ६२, ६३, ६०३, ८९९, ९००
२. दे० मन्त्र सं० १५६
३. दे० मन्त्र सं० ९८६
४. दे० मन्त्र सं० २०६
५. नि० १।१६—स्थाणुरयं भारहरः किलाभूत्, अधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम् ॥

"प्राय: सभी पुरोहित वेद पढ़ने में लगे रहते हैं, परन्तु कभी भी उसमें से एक शब्द का भी अर्थ नहीं समझते। वेद के पठन मात्र से ही अपने आप को कृतकृत्य समझते हुए वे घर में उसी प्रकार से निष्फल गर्जना करते हैं जैसे शरदृऋतु के मेघ। वे परस्पर एक दूसरे को कहते हैं कि हमें वेद के अर्थ से क्या लेना और यह कहकर वेदार्थज्ञान में लगे हुए अर्थज्ञ विद्वानों का उपहास करते हैं।"[1] यद्यपि आदित्य दर्शन के इस कथन में केवल कर्मकाण्ड में लगे हुए पुरोहितों की ओर संकेत है तथापि इससे मन्त्रों के अर्थों के प्रति कुछ मात्रा में गृह्यसूत्रों के उपेक्षाभाव का भी अनुमान लगाया जा सकता है।

दूसरे स्थानों पर जहाँ श्रौत और गृह्य कर्मों के मध्य कोई समान आधार विद्यमान है वहाँ गृह्यसूत्रकारों ने मन्त्र विनियोग का विधान करने में श्रौत परम्परा का अनुसरण किया है। उदाहरणार्थ ऋग्वेद (१।९०।६-८) के **मधु वाता ऋतायते** इत्यादि तीन मन्त्रों के समूह का विनियोग कुछ गृह्यसूत्रों ने मधुपर्क आलोडन के लिये किया हैं। इस विनियोग की तुलना श० ब्रा० (१४।९।३।११-१३) में इन मन्त्रों के विनियोग से की जा सकती हैं जहाँ श्रीमन्थकर्म में मन्थ-पान के निमित्त इनके उच्चारण का विधान है। यह विनियोग श्रौतसूत्रों के विनियोग के भी समान है जिनके अनुसार अग्न्याधान कर्म में मधु मिश्रित दधि से कछुए की अनुलेप क्रिया के समय इन मन्त्रों का उच्चारण किया जाना चाहिए। यहाँ पर स्मरणीय है कि दधि और मधु मधुपर्क के भी संघटक हैं।[2]

कभी कभी एक ही मन्त्र विभिन्न गृह्यकर्मों में विनियुक्त देखा जाता है। उदाहरणार्थ विवाह और उपनयन कर्मों में बहुत से मन्त्र समान हैं। **"देवस्य त्वा सवितुः"** इत्यादि मन्त्र का विनियोग वधू का और ब्रह्मचारी का भी हाथ ग्रहण करने के लिये हुआ है। इसी प्रकार **"मम व्रते ते हृदयम्"** इत्यादि मन्त्र के उच्चारण का विधान

---

१. इहैते च्छान्दसाः प्रायः सर्वे वेदमधीयते। पदमप्येकमेतस्मान्न बुध्यन्ते कदाचन॥
पाठमात्रेण वेदस्य मन्यमानाः कृतार्थताम्। गर्जन्ति श्रोत्रिया गेहे निष्फलं शरदभ्रवत्॥
अर्थेन किं नो वेदस्य वदन्ति इति ते मिथः। अर्थज्ञानसमासज्जानर्थज्ञान् विहसन्ति च॥
(पं० मधूसूदन कौल द्वारा लौगाक्षिगृह्यसूत्र की भूमिका (पृ० ७-८) में पाण्डुलिपि में से उद्धृत।)

२. दे० मन्त्र सं० ६४-६६।

भी गृह्यसूत्रों में वधू के और ब्रह्मचारी के भी हृदय-प्रदेश का स्पर्श करने के लिए किया गया है। **धाता ददातु नो रयिम्** इत्यादि मन्त्र समूह (तै० सं० ३।३।११।२-३) का विनियोग सीमन्तोन्नयन में और जातकर्म में भी हुआ है।[1] विभिन्न कर्मों में एक ही मन्त्र के विनियोग का मूल आधार सम्भवतया उन कर्मों में विद्यमान भावना की समानता है।

सभी गृह्यसूत्रों में अपने अपने गृह्यकर्मों में विनियोगार्थ मन्त्रों को उद्धृत करने की किसी एक समान विधि का अनुसरण नहीं किया गया है। कुछ गृह्यसूत्र अपनी शाखा की संहिता के मन्त्रों को प्रतीक के द्वारा अर्थात् मन्त्रों अथवा सूक्तों के केवल आद्य शब्दों के द्वारा उद्धृत करते हैं और अन्य स्रोतों से गृहीत मन्त्रों को **सकलपाठेन** अर्थात् पूर्णरूपेण देते हैं। यहां यह उल्लेखनीय है कि मन्त्रोद्धरण के विशेष नियम प्रचलित थे। आ० श्रौ० (१।१।१७-१९) के अनुसार यदि एक ही ऋचा उद्धृत करनी हो तो प्रतीकरूप में उसका सम्पूर्ण प्रथम पाद दिया जाता है। सम्पूर्ण सूक्त का संकेत करने के लिये उसके प्रथम मन्त्र का प्रथम पाद से भी कम अंश उद्धृत किया जाता है। और यदि प्रथम पाद से थोड़ा अधिक अंश दिया जाये तो तृच (तीन ऋचाओं) का बोध होता है।[2] परन्तु सभी गृह्यसूत्रों में किसी एक नियम का पालन नहीं किया गया। कुछ विशिष्ट मन्त्र अथवा मन्त्र-समूह अपने पारिभाषिक नामों से प्रसिद्ध थे। इन मन्त्रों अथवा मन्त्र-समूहों को गृह्यसूत्रों में उनके विविध नामों के माध्यम से ही उद्धृत किया गया है यथा आपोहिष्ठीय, आगावीय, स्वस्त्ययन, शान्तातीय इत्यादि।[3] कुछ गृह्य कर्मों में किसी विशिष्ट देवता से सम्बद्ध मन्त्रों का विधान है। ऐसी स्थिति में वाञ्छित मन्त्रों का ज्ञान केवल गृह्य परम्परा के आधार पर होता है। इन स्थलों पर गृह्यसूत्रों के भाष्यकारों से हमें विशेष सहायता प्राप्त होती है क्योंकि उन्होंने उपयुक्त वाञ्छित मन्त्रों का निर्देश किया है। उदाहरणार्थ गृह्यसूत्रों में वृषोत्सर्ग कर्म में रुद्र-सम्बन्धी मन्त्रों के उच्चारण का विधान है। गृह्यसूत्रों के भाष्यकारों में इस कर्म में उच्चारणीय मन्त्रों के विषय में पर्याप्त मत-भेद है और प्रत्येक भाष्यकार अपनी शाखा के अन्तर्गत मन्त्रों का ही वरण करता है। सांख्यायन गृह्य संग्रह के रचयिता ने इन मन्त्रों के रूप में ऋ० के १।४३, ११४, २।३३ और ७।४६ सूक्तों की परिगणना की है। पा० गृ० के भाष्यकारों के मतानुसार ये मन्त्र वा० सं० के सोलहवें अध्याय के मन्त्र हैं। का० गृ० के भाष्यकार देवपाल ने

---

१. दे० मन्त्र सं० ३८६-३८९।

२. **ऋचं पादग्रहणे। सूक्तं सूक्तादौ हीने पादे। अधिके तृचं सर्वत्र।**

३. दे० क्रमशः मंत्र सं० १८६-१८८, ८५१, १०३३-३४, १०५८।

इन रुद्र मन्त्रों के लिए का० सं० के १७।११-१६ अनुवाकों की ओर संकेत किया है।[1] गो० गृ०, खा० गृ०, आप० गृ०, वै० गृ० आदि कुछेक गृह्यसूत्रों ने गृह्यकर्मों में विनियुक्त मन्त्रों के लिये अपनी अपनी शाखाओं के संग्रहों की ओर प्रतीक के द्वारा संकेत किया है। इन मन्त्र-संग्रहों में मन्त्रों का क्रम कर्मों के क्रम के अनुसार हैं। आप० गृ० में तो प्राय: मन्त्र का प्रतीक भी नहीं दिया गया है। वहाँ अभीष्ट मन्त्र का संकेत उसकी क्रमसंख्या द्वारा किया गया है यथा प्रथम दो के द्वारा (आदितो द्वाभ्याम् १।४।२), तीसरी ऋचा को (तृतीयाम्—ऋचम्), चौथी के द्वारा (चतुर्थ्या) इत्यादि। इन गृह्यसूत्रों में भी कुछेक छोटे मन्त्रों का सम्पूर्ण पाठ दिया गया है यथा गो० गृ० (१।३।१—३) में अधोलिखित मन्त्र सकलपाठेन उद्धृत किये गये हैं:—

अदितेऽनुमन्यस्व ॥ अनुमतेऽनुमन्यस्व ॥ सरस्वत्यनुमन्यस्व ॥

कैलेंड ने ऐसी सम्भावना व्यक्त की है कि का० गृ० के सम्मुख भी कोई मन्त्र-संहिता रही होगी। उसके इस अनुमान का प्रमुख आधार इस गृह्यसूत्र में मन्त्रों की उद्धरण-पद्धति है, यथा काठक संहिता से बाहर के मन्त्रों का निर्देश प्रतीक द्वारा किया गया है, इसके पश्चात् सूत्र-निर्देश है और फिर सम्पूर्ण मन्त्र। कैलेंड के मतानुसार—'सम्भवत: यह मन्त्र (कल्पित) मन्त्राध्याय में विद्यमान था और मूल रूप में सूत्र में दोनों स्थान पर केवल प्रतीक द्वारा उद्धृत था, परन्तु इस ग्रन्थ के भाष्यकारों ने सुविधा के लिये न केवल यहाँ (का० गृ० ४१।१८), अपितु अन्य कई स्थलों पर भी मन्त्र का सम्पूर्ण पाठ दिया है।[2] उसका अनुमान है कि अपने कर्मकाण्ड के ग्रन्थ **यज्ञ-सूत्र** के अंग रूप में कठशाखावलम्बियों के पास यह मन्त्राध्याय विद्यमान था जो कि गृह्य अध्याय का पूर्वगामी था और आधिपत्य मन्त्रों से जिसका श्रीगणेश होता था। प्रथम सूत्र पर अपने भाष्य की भूमिका में आदित्यदर्शन भी इस प्रकार का संकेत देता है—"सूत्र के पूर्वगामी भाग में श्रौत कर्मों का उपदेश दिया जा चुका है। अब इस अध्याय से स्मार्त कर्मों का उपदेश दिया जा रहा है। **अग्निर्भूतानामधिपति:** इत्यादि मन्त्रों का विनियोग नहीं हुआ है। वे अपने चिह्नों, क्रम और विधान के अनुसार गर्भाधान आदि संस्कारों में और पाकयज्ञों में विनियुक्त होते हैं।"[3] परन्तु क्योंकि इस प्रकार का मन्त्राध्याय उपलब्ध नहीं है, अत: यह

---

१. दे० मन्त्र सं० ८५६।

२. का० गृ० (कैलेंड संस्करण), भूमिका, पृ० ६-७

३. पूर्वसूत्रभागेन श्रौतकर्माण्युपदिष्टानि। इदानीमनेनाध्यायेन स्मार्तान्युपदिश्यन्ते। अग्निर्भूतानामधिपतिरित्येवमादयो मन्त्रा अविनियुक्ताः। ते लिंगक्रमसमाख्यानवशात् संस्कारेषु गर्भाधानादिषु पाकयज्ञेषु च विनियुज्यन्ते ॥

बहुत संदेहास्पद है कि मन्त्र मूल रूप में मन्त्राध्याय में विद्यमान था अथवा गृह्यसूत्र में ही मूल रूप में उसका सम्पूर्ण पाठ दिया हुआ था।

कुछ स्थलों पर गृह्यसूत्रों में वैदिक मन्त्रों के बहुत ही रोचक और साथ ही साथ उलझन वाले पाठ-भेद प्राप्त होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वेद आदि संहिताओं के मन्त्र बहुधा गृह्य परम्परा के संरक्षकों के अज्ञान और उपेक्षा के कारण भ्रष्ट हो जाते थे। और यह भी असम्भव नहीं कि कुछ स्थानों पर गृह्यसूत्रों के रचयिताओं अथवा उनके पुरोगामियों या अनुगामियों ने गृह्यकर्मों में विनियोग के औचित्य की दृष्टि से वैदिक मन्त्रों में कहीं कहीं परिवर्तन जान बूझकर तथा सोच समझ कर किये हों। उदाहरणार्थ ऋ० ८।९१।७ मन्त्र की परीक्षा की जा सकती है।

खे रथस्य खेऽनसः खे युगस्य शतक्रतो।
अपालामिन्द्र त्रिष्पूत्व्यकृणोः सूर्यत्वचम्॥ [६]

यह मन्त्र गृह्यसूत्रों में निम्नलिखित परिवर्तनों के साथ प्राप्त होता है:—

खे रथस्य खेनसः खे युगस्य शतक्रतो।
अपालामिन्द्रस्त्रिः पूत्र्यंकृणोत् सूर्यत्वचम्॥ (मा० गृ० १।८।११)
खेऽनसः खेरथः खे युगस्य शतक्रतो।
अपालामिन्द्रस्त्रिः पूत्व्यंकरत् सूर्यवर्चसम्॥ (मं० पा० १।१।९)
खे रथस्य खेऽनसः खे युगस्य शतक्रतो।
अपालामिन्द्रस्त्रिष्पूत्वा करोतु सूर्यवर्चसम्॥ (का० गृ० २५।९)
खे रथस्य खेऽनसः खे युगस्य शतक्रतोः।
अबालामिन्द्रस्त्रिः पूत्र्यंकृणोत् सूर्यवर्चसः॥ (वा० गृ० १४।१)

मा० गृ० और मं० पा० ने मूल **अकृणोः** को प्रथम पुरुष एक वचन के रूप में परिवर्तित कर दिया है और मूल **पूत्वी** भी भ्रष्ट हो गया है। तदनुसार मा० गृ० ने सम्बोधनरूप **इन्द्र** को प्रथमारूप **इन्द्रः** में परिवर्तित कर दिया है, परन्तु मं० पा० के रचयिता से यह आवश्यक परिवर्तन छूट गया और वहाँ मूल सम्बोधनरूप **इन्द्र** ही प्राप्त होता है। मं० पा० का प्रमाद यह है कि यहाँ मूल षष्ठ्यन्त रूप **रथस्य** प्रथमान्त रूप **रथः** में परिवर्तित कर दिया गया है और साथ ही प्रथम पाद में **अनसः** का क्रम भी परिवर्तित हो गया है। का० गृ० ने **अकृणोः** को **करोतु** में परिवर्तित किया है और इसके परिणामस्वरूप **इन्द्र** को **इन्द्रः** में। गृह्यसूत्रों में ऐसी प्रवृत्ति भी लक्षित होती है कि उनके पाठकों अथवा रचयिताओं को जो शब्द-रूप कठिन अथवा आद्य (अप्रचलित) प्रतीत हुए उनके स्थान पर उन्होंने अधिक सरल शब्द

रख दिये हों। प्रस्तुत मन्त्र में भी मूल **सूर्यत्वचम्** के स्थान पर मं० पा० और का० गृ० में **सूर्यवर्चसम्** दिया गया है, और का० गृ० ने तो मूल वैदिक **पूत्वी** के स्थान पर परवर्ती रूप **पूत्वा** भी दिया है। एक परवर्ती गृह्यसूत्र, वा० गृ० तो वैदिक शब्द **अपाला** के स्थान पर **अबाला** देकर परिवर्तन की पराकाष्ठा पर पहुँच गया है। गृह्यसूत्रों में इस प्रकार के उदाहरणों का बाहुल्य है।

इतने अधिक पाठ-भेदों के कारणों के विषय में डॉ० पिल्ले के साथ साथ यह मानना कठिन है कि 'सभी' स्थलों पर मूल वैदिक मन्त्रों से नये मन्त्र निर्माण करने का जानबूझ कर प्रयास किया गया है। डॉ० पिल्ले के मतानुसार **इममश्मानमारोह** आदि मन्त्र विभिन्न वैदिक मन्त्रों के पादों को एकसाथ जोड़कर बनाया गया है।[1] वस्तुतः यह केवल अनुमान मात्र है। उन मन्त्रों के कथित पाद इस मन्त्र के पादों के समान नहीं हैं, बहुत सम्भव है कि इस सूत्र के कर्ता ने किसी ऐसे प्राचीन स्रोत से मन्त्र उद्धृत किया हो जो अब अनुपलब्ध है। इसी प्रकार से स्टेंज़लर सहित पा० गृ० (१।२।११) के सभी भाष्यकार संगृहीत विभिन्न मन्त्रों के प्रतीकों को एक अकेला मन्त्र मानने का प्रमाद करते हैं[2] :—

अयास्यग्नेर्वषट्कृतं यत्कर्मणात्यरीरिचं देवागातुविदः ॥ [७]

वस्तुतः ये प्रतीक निम्नलिखित मन्त्रों की ओर संकेत करते हैं :—

अयाश्चाग्नेऽस्यनभिशस्तिपाश्च सत्यमित्त्वमयासि ।
अया नो यज्ञं वहास्यया नो धेहि भेषजम् ॥ [८]

मं० सं० १।४।३

वषट्कृतमत्यनूक्तं च यज्ञे । अतिरिक्तं कर्मणो यच्च हीनम् ।
यज्ञः पर्वाणि प्रतिरन्नेति कल्पयन् स्वाहाकृताहुतिरेतु देवान् ॥ [९]

तै० ब्रा० ३।७।११।१

यत् कर्मणाऽत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम् ।
अग्निष्टत्स्विष्टकृद् विद्वान् स्विष्टं सुहुतं करोतु ॥ [१०]

श० ब्रा० १४।९।४।२४

---

१. नॉन ऋग्० मन्त्रज़ इन मैरेज, पृ० ८१ से।

२. वे० से० बु० ई० खं० २९, पृ० २७२, सूत्र ११ पर टि०, ओल्डनबर्ग ने भी यहाँ चार मन्त्रों की सम्भावना स्वीकार की है, परन्तु वह उन चारों को पृथक् उद्धृत नहीं कर सका। ओ० ब० के० समान ही ब्लूमफील्ड ने भी (वै० कॉन्०) वषट्कृतम् तक एक ही मन्त्र माना है।

देवा गातुविदो गातुं वित्त्वा गातुमित ।
मनसस्पत इमं देव यज्ञं स्वाहा'वाते धाः ।। [११]
वा० सं० ८।२१

गृह्यसूत्रों के अध्ययन में इस प्रकार के प्रमादों से बचना अत्यन्त आवश्यक है। इस सम्बन्ध में यह तथ्य बहुत आकर्षक है कि जितने पाठ-भेद अथर्व० से उद्धृत मन्त्रों के प्रकट होते हैं उतने ऋ० से उद्धृत मन्त्रों के नहीं। उदाहरणार्थ अथर्व० १४।१।४५ के निम्नलिखित मन्त्र के बहुत से पाठ भेद हैं। केवल प्रमुख भेद नीचे दिये जा रहे हैं :—

या अकृन्तन्नवयन् याश्च तत्निरे या देवीरन्ताँ अभितोऽददन्त ।
तास्त्वा जरसे संव्ययन्त्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वासः ।।
या अकृन्तन्नवयन् या अतन्वत याश्च देव्यो अन्तानभितोऽततन्थ ।
तास्त्वा देव्यो जरसा संव्ययन्तु आयुष्मतीदं परिधत्स्व वासः ।।
मं० ब्रा० १।१।५

या अकृन्तन्या अतन्वन्या आवन्या अवाहरन् याश्चाग्न्या देव्योऽन्तानभितो ऽततन्त ।
तास्त्वा देव्यो जरसे संव्ययन्त्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वासः ।।
मा० गृ० १।१०।८

या अकृन्तन्नवयन् या अतन्वत याश्च देवीस्तन्तूनभितोऽततन्थ ।
तास्त्वा देवीर्जरसे संव्ययस्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वासः ।।
पा० गृ० १।४।१३

सम्भवतया अथर्व० मन्त्रों की कोई सुदृढ़ परम्परा नहीं थी। सायण ने अपने भाष्य में सैंकड़ों स्थलों पर ऐसे पाठ दिये हैं जो अब उपलब्ध संहिता पाठ अथवा पद पाठ में विद्यमान नहीं हैं। अथर्व० के मन्त्रों के पाठभेदों की संख्या सर्वाधिक है।

यद्यपि वैदिक पाठ-भेदों के अध्ययनार्थ निश्चित रूप से गृह्यसूत्र बहुत महत्त्वपूर्ण हैं, तथापि इस दिशा में पदक्रम करने के लिये सावधानी बरतना और श्रौत कर्मों से सम्बद्ध पूर्ववर्ती ग्रन्थों में प्रयुक्त कर्मकाण्ड सम्बन्धी विधि-विधान का ज्ञान होना भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। गृह्यसूत्रों में सुरक्षित पाठान्तर अथर्व० के पाठ सम्बन्धी अध्ययन के लिये विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

द्वितीय अध्याय

प्रारम्भिक विवाह कर्मों में विनियुक्त मन्त्र

विवाह कर्मों में मन्त्रों का विनियोग अत्यन्त प्राचीन है। यह बात प्रायः सभी गृह्यसूत्रों द्वारा विवाह कर्म में विनियुक्त ऋ० (१०।८५) तथा अथर्व० (१४।१, २) के विवाह सूक्तों से स्पष्ट हो जाती है। इन सूक्तों के मन्त्रों तथा विवाह कर्म में प्रयुक्त अन्य मन्त्रों से सूत्रकालीन विवाहित जीवन के आदर्शों पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है। जैसा कि **मम व्रते** आदि मन्त्र से स्पष्ट है, यह प्रत्याशा की जाती थी कि पत्नी को मनसा वाचा कर्मणा पति का अनुसरण करना चाहिये। पति पत्नी के मध्य दाम्पत्य सम्बन्धों की दृढ़ता के आदर्श को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया जाता था। **अश्मारोहण** तथा **ध्रुवदर्शन** के अवसर पर उच्चारित मन्त्र इस आदर्श के प्रतीक हैं। क्योंकि यह सन्देह किया जाता था कि कहीं वधू वर के परिवार के लिये अशुभ अथवा विनाश का कारण न हो, अतः बहुत से कर्मों में वधू के शुभ होने तथा परिवार के लिये समृद्धि की सम्पादयित्री होने के लिये देवताओं से प्रार्थना की गई है। कुछ मन्त्रों में विशेष रूप से वर-वधू के हृदयों को संयुक्त करने के लिये प्रार्थना निहित है। बहुत से मन्त्रों में सामान्य समृद्धि, दीर्घ आयु और सन्तान की कामना व्यक्त की गई है।

इस अध्याय में प्रारम्भिक विवाह कर्मों में विनियुक्त मन्त्रों पर विमर्श किया गया है।

कन्या की परीक्षा

यह विधान है कि विविध स्थानों से लिये गये मिट्टी के चार से लेकर आठ तक ढेले कन्या के सम्मुख रखे जाते हैं। फिर उसे उनमें से किसी एक का स्पर्श करने को कहा जाता है, और जिस ढेले का वह स्पर्श करती है उसके आधार पर विवाह के लिये उसकी योग्यता का निर्णय किया जाता है। निम्नलिखित मन्त्र[1] के द्वारा ढेलों के अभिमन्त्रण का विधान है :—

ऋतमग्रे प्रथमं जज्ञे ऋते सत्यं प्रतिष्ठितम्।
यदियं कुमार्यभिजाता तदियमिह प्रतिपद्यतां यत् सत्यं तद् दृश्यताम् ॥[१२]

१. आ० गृ० १।५।४, गो० गृ० २।१।७, का० गृ० १४।६।

ऋत ही सब से पहले उत्पन्न हुआ, ऋत पर सत्य की प्रतिष्ठा है। यदि यह कुमारी कुलीन है तो यह यहाँ स्वीकार की जाये। जो बात सत्य है वह दिखाई दे जाये।

गो० गृ० और का० गृ० में यह मन्त्र ईषद्-भिन्न रूप में प्राप्त होता है।[१] परन्तु भा० गृ० का उपरिलिखित पाठ इस प्रसंग में उपयुक्ततम प्रतीत होता है क्योंकि इसमें कन्या और उसके द्वारा ढेले के वरण की ओर स्पष्ट संकेत है।

यह मन्त्र पूर्ववर्ती ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता, केवल **ऋते सत्यं प्रतिष्ठितम्** वाक्यांश वहाँ से उद्धृत प्रतीत होता है।[२] यह वाक्यांश मं० ब्रा० (२।४।१०) में गो० गृ० (४।५।३१) द्वारा एक काम्य कर्म में प्रयुक्त मन्त्र के अंश के रूप में (**ऋतं सत्ये** पाठ के साथ) प्रकट होता है।[३]

कन्या का वरण

वर पक्ष के व्यक्तियों के कन्या के वरण के लिये उसके घर को प्रस्थान करने पर ऋ० (१०।८५।२३) के निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण किया जाता है[४] :—

अनृक्षरा ऋजवः सन्तु पन्था येभिः सखायो यन्ति नो वरेयम्।
समर्यमा सम्भगो नो निनीयात् सं जास्पत्यं सुयममस्तु देवाः॥ [१५]

---

१. **ऋतमेव प्रथमम् ऋतं नात्येति कश्चन।**
ऋत इयं पृथिवी श्रिता सर्वमिदमसौ भूयात्॥ गो० गृ० [१४]
का० गृ० में प्रथमम् के स्थान पर परमेष्ठि और कच्चन के स्थान पर किञ्चन पाठ है, द्वितीय पंक्ति गो० गृ० के समान है, केवल इदम् और असौ के मध्य इयम् का समावेश है। इस पाठ का स्रोत तै० ब्रा० १।५।५।१ प्रतीत होता है क्योंकि वह इसके बहुत समान है।

२. तै० सं० ७।१।१८।२, तै०ब्रा० ३।७।७।४, वा० सं० ११।४७, आप० श्रौ० ८।४।२।

३. उस काम्य कर्म में विधान है कि यदि कोई व्यक्ति चाहे कि उसके हाथी और घोड़ों की संख्या में वृद्धि हो तो उसे सूर्य के प्रभामण्डल रहते, तले हुए धान की आहुति देनी चाहिए।

४. अथर्व० १४।१।३४ में केवल प्रथम पंक्ति है। दे० शां० गृ० १।६।१, आप० गृ० २।४।२ (मं० पा० १।१।१, २), बौ० गृ० १।१।१५, वा०गृ० १०।८-९, का० गृ० २५।१, आग्नि० गृ० १।५।१,५; ६।१, जै० गृ० १९।१२ में प्रथम पंक्ति में येभिः के स्थान पर एभिः और द्वितीय पंक्ति में निनीयात् के स्थान पर अनुनीयात् पाठ है।

जिन मार्गों से हमारे मित्र वरण के लिये जा रहे हैं वे कण्टकरहित और ऋजु हों। अर्यमा और भग हमें वहां पहुँचा दें। हे देवो, दाम्पत्य संबन्ध सुदृढ़ हो।

इस मन्त्र का अन्तिम पाद वैदिक संहिताओं में अन्यत्र भी प्राप्त होता है। इन स्थानों पर अन्तिम दो शब्द **अस्तु देवाः** के स्थान पर **आ कृणुष्व** हैं।[1]

का० गृ० में इस मन्त्र के उच्चारण का विधान उस समय है जब कोई व्यक्ति वधू के लिये पवित्र जल लाने जाता है। कौशिक० (७५।१२) के अनुसार इस मन्त्र का उच्चारण करके वधू के संरक्षक को भेजा जाना चाहिए। अस्तु, सभी प्रयोगों में मन्त्र से सम्बद्ध क्रिया जाने की है। इस क्रिया में मन्त्र का विनियोग उसके अर्थ के अनुकूल ही है क्योंकि इसमें मार्ग पर रक्षा की प्रार्थना की गई है और कन्या के वरण-कर्त्ताओं (वरेयम्) का स्पष्ट संकेत है। वै० गृ० (३।२) के अनुसार इसका उच्चारण वर को उस समय करना चाहिये जब वधू उसका ईक्षण कर रही हो। परन्तु मन्त्र में ऐसा कोई शब्द नहीं है जिससे प्रेरित होकर वै० गृ० के रचयिता ने यह विशिष्ट विनियोग किया हो, यद्यपि सुदृढ़ दाम्पत्य सम्बन्ध के लिये सामान्य वैवाहिक प्रार्थना इसमें है।

उपर्युक्त क्रिया के लिए ऋ० (१०।३२।१) मन्त्र का विनियोग अकेले एक बौ० गृ० (१।१।१४) ने किया है :—

प्र सु ग्मन्ता धियसानस्य सक्षणि वरेभिर्वराँ अभि षु प्रसीदतः।
अस्माकमिन्द्र उभयं जुजोषति यत्सोम्यस्यान्धसो बुबोधति ॥[१६]

इन्द्र अपने आगमनार्थ चिन्तित मुझ यजमान के शोभन यज्ञ में आते हुए अपने दोनों अश्वों को प्रेरित करते हैं। वरणीय मार्गों से आहुतिद्रव्य प्राप्त करने वाले मुझ यजमान की आहुति और स्तुति के प्रति शोभनरूप से इन्द्र आ जायें। आकर जब वे सोमसम्पादक हमारे अन्नरूप सोम का आस्वादन करते हैं तब वे हमारी आहुति और स्तुति—दोनों का सेवन करें॥ सा०

यद्यपि कुल मिलाकर मन्त्र का भाव प्रस्तुत क्रिया का सहगामी नहीं है, तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रसंग में इसका विनियोग केवल **ग्मन्ता** (जाने वाला) और **वरेभिर्वरान्** (वरणकर्ताओं के साथ वरणकर्ताओं को) शब्दों के आधार पर हुआ है।

---

१. ऋ० ५।२८।३, अथर्व० ७।७३।१०, वा० सं० ३३।१२, मै० सं० ४।११।१, का० सं० २।१५

वै० गृ० (३।२) के अनुसार जब प्रथम बार वर वधू का ईक्षण करे उस समय उसे (वर को) इसका उच्चारण करना चाहिये। परन्तु इस विनियोग को भी उससे अच्छा नहीं कहा जा सकता।

शां० गृ० (१।६।५) में निर्देश है कि दोनों पक्षों के सम्बन्ध के लिये सहमत हो जाने पर वरण-कर्ताओं को पुष्प, अक्षत, जौ और सुवर्ण से मिश्रित जल से परिपूर्ण कलश का अभिमर्शन (स्पर्श) निम्नलिखित मन्त्र द्वारा करना चाहिये :—

अनाधृष्टमस्यनाधृष्ट्यं देवानामोजोऽनभिशस्त्यभिशस्तिपा
अनभिशस्तेऽन्यमञ्जसा सत्यमुपगेषं सुविते मा धाः ॥ [१७]

तुम अनाधृष्ट हो, तुम देवताओं के धर्षण के अयोग्य ओज हो, तुम पाप रहित हो और पाप से रक्षक हो। हे पापरहित, मैं शक्ति के द्वारा सत्य को प्राप्त होऊँ। तुम मुझे सत्प्रेरणा में स्थापित करो ॥

ऐसा प्रतीत होता है कि उपर्युक्त प्रसंग में मन्त्र का विनियोग करने के लिये सूत्रकार ने पूर्ववर्ती साहित्य[1] का आश्रय लिया है क्योंकि वहाँ इसका विनियोग पुरोहितों के द्वारा तनूनप्ता को समर्पित आज्य का स्पर्श करने की क्रिया में हुआ है। इस क्रिया के द्वारा वे संगठित होकर रहने का व्रत लेते हैं। इस श्रौत कर्म में और प्रस्तुत गृह्य कर्म में केवल स्पर्श की क्रिया समान है। अन्यथा मन्त्र के अर्थ से उन पदार्थों का कोई विशिष्ट सम्बन्ध लक्षित नहीं होता जिनसे कलश भरा जाता है। यद्यपि शां० गृ० ऋग्वेद से सम्बद्ध है तथापि यह मन्त्र उस संहिता में प्राप्त नहीं होता। अतः यह प्रतीत होता है कि इसका गृह्य विनियोग श्रौत विनियोग के आधार पर ही किया गया है।

ब्राह्म विवाह के अन्तर्गत वधू की औपचारिक स्वीकृति के अवसर पर उच्चारणार्थ निःसन्देह का० गृ० (१५।५) में अधिक उपयुक्त मन्त्रों का विनियोग हुआ है। इन मन्त्रों का उच्चारण दोनों पक्षों के लिये ऋत्विक् ही करता है :—

समाना व आकूतानि समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥ [१८]

---

१. दे० वा० सं० ५।५, तै० सं० १।२।१०।२, ६।२।२।३, मै० सं० १।२।७, का० सं० २।८, श० ब्रा० ३।४।२।१४, गो० ब्रा० २।२।३, आ० श्रौ० ४।५।३, शां० श्रौ० ५।८।२, आप० श्रौ० ११।१।२, मा० श्रौ० २।२।१।४; तै० सं०, आ० श्रौ०, आप० श्रौ० और मा० श्रौ० में प्रथम पंक्ति में अनभिशस्ति और दूसरी पंक्ति में अन्यम् नहीं है; मै० सं० और का० सं० में अन्यम् है परन्तु अनभिशस्ति नहीं।

सं वो मनांसि सं व्रता समु चित्तान्यकरम् ।
अमी ये विव्रताः स्थन तान्नः सन्नमयामसि ॥[१९]

तुम्हारे विचार, हृदय तथा मन समान हों जिससे तुम सब का एक साथ निवास सुखकर हो। मैं तुम्हारे मन, व्रत तथा चित्तों को संयुक्त करता हूँ। ये जो तुम में विरुद्ध आचार वाले हैं उन्हें भी हम सदाचारी बनाते हैं।—देवपाल

प्रथम मन्त्र ऋ० १०।१९१।४ के समान है। द्वितीय मन्त्र में ऋ० १०।१९१।२, ३ मन्त्रों के कुछ तत्त्व हैं। मा० गृ० (१।८।१०) में ऋग्वेद के इन ही मन्त्रों का विनियोग हुआ है। उपरिलिखित का० गृ० के मन्त्रों के बहुत अधिक समान पाठ अथर्वं०, मै० सं० तथा का० सं० में प्राप्त होता है।[1] इन मन्त्रों का विनियोग पूर्णतया अर्थानुकूल है। ऋत्विक् द्वारा हृदयों को संयुक्त करने की बात गृह्यकर्म जैसी है क्योंकि वहाँ नये सम्बन्ध की स्थापना हो रही है।

आज्याहुतियाँ

आ० गृ० (१।४।४) का विधान है कि निम्नलिखित तीन मन्त्रों[2] के उच्चारण से आज्याहुतियाँ अर्पित करनी चाहियें :—

अग्न आयूंषि पवस आ सुवोर्जमिषं च नः। आ रे बाधस्व दुच्छुनाम् ॥[२०]
अग्निर्ऋषिः पवमानः पाञ्चजन्यः पुरोहितः। तमीमहे महागयम् ॥[२१]
अग्ने पवस्व स्वपा अस्मे वर्चः सुवीर्यम्। दधद्रयिं मयि पोषम् ॥[२२]

हे अग्नि देव! आप आयु की रक्षा करते हैं। हमें बल और अन्न प्रदान कीजिये। रोगादि राक्षसों को दूर रोकिये॥ अग्नि ऋषि (सर्वद्रष्टा) है, शोधक है, सभी जनों के लिये हितकर है और सब का नेता है। उस अत्यन्त प्रशंसनीय को हम प्राप्त होते हैं। हे शुभ कर्म वाले अग्नि देव!

---

१. मै० सं० २।२।६, का० सं० १०।१२, अथर्व० ३।८।५, ६।९४।१—द्वितीय पंक्ति में इन संहिताओं में तान्न में स्थान पर तान् वः पाठ है। दे०, तै० ब्रा० २।४।४।५।

२. ऋ० ९।६६।१९-२१. वा० सं० १९।३८, ३५।१६, २६।९, ८।३८; तै० सं० १।३।१४।८,५।५।२, ६।६।२ में केवल प्रथम और अन्तिम मन्त्र हैं। पोषम् शब्द दधत् और रयिम् के मध्य आ गया है। मै० सं० १।५।१—तीनों मन्त्र उसी क्रम में। का० सं० ४।११ और ७।१६—प्रथम और अन्तिम क्रमशः, दे० तै० ब्रा० २।६।३।४, तै० ब्रा० २।५।१।

हमारे बल और पराक्रम को शुद्ध कीजिये। मुझमें धन और (शारीरिक तथा मानसिक) पुष्टि धारण कराइये।

ऐसा प्रतीत होता है कि ये मन्त्र ऋग्वेद से सीधे ही लिये गये हैं क्योंकि वहाँ भी मूल रूप में उनका यही क्रम है। जहाँ तक विनियोग का सम्बन्ध है, तै० सं० में वे काम्येष्टियों में आहुतियों की याज्याओं के रूप में दिये गये हैं। मै० सं० में ये मन्त्र अग्नि-उपस्थान (पूजन) के निमित्त रखे गये हैं। का० सं० ६.२ में प्रथम मन्त्र का विनियोग दो आज्य-भागों के साथ है—आज्य-भागों में इस मन्त्र का विनियोग उपयुक्ततम माना गया है क्योंकि आज्य-भागों के देवता अग्नि और सोम दोनों ही इस मन्त्र के भी देवता हैं। कौ० ब्रा० (११।४) और श० ब्रा० (२।२।३।३२) में भी प्रथम मन्त्र का विनियोग आज्य–भागों के साथ ही किया गया है। आ० श्रौ० (२।३।२६) में तीनों मन्त्रों का विनियोग पुत्र-प्राप्त्यर्थ काम्य यज्ञ में किया गया है। का० गृ० (२५।१६) में तथा वा० गृ० (४।५) में गोदान संस्कार में आहुतियों के लिये इन मन्त्रों का विनियोग हुआ है। अग्नि को सम्बोधित होने के कारण आहुतियों में ये मन्त्र सामान्यतया विनियोगोपयुक्त हैं।

गृह्यसूत्रों में निम्नलिखित मन्त्र (ऋ० १०।१२१।१०) के द्वारा एक और आहुति का विधान है[1]:—

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥ [२३]

हे प्रजापति, आप से अन्य कोई और इन सब उत्पन्न (प्राणियों तथा पदार्थों) को अपने अधिकार में नहीं कर सकता। जिस कामना को लेकर हम आहुति प्रदान करते हैं, हमारी वह कामना (पूर्ण) हो। हम (दान योग्य) धन के स्वामी हो जायें।

आ० गृ० (२।४।१४) ने इस मन्त्र का प्रयोग अष्टका में भी स्थालीपाक के अंशों की आहुति देने के लिये किया है।

यह मन्त्र समस्त वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध होता है। ऋ० में यह हिरण्यगर्भ सूक्त का अन्तिम मन्त्र है। प्रसङ्गानुसार प्रजापति सर्व शक्तिमान् हिरण्यगर्भ से भिन्न और कोई नहीं। अथर्व० में[2] यह मन्त्र पूर्णिमा तथा अमावस्या से

---

१. आ० गृ० १।४।४, का० गृ० २२।२, आग्नि० गृ० १।५।४, बौ० गृ० १।४।३३, मा० गृ० १।१४, मा० गृ० १।१०।११।

२. अथर्व० ७।८०।३, प्रथम पंक्ति में जातानि परिता बभूव के स्थान पर रूपाणि-परिभूर्जजान, अथर्व० ७।७९।४, प्रजापते के स्थान पर अमावास्ये।

सम्बद्ध सूक्तों में विद्यमान है यद्यपि इस में वर्णित विशेषतायें इन देवताओं के लिये अनुपयुक्त सी प्रतीत होती हैं। यजुर्वेद संहिताओं में[1] इस मन्त्र का विनियोग यजमान के द्वारा पवित्र जल के छींटों की आहुति में किया गया है। मै० सं० और का० सं० में[2] इस मन्त्र के पाठों से प्रकट होता है कि अत्यन्त प्राचीन काल में ही विनियोग क्षेत्र में इस मन्त्र ने विशेष महत्त्व प्राप्त कर लिया था। तै० सं० (३।२।५।६) में इस मन्त्र का विनियोग सोम याग में पितरों को आहुति देने में हुआ है। इसी प्रकार ब्राह्मण और श्रौत साहित्य में भी[3] इस मन्त्र का उपर्युक्त आहुतियों में विनियोग हुआ है। परन्तु श० ब्रा० १४।९।३।३ में इसका विनियोग किसी महत्त्वाकांक्षा की प्राप्ति के निमित्त अनुष्ठित कर्म में किया गया है।

अतः यह प्रतीत होता है कि इस मन्त्र के गृह्य विनियोग का आधार मुख्यतया पूर्ववर्ती विनियोग ही है। इसके पूर्ण विवेचन के लिये देखिये मन्त्र सं० ३९२ और ३९३ तथा १०९१ और १०९२ के मध्य।

आ० गृ० और आप० गृ० ने[4] एक अन्य आज्य आहुति के लिये निम्नलिखित मन्त्र (ऋ० ५।३।२) का विधान किया है:—

त्वमर्यमा भवसि यत्कनीनां नाम स्वधावन्गुह्यं बिभर्षि ।
अञ्जन्ति मित्रं सुधितं न गोभिर्यद्दम्पती समनसा कृणोषि ।। [२४]

हे अग्नि, जब तुम कन्याओं के (सम्बन्धी) होते हो तो, तुम अर्यमा होते हो। और हे आहुति रूप अन्न वाले, तुम अपना गुप्त नाम 'वैश्वानर' धारण करते हो। क्योंकि तुम दम्पती को सममनस्क बनाते हो, अतः (सभी जन) दुग्धादि गोविकारों से सुस्थित मित्र के समान तुम्हारी सेवा करते हैं ।। सा०

---

१. वा० सं० १०।२०, तै० सं० १।८।१४।२, मै० सं० २।६।१२, का० सं० १५।८, वा० सं०—जातानि के स्थान पर रूपाणि। तै० सं० पूर्णतया ऋ० के समान।

२. मै० सं० द्वितीय पंक्ति में यत्कामास्ते के स्थान पर यस्मै कम्, इस पंक्ति के दोनों पादों के मध्य असा अमुष्य पुत्रोऽमुष्यासौ पुत्रः का समावेश है। का० सं० में भी यह समावेश है, परन्तु प्रथम पंक्ति में न त्वदेतान्यन्यः के स्थान पर न हि त्वदन्य एता।

३. तै० ब्रा० २।८।१।२, ३।५।७।१, आप० श्रौ० १८।१६, बौ० श्रौ० १२।१०।११ मा० श्रौ० ९।१।३, का० श्रौ० १५।६।११।

४. आ० गृ० १।४।७, आप० गृ० २।५।९ (मं० पा० १।५।१२)

विवाह प्रसंग में इस मन्त्र का विनियोग संगत प्रतीत होता है क्योंकि यह अर्यमा के प्रति सम्बोधित है। अर्यमा को कई स्थानों पर विवाह से सम्बद्ध कहा गया है। उसका सम्बन्ध सन्तान प्राप्ति के लिये दम्पती के प्रति आशीर्वचन से भी है।[1] अतः वा० गृ० (१६.७) के द्वारा इस मन्त्र का सीमन्तोन्नयन संस्कार में विनियोग भी संगत है क्योंकि वह संस्कार भी सन्तान से सम्बद्ध है।

वधू का स्नान अभिषिञ्चन और प्रक्षालन

भा० गृ० (१.१८) और आग्नि गृ० (१.६.१) में विधान है कि वर के माता पिता के द्वारा शुल्कदेया कन्या की औपचारिक स्वीकृति के पश्चात् निम्नलिखित चार मन्त्रों का उच्चारण करते हुए उसका जलाभिषिञ्चन करना चाहिये:—

हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका यासु जातः कश्यपो यास्विन्द्रः ।
अग्निं या गर्भं दधिरे विरूपास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥ [२५]

यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यन् जनानाम् ।
मधुश्चुतः शुचयो याः पावकास्ता........................ ॥ [२६]

यासां देवा दिवि कृण्वन्ति भक्षं या अन्तरिक्षे बहुधा भवन्ति ।
याः पृथिवीं पयसोन्दन्ति शुक्रास्ता........................ ॥ [२७]

शिवेन मा चक्षुषा पश्यतापः शिवया तन्वोपस्पृशत त्वचं मे ।
सर्वां अग्नींरप्सुषदो हुवे मयि वर्चो बलमोजो निधत्त ॥ [२८]

जिनसे कश्यप उत्पन्न हुआ, जिनसे इन्द्र उत्पन्न हुआ, जो अग्नि को गर्भ रूप में धारण करते हैं, सुवर्ण वर्ण वाले, शुद्ध, पवित्र और विविधरूप वाले वे जल हमारे लिये सुख-शान्ति जनक हों। जिनका राजा वरुण जनों के सत्य और झूठ का अवलोकन करता हुआ (सबके) मध्य विचरण करता है, जो मधु (आनन्द) प्रदान करने वाले, शुद्ध, और पवित्र हैं वे जल.........। स्वर्ग में देवता जिनका पान करते हैं, जो अन्तरिक्ष में बहुगुणित होते हैं, जो पृथ्वी को भिगो देते हैं, वे शुद्ध जल.........। हे जल ! आप मुझे कल्याणमय दृष्टि से देखिये, कल्याणमय शरीर से मेरी त्वचा का स्पर्श कीजिये। मैं जल में निहित सभी (विद्युत्, वडवानल आदि) अग्नियों का आह्वान करता हूँ। मुझमें तेज, बल और ओजस्विता निहित कीजिये।

---

१. ऋ० १०.८५.३६, अथर्व० १४.१.१७, २.१३—अर्यमा...त्वादुर्गार्हपत्याय। दे० मन्त्र सं० १३७।

क॰ गृ॰ २६।५ में यह विधान है कि जब शुल्कदेयी कन्या के शुल्क के रूप में प्राप्त जल से पूर्ण कांस्य पात्र में निहित सुवर्ण का स्पर्श कन्या के सभी बान्धव करते हैं, तब इस मन्त्र-समूह का उच्चारण करना चाहिये।

इन मन्त्रों का समान पाठ तै॰ सं॰ और मै॰ सं॰ में[1] उपलब्ध है और वहीं से उपर्युक्त गृह्यसूत्रों ने इन्हें उद्धृत किया है। इन मन्त्रों का आदि रूप अथर्ववेद में और बीज ऋग्वेद में प्राप्त होता है। अथर्व॰ १।३३ में प्रथम मन्त्र का उत्तरार्ध ही द्वितीय तथा तृतीय मन्त्रों के उत्तरार्ध के रूप में प्रकट होता है। प्रथम मन्त्र में अथर्व॰ में **कश्यपो यास्विन्द्रः** के स्थान पर **सविता यास्वग्निः** पाठ है। इस वेद में उपरिलिखित द्वितीय मन्त्र का उत्तरार्ध चतुर्थ मन्त्र का भी उत्तरार्ध है। और यही द्वितीय मन्त्र ऋ॰ (७।४९।३) के निम्नलिखित मन्त्र के समान है:—

यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यञ्जनानाम्।
मधुश्चुतः शुचयो याः पावकास्ता आपो देवीरिह मामवन्तु॥

इस समस्त ऋग्वेदीय सूक्त की देवता **आपः** हैं, अतएव प्रतीत होता है कि इसी सूक्त के आधार पर कृष्णयजुर्वेद में उपरिलिखित मन्त्रों की रचना हुई। इस सूक्त के चारों मन्त्रों का अन्तिम पाद **ता आपो देवीः** इत्यादि समान है और इस पाद का तै॰ सं॰ के मन्त्रों के अन्तिम पाद **ता न आपः शंस्योना भवन्तु** से अत्यन्त निकट का भाव-साम्य भी है।

आपस्तम्ब ने[2] इन मन्त्रों का विनियोग उस अवसर पर किया है जब वधू के सिर पर निहित सुवर्णमणि से युक्त युगच्छिद्र में से जल प्रवाहित करके उसके द्वारा उसको स्नान कराया जाता है। गृह्यसूत्रों के मध्य मं॰पा॰ में इन मन्त्रों की प्राचीनतम परम्परा सुरक्षित प्रतीत होती है क्योंकि यहाँ मन्त्रों का अथर्ववेदीय मन्त्रों से अत्यधिक साम्य है। जैसे अथर्व॰ में प्रथम मन्त्र में **इन्द्रः** के स्थान पर **अग्निः** पाठ है, उसी प्रकार यहाँ भी। इसी मन्त्र के उत्तरार्ध में मं॰ पा॰ में **विरूपास्ता नः** के स्थान पर **सुवर्णास्तास्ते** पाठ है। यहाँ ते पाठ अपेक्षित ही है क्योंकि यहाँ इन मन्त्रों के द्वारा वधू को सम्बोधित किया गया है। हि॰ गृ॰ (१।२१।५) में सप्तपदी के पश्चात् इन मन्त्रों से वर के द्वारा वधू के अभिषिञ्चन का विधान है।

विवाह के अतिरिक्त इन मन्त्रों का विनियोग गृह्यसूत्रों के द्वारा जल से सम्बद्ध अन्य कर्मों में भी किया गया है। इसी के साथ साथ यह ध्यान

---

१. तै॰ सं॰ ५।६।१।१-२, मै॰ सं॰ २।१३।१।
२. आप॰ गृ॰ २।४।८ (मं॰ पा॰ १।२।२-५)।

देने योग्य बात है कि इन मन्त्रों का विनियोग केवल कृष्ण यजुर्वेद के गृह्यसूत्रों में ही हुआ है।

बहुत से गृह्यसूत्र[1] इन मन्त्रों का विनियोग समावर्तन संस्कार में स्नातक के स्नान कर्म में करते हैं। आपस्तम्ब के अनुसार[2] समावर्तन में ही स्नातक प्रथम मन्त्र से उपधान सहित सुवर्णमणि को जलपात्र में तीन बार प्रदक्षिण विधि से घुमाता है और द्वितीय मन्त्र से उस मणि को ग्रीवा में बाँधता है। कुछ गृह्यसूत्रों में[3] इस मन्त्र-समूह का विनियोग वार्षिक अध्ययनावकाश के अवसर पर उत्सर्ग कर्म में किया गया है। तदनुसार शिष्य और आचार्य इन मन्त्रों का जाप करते हुए नदी में अवगाहन करते हैं।

वा० गृ० (४।३) इनका प्रयोग चूडाकर्म (मुण्डन) में उदक-पात्र का अभिमन्त्रण करने के लिये करता है। बौ० गृ० (१।११।६) में इन मन्त्रों का विनियोग सीमन्तोन्नयन संस्कार में हुआ है। और आग्नि० गृ० (२।५।१२) में बीजवपन कर्म में इनका विनियोग जल के द्वारा हल इत्यादि के धोने के लिये किया गया है। कौशिक सूत्र में इन मन्त्रों के आधार भूत सूक्त (अथर्व० १।३३) का विनियोग उन अनेक कर्मों में हुआ है जिनमें जल का प्रयोग होता है। एक स्थान पर (९०।९) इस सूक्त को **हिरण्यवर्णा ऋचः** भी कहा गया है।

यह बहुत आश्चर्यजनक बात है कि यद्यपि इन मन्त्रों के अर्थ से जल के साथ इनका सम्बन्ध स्पष्ट ही अभिव्यक्त होता है तथापि स्रोतोभूत तै० सं० और तै० ब्रा० (२।८।९।३) में इस सम्बन्ध को ध्यान में नहीं रखा गया। यथा तै० सं० में वेदीचयन के अवसर पर चिनी गई कुम्भेष्टकाओं का इन मन्त्रों से अभिमन्त्रण का निर्देश है। और तैत्तिरीय ब्राह्मण में पशुकल्प मे वपा (चर्बी) की आहुति के अवसर पर प्रथम मन्त्र पुरोनुवाक्या के रूप में और द्वितीय मन्त्र याज्या के रूप में निर्दिष्ट है। इसी पशुकल्प प्रसंग में पुरोडाश की आहुति के अवसर पर तृतीय और चतुर्थ मन्त्र क्रमशः पुरोनुवाक्या और याज्या निर्दिष्ट हुए हैं।

इस सम्बन्ध में यह स्वीकार करने में हमें संकोच नहीं होना चाहिये कि इन

---

१. मा० गृ० १।२।११, का० गृ० ३।५, वा० गृ० ९।९, भा० गृ० २।१९, हि० गृ० १।१०।२, आग्नि० गृ० १।३ ३।

२. आप० गृ० २।१२।८ (मं० पा० २।७।१६, १७)।

३. मा० गृ० ३।८, हि० गृ० २।१८।९, आग्नि० गृ० १।२।२।

४. कौशिक० ७।१४; ९।१,४; १८।३; ४१।१४; ५४।६; ९०।९; १२१।१; १३६।८।

मन्त्रों के उपयुक्त विनियोग की दृष्टि से गृह्यसूत्र अधिक मौलिक हैं। उन्होंने मन्त्रों के भाव का पूर्ण रूपेण अनुसरण किया है। इन मन्त्रों का गृह्य-मूल इस बात से भी सिद्ध होता है कि इनका मूल प्रमुख रूप से गृह्यमन्त्रों के संग्रह–भूत अथर्ववेद में विद्यमान है। इन मन्त्रों का किसी सुवर्णमय पदार्थ के साथ सम्बन्ध स्थापित करने में सम्भवतया गृह्यसूत्रों का आधार **हिरण्यवर्णाः** शब्द रहा होगा। जल को स्वर्ण के समान वर्ण वाला कहने का भाव ऋग्वेद जितना प्राचीन है क्योंकि वहाँ भी (ऋ० २।३५।६) यह्वियों (नदियों) को **हिरण्यवर्णाः** कहा गया है।[1]

ये मन्त्र कृष्णयजुर्वेद के अतिरिक्त अन्य वेदों से सम्बद्ध गृह्यसूत्रों में क्यों नहीं विनियुक्त हुए, इस प्रश्न के सम्बन्ध में ऐसा प्रतीत होता है कि तब ऋ० (१०।६।१-३) के **आपोहिष्ठीय** मन्त्र अधिक प्रचलित थे क्योंकि जिन कृष्णयजुर्वेदीय गृह्यसूत्रों में **हिरण्यवर्णाः** इत्यादि मन्त्रों का विनियोग है, उन में ही उसी प्रसंग में **आपोहिष्ठीय** मन्त्रों का विनियोग भी है। (दे० मन्त्र सं० १८६—१८८)

गृह्यसूत्रों में इस मन्त्र-समूह के साधारण विनियोग का अपवाद का० गृ० (४३।४) में प्राप्त होता है जहाँ चतुर्होतृक व्रत के अन्तर्गत अग्नि में समिदाधान करते हुए इसके उच्चारण का विधान है। सम्भवतया इस विषय में गृह्यसूत्र ने तै० सं० का अनुसरण किया है क्योंकि वहाँ भी मन्त्रोंके साथ (इष्टकाओं के) आधान की क्रिया सम्बद्ध है।

इसी मन्त्र-समूह के साथ साथ आप० गृ० (२।४।८) में वधू के सिर पर जल प्रसेचन करने के लिये एक समान-रूप मन्त्र के उच्चारण का निर्देश है। मं० पा० (१।२।१) के अनुसार उस मन्त्र का निम्नलिखित पाठ है:—

हिरण्यवर्णाः शुचयः पावकाः प्र चक्रमुर्हित्वावद्यमापः।
शतं पवित्रा वितता ह्यासु ताभिष्ट्वा देवः सविता पुनातु॥ [२६]

सुवर्ण के समान वर्ण वाले, शुद्ध तथा पवित्र जल दूषित तत्त्व का त्याग कर प्रवाहित हो रहे हैं। इनमें सैंकड़ों पवित्र (तत्त्व) फैले हुए हैं।

---

१. इस सम्बन्ध में वैदिक सम्पत्ति में प्रकट रघुनन्दन शर्मा का मत स्मरणीय है। वे ऋग्वेद में जल का स्वर्ण-वर्ण रूप में वर्णन देखकर तथा जल उक्त वर्ण वाला नहीं होता यह विचार करके यह निर्णय करते हैं कि ऋ० में आपः अथवा नदियां जल-रूप में वर्णित न करके महा-प्रकाश-किरण-रूप वर्णित की गई हैं। उनका वर्ण भी सुवर्ण जैसा दृष्टिगोचर होता है।

सवितृ देव उनके द्वारा तुम्हें पवित्र करें।

का० गृ० (३।५) के अनुसार इस मन्त्र का उच्चारण समावर्तन संस्कार में स्नातक के स्नान के अवसर पर अन्य मन्त्रों के साथ साथ होना चाहिये।

स्वल्प पाठ-भेद सहित यही मन्त्र मै० सं० (१।२।१) में प्राप्त होता है। वहाँ वितता हि के स्थान पर विततानि और त्वा के स्थार पर मा पाठ है।

आप० श्रौ० (१०।६।१) में भी गृह्यसूत्र के समान ही इस मन्त्र से जल क्रिया सम्बद्ध है। वहाँ सोमयाग की दीक्षा में यजमान इस मन्त्र के द्वारा जल का अभिमन्त्रण करता है।

इस मन्त्र के विनियोग प्रसंग में भी का० गृ० ४३।४ अपवाद है क्योंकि वहाँ चतुर्होतृ व्रत के अन्तंगत समिदाधान के निमित्त इसका उच्चारण निर्दिष्ट है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस मन्त्र की रचना पूर्वोक्त मन्त्र-समूह के आधार पर ही हुई। अतः इस मन्त्र को भी मूल रूप में गृह्य-मन्त्र ही कहा जा सकता है।

इन सभी मन्त्रों के विषय में यह प्रश्न स्वाभाविक है कि इन मन्त्रों के बहु-विध प्रयोग का क्या कारण है। यह पूर्णरूपेण स्पष्ट है कि कुछ भी कर्म हो या कोई भी संस्कार, सर्वत्र इन मन्त्रों का जल के साथ सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है। यह बात विचारणीय नहीं है कि जल से क्या क्रिया सम्पादित होती है—वह क्रिया स्नान हो, या मार्जन हो, अभिषेक हो या स्नान, जल का ही अभिमन्त्रण हो अथवा जल में किसी पदार्थ का प्लावन हो—उन सभी स्थलों पर जल ही प्रधान है। जहाँ भी इन मन्त्रों का विनियोग हुआ है वहाँ जल आवश्यक है।

वधू द्वारा विभिन्न वाद्यों का वादन

वधू के स्नान तथा अलंकृत करा दिये जाने पर परिवार का आचार्य कुछ विशेष देवताओं को स्थालीपाक आहुतियां अर्पित करता है।[1] इसके पश्चात् वधू निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करती हुई विभिन्न वाद्यों को बजाती है[2] :—

शुनं वद दुन्दुभे सुप्रजास्त्वाय गोमुख प्रक्रीडयन्तु कन्याः
सुमनस्यमानाः सहेन्द्राण्या कृतमङ्गलाः ॥ [३०]

हे दुन्दुभि, अच्छी सन्तान की प्राप्ति के लिए चारु शब्द करो, हे गोमुख, जिनका मङ्गल कार्य हो गया है ऐसी शुभ मन कन्याएं इन्द्राणी के साथ खेलें।

---

१. का० गृ० १७।१, मा० गृ० २।१३।६
२. का० गृ० या लौ० गृ० १७।२

ऐसा प्रतीत होता है कि लौ० गृ० के रचयिता ने यहाँ शुनम् को अस्पष्ट समझकर उसके स्थान पर स्वनम् शब्द दिया है, यद्यपि इस परिवर्तन की विशेष आवश्यकता नहीं। इसी शब्द के स्थान पर, सम्भवतया उपर्युक्त कारण से वा० गृ० (१३।४) में शुभम् पाठ है। वा० गृ० में प्रक्रीडयन्तु (प्रेरणार्थक) के स्थान पर प्रक्रीडन्तु पाठ है जो कि निस्सन्देह अधिक ग्राह्य है। इसमें कृतमङ्गलाः के स्थान पर सवयसः सनीडाः पाठ है तथा अन्त में ये पंक्तियाँ भी जोड़ी गई हैं :—

प्रजापतिर्यो वसति प्रजासु प्रजास्तन्वते सुमनस्यमानाः।
स इमाः प्रजा रमयतु प्रजात्यै स्वयं च नो रमतां शं दधानः।। [३१]

जो प्रजापति सभी प्रजाओं में निवास करता है और शुभ मन वाली प्रजाओं का विस्तार करता है, वह सन्तानोत्पत्ति के निमित्त इन प्रजाओं को आनन्दित करे और हमें शान्ति प्रदान करता हुआ स्वयं भी आनन्दित हो।

सब मिलाकर वा० गृ० का पाठ उत्तम प्रतीत होता है क्योंकि विवाह के अवसर पर शुभ की कामना बहुत उपयुक्त है। इसके अतिरिक्त प्रजापतिर्यः इत्यादि पंक्तियाँ भी बहुत उपयुक्त हैं क्योंकि न केवल प्रजापति विवाह का अधिष्ठातृ-देव है, अपितु इन पंक्तियों में सन्तानोत्पत्ति की कामना भी दाम्पत्य जीवन का प्रमुख अङ्ग है।

गायन

का० गृ० २२।१ में विधान है कि विवाह-पूर्व रात्रि को कुमारियों अथवा अविधवाओं को निम्नलिखित मन्त्र गाना चाहिये :—

क्रीडं वः शर्धो मारुतमनर्वाणं रथेशुभम्। कण्वा अभि प्रगायत।। [३२]

हे कण्वगोत्रोत्पन्न महर्षियो, आप अपने निमित्त रथ पर सुशोभित, भ्रातृव्यरहित, विहरणशील, मरुत्समूहसम्बन्धी बल का सब ओर प्रकृष्ट स्तुतिगान कीजिये।। सा०

ऋग्वेद में यह मरुत् देवता वाले सूक्त का प्रथम मन्त्र है। तै० सं०, आ० श्रौ० और शां० श्रौ० में इसका प्रयोग साकमेध यज्ञ में क्रीडी रूपी मरुतों के लिए आहुति की पुरोनुवाक्या के रूप में हुआ है।[1] परन्तु इस विनियोग से मन्त्र के गृह्य विनियोग की पुष्टि नहीं होती। यद्यपि मरुतों को भी गायक माना गया है,[2] तथापि इस प्रसंग

---

१. ऋ० १।३७।१, तै० सं० ४।३।१३।६, मै० सं० ४।१०।५। का० सं० २१।१३, ऐ० ब्रा० ५।१६।१६, आ० श्रौ० २।१८।१६, शां० श्रौ० ३।१५।१५

२. वैदिक देव शास्त्र (मैक्डॉनल) मरुद्देवता सम्बन्धी टिप्पणी।

में ऐसा प्रतीत होता है कि का० गृ० ने यह गृह्य विनियोग 'अभिप्रगायत' शब्द के आधार पर किया है।

वधू के सिर के ऊपर रथ के जुए को पकड़ना

आप० गृ० और का० गृ०[1] के अनुसार वधू के सिर के ऊपर रथ के जुए के पकड़े जाने के समय ऋ० (८।९१।७) के निम्नलिखित मन्त्र[2] का उच्चारण करना चाहिए :—

खे रथस्य खेऽनसः खे युगस्य शतक्रतो ।
अपालामिन्द्र त्रिष्पूत्व्यकृणोः सूर्यत्वचम् ॥ [६]

हे शतक्रतु, रथ के छिद्र में से, बैलगाड़ी के छिद्र में से ओर जुए के छिद्र में से अपाला को तीन बार पवित्र करके हे इन्द्र, तूने सूर्य के समान त्वचा वाली बना दिया है।

मा० गृ० १।८।११ के अनुसार इस मन्त्र के उच्चारण से कांस्य पात्र में स्थापित जल के द्वारा वधू का अभिषिञ्चन किया जाना चाहिए।[3] शां० गृ० और का० गृ०[4] में इस मन्त्र का विनियोग वधू के पति-गृह को प्रस्थान के समय रथ के छिद्रों में वृक्ष की शाखाएँ लगाने के लिए किया गया है।

मा० गृ० के विनियोग को छोड़कर अन्य सभी स्थानों पर ऐसा प्रतीत होता है कि गृह्यसूत्रकारों के मस्तिष्क में मन्त्र में वर्णित रथादि के छिद्रों का भाव विद्यमान था। ऐसा प्रतीत होता है कि उनके ध्यान में वह परम्परागत कथा भी थी जिसके अनुसार इन्द्र ने अपाला नाम की एक स्त्री को रथ के, बैलगाड़ी के तथा जुए के छिद्रों में से तीन बार खींचकर निकाला और उसे सूर्य के समान तेजस्वी त्वचा प्रदान की। इसके गृह्य विनियोग की पृष्ठभूमि में भी सम्भवतया यह भावना रही होगी कि वधू भी इसी प्रकार की तेजोयुक्त त्वचा प्राप्त करे। या फिर इस मन्त्र का समावेश विवाह कर्म में केवल इसलिए कर लिया गया क्योंकि यह अथर्व० (१४।१) के विवाह सूक्त में है।

---

१. आप० गृ० २।४।८ (मं० पा० १।१।९) प्रथमपाद—'खेऽनसः खेरथः, पूत्व्यकृणोः के स्थान पर पूर्त्व्यकरत्, का० गृ० २५।९...द्वितीय पंक्ति :—अपालामिन्द्र त्रिष्पूत्वा करोतु सूर्यवर्चसम्॥

२. दे० अथर्व १।४।१।४१—त्रिष्पूत्व्यकृणोः के स्थान पर त्रिष्पूत्वाकृणोः।

३. मा० गृ० इन्द्र त्रिष्पूत्व्यकृणोः के स्थान पर इन्द्रस्त्रिः पूर्त्यवकृणोत्।

४. शां० गृ० १।१५।६, का० गृ० २६।३

डॉ० राम गोपाल ने ऋ० ८।९१ की आख्यान-विहीन व्याख्या करने का प्रयास किया है। उनके मतानुसार इसमें पार करने में कठिन अपारा अथवा अपाला नदी का वर्णन है। तदनुसार इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—

रथ (-आकार शिला) के विवर में से, बैल गाड़ी (-आकार शिला) के विवर में से, और युग (-आकार शिला) के विवर में से इस नदी को तोन बार पवित्र करके इन्द्र ने उसके ऊपरी तल को सूर्य के समान उज्ज्वल कर दिया।[1]

वा० गृ० ने[2] इसका विनियोग वधू को नव परिधान प्रदान करने की क्रिया में किया है। इस विनियोग की पुष्टि न तो किसी पूर्व परम्परा से और न ही मन्त्रार्थ से होती है।

वधू-गृह के प्रति वर-यात्रा

का० गृ० २३।१-४ में वधू-गृह के प्रति वर-यात्रा का विशद तथा पूर्ण वर्णन दिया गया है। तदनुसार प्रस्थान करने से पूर्व वर और उसके सम्बन्धी निम्नलिखित मन्त्र[3] का उच्चारण करते हुए किसी जलाशय पर जाते हैं:—

पूषा मा प्रपथे पातु पूषा मा पशुपाः पातु पूषा माधिपतिः पातु। [३३]

पूषा मार्ग में मेरी रक्षा करे, पशुओं का रक्षक पूषा मेरी रक्षा करे, (सबका) स्वामी पूषा मेरी रक्षा करे।

मन्त्र का यह पाठ का० सं० से उद्धृत है। आप० श्रौ० के षष्ठ काण्ड में इसका विनियोग अग्निहोत्र कर्म में सभी लोकों के उपस्थान में हुआ है। सप्तम काण्ड में

---

१. वि० इं० ज० वर्ष २, अंक १, (ए नॉन लिजेण्डरी इंटरप्रिटेशन ऑफ दि अपाला सूक्त, पृ० ५५-७२)।

२. वा० गृ० १४।१, द्वितीय पंक्ति-अबालामिन्द्रस्त्रिः पूर्त्यकृणोत् सूर्यवर्चसः॥ अधिकतर उपरिलिखित पाठ-भेद भ्रष्ट पाठ के प्रयोग हैं। दे० डॉ० राम-गोपाल-नॉन लिजेंडरी इंटरप्रिटेशन ऑफ दि अपाला सूक्त, वि०इं० ज० वर्ष २, अंक १, पृष्ठ ५९।

३. मै० सं० १।५।४, ११, का० सं० ७।२, ९, आप० श्रौ० ६।१८।३, ७।२३।६, मा० श्रौ० १।६।२।१३। (मै० सं०- प्रपथे और अधिपतिः के स्थान पर क्रमशः पथिपाः और अधिपाः, आप० श्रौ०, मै० सं० के समान, पूषा माधिपतिः पातु भी जोड़ता है।

पशुबन्ध यज्ञ में जब आहुति के लिये पशु के खण्डों का अधिश्रपण (पाचन) किया जाता है, तो यजमान पुरोहित से तीन बार पूछता है कि आहुति का अधिश्रपण हो गया है या नहीं; प्रत्येक बार जब वह यह प्रश्न पूछता है तो वह क्रमशः इस मन्त्र के एक एक अंश का उच्चारण करता हुआ कुछ पद आगे बढ़ता है। सम्भवतया इस मन्त्र के गृह्य विनियोग का आधार आ० श्रौ० का श्रौत विनियोग है क्योंकि दोनों स्थलों पर मन्त्र से गमन क्रिया ही सम्बद्ध है।

जलाशय पर पहुँचने के पश्चात् यह विधान है कि ऋ० १०।९।४ के उच्चारण से उन सबको अपने सिर पर जल का अभिषिञ्चन करना चाहिये और उसका आचमन करना चाहियेः—

शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शंयोरभिस्रवन्तु नः ॥ [३४]

जल देवता हमारी इच्छा के अनुकूल हमारी रक्षा के लिये शान्त हों। वे हमारे लिये शान्त और सुख पूर्ण होकर प्रवाहित हों।

इस मन्त्र का विनियोग अन्य गृह्यसूत्रों में विभिन्न कर्मों में हुआ है। आ० गृ० (४।७।११) के अनुसार इसके द्वारा मासिक श्राद्ध में जल का अभिमन्त्रण किया जाना चाहिये। कौशिक० १४०।५ में इन्द्रमहोत्सव में राजा तथा ब्रह्मा पुरोहित के द्वारा जल का आचमन करने के लिये इसका विनियोग किया गया है। हि० गृ० १।५।७ में उपनयन संस्कार के अन्तर्गत जब आचार्य और शिष्य जल द्वारा अपना मार्जन करते हैं उस समय इस मन्त्र के उच्चारण का निर्देश है।

तै० सं० और मै० सं० के अतिरिक्त यह मन्त्र सभी संहिताओं में विद्यमान है।[1] विशेष वेदों के अध्ययन के लिये विशेष मन्त्रों के प्रयोग के विषय में विचार करते हुए गो० ब्रा० (१।२९) ने कहा कि है अथर्ववेद के अध्ययन का प्रारम्भ उपरिलिखित मन्त्र का उच्चारण करके करना चाहिए क्योंकि जल अथर्ववेद का आयतन है और यह मन्त्र भी जल की स्तुति है। इसके महत्त्व का वर्णन करते हुए आगे चल कर कहा गया है कि सभी प्राणी जल से उत्पन्न होते हैं, इसीलिये यह सब जल से परिपूर्ण—भृग्वङ्गिरा से युक्त हो गया है। कुछ अन्य ग्रन्थों में अग्न्याधान कर्म में वेदी का जल द्वारा अभिषिञ्चन करने के लिये इस मन्त्र का विनियोग हुआ है।[2] मा० श्रौ० (६।१।५।२२) के अनुसार वेदीचयन कर्म में इस मन्त्र का उच्चारण

१. अथर्व० १।६।१, वा० सं० ३६।१२, का० सं० १३।१६, ३८।१३
२. तै० ब्रा० १।२।१।१, २।५।८।५, तै० आ० ४।४२।४, आप० श्रौ० ५।४।१, १६।१४।१।

करते हुए होता जल द्वारा अपना मार्जन करते हैं। और शां० श्रौ० विभिन्न यज्ञों में जल द्वारा वक्षःस्थल के मार्जन की क्रिया के लिये इस मन्त्र के उच्चारण का विधान करता है।[1]

इस मन्त्र के इतने अधिक और विविध प्रयोगों का आधार भिन्न भिन्न कर्मों में जल का प्रयोग है, इस मन्त्र का देवता जल है ही।

जलाशय पर अभिषिञ्चन के पश्चात् वे अभीष्ट दिशा की ओर प्रस्थान करते हैं और उस समय जिस दिशा में भी उन्हें जाना हो उसके अनुसार निम्नलिखित मन्त्रों में से किसी एक का उच्चारण करते हैं[2] :—

प्राची दिगग्निर्देवताग्निं स ऋच्छतु यो मैतस्या दिशोऽभिदासति ॥१॥
दक्षिणा दिगिन्द्रो देवतेन्द्रं.................................. ॥२॥
प्रतीची दिक् सोमो देवता सोमं......................... ॥३॥
उदीची दिङ्मित्रावरुणौ देवता मित्रवरुणौ.................. ॥४॥
ऊर्ध्वा दिग् बृहस्पतिर्देवता बृहस्पतिम् .... ॥५॥
इयं दिगदितिर्देवतादितिम्.......................... ॥६॥ [३५-४०]

(यह) प्राची दिशा है, इसकी देवता अग्नि है, जो मुझे इस दिशा से बाधित करता है, वह (विनाश के लिये) अग्नि को प्राप्त हो॥ (यह) दक्षिण दिशा है, इसकी देवता इन्द्र है.........॥ (यह) पश्चिम दिशा है इसकी देवता सोम है.........॥ (यह) उत्तर दिशा है, इसकी देवता मित्रावरुण है.........॥ (यह) ऊर्ध्व-दिशा है, इसकी देवता बृहस्पति है.........॥ (यह) यही दिशा है, इसकी देवता अदिति है.........॥

मै० सं० और का० सं० में ये मन्त्र उसी स्थल पर उपलब्ध होते हैं, जहाँ **पूषा मा प्रपथे** इत्यादि मन्त्र है। इन मन्त्रों का मूल स्रोत ये संहिताएँ ही प्रतीत होती हैं। इसके अतिरिक्त अन्य स्थलों पर इन संहिताओं में केवल दिशाओं और उनके अधिष्ठाता देवताओं के नाम दिये गये हैं।[3] तै० ब्रा० (३।११।५।१-३) में नाचिकेताग्नि के चयन कर्म में विश्वप्रि आहुतियाँ प्रदान करने के लिये इनका

---

१. शां० श्रौ० ४।११।६, २१।१९, ८।९।७।

२. पिल्ले केवल पूर्व दिशा और प्रथम मन्त्र का उल्लेख करता है (नॉन ऋग् मन्त्रज़ इन मैरेज, पृ० ११७-११८) जबकि सूत्र (का० गृ० २३।४) में स्पष्टतया यथादिशम् निर्देश है।

३. मै० सं० २।७।२०, २।१३।२१, का० सं० ३९।७।

विनियोग हुआ है। आप० श्रौ० और मा० श्रौ० में[1] अग्निहोत्र कर्म में विभिन्न दिशाओं के उपस्थान के लिये इनके उच्चारण का विधान है। आप० श्रौ० में अन्य स्थलों पर भी ये मन्त्र प्राप्त होते हैं।[2]

वधू-गृह में वर का स्वागत : मधुपर्क

मधुपर्क से अभिप्राय दही, मधु और घी के मिश्रण से है। यह मिश्रण वर तथा अन्य विशिष्ट अतिथियों के सम्मान में उपहृत किया जाता है। अर्घ्य अर्थात् अतिथि सत्कार कर्म का प्रमुख तत्त्व मधुपर्क उपहृत करना ही है। परन्तु इसके अपहरण से पूर्व और इसके पश्चात् अतिथि-सत्कार के लिये आवश्यक अन्य पदार्थ भी उसे उपहृत किये जाते हैं। सत्कार-कर्ता द्वारा दिये जाने पर और अतिथि द्वारा उन पदार्थों के स्वीकार किये जाने पर विशेष मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है जिनका विवेचन आगे किया जा रहा है।

विष्टर अथवा आसन

अतिथि को विष्टर प्रदान किये जाने पर उसे निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए उस पर बैठ जाना चाहिये[3]:—

अहं वर्ष्म सजातानां विद्युतामिव सूर्यः।
इदं तमधितिष्ठामि यो मा कश्चाभिदासति ।। [४१]

मैं सभी सहजात व्यक्तियों में श्रेष्ठ हूँ जिस प्रकार चमकने वाले पदार्थों में सूर्य श्रेष्ठ है। जो कोई भी मुझे बाधित करता है, यह मैं उसको दबा देता हूँ।

मन्त्र का यह पाठ आ० गृ० में दिया गया है। दूसरे गृह्यों के पाठों में कुछ भेद हैं। यथा मा० गृ० में **विद्युताम्** के स्थान पर **उद्यताम्**, **सजातानाम्** के स्थान पर **सदृशानाम्** और **अधितिष्ठामि** के स्थान पर **अभितिष्ठामि** पाठ है। वा० गृ० में पाठ मा० गृ० के पाठ के बहुत समान है। केवल भेद **उद्यताम्** के स्थान पर **उद्यतानाम्** और **अभितिष्ठामि** के स्थान पर **अधरम् करोमि** है। इसमें **इदम्** और **तम्** के मध्य **अहम्** का समावेश भी किया गया है। पा० गृ० के पाठ में मा० गृ० के निकट होते हुए भी अधिक भेद है। इसमें प्रथम पाद

वर्ष्मोऽस्मि समानानाम् [४२]

---

१. आप० श्रौ० ६।१८।३, मा० श्रौ० १।६।२।१४।

२. आप० श्रौ० १७।२।२, ३।६, २०।१४।

३. आ० गृ० १।२४।८, मा० गृ० १।६।८, वा० गृ० १२।७, पा० गृ० १।३।८। गृ० वि० ४]

है और मन्त्र के उत्तरार्ध में इदम् के स्थान पर इमम् और कश्च के स्थान पर कश्चित् पाठ है।

सम्भवतः इस गृह्य विनियोग का मूल श्रौत विनियोग में है, क्योंकि शां० श्रौ० (४।२१।२) में भी आसन पर बैठने के लिए इसके उच्चारण का विधान है। आ० गृ० का पाठ शां० श्रौ० के निकटतम है। केवल भेद यह है कि शां० श्रौ० में सजातानाम् के स्थान पर सदृशानाम् और मा कश्च के स्थान पर अस्मान् पाठ है। इस मन्त्र के अर्थ से यह प्रकट होता है कि आसन पर बैठना अतिथि के शत्रुओं के दमन का प्रतीक था।

का० गृ० (२४।७) में विष्टर पर बैठने से पूर्व उसको फैलाने के लिये निम्नलिखित मन्त्र के उच्चारण का विधान है:—

विष्टरोऽसि मातरि सीद ॥ [४३]

तुम आसन हो, माता (पृथ्वी) पर स्थान ग्रहण करो।

यहाँ पर ऐसा प्रतीत होता है कि मातरि शब्द भूमि के प्रति मातृत्व की भावना की ओर संकेत करता है। यह गृह्यसूत्र विष्टर पर बैठने की क्रिया के साथ किसी भी मन्त्र के उच्चारण का विधान नहीं करता।

गोभिल और खादिर विष्टर के फैलाने के लिये निम्नलिखित मन्त्र के उच्चारण का विधान करते हैं[1]:—

या ओषधीः सोमराज्ञीर्बह्वीः शतविचक्षणाः।
ता मह्यमस्मिन्नासनेऽच्छिद्राः शर्म यच्छत ॥ [४४]

जिनका राजा सोम है ऐसी जो सैंकड़ों दृष्टि वाली बहुत सी ओषधियाँ हैं, वे निर्दोष होकर मुझे इस आसन पर शरण दें।

ये गृह्यसूत्र इस प्रकार आस्तृत आसन पर बैठने के लिये निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग करते हैं[2]:—

या ओषधीः सोमराज्ञीर्विष्ठिताः पृथिवीमनु।
ता मह्यमस्मिन् पादयोरच्छिद्राः शर्म यच्छत ॥

जिनका राजा सोम है, ऐसी जो ओषधियाँ सम्पूर्ण पृथ्वी पर स्थित हैं, वे निर्दोष होकर इस (आसन) पर मेरे पाँवों को शरण दें।

इन दोनों मन्त्रों के पूर्वार्ध ऋ० और वा० सं० में विद्यमान हैं।[3] अथर्व०

---

१. गो० गृ० ४।१०।६ (मं० ब्रा० २।८।३), खा० गृ० ४।४।९।

२. गो० गृ० ४।१०।७ (मं० ब्रा० २।८।४), खा० गृ० ४।४।१०।

३. ऋ० १०।९७।१८, १९, वा० सं० १२।९२, ९३।

(६।६६।१) में केवल प्रथम मन्त्र का पूर्वार्ध प्राप्त होता है और तै० सं० (४।२।६।४-५) में केवल द्वितीय मन्त्र का पूर्वार्ध। कौशिक० (३१।२२) के अनुसार मन्त्र के अथर्ववेदीय पाठ का उच्चारण जलोदर रोग के निवारणार्थ क्रिया में किया जाना चाहिये।

परन्तु इन दोनों मन्त्रों का सीधा स्रोत ऐ० ब्रा० (८।२७।५-६) प्रतीत होता है जहाँ इन का पाठ उपरिलिखित पाठ के समान है।[1] इस ब्राह्मण के अनुसार इनका उच्चारण राजा द्वारा पुरोहित की नियुक्ति के अवसर पर अनुष्ठित कर्म में होना चाहिये। वहाँ भी पुरोहित इन का उच्चारण राजा द्वारा प्रदत्त आसन पर बैठने के समय करता है।

इन मन्त्रों में सम्भवतया ओषधियों से प्रार्थना इसलिये की गई है क्योंकि अतिथि के लिये उपहृत आसन घास द्वारा निर्मित होता था।

इस आसन के पश्चात् पाद्य (पाँव रखने के लिये आसन) भी प्रदान किया जाता है, परन्तु उसमें किसी मन्त्र का विनियोग विहित नहीं है।

पादोदक अथवा पाद-प्रक्षालनार्थ जल

अतिथि के लिये पाद-प्रक्षालनार्थ जल प्रदान किये जाने पर वह निम्नलिखित मन्त्र के द्वारा उसका अभिमन्त्रण करता है[2]:—

आपः पादावनेजनीर्द्विषन्तं नाशयन्तु मे।
अस्मिन् कुले ब्रह्मवर्चस्यसानि ॥ [४५]

पाँवों पर बहने वाला जल मेरे शत्रु को नष्ट कर दे, मैं इस कुल में ब्रह्म-तेज से युक्त हो जाऊँ।

कौशिक० (९०।११) में प्रक्षालित चरणों के अभिमन्त्रण के लिये एक इससे मिलते जुलते मन्त्र का विनियोग हुआ है। कौशिक० के मन्त्र में उपरिलिखित मन्त्र का पूर्वार्ध उत्तरार्ध के रूप में है—उसमें नाशयन्तु के स्थान पर निर्दहन्तु पाठ है। उसका पूर्वार्ध निम्नलिखित है:—

इमौ पादाववनिक्तौ ब्राह्मणं यशसावताम् ॥ [४६]

ये दोनों प्रक्षालित पाँव यश के द्वारा ब्राह्मण की रक्षा करें।

---

१. इसके द्वितीय मन्त्र में प्रथम मन्त्र के उत्तरार्ध की पुनरावृत्ति है। अच्छिद्राः के स्थान पर अच्छिद्रम् पाठ है, तदनुसार यह शर्म का विशेषण हो जायगा।

२. बौ० गृ० १।२।२०, आप० गृ० ५।१३।५ (मं० पा० २।९।१०), भा० गृ० २।२३, वै० गृ० २।१६, इसमें इसका विनियोग पाद-प्रक्षालनार्थ किया गया है।

मन्त्र की यह पंक्ति किसी पूर्ववर्ती ग्रन्थ में अप्राप्य है। इसी प्रकार उपरि-लिखित मन्त्र का उत्तरार्ध भी किसी गृह्यसूत्र-पूर्व ग्रन्थ में अप्राप्य है। जहाँ तक पूर्वार्ध (आपः पादौ......आदि) का सम्बन्ध है, वह ऐ० ब्रा० (८।२७।९) से उद्धृत है जहाँ उसका विनियोग राजा द्वारा पुरोहित की नियुक्ति के प्रसंग में किया गया है। ऐ० ब्रा० के अनुसार भी राजा इसका उच्चारण पुरोहित के पाद-प्रक्षालन के समय करता है। कौशिक० में प्राप्त मन्त्र के इस अंश का पाठ अन्य गृह्यों के पाठ से प्राचीनतर प्रतीत होता है क्योंकि ठीक ऐ० ब्रा० के अनुसार इसमें भी अन्त में **निर्दहन्तु मे** पाठ ग्रहण किया गया है।

बौधायन और पारस्कर अतिथि के पाद-प्रक्षालनार्थ अधोलिखित मन्त्र के उच्चारण का विधान करते हैं[1] :—

विराजो दोहोऽसि विराजो दोहमशीय मयि पाद्यायै विराजो दोहः ॥ [४७]

हे जल, तुम विराट् (महत्ता) का दूध (सार) हो। मैं विराट् के दूध का भोजन करूँ; पाँव धोने के लिये विराट् का दूध मुझमें (सशक्त होकर रहे)।

शां० गृ० (३।७।५) ने विधान किया है कि प्रवास से लौट कर गृहस्थ को पादप्रक्षालनार्थ जल इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए ग्रहण करना चाहिये। इसमें **पाद्यायै** के स्थान पर **पद्यायै** पाठ है। वै० गृ० (२।१५) के अनुसार पादप्रक्षालन के पश्चात् अतिथि इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए गृहस्थ का हाथ पकड़ता है। हि० गृ० (१।१३।१) में भी इसी क्रिया के साथ मन्त्र का प्रयोग विहित है, परन्तु वहाँ **विराजो दोहमशीय** शब्द नहीं रखे गये और अवशिष्ट मन्त्र को निम्नलिखित रूप में दो भागों में विभाजित किया गया है:—

विराजो दोहोऽसि ॥ मयि दोहः पद्यायै विराजः ॥ [४८]

क्योंकि उपर्युक्त सभी प्रसंगों में किसी न किसी प्रकार इस मन्त्र का सम्बन्ध पाँव से है, अतः ऐसा प्रतीत होता है कि गृह्यसूत्रकारों के मतानुसार **पद्यायै** अथवा **पाद्यायै** का अर्थ **पाँव से सम्बद्ध अथवा पाँव के निमित्त** है।

परन्तु कुछ गृह्यसूत्रों में इस अर्थ को महत्त्व नहीं दिया गया और इसीलिए वहां इस मन्त्र का विनियोग पाँव से असम्बद्ध कर्मों में भी हुआ है। सम्भवतया उन स्थलों पर **पद्यायै** अथवा **पाद्यायै** का अर्थ **पद्य के पादों से युक्त** हो। तदनुसार आ० गृ० (१।२४।१६) ने इस मन्त्र के उच्चारण का विधान मधुपर्क—भक्षण के साथ किया

---

१. बौ० गृ० १।२।२८, पा० गृ० १।३।१२।

है और उसी के अनुसार मन्त्र को निम्नलिखित तीन भागों में विभाजित किया है :—

विराजो दोहोऽसि ।। विराजो दोहमशीय ।। मयि दोहः पद्यायै विराजः ।।

वा० गृ० (१२।५) के अनुसार इस मन्त्र के उच्चारण के साथ अतिथि को मधुपर्क-अवलोकन करना चाहिये । मा० गृ० (१।९।७) में निर्देश है कि जब अर्घ्य के उपकरण लाये जायें तब अतिथि इस मन्त्र का उच्चारण करता हुआ उनका अवलोकन करे । इस गृह्य में आ० गृ० में उद्धृत मन्त्र के आगे **कल्पताम्** जोड़ा गया है जिससे स्पष्टता आ गई है । का० गृ० (२४।९) के अनुसार अतिथि को इसका उच्चारण तब करना चाहिये जब वे उपकरण उसके पास लाये जा रहे हों । इसमें मन्त्र का निम्नलिखित पाठ है:—

मयि दोहोऽसि विराजो दोहः पाद्यायै विराजो दोहमशीय ।। [४९]

परन्तु आप० गृ० और भा० गृ० में इस मन्त्र का सम्बन्ध अर्घोदक ग्रहण करने की क्रिया के साथ जोड़ा गया है ।[1] मं० पा० में आ० गृ० के अशीय के पश्चात् **मम पद्याय विराज** का समावेश किया गया है । मं० पा० का यह पाठ भ्रष्ट प्रतीत होता है । जहाँ जहाँ यह मन्त्र पाँवों से सम्बद्ध कर्मों में विनियुक्त नहीं किया गया, ऐसा प्रतीत होता है कि उन सभी स्थलों पर गृह्यसूत्रकारों के मस्तिष्क में विराज का अर्थ उस नाम का छन्द विशेष रहा होगा जो कि **पद्य** अथवा **पाद्य** अर्थात् पादों से युक्त है ।[2] **विराज्** की व्याख्या के विषय में शतपथ ब्राह्मण का वह अनुच्छेद देखना चाहिये जहाँ इसे पृथ्वी का विशेषण बनाया गया है ।[3]

इस मन्त्र का मूल सम्भवतया श्रौत-कर्मकाण्ड में है क्योंकि शां० श्रौ० (४।२१।३) में भी अर्घ्य के अन्तर्गत अतिथि के द्वारा पाद्य जल ग्रहण के समय इसके उच्चारण का निर्देश है । और इस दृष्टि से पाँव सम्बन्धी कर्मों में इस मन्त्र का प्रयोग अधिक मौलिक प्रतीत होता है ।

गोभिल और खादिर का विधान है कि अतिथि को निम्नलिखित मन्त्रों में से प्रथम से अपने वाम-पाद, द्वितीय से दक्षिण-पाद और तृतीय से दोनों पादों का एक साथ प्रक्षालन करना चाहिये[4]:—

---

१. आप० गृ० ५।१३।८, (मं० पा० २।९।१३) भा० गृ० २।२४ ।

२. ओल्डन बर्ग, से० बु० ई०, खण्ड २९, पृ० ९७-९८ (पाद-टिप्पणी)

३. श० ब्रा० १।५।२।२०-इयं वै विराट् ॥

४. गो० गृ० ४।१०।१०, ११ (मं० ब्रा० २।८।६-८), खा० गृ० ४।४।११, १२, १४

सव्यं पादमवनेनिजेऽस्मिन् राष्ट्रे श्रियं दधे ॥ [५०]
दक्षिणं पादमवनेनिजेऽस्मिन् राष्ट्रे श्रियमावेशयामि ॥ [५१]
पूर्वन्मयमपरमन्यमुभौ पादाववनेनिजे ।
राष्ट्रस्यद्धर्या अभयस्यावरुद्धयै ॥ [५२]

मैं वाम पाद धोता हूँ (और) इस राष्ट्र में लक्ष्मी को स्थापित करता हूँ। मैं दक्षिण पाद धोता हूँ (और) इस राष्ट्र में लक्ष्मी का समावेश करता हूँ। पहले दूसरा, फिर दूसरा, (इस प्रकार) दोनों पाद धोता हूँ—राष्ट्र की समृद्धि के लिये (और) अभय के अवरोध के लिये।

ये मन्त्र ऐ० ब्रा० (८।२७।८) में से उद्धृत किये गये हैं क्योंकि वहाँ से पुरोहित की नियुक्ति के अवसर पर राजा इन मन्त्रों के उच्चारण से उसके पाँव धोता है। राष्ट्रे शब्द को ब्राह्मण से ज्यों का त्यों ग्रहण करते हुए गृह्यसूत्रकारों ने प्रसंग की ओर उचित ध्यान नहीं दिया है। ब्राह्मण में तो राजा किसी व्यक्ति को राष्ट्र के महत्त्वपूर्ण पद पर नियुक्त कर रहा है और इसलिये उसके द्वारा राष्ट्र शब्द का उच्चारण उपयुक्त है। परन्तु दूसरी ओर गृह्यसूत्रों में इन मन्त्रों का विनियोग गृह्य-कर्म में हुआ है। इसलिये राष्ट्र का उच्चारण अप्रासंगिक प्रतीत होता है। हां, का० गृ० (२४।१०) ने अवश्य इस ओर ध्यान दिया है और वहां राष्ट्रे के स्थान पर कुले पाठ है। उसमें मन्त्र निम्नलिखित रूप में प्राप्त होते हैं:—

दक्षिणं पादमवनेनिज इदमहमस्मिन् कुले ब्रह्मवर्चसं दधामि ॥
उत्तरं पादमवनेनिज इदमहं मयि तेजो वीर्यमन्नाद्यम् प्रजां पशून्
ब्रह्मवर्चसं दधामि ॥ [५३]

मैं दक्षिण पाद धोता हूँ, यह मैं इस कुल में ब्रह्मतेज स्थापित करता हूँ। मैं वाम पाद धोता हूँ, यह मैं अपने आप में तेज, वीरता, अन्न खाने की शक्ति, सन्तान, पशु, ब्रह्मतेज स्थापित करता हूँ।

मयि तेजः आदि शब्दों की तुलना अधोलिखित मन्त्र से की जा सकती है जिसका विनियोग अधिकांश कृष्ण-यजुर्वेदीय गृह्यसूत्रों में उस प्रसंग में किया गया है जब अपवे पाँव धोये जाने पर अतिथि स्वयं अपना स्पर्श करता है। मं० पा० में उस मन्त्र का निम्नलिखित पाठ है[1] :—

---

१. बौ० गृ० १।२।२४, २५, आप गृ० ५।१३।६ (मं० पा० २।९।११), हि० गृ० १।१३।१, भा० गृ० २।२३, आग्नि० गृ० २।६।६।

मयि महो मयि यशो मयीन्द्रियं वीर्यम् ।। [५४]

आग्नि० गृ० ने महः और मयि के मध्य मयि भर्गः का समावेश किया है। हि० गृ० में मन्त्र का निम्नलिखित पाठ प्राप्त होता है:—

मयि तेज इन्द्रियं वीर्यमायुः कीर्तिर्वर्चो यशो बलम् [५५]

वै० गृ० (२।१६) में हि० गृ० के उपरिलिखित मन्त्र के आगे **ब्रह्मवर्चसमन्नाद्यम्** जोड़ा गया है और इसका विनियोग अर्घोदक और आचमनीय जल के ग्रहण में किया गया है।

मयीन्द्रियं वीर्यम् को छोड़कर शेष मन्त्र श० ब्रा० (१२।३।४।६) में उपलब्ध होता है जहां यज्ञों में किये जाने वाले सवनों के अन्त में इसके जाप का विधान है। अन्य ब्राह्मणों और श्रौत-सूत्रों में भी यह प्राप्त होता है।[1] **मयीन्द्रियं वीर्यम्** का स्रोत सम्भवतया मै० सं० ४।६।१३ है। श० ब्रा० १४।६।४।६ में विधान है कि पुत्रमन्थ कर्म में यदि यजमान जल में अपना प्रतिबिम्ब देखे तो उसे **मयि तेज इन्द्रियम्** का उच्चारण करना चाहिये।

जै० गृ० (१८।१५) के अनुसार अपने पाँव धोये जाने पर अतिथि निम्न-लिखित मन्त्र का उच्चारण करता हुआ अपना स्पर्श करता है:—

मयि श्रीः श्रयतां मयि पद्या विराट् ।। [५६]

मयि श्रीः श्रयताम् शब्दों का स्रोत सम्भवतया ऋ० खि० ५।८७।१० है।

अर्घ्य जल

गोभिल और खादिर ने विधान किया है कि जब अतिथि को अर्घ्य जल प्रदान किया जाय तो उसे वह (जल) निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए स्वीकार करना चाहिये[2]:—

अन्नस्य राष्ट्रिरसि राष्ट्रिस्ते भूयासम् ।। [५७]

हे जल, तुम अन्न के स्वामी हो, मैं तुम्हारा स्वामी हो जाऊँ।

यह मन्त्र किसी भी पूर्ववर्ती ग्रन्थ में प्राप्य नहीं है।

का० गृ० (२४।११) में अतिथि द्वारा अर्घ्यं जल के स्वीकार किये जाने के प्रसंग में प्रसिद्ध आपोहिष्ठीय मन्त्रों (ऋ० १०।९।१-३) का विनियोग किया गया है।

---

१. गो० ब्रा० १।५।१५, १७; शां० श्रौ० ५।१।१०; का० श्रौ० १३।१।१२।
२. गो० गृ० ४।१०।१२ (मं० ब्रा० २।८।९), खा० गृ० ४।४।१५।

इन मन्त्रों का विस्तृत विवेचन तृतीय अध्याय में किया गया है।[१]

पा० गृ० (१।३।१३) के अनुसार अर्घ्य जल ग्रहण करते हुए अतिथि को निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये:—

आपः स्थ: युष्माभिः सर्वान् कामानवाप्नवानि।। [५८]

तुम जल हो, मैं तुम्हारे द्वारा सभी कामनाएँ पूर्ण कर लूँ।

यह मन्त्र गृह्यसूत्र के पूर्ववर्ती किसी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होता।

आपस्तम्ब और हिरण्यकेशी ने अतिथि द्वारा जल ग्रहण करने के प्रसंग में निम्नलिखित मन्त्र के उच्चारण का विधान किया है[२]:—

आ मा गन्यशसा संसृज तेजसा वर्चसा पयसा च।
तं मा कुरु प्रियं प्रजानामधिपतिं पशूनाम् ।। [५६]

हे जल मेरे पास आओ! मुझे यश से, तेज से, वर्चस् से और (पवित्र) जल से संयुक्त करो। उस प्रकार के मुझे प्रजाओं का प्रिय और पशुओं का स्वामी बना दो।

पा० गृ० (१।३।१५) में पूर्वार्ध में **तेजसा पयसा च** शब्द नहीं हैं और उत्तरार्ध के आगे **अरिष्टिं तनूनाम्** जोड़ा गया है। पा० गृ० में इसका विनियोग आचमनीय जल का आचमन करने में किया गया है। बौधायन और भारद्वाज के अनुसार इसका उच्चारण अतिथि के द्वारा पाद्य जल से अपने पाँव धोने के समय किया जाना चाहिए।[३]

प्रकट है कि इस मन्त्र के विविध प्रयोग का आधार जल सम्बन्धी विभिन्न कर्मों में इसका विनियोग है। परन्तु वै० गृ० (२।१६) में इसका विनियोग अतिथि को मधुपर्क प्रदान करने के प्रसंग में किया गया है। यह मन्त्र भी किसी पूर्ववर्ती ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं है।

यजुर्वेदीय गृह्यसूत्रों में विधान है कि अतिथि को निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए अर्घ्य जल को प्रवाहित करना चाहिए[४]:—

---

१. दे० मन्त्र सं० १८६-१८८।
२. आप० गृ० ५।१३।८ (मं० पा० २।६।१२), हि० गृ० १।१३।३।
३. बौ० गृ० १।२।२७, भा० गृ० २।२३।
४. बौ० गृ० १।२।२६, पा० गृ० १।३।१४, आप० गृ० ५।१३।१२(मं० पा० २।६।१४), हि० गृ० १।१३।४, भा० गृ० २।२४।

समुद्रं वः प्रहिणोमि स्वां योनिमपि गच्छत।
अच्छिद्रः प्रजया भूयासं मा परासेचि मत्पयः ।। मं० पा० [६०]

हे जल, मैं तुम्हें समुद्र में भेजता हूँ, तुम अपने ही जन्म स्थान को जाओ। मैं सन्तान के द्वारा विच्छेदरहित हो जाऊँ, मुझसे जीवनरस दूर न हो।

हि० गृ० और पा० गृ० में इस मन्त्र के पाठ में स्वल्प भेद है। हि० गृ० में प्रहिणोमि और 'स्वाम्' के मध्य 'अक्षिताः' का समावेश किया गया है-और इस प्रकार पूर्वार्ध में अनुष्टुभ् छन्द विकृत हो गया है। पा० गृ०. में अपिगच्छत के स्थान पर अभिगच्छत पाठ है और तृतीय पाद अच्छिद्रः प्रजया भूयासम् के स्थान पर अरिष्टा अस्माकं वीराः है। इस प्रकार जहां अच्छिद्राः इत्यादि में एक अक्षर अधिक है वहाँ पारस्कर ने उसे पूर्ण अष्टाक्षर पाद वाला अनुष्टुभ् बनाकर छन्द में सुधार किया है। अन्यत्र मं० पा० में भी इस पाद का पाठ पारस्कर वाला ही है। वहाँ इसके आगे सन्तु जोड़ा गया है और मत्पयः के स्थान पर मे धनम् पाठ है। उस स्थान पर इसका विनियोग शाला निर्माण कर्म में जल कुम्भ में से जल प्रवाहित करने में हुआ है।[1] यह ध्यान देने योग्य बात है कि यहाँ भी मधुपर्क के समान ही मन्त्र जल प्रवाहित करने की क्रिया से सम्बद्ध है। शां० गृ० (६।६।१३) में भी तर्पण के अवसर पर जल प्रवाहित करने के लिये इस मन्त्र के उच्चारण का विधान है। कौशिक० (६।१७) में दर्शपौर्णमासेष्टि में पत्नी के हाथ में जल प्रवाहित करने के लिये इस मन्त्र का विनियोग किया गया है। मा० गृ० (२।११।१८) के अनुसार गृह निर्मित हो जाने पर उसमें प्रवेश के अवसर पर इस मन्त्र का उच्चारण करता हुआ गृहस्थ पूर्वोत्तर दिशा में स्थापित जल-कुम्भ के निकट एक उद-पात्र स्थापित करता है। कौशिक० १३६।६ में स्पष्टतया जल-स्थापन से सम्बद्ध सभी कर्मों में इस मन्त्र के उच्चारण का विधान है।

इस मन्त्र की तुलना अथर्व० १०।५।२३ से की जा सकती है। परन्तु इस मन्त्र का सीधा स्रोत श्रौत सूत्र ही प्रतीत होते हैं क्योंकि वहां न केवल मन्त्र का पाठ गृह्य-पाठ के समान है अपितु विभिन्न यज्ञों में जल अथवा दुग्ध प्रवाहित करने की क्रिया में विनियोग भी गृह्य विनियोग जैसा है।[2]

आचमनीय अर्थात् आचमनार्थ जल

अधिकांश गृह्यसूत्रों में निम्नलिखित मन्त्रों में से प्रथम के उच्चारण का विधान मधुपर्क से पूर्व आचमनीय का आचमन करने के लिये किया गया है और द्वितीय मन्त्र

---

१. आ० गृ० ७।१७।१० (मं० पा० २।१५।१६)।

२. आ० श्रौ० ३।११।६, शां श्रौ० ४।११।६, ८।६।६, ला० श्रौ० २।१।७. ३।५।१७, आप० श्रौ० ४।१४।४; ६।५।६; १३।१८।१; २०।१२, मा० श्रौ० १।४।३।६; २।५।४।१२; ३।२।२।

का विधान मधुपर्क के पश्चात् आचमनीय का आचमन करने के लिये:[1] —

अमृतोपस्तरणमसि ॥ [६१]
अमृतापिधानमसि ॥ [६२]

तुम अमृत का आसन हो ॥१॥ तुम अमृत का ढक्कन हो ॥२॥

मा० गृ० और का० गृ० में प्रथम मन्त्र का विनियोग कुछ भिन्न प्रकार से किया गया है। मा० गृ० (१।६।१५) में इसका विनियोग मधुपर्क-पात्र रखने के लिये आस्तरण बनाने में किया गया है। इस गृह्यसूत्र का रचयिता सम्भवतया इस विनियोग के लिये **उपस्तरण** शब्द से प्रभावित हुआ होगा। का० गृ० (२४।१४) के अनुसार इस मन्त्र का उच्चारण मधुपर्क के पश्चात् आचमनीय का आचमन करने के समय किया जाना चाहिये। इसमें द्वितीय मन्त्र दिया ही नहीं गया।

इन मन्त्रों का स्रोत गोपथ ब्राह्मण (१।१।३९) प्रतीत होता है। तै० आ० (१०।३२।१, ३५।१) में भी ये मन्त्र वहीं से उद्धृत किये गये हैं और उनका विनियोग भोजन के पहले और पश्चात् जल का आचमन करने में किया गया है।

मधुपर्क

आश्वलायन, कौशिक और पारस्कार ने विधान किया है कि जब अतिथि के लिये मधुपर्क उपहृत किया जाये तब उसे निम्नलिखित मन्त्रांश का उच्चारण करते हुए उसका अवलोकन करना चाहिये[2]:—

मित्रस्य त्वा चक्षुषा प्रेक्षे ॥ [६३]

मैं तुम्हें मित्र की दृष्टि से देखता हूँ।

कौशिक० में **मित्रस्य** के स्थान पर **सूर्यस्य** और **प्रेक्षे** के स्थान पर **प्रतीक्षे** पाठ है। वस्तुतः मित्र और सूर्य दोनों एक ही तत्त्व माने गये हैं और वैदिक साहित्य में प्रायः दोनों को ही सब देवों का नेत्र कहा गया है।

इस मन्त्रांश का स्रोत यजुर्वेदीय संहिताओं में निहित प्रतीत होता है।[3] यह **प्रेक्षे** के स्थान पर **प्रतीक्षे** और **अन्वीक्षे** पाठान्तर सहित ब्राह्मणों और श्रौतसूत्रों

---

१. आ० गृ० १।२४।१३, २८, बौ० गृ० १।२।३१, ४१, मा० गृ० १।९।१७, आप० गृ० ५।१३।१३, (मं० पा० २।१०।३,४), हि० गृ० १।१३।६,९ भा० गृ० २।२४, वा० गृ० ११।१२,१९, आग्नि० गृ० २।६।६, वै० गृ० २।१६।

२. आ० गृ० १।२४।१३, कौशिक० ९१।२, पा० गृ० १।३।१६।

३. वा० सं० का० २।३।४, तै० सं० १।१।४।१, का० सं० १।४, ३१।३ मै० सं० १।१।५,४।१।५ (त्वा के स्थान पर वः)

में भी विद्यमान है ।[1] परन्तु इसके विनियोग का स्रोत केवल वे ही श्रौतसूत्र प्रतीत होते हैं जिनमें ब्रह्मा-पुरोहित को प्राशित्र प्रदान किये जाने पर उसके द्वारा इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए उस (प्राशित्र) के अवलोकन का विधान है ।[2]

का० गृ० (२४।११) के अनुसार मधुपर्कविलोकन के लिये अतिथि को **तच्चक्षुः** आदि मन्त्रका उच्चारण करना चाहिये इस मन्त्र का विवेचन **उपनयन** के अन्तर्गत अष्टम अध्याय में किया गया है (दे० मन्त्र सं० ५४७) ।

बहुत से गृह्यसूत्रों में मधुपर्क स्वीकार करने के लिये **देवस्य त्वा सवितुः** आदि मन्त्र के उच्चारण का विधान किया गया है ।[3] इस मन्त्र का विवेचन भी उपनयन के अन्तर्गत अष्टम अध्याय में किया गया है । (दे० मन्त्र सं० ५४१)

मैत्रायणी और काठक संहिताओं से सम्बद्ध गृह्यसूत्रों में निर्देश है कि निम्नलिखित तीन मन्त्रों का उच्चारण करते हुए मधुपर्क को अनामिका द्वारा तीन बार बिलोना चाहिये[4]:--

मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः । माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः ॥ [६४]
मधु नक्तमुतोषसो मधुमत् पार्थिवं रजः । मधु द्यौरस्तु नः पिता ॥ [६५]
मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः । माध्वीर्गावो भवन्तु नः ॥ [६६]

ऋत पर आचरण करने वाले व्यक्ति के लिये पवन माधुर्य युक्त होता है, नदियां माधुर्य युक्त होकर बहती हैं । हमारे लिये ओषधियाँ मधुर हों । हमारे लिये रात मधुर हो, उषाएं मधुर हों, पृथ्वी की धूल मधुर हो और पिता आकाश मधुर हों । हमारे लिये वनस्पतियाँ मधुर हों, सूर्य मधुर हो, और गौवें मधुर हों ।

आ० गृ० (१।२४।१४) के अनुसार अतिथि को इन मन्त्रों का उच्चारण करते हुए मधुपर्क का अवलोकन करना चाहिये । कौशिक० (९१।१) ने मधुपर्क के अभिमन्त्रण के लिये इन मन्त्रों का प्रयोग किया है । पा० गृ० (१।३।२१) में मधुपर्क-प्राशन के प्रसङ्ग में इन मन्त्रों को विकल्प से उच्चारण के लिये उद्धृत किया गया

---

१. कौ० ब्रा० ६।१४, तै० ब्रा० ३।२।४।५, आ० श्रौ० ८।१४।१८, आप० श्रौ० ११।१७।९, मा० श्रौ० १।२।१।२९ ।

२. आ० श्रौ० १।१३।१ शां० श्रौ० ४।७।४, ला० श्रौ० ४।११।१० का० श्रौ२।२।१५ आप० श्रौ० ३।१९।५ मा० श्रौ० ५।२।१५।१५ ।

३. आ० गृ० १।२४।१४, कौशिक० ९१।३, पा० गृ० १।३।१७ जै० गृ० १८।१६, हि० गृ० १।१३।८, वै० गृ० २।१६ ।

४. मा० गृ० १।९।१४, का० गृ० २४।११, वा० गृ० ११।१६ ।

है। इन सभी विनियोगों में यह बात समान है कि सभी स्थलों पर किसी न किसी प्रकार मधुपर्क के साथ इनका सम्बन्ध है। यद्यपि मधुपर्क के साथ मन्त्रों का कोई सम्बन्ध नहीं है, तथापि मधुपर्क में माधुर्य प्रधान होने के कारण यह प्रतीत होता है कि इन विनियोगों का प्रमुख आधार मन्त्रों में पौनःपुन्येन दिखाई देने वाला **मधु** शब्द ही है। इसके अतिरिक्त इन विनियोगों के आधार में श्रौत विनियोग भी हैं।

ये मन्त्र ऋग्वेद और यजुर्वेद की संहिताओं में उपलब्ध होते हैं।[1] इतने प्रसिद्ध मन्त्रों का अथर्ववेद और सामवेद में न प्राप्त होना आश्चर्यकर है। इनका प्राचीनतम विनियोग श० ब्रा० (१४।९।३।११-१३) में श्रीमन्थकर्म के अन्तर्गत विभिन्न फलों और जड़ी बूटियों के मिश्रण रूप मन्थ का आचमन करने के लिये किया गया है। श्रौतसूत्रों में वेदीचयन के अवसर पर मधु-मिश्रित दधि के द्वारा कूर्म के अभिलेप की क्रिया के साथ इन मन्त्रों के उच्चारण का विधान है।[2] इन मन्त्रों के गृह्य-विनियोग का सम्बन्ध इस श्रौत विनियोग से भी माना जा सकता है क्योंकि दोनों में विधीयमान कर्म में प्रयुक्त पदार्थ में मधु और दधि विद्यमान हैं। और का० श्रौ० के अनुसार तो मिश्रण में दधि का भी समावेश किया गया है। कहीं ऐसा तो नहीं कि ऐसा करने में वह गृह्यपरम्परा से प्रभावित हुआ हो? किसी भी ऋग्वेदीय श्रौतसूत्र में इन मन्त्रों के विनियोग का अभाव आश्चर्यजनक है।

पा० गृ० (१।३।१८) के अनुसार अतिथि को मधुपर्क निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए बिलोना चाहिये:—

नमः श्यावास्यायान्नशने यत्त आविद्धं तत्ते निष्कृन्तामि ॥ [६७]

भूरे मुख वाले को नमस्कार। अन्न प्राशन में तुम्हारी जो बाधा है, तुम्हारी उस बाधा को निकाल फेंकता हूँ।[3]

वेद में **श्यावास्य** शब्द प्रायः अग्नि के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है।[4]

---

१. ऋ० १।९०।६-८, वा० सं० १३।२७-२९, तै० सं० ४।२।९।३, मै० सं० २।७।१६, का० सं० ३९।३।

२. आप० श्रौ० १६।२५।१, का० श्रौ० १७।४।२७, मा० श्रौ० ६।१।७।२२।

३. अन्नशने शब्द का अर्थ अस्पष्ट है।

४. श्याव का अर्थ यद्यपि अधिकतर पाश्चात्य-विद्वान् भूरा करते हैं. परन्तु इसका अर्थ श्याम भी हो सकता है क्योंकि आज भी पंजाबी में सावा गहरे हरे रंग के लिये प्रयुक्त होता है जो कि काला ही हो जाता है। अग्नि का श्याम मुख धुआँ हो सकता है।

उस आधार पर इस मन्त्र को अग्नि के प्रति सम्बोधित कहा जा सकता है, परन्तु अग्नि के प्रति सम्बोधन इस स्थान पर अप्रासङ्गिक है। या फिर यहाँ श्यावास्य मधुपर्क का नाम भी हो सकता क्योंकि इसमें मधु का वर्ण भूरा होता है। यह भी अनुसन्धान योग्य विषय है कि अन्यत्र कहीं मधु को श्यावास्य कहा गया है या नहीं। भाष्यकारों ने अन्नशने की व्याख्या अन्नाशने के अनुसार की है। वे इसे सन्धि का अपवाद का मानते हैं। यह मन्त्र किसी पूर्ववर्ती ग्रन्थ में प्राप्य नहीं है।

आ० गृ० (१।२४।१५-१८) में निर्देश किया गया है कि मधुपर्क का आलोडन करने के पश्चात् अतिथि को पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा की ओर क्रमशः निम्नलिखित चार मन्त्रों का उच्चारण करते हुए अपनी अंगुलियों का मार्जन करना चाहिये:—

वसवस्त्वा गायत्रेण च्छन्दसा भक्षयन्तु ॥ [६८]
रुद्रास्त्वा त्रैष्टुभेन च्छन्दसा भक्षयन्तु ॥ [६९]
आदित्यास्त्वा जागतेन च्छन्दसा भक्षयन्तु ॥ [७०]
विश्वे त्वा देवा आनुष्टुभेन च्छन्दसा भक्षयन्तु ॥ [७१]

वसु गायत्री छन्द के द्वारा तुम्हारा प्राशन करें। रुद्र त्रिष्टुभ् छन्द के द्वारा तुम्हारा प्राशन करें। आदित्य जगती छन्द के द्वारा तुम्हारा प्राशन करें। सभी देवता अनुष्टुभ् छन्द के द्वारा तुम्हारा प्राशन करें।

यहाँ आठ वसुओं के साथ गायत्री-पाद के आठ अक्षरों का, ग्यारह रुद्रों के साथ त्रिष्टुभ्-पाद के ग्यारह अक्षरों का और बारह आदित्यों के साथ जगती-पाद के बारह अक्षरों का संयोग दर्शनीय है। इन मन्त्रों के स्रोत के रूप में किसी एक ग्रन्थ की ओर संकेत नहीं किया जा सकता क्योंकि पूर्ववर्ती ग्रन्थों में से किसी में भक्षयन्तु क्रिया का प्रयोग नहीं किया गया है। इसके अतिरिक्त उनमें भी क्रिया पद समान नहीं है और किसी में भी भक्षण अर्थ वाला क्रियापद नहीं है। उदाहरणार्थ वा० सं० और तै० सं० में कृण्वन्तु क्रिया दी गई है।[1] इन्हीं संहिताओं में अन्यत्र धूपयन्तु पाठ है।[2] तै० सं० (१।१।९।३) में परिगृह्णन्तु क्रिया का प्रयोग किया गया है। मै० सं० (१।२।८) में हरन्तु, पं० ब्रा० (१।७।७) में सम्मृजन्तु, ला० श्रौ० (१।१०।१७) में पुनन्तु और ऐ० ब्रा० (५।१।४।१४) में आरोहन्तु पाठ है। अतः क्रिया की यह विविधता ठीक स्रोत निश्चित करने में बाधक है। यदि क्रिया पद की ओर ध्यान न दिया जाये तो

१. वा० सं० ११।५८, तै० सं० ४।१।५।३, श० ब्रा० ६।५।:।३-६।
२. वा० सं० ११।६०, तै० सं० ४।१।६।१,३।

निःसन्देह सर्व प्रथम ये मन्त्र वा० सं० में प्राप्त होते हैं।

का० गृ० (२४।१२) में भी अंगुलि-मार्जन के निमित्त इसी प्रकार के मन्त्रों का प्रयोग किया गया है। उन मन्त्रों का पाठ निम्नलिखित है:—

वसवस्त्वाऽग्निराजानो भक्षयन्तु ॥ [७२]
पितरस्त्वा यमराजानो भक्षयन्तु ॥ [७३]
रुद्रास्त्वा सोमराजानो भक्षयन्तु ॥ [७४]
आदित्यास्त्वा वरुणराजानो भक्षयन्तु ॥ [७५]
विश्वे त्वा देवा बृहस्पतिराजानो भक्षयन्तु ॥ [७६]

अग्नि जिनका राजा है ऐसे वसु तुम्हारा प्राशन करें। यम जिनका राजा है ऐसे पितर तुम्हारा प्राशन करें। सोम जिनका राजा है ऐसे रुद्र तुम्हारा प्राशन करें। वरुण जिनका राजा है ऐसे आदित्य तुम्हारा प्राशन करें। बृहस्पति जिनका राजा है ऐसे सभी देवता तुम्हारा प्राशन करें।

यद्यपि यह गृह्यसूत्र कृष्णयजुर्वेद से सम्बद्ध है, तथापि उसमें ये मन्त्र ऋग्वेदीय ग्रन्थ अर्थात् शां० श्रौ० (४।२१।८-१२) से उद्धृत किये गये हैं। सम्भवतया इसका कारण समान विनियोग है क्योंकि शां० श्रौ० में भी इनका विनियोग मधुपर्क कर्म में मधुपर्क-पात्र के पूर्व भाग में मधुपर्क का लेप करने की क्रिया में हुआ है। अर्थात् ये मधुपर्क से सम्बद्ध हैं।

बौधायन और आपस्तम्ब के अनुसार मधुपर्क का अभिमन्त्रण दो मन्त्रों के द्वारा किया जाना चाहिये।[1] उनमें से एक मन्त्र (आ मा गन्यशसा आदि) का विवेचन किया जा चुका है (दे० मन्त्र सं० ५६)। द्वितीय मन्त्र निम्नलिखित है:—

त्रय्यै विद्यायै यशोऽसि यशसो यशोऽसि ब्रह्मणो दीप्तिरसि ।
तं मा प्रियं प्रजानां कुर्वधिपतिं पशूनाम् ॥ [७७]

तुम त्रयी विद्या का यश हो, यश का यश हो, ब्रह्म अर्थात् वेद का प्रकाश हो। मुझे प्रजाओं का प्रिय और पशुओं का स्वामी बना दो।

इस मन्त्र की द्वितीय पंक्ति भी वही है जो आ मा गन्यशसा आदि मन्त्र की है। भा० गृ० (२।२४) के अनुसार इस मन्त्र का उच्चारण अतिथि को मधुपर्क-प्राशन के समय करना चाहिये। का० गृ० (२४।१३) में भी उक्त क्रिया के लिए एक मिलता जुलता मन्त्र उद्धृत किया गया है। उसकी प्रथम पंक्ति में **यशसः** के स्थान पर **श्रियै** पाठ है और **यशोऽसि** और **ब्रह्मणः** के मध्य **यशसे** का समावेश किया

---

१. बौ० गृ० १।२।३४, आप० गृ० ५।१३।१३ (मं० पा० २।१०।१,३)

गया है। द्वितीय पंक्ति इस प्रकार है:—

सत्यश्रीर्यशःश्रीर्मयि श्रीः श्रीः श्रयताम् ॥

(सत्य की शोभा, यश की शोभा, मुझ पर सभी प्रकार की शोभा आश्रित हो।)

पूर्ववर्ती ग्रन्थों में यह पंक्ति एक अन्य मन्त्र में आंशिक रूप में प्राप्त होती है।[1] गोभिल और खादिर के अनुसार उपरिलिखित मन्त्र के अंगभूत शब्दों **यशसो यशोऽसि** के द्वारा अतिथि को मधुपर्क स्वीकार करना चाहिये।[2]

आग्नि० गृ० (२।६।६) में मधुपर्क के अभिमन्त्रणार्थ निम्नलिखित मन्त्र के उच्चारण का विधान है:—

स मावतु स मा पातु स मा जुषताम् ॥ [७८]

वह मधुपर्क मेरी रक्षा करे, वह मेरा पालन करे, वह मुझे प्राप्त हो।

केवल **स मावतु** शब्द अथर्व० और तै० सं० में अन्य मन्त्रों के स्थायी शब्दों के रूप में उपलब्ध होते हैं।[3] तै० सं० के इस संदर्भ के मन्त्रों को **अभ्यातान** कहा गया है, सभी पाक-यज्ञों में आहुतियों के साथ इन मन्त्रों के उच्चारण का विधान है।[4]

बहुत से गृह्यसूत्रों में विधान है कि मधुपर्क के अभिमन्त्रण के पश्चात् अतिथि को निम्नलिखित मन्त्रों के जाप के साथ उसका प्राशन करना चाहिए[5]:—

यन्मधुनो मधव्यं परममन्नाद्यं वीर्यम् ।
तेनाहं मधुनो मधव्येन परमेणान्नाद्येन वीर्येण परमो मधव्योऽन्ना—
दोऽसानि ॥ [७९]

जो मधु की मधुर, परम, अन्न-प्राशन-योग्य शक्ति है, मधु की उस मधुर, परम, अन्न-प्राशन-योग्य शक्ति से मैं परम, मधुर और अन्न-भक्षक हो जाऊँ।

पा० गृ० में **वीर्यम्** और **वीर्येण** के स्थान पर **रूपम्** और **रूपेण** पाठ है और उनकी स्थिति क्रमशः **अन्नाद्यम्** तथा **अन्नाद्येन** से पूर्व है।

---

१. ऋ० खि० ५।८७।१० (मयि श्रीः श्रयतां यशः), वा० सं० ३९।४, श० ब्रा० १४।३।२।२०, तै० ब्रा० २।४।६।६ (यशः श्रीः श्रयतां मयि)।
२. गो० गृ० ४।१०।१४ (मं० ब्रा० २।८।११), खा० गृ० ४।४।१७।
३. अथर्व० ५।२४, तै० सं० ३।४।५।
४. वै० पा० गृ० १।५।१०, हि० गृ० १।३।१०।
५. बौ० गृ० १।२।३७, पा० गृ० १।३।२०, आप० गृ० ५।१३।१३ (मं० पा० २।१०।५), बै० गृ० २।१६।

का० गृ० (२४।१३) में इस मन्त्र का निम्नलिखित पाठ है:—

यन्मधुनो मधव्यस्य परमस्यान्नाद्यस्य परममन्नाद्यं रूपम् । [८०]
तेनाहं मधुनो मधव्यस्य परमस्यान्नाद्यस्य परमोऽन्नाद्यो मधव्यो भूयासम् ।।

परम, मधुर, अन्न-प्राशन-योग्य मधु का जो परम, अन्न-प्राशन-योग्य रूप है, मधु के उस मधुर, परम, अन्न-प्राशन-योग्य (रूप) से मैं परम, अन्न, प्राशन-योग्य, मधुर हो जाऊँ ।

परन्तु इस पाठान्तर में भी मन्त्र का प्रमुख भाव अपरिवर्तित रहता है ।

हि० गृ०, आ० गृ० और आग्नि० गृ० में इसी कर्म में इस मन्त्र का विनियोग कुछ भिन्न प्रकार से हुआ है ।[1] तदनुसार हि० गृ० (१।१३।८) में अतिथि के द्वारा मधुपर्क के आलोडन की क्रिया के साथ इसके उच्चारण का विधान है। भा० गृ० (२।२४) के अनुसार इसके द्वारा मधुपर्क का अभिमन्त्रण किया जाना चाहिये । आग्नि गृ० (१।४।१) में अतिथि के द्वारा इसके उच्चारण से मधुपर्क स्वीकार किये जाने का निर्देश है। तथापि सभी प्रयोगों में मन्त्र का सम्बन्ध मधुपर्क के साथ सुस्पष्ट है । मधुपर्क का प्रमुख तत्त्व होने के कारण इस मन्त्र में मधु की ही स्तुति की गई है । इसके अतिरिक्त वेद में मधु साधारणतया आनन्द का प्रतीक है ।[2] यह मन्त्र प्राग्-गृह्यसूत्र साहित्य में अनुपलब्ध है ।

गोभिल और खादिर ने मधुपर्क-प्राशन में निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग किया है[3]:—

यशसो भक्षोऽसि महसो भक्षोऽसि ।
श्रीभक्षोऽसि श्रियं मयि धेहि स्वाहा ।। [८१]

तुम यश का भोजन हो, तुम महत्ता का भोजन हो, तुम लक्ष्मी का भोजन हो । तुम मुझमें लक्ष्मी स्थापित करो ।

यह मन्त्र भी प्राग्-गृह्यसूत्र साहित्य में प्राप्य नहीं । जै० गृ० (१।१९।१) में मधुपर्क-प्राशन कर्म में इससे मिलते जुलते निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है:—

---

१. इन गृह्यों में पा० गृ० के समान ही रूप पाठ है यद्यपि उसकी स्थिति अन्नाद्य के पश्चात् ही है, द्वितीय पंक्ति में अन्नाद्येन का अभाव है और असानि के स्थान पर भूयासम् पाठ है ।

२. दे० वेद रहस्य, पृ० १३३ और ऐ० ब्रा० ३३।३।५—चरन् वै मधु विन्दति ।

३. गो० गृ० ४।१०।१५ (मं० ब्रा० २।८।१२), खा० गृ० ४।४।१८ ।

त्वा यशंसे श्रियेऽन्नाद्याय ब्रह्मवर्चसाय ।। [८२]

यश के लिये, लक्ष्मी के लिये, अन्न-प्राशन-योग्यता के लिये, ब्रह्म-तेज के लिये तुम्हारा (मैं प्राशन करता हूँ ।)

यह मन्त्र भी पूर्ववर्ती साहित्य में अनुपलब्ध है। पा० गृ० (१।३।२५) में विधान है कि मधुपर्क-प्राशन के पश्चात् जल का आचमन करके अतिथि को निम्नलिखित मन्त्र में प्राप्त संकेतों के अनुसार अपने विभिन्न अंगों का स्पर्श करना चाहिए:—

वाङ्म आस्ये नसोः प्राणोऽक्षणोश्चक्षुः कर्णयोः श्रोत्रं बाह्वोर्बल-मूर्वोरोजोऽरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूस्तन्वा मे सह ।। [८३]

मेरे मुख में वाणी, नासाओं में प्राण, आँखों में दृष्टि, कानों में श्रवण-शक्ति, भुजाओं में बल, जांघों में ओज हो, मेरे अंग क्षति-रहित हों और मेरे शरीर के साथ (स्वस्थ) शरीर हो।

इस मन्त्र का मूल स्रोत तै० सं० ५।५।६।२ प्रतीत होता है। पा० गृ० में **ऊर्वोरोज:** तक उसका पूर्ण अनुसरण किया गया है, उससे आगे तै० सं० में निम्नलिखित पाठ है:—

अरिष्टा विश्वान्यङ्गानि तनूस्तनुवा मे सह नमस्ते अस्तु मा मा हिंसीः ।।

तै० सं० के इस पाठ का पूर्णानुसरण आप० श्रौ० और मा० श्रौ० में हुआ है जो कि इसके गृह्य-विनियोग के भी मूल स्रोत प्रतीत होते हैं।[1] इन श्रौतसूत्रों में निर्देश है कि प्राशित्र प्राशन करके जल का आचमन करने के पश्चात् ब्रह्मा-पुरोहित को इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए अङ्ग-स्पर्श करना चाहिये। इस विनियोग की तुलना तै० आ० १०।७२ के विनियोग से भी की जा सकती है जहाँ भोजन के पश्चात् प्रतिदिन इस मन्त्र के उच्चारण का विधान है।

स्वल्प पाठान्तर सहित यह मन्त्र अथर्व० १९।६०।१-२ में विद्यमान है। कौशिक० (६६।१) के अनुसार शतौदनसव कर्म में इस मन्त्र द्वारा विभिन्न अंगों का अभिमन्त्रण किया जाना चाहिए। अथर्व० में यह मन्त्र निम्नलिखित प्रकार से दो मन्त्रों के रूप में आया है:—

वाङ्म आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः ।
अपलिताः केशा अशोणा दन्ताः बहु बाह्वोर्बलम् ।। [८४]

१. आप० श्रौ० ३।२०।२-३, मा० श्रौ० ५।२।१५।२०-२१।

ऊर्वोरोजो जङ्घयोर्जवः पादयोः ।
प्रतिष्ठा अरिष्टानि मे सर्वात्मा निभृष्टः ॥ [८५]

मेरे मुख में वाणी, नासाओं में प्राण, आँखों में दृष्टि, कानों में श्रवण-शक्ति हों, अनपके बाल और रुधिर-क्षरण-रहित दाँत हों, मेरी भुजाओं में बहुत बल हो। जाँघों में ओज, पिण्डलियों में वेग, पाँवों में स्थैर्य हो, मेरे (सब अंग) रोग-रहित और मेरा पूर्ण शरीर पूर्ण रूपेण स्वस्थ हो।

क्योंकि इन मन्त्रों में अंगों की सूची में और अंगों के नाम आ गये हैं, अतः अथर्व॰ की यह सूची अधिक पूर्ण है।

गौ

अन्त में अतिथि को गौ प्रदान की जाती है। उसके वध की अनुमति देना अथवा उसे मुक्त कर देना अतिथि की इच्छा पर निर्भर होता है।

मा॰ गृ॰ (१।२४।३१) में विधान है कि यदि अतिथि उसके वध की इच्छा करे तो उसे निम्नलिखित वाक्य बोलना चाहिये:—

हतो मे पाप्मा पाप्मा मे हतः कुरुत ।। [८६]

नष्ट हो गया मेरा पाप, पाप मेरा नष्ट हो गया, करो।

कृष्णयजुर्वेदीय गृह्यसूत्रों में भी उक्त स्थिति में समान वाक्यों के उच्चारण का विधान है।[1] मा॰ गृ॰ में **हतो मे पाप्मा** ज्यों का त्यों है तत्पश्चात् **पाप्मानं मे हत कुरुत** पाठ है।

बौ॰ गृ॰ में निम्नलिखित वाक्य दिया गया है:—

गौरस्यपहतपाप्माप पाप्मानं नुद मम चामुष्य च ॥ [८७]

तुम पाप नष्ट करने वाली गौ हो, मेरे और इस (गृहस्थ) के पाप दूर करो।

मं॰ पा॰ में यहाँ **नुद** के स्थान पर **जहि** पाठ है। अन्य गृह्यों में भी यही पाठ है। हि॰ गृ॰ में बौ॰ गृ॰ के वाक्य के आगे **हतं मे द्विषन्तं हतो मे द्विषन्** जोड़ा गया है।

यहां **हतम्** भ्रष्ट प्रतीत होता है। भा॰ गृ॰ में **जहि** और **मम** के मध्य भी

---

१. बौ॰ गृ॰ १।२।४४, मा॰ गृ॰ १।९।२०, आप॰ गृ॰ ५।१३।१६ (मं॰ पा॰ २।१०।६), हि॰ गृ॰ १।१३।१, भा॰ गृ॰ २।२४, का॰ गृ॰ २४।१६, वा॰ गृ॰ ११।२१।

पाप्मानम् का समावेश किया गया है और वाक्य के आगे **जहि द्विषन्तं हनीथा मम द्विषं, कुरुत** जोड़ा गया है।

का० गृ० में यह वाक्य उपरिलिखित मा० गृ० के अनुसार है, उसके आरम्भ में **मम चामुष्य च पाप्मानं जहि** और जोड़ा गया है। कौशिक० (६२।१६) ने इस प्रसङ्ग में निम्नलिखित वाक्य रखा है:—

पाप्मानं मेऽप जहि ॥ [८८]

वा० गृ० में भी मा० गृ० के अनुसार पाठ है, परन्तु वहां उस वाक्य के साथ निम्नलिखित मन्त्र भी जोड़ा गया है:—

यां त्वा देवा वसवोऽन्वजीविषुरादित्यानां स्वसारं रुद्रमातरम् ।
दैवीं गामदितिं जनानामारभन्तामर्हतामर्हणाय ॥ [८६]

जिस तुम्हारे आश्रय पर वसु देवता जीवित रहते हैं, आदित्य की भगिनी, रुद्रों की माता, उस दिव्य गौ अदिति को पूजनीय जनों के पूजन के लिये (सब मन में) धारण करें।[1]

यद्यपि यह मन्त्र ज्यों का त्यों किसी पूर्ववर्ती ग्रन्थ में अप्राप्य है तथापि यह ऋ० (८।१०१।१५) **माता रुद्राणाम्** आदि मन्त्र का रूपान्तर प्रतीत होता है।

प्रस्तुत वाक्य (मन्त्र सं० ८६ आदि) का विनियोग पा० गृ० और वै० गृ० में भिन्न प्रकार से हुआ है। पा० गृ० (१।३।२७) के अनुसार यदि अतिथि की इच्छा गो-वध की हो तो **माता रुद्राणाम्** आदि मन्त्र का उच्चारण करके उसे निम्नलिखित वाक्य बोलना चाहिए:—

मम चामुष्य च पाप्मानं हनोमि [६०]

मैं अपने और इस (गृहस्थ) के पाप का नाश करता हूँ।

इसकी तुलना का० गृ० के पाठ से की जा सकती है। अगले सूत्र में पा० गृ० में कहा गया है कि यदि वह गौ को मुक्त करना चाहे तो उसे उपर्युक्त वाक्य को **हनोमि** के स्थान पर **हतः** पाठ से बोलकर निम्नलिखित वाक्य भी बोलना चाहिये:—

ओमुत्सृजत तृणान्यत्तु ॥ [६१]

---

१. दे० धातु पाठ पाणिनि—रभ राभस्ये (टीकाकार—राभस्यमुपक्रमः) उपक्रम—अर्थात् पास पहुँचना, आरम्भ करना। आरभ् आलिंगन के अर्थ में भी आता है। आलिंगन अथवा पास पहुँचना अर्थात् धारण करना।

ओम् इसे मुक्त कर दो, घास खाने दो।

बौ० गृ० (२।१६) में इस मन्त्र का प्रयोग अतिथि द्वारा गौ का स्पर्श करने के निमित्त किया गया है। इसमें वाक्य का पाठ हि० गृ० जैसा है।

इस वाक्य के समान भाव वाला एक वाक्य का० श्रौ० (१५।७।६) में भी प्राप्त होता है—**पाप्मानं तेऽपहन्मः ।।** (हम तुम्हारे पाप को नष्ट करते हैं)। का० श्रौ० के अनुसार राजसूय यज्ञ में पुरोहितों को यज्ञ–वेत्र द्वारा यजमान का ताड़न करते हुए यह वाक्य बोलना चाहिए। वस्तुतः गृह्य-विनियोग का आधार ला० श्रौ० (१।२।१२) है जहाँ इसका विनियोग अतिथि के लिये गो–वध के प्रसङ्ग में हुआ है।

इस प्रसंग में प्रयुक्त वाक्यों का समालोचन करते हुए यह बात स्पष्टतया ध्यान में आती है कि गोवध अभीष्ट नहीं था क्योंकि सभी स्थलों पर गो-वध के साथ साथ पाप नष्ट करने की बात कही गई है। शब्दान्तर में कहा जा सकता है कि ऐसा माना जाता था कि गो-वध से पापभाक् होना पड़ेगा। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि ब्राह्मणों अथवा संहिताओं में यह वाक्य उपलब्ध नहीं होता। सम्भव है कि गृह्यसूत्र काल में किन्हीं अन्य विदेशी जातियों से प्रभावित होकर गो-वध का विधान किया गया हो।

बौ० गृ० और आप० गृ० में विधान है कि निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए गृहस्थ को गौ की वपा (चर्बी) की आहुति देनी चाहिये:[1]—

अग्निः प्राश्नातु प्रथमः स हि वेद यथा हविः ।
अरिष्टमस्माकं कृण्वन् ब्राह्मणो ब्राह्मणेभ्यः ।। [६२]

अग्नि पहले प्राशन करे, वह वास्तविक आहुति को जानता है। ब्राह्मणों में से ब्राह्मण वह हमारी नीरोगता सम्पादित करता हुआ प्राशन करे।

इस मन्त्र का विस्तृत विवेचन द्वादश अध्याय में **आग्रयण** के अन्तर्गत किया गया है। (दे० मन्त्र सं० ९०३)

पा० गृ० के अतिरिक्त लगभग सभी गृह्यसूत्रों ने विधान किया है कि यदि अतिथि गौ को मुक्त करना चाहे तो उसे निम्नोक्त मन्त्र[2] का उच्चारण करना

---

१. बौ० गृ० १।२।४८-४९, आप० गृ० ५।१३।१६ (मं० पा० २।१०।७)।

२. आ० गृ० १।२४।२५, बौ० गृ० १।२।५०, मा० गृ० १।९।२३, गो० गृ० ४।१०।२०, (मं० ब्रा० २।८।१४), जै० गृ० १९।४, कौशिक० ९२।१४, आप० गृ० ५।१३।१, (मं० पा० २।१०।९), हि० गृ० १।१३।१२, का० गृ० २४।१९, वा० गृ० ११।२३, भा० गृ० २।२५, आग्नि० गृ० २।६।६।

चाहिये:—

माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः ।
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट ।। [९३]

यह रुद्रों की माता है, वसुओं की कन्या है, आदित्यों की भगिनी है, अमृत का केन्द्र है। ज्ञानी पुरुष को मैं कहता हूँ कि निर्दोष अदिति रूप गो का वध न करो।

बड़े आश्चर्य की बात है कि इस गृह्यसूत्र परम्परा के विरुद्ध पा० गृ० (१।३।२७) में गौ का वध करने की स्थिति में इस मन्त्र का विनियोग किया गया है। इस मन्त्र का स्रोत ऋ० (८।१०१।१५) है। इसके पूर्वार्ध की तुलना अथर्व० (९।१।४) के निम्नलिखित पूर्वार्ध से की जा सकती है:—

मातादित्यानां दुहिता वसूनां प्राणः प्रजानाममृतस्य नाभिः ।। [९४]

तै० सं० के गृह्यसूत्रों में मन्त्र से पूर्व **गौर्धेनुर्धन्या** शब्द जोड़े गये हैं। कौशिक० में पूर्वार्ध का पाठ अथर्व० के पाठानुसार है—मात्र भेद **प्राणः प्रजानाम्** के स्थान पर **स्वसा रुद्राणाम्** है। उत्तरार्ध में **नु** के स्थान पर **नो** पाठ है, यद्यपि ब्लूमफ़ील्ड ने कूह्न की पाण्डुलिपि के अनुसार **नु** पाठ भी दिया है।[1] निस्सन्देह **नो** भ्रष्ट प्रतीत होता है।

सभी गृह्यों में स्वल्प पाठ भेद सहित एक लघु वाक्य इस मन्त्र से संलग्न है। आ० गृ० में यह **ओम् उत्सृजत** है। तै० सं० के गृह्यसूत्रों में इस वाक्य से पूर्व

पिबतूदकं तृणान्यत्तु ।। [९५]

शब्द दिये गये हैं। मा० गृ० में यह वाक्य निम्नलिखित रूप में प्राप्त होता है।

भूर्भुवःस्वरोम् उत्सृजतु तृणान्यत्तु ।। [९६]

का० गृ० में महाव्याहृतियों का अभाव है और **उत्सृजतु** के स्थान पर **उत्सृजत** पाठ है। वा० गृ० में का० गृ० के इस पाठ के आगे **उदकं पिबतु** जोड़ा गया है। मं० ब्रा० में निम्नलिखित पाठ है:—

उत्सृज गामत्तु तृणानि पिबतूदकम् ।। [९७]

गौ को छोड़ दो, इसे घास खाने दो, जल पीने दो।

इन सभी वाक्यों में गौ को मुक्त करने का भाव व्यक्त किया गया है।

---

१. कौशिक०, पृ० २४५, पा० टि०-३, वै० कॉन्० में भी उसने पृ० ६१५ पर टिप्पणी देकर इसे **नु** के रूप में शुद्ध किया है।

संलग्न वाक्य सहित इस मन्त्र के गृह्य विनियोग का स्रोत श्रौत ग्रन्थों में प्रतीत होता है क्योंकि वहाँ भी मधुपर्क के अवसर पर गौ मुक्त करने के प्रसङ्ग में इसके उच्चारण का विधान है।[१] तै० आ० (६।१२।१) में भी राजगवी को मुक्त करने के प्रसङ्ग में इसे उद्धृत किया गया है।

मन्त्र से संलग्न वाक्य का स्रोत भी ऋ० (१।१६४।४०) में माना जा सकता है। का० गृ० ने इसका विनियोग उक्त प्रसङ्ग में किया है। मन्त्र इस प्रकार है[२]:—

सूयवसाद् भगवती हि भूया अथो वयं भगवन्तः स्याम।
अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती॥ [९८]

हे गौ, अच्छी घास खाने वाली तुम धनवती अर्थात् पयस्वती हो हो जाओ, और (उससे) हम धनवान् हो जावें। हे अवध्य गौ तुम सर्वदा सर्वत्र घूमती हुई घास खाओ और शुद्ध जल पिओ।

पूर्वार्ध में **अथो** के स्थान पर **अध** पाठ सहित यह मन्त्र अथर्व० में भी विद्यमान है।[३] कौशिक० (९२।१५) के अनुसार मुक्त किये जाने के पश्चात् निवर्तमान गौ का इस मन्त्र से अभिमन्त्रण करना चाहिए। गृह्य विनियोग के सम्बन्ध में **अद्धि तृणं पिब शुद्धमुदकम्** शब्दों पर विशेष ध्यान देना चाहिये। सम्भवतया गृह्य-विनियोग में ब्राह्मणों और श्रौतसूत्रों का अनुसरण किया गया है क्योंकि उनमें यह विधान है कि दोहन के समय यदि यज्ञ की गौ क्षुधा से रम्भाये तो इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए उसे चारा खिलाना चाहिये।[४]

बौधायन, आपस्तम्ब और हिरण्यकेशी ने निर्देश किया है कि यदि गौ को मुक्त कर दिया जाता है तो अन्य मांस से तैयार किया गया भोजन अतिथि के लिए परोसना चाहिये। इस स्थिति में गृहस्थ को **भूतम्** (हो गया अथवा बन गया) कह कर अतिथि के लिये भोजन का निवेदन करना चाहिए। इसके उत्तर में अतिथि को निम्नलिखित वाक्य कहना चाहिये[५]:—

१. ला० श्रौ० १।२।१२,१३, शां० श्रौ० ४।२१।२३,२४।

२. लौ० गृ० में देवपाल ने विश्वदानीम् के स्थान पर विश्वदानी पाठ दिया है और उसकी व्याख्या इस प्रकार की है—सर्वस्य दात्री पयोद्वारेण—दूध के द्वारा सब कुछ देने वाली।

३. अथर्व० ७।७३।११; ९।१०।२०।

४. ऐ० ब्रा० ५।२७।६, ७।३।३, कौ० ब्रा० ८।७, आ० श्रौ० ३।११।४, शां० श्रौ० ३।२०।१, का० श्रौ० २५।१।१०, आप० श्रौ० ९।५।४।

५. बौ० गृ० १।२।५१, आप० गृ० ५।१३।१८, (मं० पा० २।१०।१३-१८), हि० गृ० १।१२ १५।

तत् सुभूतं विराडन्नं तन्मा क्षायि तन्मेऽशीय तन्म ऊर्जे धास्तत् सुभूतम्।। [९९]

वह अच्छा बना विराट् अन्न है, वह नष्ट न हो, अपने उस (अन्न) का मैं प्राशन करूँ, मेरा वह अन्न शक्ति के लिए हो, वह अच्छा बना है।

वै० गृ० (२।१६) में अन्तिम **तत् सुभूतम्** का अभाव है। इसके अनुसार अतिथि को उपर्युक्त वाक्य तब कहना चाहिए जब गौ को मुक्त किया जाये। मं० पा० में उपरिलिखित बौ० गृ० के वाक्य से पाठ-भेद हैं। तदनुसार इसमें दोनों ओर के **तत् सुभूतम्** शब्दों का अभाव है। **विराट्** से पहले **सा** जोड़ा गया है, **अन्नम्** निकल गया है और **तन्मेऽशीय** के स्थान पर **तस्य ते ऽशीय** पाठ है। इन शब्दों की तुलना तै० सं० और आप० श्रौ० के **तस्य ते भक्षीय** शब्दों से की जा सकती है।[1] पा० गृ० (३।१४।२) ने रथारोहण कर्म में रथ के चक्रों का स्पर्श करने में **सा विराट्** का विनियोग किया है।

वर द्वारा वधू का समीक्षण

उपर्युक्त कर्म के निमित्त कुछ गृह्यसूत्रों ने[2] निम्नलिखित मन्त्र का[3] विनियोग किया है :—

अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः।
वीरसूर्देवकामा स्योना शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे।। [१००]

हे वधू, तू पति से विरोध न करने वाली, प्रिय-दृष्टि हो जा, सब पशुओं का मङ्गल करने वाली, पवित्रान्तःकरणयुक्त, सुन्दर शुभ कर्म गुण स्वभाव और विद्या से सुप्रकाशित, वीर पुरुषों को उत्पन्न करने वाली, देव के गुणों की इच्छुक, सुखयुक्त हो के हमारे दो पाँव वाले (मनुष्यादि) के लिए सुख करने वाली हो। और चार पाँव वाले (पशुओं) को भी सुख देने वाली हो। स्वा० द०

---

१. तै० सं० १।६।१।२; ३।२।३,१,३, आप० श्रौ० ६।२५।१०।

२. आप० गृ० २।४।४ (मं० पा० १।१।४); पा० गृ० १।४।१६, जै० गृ० २१।७- अपतिघ्नी के पश्चात् मे, पशुभ्यः के स्थान पर पतिभ्यः और वीरसूः के स्थान पर जीवसूः पाठ है।

३. ऋ० १०।८५।४४, अथर्व० १४।२।१७-१८-देवकामा और देवृकामा (देवर की अर्थात् नियोग की इच्छा करने वाली) दोनों पाठ हैं। स्वा० द० ने देवकामा पाठ स्वीकार किया है। दे० सं० वि० पृ० १८८, पा० टि० १।

कुछ गृह्यसूत्रों में इस मन्त्र का विनियोग अन्य प्रसङ्गों में भी हुआ है। ऋ० में यह मन्त्र सूक्त के अन्त में आता है अतः इस वेद से सम्बद्ध गृह्यों ने सम्भवतया इसका अनुसरण करते हुए इसका विनियोग विवाह संस्कार के अन्त में ही किया है।[1] उनके अनुसार वर के घर में वधू के प्रवेश के पश्चात् अन्य मन्त्रों के साथ इसका भी उच्चारण किया जाना चाहिए। शां० गृ० (१।१६।५) में इसका प्रयोग मुख्य विवाह संस्कार के पश्चात् वधू की आँखों में आज्य का अञ्जन लगाने की क्रिया में किया गया है।

कुछ अन्य गृह्यसूत्रों में वर के द्वारा वधू का पाणि-ग्रहण करने के पश्चात् वधू का अभिमन्त्रण करने के लिये निर्दिष्ट मन्त्र-समूह में इस मन्त्र का भी समावेश किया गया है।[2]

वा० गृ० (१४।३) में वर द्वारा इस मन्त्र के उच्चारण का उस समय विधान किया गया है जब वह वधू को उठाकर परिणय-संस्कार के लिये निर्धारित स्थान पर ले जाता है। इस गृह्य में मन्त्र का पूर्वार्ध तो ऋ० मन्त्र के पूर्वार्ध जैसा है, परन्तु निम्नलिखित उत्तरार्ध अन्यत्र अप्राप्य है:—

दीर्घायुपत्नी प्रजया स्वर्विदिन्द्रप्रणयीरुप नो वस्तुमेहि ।। [१०१]

दीर्घायु पति से युक्त, सन्तान के द्वारा स्वर्ग प्राप्त करने वाली तुम हमारे घर इन्द्र की प्रेमिकाओं अर्थात् सुन्दर स्त्रियों के पास आ जाओ।

आग्नि० गृ० (१।६।२) में भी पाणि-ग्रहण के पश्चात् वर द्वारा वधू को उठाने के प्रसङ्ग में इस मन्त्र का विनियोग किया गया है। परन्तु इस गृह्य में मन्त्र की रचना विचित्र प्रकार से दो भिन्न मन्त्रों के अर्धांशों को मिलाकर की गई है। उसका पूर्वार्ध तो ऋ० १०।८५।३६ (भगो अर्यमा इत्यादि) मन्त्र का उत्तरार्ध है और उत्तरार्ध उपरिलिखित मन्त्र का पूर्वार्ध है। मन्त्रों की ऐसी रचना गृह्यसूत्रों में असाधारण बात नहीं है। और फिर इस प्रसंग में तो सम्मिलित मन्त्र के अर्थ में भी कोई विकार नहीं आया। यह भी सम्भव है कि यह सम्मिलित मन्त्र किसी ऐसी संहिता में से उद्धृत हो जो अब अप्राप्य है।

यह बात महत्त्वपूर्ण है कि विवाह-सूक्त का मन्त्र होने के कारण गृह्यसूत्रों में इसका विनियोग केवल विवाह कर्मों में हुआ है। विवाह सम्बन्धी कर्मों में इस मन्त्र

---

१. शां० गृ० १।१६।१२, आ० गृ० १।८।६।

२. हि० गृ० १।२०।३, भा० गृ० १।१५, बौ० गृ० १।१।२५, मा० गृ० १।१०।६, कौशिक० ७७।२; गो० गृ० २।२।१६ (मं० ब्रा० १।२।१७)।

की सामान्य विनियोगार्हता होते हुए भी जिन स्थलों पर इसका विनियोग नेत्र-सम्बन्धी क्रिया में किया गया है, वहाँ विनियोग का आधार केवल **अघोरचक्षुः** शब्द रहा होगा। अन्यथा मन्त्र में अभिव्यक्त अन्य कामनाओं का केवल नेत्रों से सम्बन्ध न होकर गार्हस्थ्य की सामान्य समृद्धि से है।

उपर्युक्त समीक्षण क्रिया में ही पा० गृ० (१।४।१६) ने तीन और मन्त्र दिये हैं।[1] इसी प्रकार जै० गृ० (२१।६-१५) में भी तीन और मन्त्र दिये गये हैं।[2] इन सब मन्त्रों का विवेचन उपयुक्त स्थलों पर किया जायेगा।

कन्या-प्रदान

इस कर्म का विस्तृत वर्णन केवल का० गृ०, मा० गृ० और वै० गृ० में प्राप्त होता है।[3] प्रथम दो गृह्यों के अनुसार ब्राह्मदेया (ब्राह्म विधि के द्वारा विवाह में दी जाने वाली) और शुल्कदेया (शुल्क लेकर वर को दी जाने वाली) कन्याओं के लिये पृथक्-पृथक् कर्म-विधि होती है।

ब्राह्मदेया कन्या के प्रसङ्ग में दोनों पक्षों के सम्बन्धियों के एकत्र हो जाने पर कन्या का पिता वर के पिता को तीन बार कहता है—**ददामि** (मैं कन्या देता हूँ)। इस पर वर का पिता उत्तर देता है—**प्रतिगृह्णामि** (मैं स्वीकार करता हूँ)। **एतद्वः सत्यम्** (तुम्हारा यह कृत्य सत्य हो) शब्दों से आशीर्वचन कहकर पुरोहित दाता और प्रतिग्रहीता की ओर देखता हुआ कुछ मन्त्रों का उच्चारण करता है।[4]

शुल्कदेया कन्या के प्रसङ्ग में सर्वप्रथम दोनों पक्षों के सम्बन्धी शुल्क निर्धारित करते हैं। धन-दाता अर्थात् वर का पिता कहता है—**प्रजाभ्यस्त्वा** (मैं तुम्हें सन्तान की समृद्धि के लिए धन देता हूँ) और धन देता है। प्राप्तकर्ता अर्थात् कन्या का पिता कहता है **रायस्पोषाय त्वा** (मैं तुम्हारे धन की पुष्टि के लिये स्वीकार करता हूँ) और धन स्वीकार कर लेता है। धन को एक जल से भरे कांस्य-पात्र में रख कर कन्या के सम्बन्धी मन्त्रों का उच्चारण करते हुए जल का स्पर्श करते हैं।[5]

वै० गृ० (३।२) में यह कर्म केवल ब्राह्मदेया कन्या के प्रसङ्ग में विहित है। यहाँ यह विधान है कि कन्या का प्रदाता निम्नलिखित शब्दों को बोलता हुआ वर की

---

१. ऋ० १०।८५।३७, ४०, ४१।
२. ऋ० १०।८५।४३, ३७ और जै० उप० ब्रा० १।५४।६।
३. का० गृ० १५।१६, मा० गृ० १।८।१-११, वै० गृ० १०।१६।
४. दे० मन्त्र सं० १८, १६।
५. दे० मन्त्र सं० २५-२८

अञ्जलि में जल-सेचन करके उसे कन्या दान करता है:—

धर्मप्रजासम्पत्त्यर्थं यज्ञापत्त्यर्थं ब्रह्मदेवर्षिपितृतृप्त्यर्थं प्रजासहत्वकर्मभ्यो ददामि। [१०२]

धर्म और सन्तान की सम्पत्ति के लिये, यज्ञ (फल) की प्राप्ति के लिये, ब्राह्मण अथवा ब्रह्मा, देवताओं, ऋषियों और पितरों के सन्तोष के लिये और सन्तान के साथ रहकर किये जाने वाले सभी गृहस्थी-सम्बन्धी कार्यों के लिये मैं तुम्हें कन्या दान करता हूँ।

यह मन्त्र निस्सन्देह इस प्रसङ्ग में सर्वाधिक उपयुक्त और पूर्ण है क्योंकि इसमें विवाह के सभी उद्देश्य और आदर्श निहित हैं।

प्रजापतिः स्त्रियं यशः [१०३]

इत्यादि छः मन्त्रों के उच्चारण के साथ जल-प्रसेचन करता हुआ वर कन्या को स्वीकार करता है।[1] आग्नि० गृ० (१।६।१) ने भी इसी प्रसङ्ग में इन मन्त्रों का विनियोग किया है।

मा० गृ० और कौशिक० में कन्या प्रदान कर्म में वर द्वारा कन्या को स्वीकार करने के प्रसङ्ग में निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है[2]:—

क इदं कस्मा अदात् कामः कामायादात्।
कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता कामः समुद्रमाविवेश।
कामेन त्वा प्रतिगृह्णामि कामैतत्ते ।। [१०४]

किसने यह किसको दिया, काम ने काम को दिया। काम दाता है, काम स्वीकार करने वाला है, काम समुद्र में प्रविष्ट हो गया। काम से तुम्हें स्वीकार करता हूँ, हे काम, यह (सब) तुम्हारा है।

यह मन्त्र केवल अथर्व०, मै० सं० और का० सं० में प्राप्त होता है।[3] अधिकांश ब्राह्मण और श्रौत ग्रन्थों के अनुसार दक्षिणा प्राप्त करने वाले पुरोहित को दक्षिणा-रूप प्रत्येक पदार्थ की स्वीकृति पर इस मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये। इन सब ग्रन्थों में से केवल आ० श्रौ० में उल्लेख है कि विवाह कर्म में वधू के स्वीकार

---

१. तै० ब्रा० २।४।६।५-७ (समृध्यताम् तक)।

२. मा० गृ० १।८।६, कौशिक० ४५।१७।

३. अथर्व० ३।२६।७, मै० सं० १।६।४ (आंशिक), का० सं० ६।१२।

किये जाने पर भी इस मन्त्र का उच्चारण किया जाना चाहिये।[1] श्रौत और गृह्य दोनों प्रकार के विनियोगों का आधार (स्वीकरण)क्रिया की समानता प्रतीत होती है। एक ओर दक्षिणा में प्राप्त पदार्थों का स्वीकरण है और दूसरी ओर कन्या का स्वीकरण।

वधू के लिये वस्त्रादि का उपहार

शां० गृ० (१।२।३) में विधान है कि वर को निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए वधू को वस्त्रों का उपहार देना चाहिये[2]:—

रैभ्यासीदनुदेयी नाराशंसी न्योचनी।
सूर्याया भद्रमिद्वासो गाथयैति परिष्कृतम्॥ [१०५]

रैभी नाम की ऋचा वधू के साथ विनोदार्थ दी जाने वाली सखी थी, नाराशंसी अर्थात् मनुष्यों की स्तुति उसकी सेवार्थ दासी थी। गायन-योग्य गाथा के द्वारा परिष्कृत सूर्या का शुभ वस्त्र (उसके पास) जाता है, अर्थात् सूर्या उसे प्राप्त करती है। सा०

यह मन्त्र ऋग्वेद के विवाहसूक्त में से उद्धृत है। और उस सूक्त में जिस सूर्या के विवाह का वर्णन है, उसके शुभ वस्त्र की ओर भी मन्त्र में संकेत है। अतः मन्त्र के गृह्य विनियोग का आधार यही विवाह सूक्त प्रतीत होता है।

इसके पश्चात् वही गृह्यसूत्र (१।१२।४-७) अन्य उपहारों को देने के निमित्त निम्नलिखित तीन मन्त्रों को उद्धृत करता है। उनमें से प्रथम मन्त्र का उच्चारण उसे अञ्जन कोश देते हुए, द्वितीय का शलली तथा तीन बल दिये हुए सूत्रों का धागा देते हुए और तृतीय का आदर्श (दर्पण) देते हुए किया जाता है।

चित्तिरा उपबर्हणं चक्षुरा अभ्यञ्जनम्।
द्यौर्भूमिः कोश आसीद् यदयात् सूर्या पतिम्॥ [१०६]
यथेयं शचीं वा वातां सुपुत्रां च यथादितिम्।
अविधवां चापालामेवं त्वामिह रक्षतादियम्॥ [१०७]
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश॥ [१०८]

---

१. श० ब्रा० ४।३।४।३२, पं० ब्रा० १।८।१७, तै० ब्रा० २।२।५।५, तै० आ० ३।१०।१,४, मा० श्रौ० ५।२।१४।१३, ला० श्रौ० २।७।१८, आ० श्रौ० ५।१३।१५ ० आप० श्रौ० १४।११।२।

२. ऋ० १०।८५।६, अथर्व० १४।१।७।

जब सूर्या अपने पति के पास गई तो चित्ति देवता उसकी समृद्धि था, (उसकी) दृष्टि उसका काजल थी और पृथ्वी तथा आकाश दोनों उसके कोश थे। सा० जिस प्रकार यह (शलली) शची की या वायु-पत्नी की, और जिस प्रकार यह शोभन पुत्रों से युक्त अदिति की तथा अविधवा अपाला की रक्षा करती है, उसी प्रकार यह यहाँ तुम्हारी रक्षा करे। प्रत्येक रूप के अनुसार रूप वाला (यह दर्पण) हो जाता है, इसका वह रूप प्रतिविम्ब देखने के लिये होता है। इन्द्र अपनी मायाओं से बहुत रूपों वाला होकर चलता है, इसके (रथ में) एक सहस्र घोड़े जुते हुए हैं (यहाँ सहस्रकिरण सूर्य का संकेत है।)

इनमें से केवल प्रथम मन्त्र ऋ० के विवाह सूक्त में से उद्धृत है।[1] मन्त्र में नेत्र और अञ्जन के प्रति संकेत है, अतः इसका गृह्यविनियोग उपयुक्त प्रतीत होता है।

द्वितीय मन्त्र किसी अन्य वेद-ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं। सम्भवतया मन्त्र में **अपाला** का उल्लेख ऋ० ८।९१ से सम्बद्ध उस परम्परागत कथा के आधार पर किया गया है जिसके अनुसार इन्द्र ने किसी अपाला नामक स्त्री को रूपवती बनाया था। मन्त्र में शलली का उल्लेख भी द्रष्टव्य है क्योंकि ऋ० ८।९१ पर आधारित (सायण द्वारा उद्धृत) शाट्यायन ब्राह्मण की कथा और बृहद्देवता (६।९९-१०६) की कथा के अनुसार रथ के छिद्र में से खींचने पर अपाला की जो त्वचा उतरी वह शलली बन गई। सम्भवतया शलली के प्रति इस संकेत के आधार पर ही गृह्यसूत्र में इस मन्त्र का विनियोग शलली प्रदान करने में किया गया है।

तृतीय मन्त्र ऋ० और श० ब्रा० में विद्यमान है।[2] ऋ० में जिस सूक्त में यह मन्त्र विद्यमान है वह मुख्य रूप से इन्द्र को सम्बोधित है। श० ब्रा० और बृ० उप० में इस मन्त्र की दार्शनिक व्याख्या की गई है। सम्भवतया गृह्यकार ने केवल **रूपं रूपं प्रतिरूपः** शब्दों के आधार पर इस मन्त्र का विनियोग दर्पण प्रदान करने में किया है क्योंकि दर्पण में भी प्रतिबिम्ब अथवा प्रतिरूप देखा जाता है। वस्तुतः इस मन्त्र में दार्शनिक तत्त्व अधिक है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि गृह्यसूत्रों में अति-स्वल्प समानता होने पर भी मन्त्र का विनियोग कर लिया जाता है। वह समानता चाहे केवल प्रतीयमान ही क्यों न हो।

शां० गृ० १।१२।८ में विधान है कि दर्पण प्रदान करने के पश्चात् वधू के सम्बन्धी निम्नलिखित मन्त्र (ऋ० १०।८५।२८, अथर्व० १४।१।२६) का उच्चारण

---

१. ऋ० १०।८५।७, अथर्व० १४।१।६।

२. ऋ० ६।४७।१८, श० ब्रा० १४।५।५।१९, बृ० उप० २।५।१९।

करते हुए वधू के कण्ठ में तीन मणियों से युक्त लाल और काला कण्ठसूत्र पहनाते हैं:—

नीललोहितं भवति कृत्यासक्तिर्व्यज्यते ।
एधन्ते अस्या ज्ञातयः पतिर्बन्धेषु बध्यते ।। [१०६]

कृत्या (नामक विनाशादि अभिचार की देवता का रूप) नीला और लाल होता है। (वधू द्वारा) इसकी आसक्ति का त्याग किया जाता है। (उसके चले जाने पर) इस वधू के स्वजन वृद्धि को प्राप्त होते हैं और इसका पति सांसारिक बन्धनों में बंध जाता है । सा०

आप० गृ० २।५।२२ (मं० पा० १।६।८) के अनुसार विवाह के पश्चात् वर-गृह के प्रति वर वधू के प्रस्थान के समय रथ के दोनों चक्रों के मार्ग पर वर क्रमशः नीले और लाल सूत्र रखता हुआ इस मन्त्र का उच्चारण करता है। क्योंकि उन सूत्रों की संख्या दो है, अतः तदनुसार मन्त्र में भी **नीललोहितं भवति** के स्थान पर द्विवचनान्त पाठ **नीललोहिते भवतः** दिया गया है। बौ० गृ० (१।५।११) के अनुसार वर के घर पहुँचने पर वधू को इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए सान्ध्य प्रकाश को देखना चाहिये।

यद्यपि विवाह सूक्त में से उद्धृत होने के कारण इस मन्त्र की सामान्य विनियोगार्हता है, तथापि शां० गृ० और आप० गृ० प्रमुख रूप से आद्य शब्द **नीललोहित** से प्रभावित प्रतीत होते हैं क्योंकि दोनों में मन्त्र का सम्बन्ध नीले और लाल पदार्थों से है। यह शब्द बौ० गृ० के विनियोग का भी आधार कहा जा सकता है क्योंकि सान्ध्य प्रकाश में भी आकाश का नील वर्ण और सूर्य का लाल वर्ण प्रधान होता है।

अन्य गृह्यसूत्रों में वधू के उपहार के रूप में केवल वस्त्रोंका उल्लेख है। आप० गृ०[1] में वस्त्र प्रदान के लिये निम्नलिखित मन्त्र[2] का विनियोग है :—

परि त्वा गिर्वणो गिर इमा भवन्तु विश्वतः ।
वृद्धायुमनु वृद्धयो जुष्टा भवन्तु जुष्टयः ।। [११०]

हे हमारी स्तुति के भोक्ता इन्द्र, सभी कर्मों में प्रयुक्त आप आयुष्मान् को प्राप्त करके समृद्ध होने वाली ये हमारी स्तुतियाँ आपको सब ओर से प्राप्त करें, आपके द्वारा सेवित ये हमारी प्रीति का कारण बनें ।।सा०

ऋ० में यह मन्त्र एक इन्द्र सूक्त के अन्त में आता है। श० ब्रा०, मा० श्रौ०

१. आप० गृ० २।४।८ (मं० पा० १।२।६)।
२. ऋ० १।१०।१२, वा० सं०५।२९, तै० सं० ३।११।२, ६।२।१०।७, मै० सं० १।२।११, का० सं० २।१२

और का० श्रौ० में सदोनिर्माण प्रसङ्ग में छत बनाने के लिए आवरण रूप में प्रयुक्त छदियों के विवरों को बन्द करने की प्रक्रिया में इसका विनियोग किया गया है।[1] प्राग्गृह्यसूत्र ऋग्वेदीय ग्रन्थों में इसका विनियोग दो प्रसंगों में किया गया है। एक स्थल पर तो प्रवर्ग्य याग में उच्चरित किये जाने वाले मन्त्रों में इसका समावेश है।[2] दूसरे स्थल पर सोम-याग में दर्भ घास के द्वारा दो हविर्धानों को आवृत करने के लिये इसके उच्चारण का विधान है।[3]

इसके प्रवर्ग्य-सम्बन्धी विनियोग को छोड़कर यह स्पष्ट है कि अन्य सभी ब्राह्मणों और श्रौतसूत्रों के विनियोग में **परिभवन्तु विश्वतः** (सब ओर से आवृत कर लें) शब्दों ने प्रमुख प्रेरणा प्रदान की है क्योंकि उन विनियोगों में भी आवृत करने की क्रिया के साथ मन्त्र का सम्बन्ध है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मन्त्र में स्तोता की वाणी कर्त्ता के रूप में वर्णित की गई है। ब्राह्मणों और श्रौतसूत्रों के समान ही गृह्यसूत्रों में भी इस मन्त्र के विनियोग का आधार उपर्युक्त शब्द ही प्रतीत होते हैं क्योंकि वस्त्र भी (शरीर को) आवृत करते हैं। (परिभवन्ति)

कुछ गृह्यसूत्रों में वस्त्र-प्रदान के लिये पाठान्तर सहित अथर्व० १९।२४।५ का विनियोग किया गया है।[4] भा० गृ० और आग्नि० गृ० में मन्त्र का निम्नलिखित पाठ है :—

जरां गच्छासि परिधत्स्व वासो भवाकृष्टीनामभिशस्तिपावती।
शतं च जीव शरदः सुवर्चा रायश्च पोषमुपसंव्ययस्व ॥ [१११]

तुम वृद्धावस्था अर्थात् दीर्घायु को प्राप्त हो, वस्त्र धारण करो, अपशापों से मानव-कुलों की रक्षक बनो। और ओजोयुक्त होकर सौ वर्षों तक जीवित रहो, धन की पुष्टि से अपने आप को आवृत करो।—ओल्डनबर्ग

पा० गृ० में **पोषम्** के स्थान पर **पुत्रान्** पाठ इस प्रसङ्ग में अधिक संगत है क्योंकि विवाह का पुत्रोत्पत्ति से गहन सम्बन्ध है। अन्यथा इस गृह्य में अन्त में जोड़े गये **आयुष्मतीदं परिधत्स्व वासः** शब्दों की अनावश्यक पुनरुक्ति तथा छन्दोभङ्ग का दोष है। पा० गृ० के अन्य पाठ-भेद **अभिशस्तिपावती** के स्थान पर **अभिशस्तिपावा** और **रायः** के स्थान पर **रयिम्** हैं।

---

१. श० ब्रा० ३।६।१।२४, मा० श्रौ० २।२।३।२६, का० श्रौ० ८।६।१२।
२. ऐ० ब्रा० १।१९।९, कौ० ब्रा० ८।४, आ० श्रौ० ४।६।३, शां० श्रौ० ५।९।१२।
३. ऐ० ब्रा० १।२९।१८, कौ० ब्रा० ९।४, आ० श्रौ० ४।९।६, शां० श्रौ० ५।१३।१०, दे० आप० श्रौ० ११।८।४।
४. पा० गृ० १।४।१२, मा० गृ० १।१३, आग्नि० गृ० १।६।१

कुछ गृह्यसूत्रों में उपनयन संस्कार में उपनेय छात्र को नव-परिधान प्रदान करने के प्रसङ्ग में इस मन्त्र का विनियोग किया गया है।[1] तदनुसार स्त्रीलिंग अभिशस्तिपावती शब्द अभिशस्तिपावा (पुं०) में परिवर्तित किया गया है।

दोनों ही संस्कारों में अभीष्ट परिवर्तनों के साथ मन्त्र का विनियोग अर्थानुकूल है। परन्तु अथर्व० में इस मन्त्र की स्थिति को ध्यान में रखते हुए उपनयन में इसका विनियोग अधिक उपयुक्त है क्योंकि इसके आगे पीछे के मन्त्र आचार्य अथवा छात्र को सम्बोधित हैं।

इस प्रकार वस्त्र प्रदान किये जाने पर अधिकांश गृह्यसूत्रों में विधान है कि निम्नलिखित मन्त्र (अथर्व० १४।१।४५) का उच्चारण करते हुए वर को वस्त्र-परिधापन के लिये वधू को प्रेरित करना चाहिये:[2]—

या अकृन्तन्नवयन् याश्च तत्निरे या देवीरन्ताँ अभितोऽददन्त।
तास्त्वा जरसे संव्ययन्त्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वासः। [१२]

जिन देवियों ने इस (वस्त्र) को काता है, जिन्होंने बुना है, जिन्होंने फैलाया है और जिन्होंने सब ओर इसके किनारों को पहुँचाया है वे देवियां वृद्धावस्था अर्थात् दीर्घायु के लिये तुम्हें सम्यक् व्याप्त करें, हे आयुष्मती तुम यह वस्त्र धारण करो।

किसी भी गृह्यसूत्र में मन्त्र का उपरिलिखित पाठ ज्यों का त्यों नहीं प्राप्त होता। मा० गृ० में मन्त्र का पूर्वार्ध निम्नलिखित हैं :—

या अकृन्तन्या अतन्वन्या आवन्या अवाहरन् याश्चान्या
देव्योऽन्तानभितोऽततनन्त ॥ [११२]

उत्तरार्ध में त्वा और जरसे के मध्य देव्यः का समावेश किया गया है। पूर्वार्ध में अनावश्यक विस्तार किया गया है क्योंकि उससे अर्थ में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। दूसरी ओर इससे छन्दोभङ्ग अवश्य हुआ है। उत्तरार्ध में देव्यः का समावेश अच्छा है क्योंकि उससे छन्द में सुधार हुआ है अन्यथा त्रिष्टुभ् का मन्त्रार्ध होने के लिये इसमें तीन अक्षरें न्यून थे। यद्यपि देव्यः में भी दो ही अक्षर हैं परन्तु व्यूह प्रक्रिया तथा संव्ययन्तु आयुष्मति उच्चारण से पूर्ण त्रिष्टुभ् बन जाता है। इस प्रकार अथर्व का पूर्वार्द्ध और मा० गृ० का उत्तरार्ध मिलाकर पूर्ण मन्त्र त्रिष्टुभ् पद्य

---

१. आप० गृ० ४।१०।१०, (मं० पा० २।२।७) हि० गृ० १।४।२, बौ० गृ० २।५।१२ भा० गृ० १।५, आग्नि० गृ० १।१।२।

२. मा० गृ० १।१३, का० गृ० २५।४, पा० गृ० १।४।१३, मा० गृ० १।१०।८, आग्नि० गृ० १।६।१, गो० गृ० २।१।१७ (मं० ब्रा० १।१।५, जै० गृ० २०।२, कौशिक०-७५।४।

के निकट पहुँच जाता है। अथर्व० के पाठानुसार सर्वानुक्रमणी में इस मन्त्र का छन्द बृहतीगर्भा त्रिष्टुभ् बताया गया है क्योंकि इसके तृतीय और चतुर्थ पाद में क्रमशः बारह अक्षर हैं। यह सब ध्यान में रखते हुए मं० ब्रा० का पाठ सर्वश्रेष्ठ प्रतीत होता है क्योंकि न केवल वह अथर्व० के पाठ के निकटतम है अपितु उसका छन्द भी अधिक सन्तुलित है :—

या अकृन्तन्नवयन्या अतन्वत याश्च देव्यो अन्तानभितोऽततन्थ ।
तास्त्वा देव्यो जरसा संव्ययन्तु आयुष्मतीदं परिधत्स्व वासः ॥

उपरिलिखित पाठ **संव्ययन्तु** और **आयुष्मति** में सन्धि-विच्छेद करके दिया गया है। तदनुसार पूर्वार्ध में जगती छन्द है और उत्तरार्ध में त्रिष्टुभ्। इसी को आदर्श पाठ माना जाना चाहिये। पा० गृ० में दोनों स्थानों पर **देव्यः** के स्थान पर **देवीः** पाठ है और पूर्वार्ध में **अन्तान्** के स्थान पर **तन्तून्**। उत्तरार्ध में अथर्व० का **जरसे** सुरक्षित है परन्तु **संव्ययन्तु** के स्थान पर **संव्ययस्व** पाठ है। **संव्ययस्व** (म० पु०) से मन्त्र के अर्थ में बाधा होती है क्योंकि इससे कर्त्ता (प्र० पु०) और क्रिया (म० पु०) भिन्न हो जाते हैं।[1] जै० गृ० में पूर्णतया मं० ब्रा० जैसा पाठ है-एकमात्र भेद **अततन्थ** के स्थान पर **अददन्त** है।

भा० गृ० में मन्त्र का विनियोग वधू को वस्त्र प्रदान करने के प्रसङ्ग में किया गया है, परन्तु पा० गृ० के अनुसार मुख्य परिधान के पश्चात् वर को इस मन्त्र के द्वारा वधू को उत्तरीय ओढ़ने को प्रेरित करना चाहिए।

इनमें से कुछ गृह्यसूत्रों में तथा कुछ अन्य में भी इस मन्त्र का विनियोग उपनयन संस्कार में भी किया गया है जहाँ उपनीयमान छात्र को वस्त्र प्रदान किये जाते हैं।[2] भा० गृ० में विशेष रूप से वस्त्र के किनारों के स्पर्श के लिये इसका प्रयोग किया गया है। इस प्रयोग का आधार सम्भवतया पूर्वार्ध में विद्यमान शब्द **अन्तान्** है। क्योंकि उपनयन प्रसङ्ग में मन्त्र छात्र को सम्बोधित किया जाता है अतः **आयुष्मति** के स्थान पर **आयुष्मान्** अथवा **आयुष्मन्** पाठ है।

ऋग्वेदीय गृह्यसूत्रों में इसके विनियोग का अभाव आश्चर्यजनक है।

---

१. स्वा० द० ने सं० वि० (पृ० १८५) में पा० गृ० का पाठ स्वीकार किया है यद्यपि वह दोष युक्त है, सम्भवतया इसका कारण यह था कि वे वा० सं० के अनुयायी थे।

२. मा० गृ० १।५, आग्नि गृ० १।१।२, मा० गृ० १।२२।३, वा० गृ० ५।६, हि० गृ० १।४।२, बौ० गृ० २।५।११, आप० गृ० ४।१०।१०, (मं० पा० २।२।५), वा० गृ० में पाठ मा० गृ० के समान है।

सम्भवतया इसका कारण यह होगा कि यह मन्त्र ऋ० से सम्बद्ध नहीं है। यद्यपि वस्त्रों से सम्बद्ध सभी विनियोग उपयुक्त हैं तथापि विवाह के अन्तर्गत वह विनियोग और अधिक संगत और ऐतिहासिक दृष्टि से सम्मत प्रतीत होता है। यह बात अथर्व० के मन्त्र में मूल रूप में **आयुष्मति** (स्त्री०) के अस्तित्व से और भी स्पष्ट हो जाती है। यह शब्द इस बात का प्रमाण है कि मूल रूप में इस मन्त्र की रचना विवाह संस्कार के लिये हुई थी।

कुछ इने गिने गृह्यसूत्रों में उपर्युक्त **वस्त्र परिधापन** क्रिया में निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है[1]:—

परिधत्त धत्त वाससैनां शतायुषीं कृणुत दीर्घमायुः।
बृहस्पतिः प्रायच्छद्वास एतत् सौभाग्यं राज्ञे परिधातवा उ॥ [११३]

इस सौ वर्षों की आयु वाली को वस्त्र से आवृत करो, इसे स्वस्थ रखो, इसकी आयु दीर्घ करो। बृहस्पति ने निश्चय ही राजा सोम के पहनने के लिए यह वस्त्र दिया है।

यह मन्त्र अथर्व० से उद्धृत है।[2] यहाँ पूर्वार्ध में **वाससैनां शतायुषीम्** के स्थान पर **नो वर्चसेमं जरामृत्युम्** पाठ है। तदनुसार अथर्व० का छन्द गृह्य-पाठ में विकृत हो गया है। परन्तु स्पष्टतया प्रसङ्गानुसार यह परिवर्तन आवश्यक प्रतीत होता है क्योंकि यहाँ (विवाह में) यह स्त्री को सम्बोधित किया गया है। मं० ब्रा० में उत्तरार्ध इस प्रकार है:—

शतं च जीव शरदः सुवर्चा वसूनि चार्ये विभजासि जीवन्॥ [११४]

शोभन तेज वाली तुम सौ वर्ष जीवित रहो और हे आर्ये जीवित रहती हुई धन का उपभोग करो।

इस मन्त्र का स्रोत स्पष्टतया अथर्व० १६।२४।६ है। मं० ब्रा० के पाठ में अथर्व० के **पुरूची:** के स्थान पर **सुवर्चाः** पाठ है और प्रसङ्गानुसार बड़ी निपुणता से **चारुः** (पुं०) को **चार्ये** (स्त्री०) में परिवर्तित किया गया है। परन्तु फिर भी इस परिवर्तन की अपूर्णता **जीवन्** (पुं०) से प्रकट हो ही जाती है क्योंकि भाष्यकार भी इसके स्थान पर **जीवन्ती** रखता है। अथर्व० के **विभजासि** और मं० ब्रा० के **विभृजासि** में अधिक अन्तर नहीं है। इससे यह स्पष्ट है कि अनेक स्थलों पर

१. गो० गृ० २।१।१८ (मं० ब्रा० १।१।६), भा० गृ० १।१३, आग्नि० गृ० १।६।१।
२. अथर्व० २।१३।२, १६।२४।४।

गृह्यसूत्रकारों अथवा मन्त्रसंग्रह-कर्त्ताओं ने संहिताओं के पाठ का सूक्ष्मावलोकन नहीं किया।

पिछले मन्त्र के समान इस मन्त्र का विनियोग भी उपनयन संस्कार में भी समान क्रिया में किया गया है।[१] यहां भी प्रसङ्गानुसार **वाससैनां शतायुषीम्** के स्थान पर **वाससैनं शतायुषम्** पाठ है। वा० गृ० ५।९ में पूर्व मन्त्र तथा अथर्व० १९।२४।६ के अंशों को मिलाकर एक विचित्र रचना की गई है। वह नव-निर्मित मन्त्र इस प्रकार है:—

आयुष्मानयं परिधत्त वासः परिधत्त वर्चः। शतायुषं कृणुहि दीर्घमायुः।
शतं च जीव शरदः पुरूचीर्वसूनि चाय्यो विभजाय जीयान्॥ [११५]

यह आयुष्मान् वस्त्र पहनो, तेज़ धारण करो। (अपनी) सौ वर्ष की आयु को दीर्घ आयु करो। और बहुत सुन्दर सौ वर्षों तक जीवित रहो, और आर्य धन का भोग करने के लिये जीवित रहो।[२]

विवेच्य मन्त्र **परिधत्त धत्त** आदि मूल रूप में उपनयन के निमित्त विरचित प्रतीत होता है। अथर्व० में **इमम्** (पुं०) पाठ और बृहस्पति का उल्लेख इस विषय में निर्णायक है। **इमम्** में उपनीयमान छात्र के प्रति संकेत है और गृह्य-परम्परा के अनुसार बृहस्पति को विद्या का देवता माना जाता है।

भा० गृ० और आग्नि० गृ० में विधान है कि वस्त्र परिधापन के पश्चात् अथर्व० १९।२४।६ द्वारा वर को वधू का अभिमन्त्रण करना चाहिये।[३] इन गृह्यसूत्रों में मन्त्र का निम्नलिखित पाठ है:—

परीदं वासो अधिधाः स्वस्तये भूरापीनामभिशस्तिपावती।
शतं च जीव शरदः पुरूचीर्वसूनि चार्या विभजासि जीवती॥ [११६]

तुम कल्याण के लिए इस वस्त्र को धारण करो और सभी प्रकार की आपत्तियों का नाश करके सब बन्धुओं की रक्षक हो जाओ। तुम अति सुन्दर सौ वर्षों तक जीवित रहो और जीवित रहती हुई तुम आर्या धन को प्राप्त करो।

---

१. आग्नि०गृ० १।१।२, हि०गृ० १।४।२, आप०गृ० ४।१०।१० (मं० पा० २।२।६), भा० गृ० १।५, बौ० गृ० २।५।१२; कौशिक० ५४।७ में चूडाकर्म के अन्त में वस्त्र-परिधापनार्थं अथर्व० २।१३।२,३ का विनियोग किया गया है।

२. अन्तिम तीन शब्द अस्पष्ट हैं, सम्भवतया लिपिकार के प्रमाद-वश पाठ भ्रष्ट हो गया है।

३. भा० गृ० १।१३, आग्नि० गृ० १।६।१।

आग्नि० गृ० का आर्या के स्थान पर आर्यः (पुं०) विशेषण जीवती के साथ मेल नहीं खाता। सम्भवतया गृह्यकार ने इस ओर ध्यान नहीं दिया।

अथर्व० में मूल रूप में अधिधाः के स्थान पर अधिथाः, आपीनाम् के स्थान पर वापीनाम् और अभिशस्तिपावती के स्थान पर अभिशस्तिपा उ तथा चार्या विभजासि जीवती के स्थान पर चारुर्विभजासि जीवन् पाठ है। अथर्व०के अभिशस्तिपा उ, चारुः और जीवन्(सभी पुं०)से प्रकट है कि इस मन्त्र की रचना मूल रूप में उपनयन के लिए हुई थी।

इसलिए गृह्यसूत्रों में जहाँ इस मन्त्र का विनियोग उपनयन संस्कार में हुआ है वहाँ वह प्राचीन परम्परा का पोषक तथा उस परम्परा द्वारा सम्मत प्रतीत होता है।[1] इन स्थलों पर मन्त्र में केवल भेद यही है कि प्रसङ्गानुसार लिङ्ग–परिवर्तन कर दिया गया है।[2]

वर के लिये वस्त्रों का उपहार

इस कर्म का वर्णन केवल कौ० गृ० (१।८।३) में किया गया है और वहाँ इस क्रिया के निमित्त निम्नलिखित ऋ० (१।१५२।१) मन्त्र का विनियोग किया गया है:—

युवं वस्त्राणि पीवसा वसाथे युवोरच्छिद्रा मन्तवो ह सर्गाः।
अवातिरतमनृतानि विश्व ऋतेन मित्रावरुणा सचेथे ॥ [११७]

" हे मित्र और वरुण, स्थूलाकार तुम दोनों वस्त्र धारण करते हो, तुम दोनों के ज्ञान और उत्साह अव्यवच्छिन्न हैं। तुम दोनों सभी असत्यों का (असत्यवादियों को मार कर) नाश करते हो और तुम ही वृष्टि-उदक से सम्बद्ध होते हो ॥ (इस प्रकार तुम्हारे समान मैं भी वस्त्र धारण करूँ ॥) ह० मि०

---

१. आग्नि० गृ० १।१।२, हि० गृ० १।४।२, आप० गृ० ४।१०।१० (मं० पा० २। २।८), भा० गृ० १।५, बौ० गृ० २।५।१२, का० गृ० ४१।७।

२. यथा अभिशस्तिपावती और जीवती के स्थान पर क्रमशः अभिशस्तिपावा और जीवन् है। हि० गृ० में चार्या के स्थान पर चार्य्यः और विभजासि के स्थान पर विभजास—दे० एल० किर्स्ते पा० टि० में "विभजास के स्थान पर भा० गृ० के अनुसार विभजासि पाठ होना चाहिये", बौ० गृ० में विभजासुजीवन् पाठ है। का० गृ० में पुरूचीः के स्थान पर सुवीरः, आर्यः के स्थान पर उग्रः और विभजासि के स्थान पर विभजस्व पाठ है।

आ० गृ० और शां० गृ० में भी इस मन्त्र का विनियोग समावर्तन संस्कार में स्नातक को वस्त्र प्रदान करने के लिये किया गया है।[1] इस मन्त्र में मित्र-वरुण द्वारा वस्त्र धारण करने की बात कही गई है। सम्भवतया गृह्यकारों ने इसी आधार पर इसके उपर्युक्त विनियोग किये हैं। परन्तु ब्राह्मणों तथा श्रौतसूत्रों में यह मन्त्र मित्र-वरुण अथवा सविता के पशु की वपा की आहुति के लिए याज्या के रूप में आया है।[2] यहां **पीवसा** (तृ० एक०) शब्द **वपा** का द्योतक है। किन्तु ऊपर दिये गये अर्थ में हरदत्त मिश्र **पीवः** शब्द को **पीवर**-वाचक मानता है। तदनुसार पीवसा प्रथमा विभक्ति का द्विवचनान्त रूप है।

वै० गृ० ३।२ कुछ कर्मकाण्डी आचार्यों के मतानुसार वधू को विवाहोपहार देने का कुछ भिन्न वर्णन करता है। ऐसा उल्लेख है कि उन आचार्यों के अनुसार उसे सर्वप्रथम वस्त्र, गन्ध, आभूषण आदि एकत्र करने चाहियें और फिर अपने सम्बन्धियों के साथ

कनिक्रदत् सूक्त [११८]

का जाप करते हुए वधू के घर जाना चाहिये।[3] इसके पश्चात् उसे निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए वधू को आभूषित करना चाहिए।

तेज आयुः श्रियं धन्यं सुमङ्गलं यशस्विनम्।
दशपुत्रमविघ्नं कामयते।
इन्द्रापुत्रघ्नीं लक्ष्म्यं तामस्यै सवितः सुव॥ [११९]

तेज, आयु, लक्ष्मी, भाग्य, कल्याण, यशस्वी (पुत्र), दश पुत्रों से युक्त अविघ्न की कामना करता है। हे इन्द्र, हे सविता, इसके लिये पुत्रों का नाश न करने वाली लक्ष्मी उत्पन्न करो।

इस मन्त्र का केवल पूर्वार्द्ध पूर्ववर्ती गृह्यसूत्रों में उपलब्ध है। वहाँ वर और वधू के प्रथम मिलन के अवसर पर इसके उच्चारण का विधान है।[4]

---

१. आ० गृ० ३।८।९, शां० गृ० ३।१।६।

२. कौ० ब्रा० १८।१३, तै० ब्रा० २।८।६।६, आ० श्रौ० ३।८।१, शां० श्रौ० ८।१२।८।

३. केलैंड—पृ० ६८ पर पा० टि० ७—वै० स्मृ० आंग्ल अनुवाद, "ऋ० २।४२।१-३ तथा ४३।१-३ मिलकर कनिक्रदत् सूक्त होता है। तत्पश्चात् तै० ब्रा० २।४।६।१० (देवीं सुष्टुतैतु) तत्पश्चात् ऋ० १।८९।१-१०।"

४. बौ० गृ० १।१।२४, आप० गृ० २।४।३ (मं० पा० १।१।३), तु० वै० गृ० ३।२।

वस्त्रोपहार के पश्चात् प्रजापतिः सोमम् इत्यादि मन्त्र के द्वारा वर को आभूषणों द्वारा वधू को अलङ्कृत करना चाहिये।[1]

वधू का समञ्जन और मेखला-बन्धन

वधू और वर दोनों के समञ्जन के लिए पा० गृ० और शां० गृ० में ऋ० १०।८५।४७ का विनियोग किया गया है[2]:—

समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ ।
सं मातरिश्वा सं धाता समु देष्ट्री दधातु नौ ॥ [१२०]

सभी देवता समञ्जन करें, जल हम दोनों के हृदयों का समञ्जन करे, मातरिश्वा अर्थात् प्राण-वायु, धाता अर्थात् धारण करने वाला परमात्मा और देष्ट्री अर्थात् उपदेशक हम दानों को समन्वित करे ।

इस मन्त्र की प्रार्थना उपर्युक्त कर्म के अनुकूल है। इसी प्रकार से गो० गृ० और खा० गृ० में भी सप्तपदी के पश्चात् वर और वधू के जल द्वारा अभिषिञ्चन करने के प्रसङ्ग में इसके उच्चारण का विधान अर्थानुकूल ही है।[3] कुछ सीमा तक अभिषिञ्चन और अनुलेपन को समान क्रियाएं माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त मन्त्र में आपः शब्द से भी जल का संकेत प्राप्त होता है। परन्तु आ०गृ० १।८।९ द्वारा वर के द्वारा दधि-भक्षण के उपरान्त वधू के द्वारा उसके भक्षण के निमित्त इस मन्त्र का विनियोग आश्चर्यजनक है। परन्तु जैसा कि आप्टे ने भी उल्लेख किया है, क्योंकि दधि-भक्षण हृदयों के संयोग का प्रतीक है अतः इस प्रसंग में भी इस मन्त्र का उच्चारण उचित ही प्रतीत होता है।[4] इसी स्थान पर गृह्यसूत्र में यह विकल्प भी दिया गया है कि वर इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए अवशिष्ट आज्य से अपने और वधू के हृदय देश का अनुलेपन कर सकता है। इस प्रकार से मन्त्र का यह वैकल्पिक प्रयोग अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है क्योंकि यह मन्त्र की प्रार्थना के अनुकूल है। परन्तु

---

१. वै०स्मार्त० अनु० पृ० ६९, पा० टि० १७, "वस्तुतः यह मन्त्र नहीं है अपितु एक ब्राह्मण (अर्थात् तै० ब्रा० २।३।१०।१-सीता सावित्री तक) का प्रारम्भ है।"

२. पा० गृ० १।४।१४, शां० गृ० १।१२।५, पा० गृ० के अधिकांश टीकाकारों के अनुसार यह वर-वधू को एक दूसरे के सम्मुख लाने का कर्म है। गदाधर अनुलेपन का समावेश भी करता है (परस्परानुलेपनमिति केचित्)। ओल्डनबर्ग के अनुसार इसका मूल अभिप्राय अनुलेपन ही होगा।

३. गो० गृ० २।२।१४ (मं० ब्रा० १।२।१५), खा० गृ० १।३।३०।

४. ऋ० मन्त्रज् इन दी आ० गृ०, पृ० १५।

इस प्रयोग के विषय में आप्टे ने उल्लेख किया है कि यहां अञ्ज् (अनुलेपन) धातु के दो श्लिष्ट अर्थ लिए गये हैं। एक अर्थ सूत्र के **आज्यशेषेण अनक्ति** में तथा दूसरा मन्त्र के **समञ्जन्तु विश्वेदेवाः** में निहित है। उसने यह निष्कर्ष निकाला है कि मन्त्र का यह प्रयोग ऊपरी है।[1] परन्तु मेरे विचार में अञ्ज् के दोनों अर्थों में बहुत अधिक अन्तर प्रतीत नहीं होता—**संयुक्त करना** अर्थ **अनुलेपन** का ही विस्तार है। इसकी पुष्टि आप० गृ० ३।८।१० (मं० पा० १।११।३) में इसके समान प्रयोग से हो जाती है। तदनुसार चतुर्थी कर्म में पति को इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए अपने तथा पत्नी के हृदय देश का अनुलेपन करना चाहिये।

समञ्जन अथवा अनुलेपन कर्म के पश्चात् निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए मुञ्ज अथवा घास की मेखला वधू की कटि पर बांधी जानी चाहिये[2]:—

आशासाना सौमनसं प्रजां सौभाग्यं रयिम्।
अग्नेरनुव्रता भूत्वा संनह्ये सुकृताय कम्॥ [१२१]

मन की प्रसन्नता, सन्तान, सौभाग्य और धन की आशा करती हुई अग्नि का अनुसरण करती हुई मैं अच्छे कार्य के लिये सुख को बाँधती हूँ।

मन्त्र में कर्ता स्त्री० में होने के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि मेखलाबन्धन के अवसर पर इसका उच्चारण स्वयं वधू के द्वारा किया जाता था। परन्तु सूत्रों की भाषा से अनुमान होता है कि मन्त्र का उच्चारण वधू के द्वारा नहीं अपितु वर के द्वारा किया जाता था। आप० गृ० के टीकाकार तथा का० गृ० का टीकाकार देवपाल इससे सहमत हैं। परन्तु का० गृ० के अन्य टीकाकारों ने मन्त्र के अर्थ का अनुसरण करते हुए यह विधान किया है कि वधू को स्वयं मेखला के द्वारा भीतर की ओर से परिधान को बांधना चाहिये।[3] जिन संहिताओं में यह मन्त्र उपलब्ध होता है,[4] उनमें इसके विभिन्न पाठों के अध्ययन से यह प्रकट हो जाता है कि इस प्रकार गृह्यसूत्र पाठ के विषय में तो अपने वेद अर्थात् कृष्णयजुर्वेद का अनुसरण करते हैं परन्तु

---

१. ऋ० मन्त्रज़ इन दी आ० गृ०, पृ० १५।

२. आप० गृ० २।४।८ (मं० पा० १।२।७), का० गृ० २५।४; कौशिक० ७६।७।

३. ब्राह्मणबल व आदित्यदर्शन-आशासानेति कमित्यन्तेन बध्नाति॥ स्वयमेव कन्या मुञ्जमयेन दर्भमयेन वा दाम्ना वासोऽन्तरतो बध्नाति॥ (आशासाना से लेकर कम् तक मन्त्र का उच्चारण करती हुई कन्या स्वयं ही मुञ्ज अथवा दर्भ के सूत्र से परिधान को भीतर से बाँधती है।)

४. अथर्व० १४।१।४२, तै० सं० १।१।१०।१, का० सं० १।१०।

विनियोग के विषय में वे अथर्व० का उल्लङ्घन नहीं करते। अथर्व० में उत्तरार्ध में अग्ने: के स्थान पर पत्यु: और संनह्ये सुकृताय के स्थान पर संनह्यस्वामृताय पाठ है। इस अथर्व० पाठ के अनुसार मूल रूप में वधू को मेखला-बन्धन के लिए प्रेरित करता हुआ वर ही मन्त्र का उच्चारण करता है।

श्रौतसूत्रों के अनुसार दर्श पूर्णमास याग में अग्नीध्र के द्वारा मेखला बन्धन किये जाने पर यजमान की पत्नी के द्वारा उच्चरित मन्त्रों में से यह प्रथम मन्त्र है।[1] तै० ब्रा० ३।३।३।२ के अनुसार यजमान की पत्नी को जब उसके पार्श्व में बिठाया जाता है तो वह व्रत के रूप में इस मन्त्र का उच्चारण करती है। यद्यपि इन सभी प्रयोगों में मन्त्र का सम्बन्ध पत्नी के साथ है तथापि इसका गृह्य-विनियोग सीधा अथर्व० पर आधारित प्रतीत होता है क्योंकि वहां यह मन्त्र विवाह सूक्त में ही आया है।

कुछ अन्य गृह्यसूत्रों में मेखला-बन्धन के लिए निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग हुआ है[2]:—

सं त्वा नह्यामि पयसा पृथिव्याः सं त्वा नह्याम्यद्भिरोषधीभिः।
सं त्वा नह्यामि प्रजया धनेन सह सन्नद्धा सुनुहि भागधेयम्॥ [१२२]

मैं तुम्हें पृथ्वी के जल से बाँधता हूँ, मैं तुम्हें जल से और ओषधियों से बाँधता हूँ अर्थात् संयुक्त करता हूँ। मैं तुम्हें सन्तान से और धन से बाँधता हूँ; इन सब से बंध कर अर्थात् संयुक्त होकर तुम भाग्य को (उज्ज्वल) बनाओ।

अथर्व० के अतिरिक्त जिन अन्य ग्रन्थों में यह मन्त्र प्राप्त होता है उनमें दीक्षा के अवसर पर यजमान की पत्नी के मेखला-बन्धन कर्म में इसके उच्चारण का विधान है।[3] अथर्व० में यह विवाह-सूक्त में आया है, अतः यही इसके गृह्य-विनियोग का आधार प्रतीत होता है।

---

१. आप० श्रौ० २।५।२, मा० श्रौ० १।२।५।१२।

२. वा० गृ० १४।२, मा० गृ० १।११।६, कौशिक० ७६।७।

३. तु० अथर्व० १४।२।७० (पा० भे० अद्भिरोषधीभिः के स्थान पर पयसौषधीनाम्, सह के स्थान पर सा, सुनुहि के स्थान पर सनुहि और भागधेयम् के स्थान पर वाजमिमम्) तै० सं० ३।५।६।१ (पा० भे० पृथिव्याः के स्थान पर घृतेन, अद्भिः के स्थान पर अपः, धनेन के स्थान पर अहमद्य और अन्तिम पाद सा दीक्षिता सनवो वाजमस्मे), मा० श्रौ० २।१।२।७, आप० श्रौ० १०।६।१६।

तृतीय अध्याय

प्रमुख विवाह कर्म

विवाह होम का अनुष्ठान

यजुर्वेदीय गृह्यसूत्रों के अनुसार जय, अभ्यातान और राष्ट्रभृत् नामक मन्त्र-समूहों के साथ डाली गई आहुतियों का नाम ही विवाह-होम है।[1] पा० गृ० में जय और अभ्यातान मन्त्र-समूहों का पूर्ण पाठ दिया गया है। हि० गृ० में केवल आद्य मन्त्र उद्धृत किये गये हैं, परन्तु अन्य सभी गृह्य केवल उनका नामोल्लेख करना पर्याप्त समझते हैं। का० गृ० २५।१५ में अभ्यातान मन्त्रों को आधिपत्य भी कहा गया है। जय मन्त्रों की संख्या १३ है, अभ्यातानों की १८ और राष्ट्रभृत् मन्त्रों की संख्या १२ है। आग्नि० गृ० में राष्ट्रभृत् मन्त्रों की संख्या ६ बताई गई है। इन तीन मन्त्र-समूहों के आद्य शब्द निम्नलिखित हैं:—

चित्तं च चित्तिश्चाकूतं चाकूतिश्च.........॥ जयाः ॥ [१२३]
अग्निर्भूतानामधिपतिः स मावतु, इन्द्रो ज्येष्ठानाम्......॥
अभ्यातानाः ॥ [१२४]
ऋताषाडृतधामाग्निर्गन्धर्वस्तस्योषधयोऽप्सरस ऊर्जो नाम
स इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु ता इदं ब्रह्म क्षत्रं पान्तु तस्मै स्वाहा ताभ्यः स्वाहा ॥
राष्ट्रभृतः ॥ [१२५]

मन और विचार शक्ति, अभिलषित पदार्थ और अभिलाषा इत्यादि। अग्नि सब प्राणियों का स्वामी है, वह मेरी रक्षा करे। इन्द्र सब बड़ों का स्वामी है इत्यादि ॥ अग्नि ऋत का सहायक है, ऋत ही उसका स्थान है, वह गन्धर्व है, ओषधियाँ उसकी ऊर्जा रूपी अप्सराएं हैं, वह इस ब्राह्म तेज और क्षात्र-तेज की रक्षा करे, वे (अप्सराएं) इस ब्राह्म-तेज और क्षात्र-तेज की रक्षा करें, यह आहुति उसको अर्पित है, यह आहुति उनको अर्पित है ॥

---

१. बौ० गृ० १।४।३२-३४, पा० गृ० १।५।७, ८, १०, का० गृ० २५।१३, मा० गृ० १।११।१५, मा० गृ० १।१३, हि० गृ० १।२०।८ (१।३।९-१३ दर्वी होमों में सामान्य रूप से), आग्नि० गृ० १।६।२, आप० गृ० १।२।७।

मा० गृ० (१।१०।११) और वा० गृ० (१४।१२) में केवल जय मन्त्रों का विनियोग किया गया है और वहां उनका पाठ आकूत्यै त्वा इत्यादि है। आप० गृ० ३।८।१० (मं० पा० १।१०।६) के अनुसार जय मन्त्रों का उच्चारण चतुर्थी कर्म में आहुतियों के साथ किया जाना चाहिये।

जय मन्त्र तै० सं० ३।४।४ में, अभ्यातान तै० सं० ३।४।५ में और राष्ट्रभृत् तै० सं० ३।४।७ में प्राप्त होते हैं। अन्य संहिताओं में से मै० सं० में केवल जय और राष्ट्रभृत् तथा वा० सं० और का० सं० में केवल राष्ट्रभृत् मन्त्र दिये गये हैं।[1] तै०सं० में जहाँ मन्त्र दिये गये हैं वहाँ इनके नामों की व्याख्या में आख्यानक कहे गए हैं। जय के विषय में कहा गया है कि प्रजापति ने इन्द्र को जय मन्त्र प्रदान किये, जिनके द्वारा देवताओं ने असुरों पर विजय प्राप्त की। यही कारण है कि इन आहुतियों को जय नाम दिया गया है। अभ्यातान मन्त्रों के विषय में तै० सं० ३।४।६ में यह आख्यानक है कि देवताओं ने अभ्यातानों के द्वारा असुरों को अभिभूत कर लिया (अभ्यातन्वत)। यही कारण है कि अभ्यातानों का उक्त नाम पड़ा। राष्ट्रभृत् मन्त्रों के विषय में यह कथा है कि उनके द्वारा देवताओं ने राष्ट्र प्राप्त किया अतः उनका नाम राष्ट्रभृत् हो गया। आगे चल कर इन आहुतियों के प्रभाव का वर्णन करते हुए कहा गया है कि "जिस मनुष्य के शत्रु हों उसे ये आहुतियाँ अर्पित करनी चाहिएँ। निश्चय ही अभ्यातानों के द्वारा वह शत्रुओं को अभिभूत करता है, जयों के द्वारा वह उन पर विजय प्राप्त करता है और राष्ट्रभृत् आहुतियों के द्वारा वह राष्ट्र को जीत लेता है। वह स्वयं समृद्ध होता है और उसके शत्रु पराजित होते हैं।"

पा० गृ० १।५।७-८ में यह कह कर इन आहुतियों को वैकल्पिक बनाया गया है कि यजमान को वे तभी डालनी चाहियें जब उसे उनसे प्राप्त होने वाले फल की अभिलाषा हो।[2]

ब्राह्मण और श्रौत ग्रन्थों में से आप० श्रौ० ५।२४।१ में जय मन्त्रों को उद्धृत किया गया है। श० ब्रा०, आप० श्रौ० और मा० श्रौ० में वेदीनिर्माण के प्रसङ्ग में राष्ट्रभृत् मन्त्रों को नाम से भी और सकलपाठेन भी उद्धृत किया गया है।[3]

---

१. मै० सं० १।४।१४, २।१२।२, वा० सं० १८।३८-४३, वा० सं० का० २०।२।१, का० सं० १८।१४।

२. राष्ट्रभृत इच्छन् जयाभ्यातानांश्च जानन् ॥ येन कर्मणेर्त्सेदिति वचनात् ॥

३. श० ब्रा० ९।४।१।७-१२, आप० श्रौ० १७।२०।१, १९।१७।१८-१९, मा० श्रौ० ६।२।५।३२, बौ० श्रौ० १४।१७-१८।

बहुत से गृह्यसूत्रों में निम्नलिखित ६ मन्त्रों से अन्य ६ आहुतियों का विधान है[1]:—

अग्निरैतु प्रथमो देवतानां सोऽस्यै प्रजां मुञ्चतु मृत्युपाशात् ।
तदयं राजा वरुणोऽनुमन्यतां यथेयं स्त्री पौत्रमघन्न रोदात् ॥
इमामग्निस्त्रायतां गार्हपत्यः प्रजामस्यै नयतु दीर्घमायुः ।
अशून्योपस्था जीवतामस्तु माता पौत्रमानन्दमभि विबुध्यतामियम् ॥
मा ते गृहे निशि घोष उत्थादन्यत्र त्वद्रुदत्यः सं विशन्तु ।
मा त्वं विकेश्युर आवधिष्ठा जीवपत्नी पतिलोके विराज पश्यन्ती प्रजां सुमनस्यमानाम् ॥
द्यौस्ते पृष्ठं रक्षतु वायुरूरू अश्विनौ च स्तनन्धयतस्ते सविताभिरक्षतु ।
आवाससः परिधानाद् बृहस्पतिर्विश्वेदेवा अभिरक्षन्तु पश्चात् ॥
अप्रजस्तां पौत्रमृत्युं पाप्मानमुत वाघम् ।
शीर्ष्णः स्रजमिवोन्मुच्य द्विषद्भ्यः प्रतिमुञ्चामि पाशम् ॥
ब्राह्मण देवकृतं कल्पमानं तेन हन्ये निषदः पिशाचान् ।
क्रव्यादो मृत्युरधरान् पातयामि दीर्घमायुस्तव जीवन्तु पुत्रान् ॥

[१२६—१३१]

देवताओं में प्रमुख अग्नि यहाँ आए, वह इस (वधू) की सन्तान को मृत्यु के पाश से मुक्त करे। और यह राजा वरुण इस कार्य का अनुमोदन करे जिससे कि यह स्त्री पुत्र सम्बन्धी दुःख से न रोए ॥ गार्हपत्य अग्नि इस (वधू) की रक्षा करे, वह इसकी सन्तान को दीर्घ आयु तक ले जाए। भरी गोद वाली यह जीवित पुत्रों की माता हो और यह सब ओर से पुत्र-सम्बन्धी आनन्द प्राप्त करे ॥ तेरे घर में रात्रि को शोर न उठे, रोती हुई स्त्रियां अथवा राक्षसियाँ तुझे छोड़ कर किसी और में प्रविष्ट हों। केश रहित तू अपनी छाती न पीटे, जीवित पति से युक्त तू पति के घर में शोभित हो और अपनी प्रसन्न मन वाली संतान को देखती रहे ॥ आकाश तुम्हारे पृष्ठ-भाग की रक्षा करे। वायु और अश्विन् तुम्हारी जांघों की रक्षा करें, सविता

१. हि० गृ० १।१९।७, आप० गृ० २।५।२ (मं० पा० १।४।७-१२), आग्नि गृ० १।६।२, गो० गृ० २।१।२३ (मं० ब्रा० १।१।९-१४), खा० गृ० १।३।११, का० गृ० २८।४ (अन्तिम दो छोड़कर), जै० गृ० १९।१५, १७, २०।१०, १३, १६ (अन्तिम छोड़कर), भा० गृ० १।१४, पा० गृ० १।५।११ (प्रथम दो और दो अन्य) वैं० गृ० ३।३।

सब ओर से तुम्हारे दूध पीने वाले शिशुओं की रक्षा करें। वस्त्र-परिधान से लेकर बृहस्पति और उसके पश्चात् सभी देवता तुम्हारी रक्षा करें॥ जिस प्रकार से सिर पर से माला उतार दी जाती है उसी प्रकार सहज ही मैं संतान-हीनता, पौत्रों की मृत्यु, पाप अथवा दुखों को उतार कर वह पाश शत्रुओं के लिए डालता हूँ॥ हे ब्राह्मण! देवताओं के द्वारा बनाया हुआ (जो शस्त्र है) उसके द्वारा मैं बैठे हुए पिशाचों को मारता हूँ। मैं मृत्यु हूँ और कच्चा माँस खाने वाले उनको नीचे गिराता हूँ, तुम्हारे पुत्र दीर्घ आयु तक जीवित रहें॥

आ० गृ० (१।१३।६) में इस मन्त्र-समूह का नाम जीवपुत्र सूक्त दिया गया है। वहाँ इसका विनियोग अनवलोभन कर्म में किया गया है। इस सूक्त के स्रोत के विषय में बृ० दे० (५।९२, पृ० १८९-१९०) के अपने अनुवाद की टिप्पणियों में मैक्डॉनल कहता है कि जीवपुत्र खिल कश्मीरी पा० लि० में प्रजावत् नामक एक अन्य सूक्त के ठीक पश्चात् आता है और उसमें पाँच मन्त्र हैं। सातवलेकर द्वारा सम्पादित ऋग्वेद में भी यह पञ्चम मण्डल के अन्त में खिल सूक्त के रूप में दिया गया है।[1] पिल्ले के अनुसार इन मन्त्रों का स्रोत ऋ० खि० २।११।१-५ है।[2]

का० गृ० और गो० गृ० में वर के घर में वधू के प्रवेश के अवसर पर अनुष्ठीयमान कर्म में इन मन्त्रों का विनियोग किया गया है।[3] बौ० गृ० (१।४।२०-२३) में विवाह में आहुतियों के लिये इनमें से प्रथम तीन और पाँचवे मन्त्रों का प्रयोग किया गया है। मा० गृ० (१।१०।१०) में इस सम्बन्ध में केवल प्रथम मन्त्र का विधान है। बौ० गृ० २।१।११ में जातकर्म संस्कार में शिशु द्वारा प्रथम बार माता के स्तन-पान करने के प्रसङ्ग में केवल चतुर्थ मन्त्र के उच्चारण का निर्देश है।

---

१. ऋ० में हन्ये निषदः के स्थान पर हन्मि योनिषदः, मृत्युः के स्थान पर मृत्युम्, पुत्रान् के स्थान पर पुत्राः पाठ है। तदनुसार ऋ० का पाठ अधिक स्पष्ट और इसीलिए अच्छा है।

२. नॉन ऋ० मन्त्रज् इन मैरेज, पृ० १९२–१९७। उसने शेफेलोनित्स (दि अपोक्रिफन देस ऋग्वेद, पृ० ८३) को उद्धृत किया है।

३. का० गृ० में इन मन्त्रों के पाठ में भेद है-१-न रोदात् के स्थान पर निरुन्ध्यात्, २-नयतु दीर्घमायुः के स्थान पर मुञ्चतु मृत्युपाशात्, अशून्योपस्था के स्थान पर अरिक्तोपस्था, ३-मा त्वं विकेश्युर आ वधिष्ठाः को यहाँ से निकाल कर चतुर्थ मन्त्र के पूर्वार्ध में रखा है, जीवपत्नी के स्थान पर जीवपुत्रा, ४-द्यौस्ते········ अश्विनी के स्थान पर मा ते कुमारः स्तनन्धः प्रमायि मा त्वम्।

बृहद्देवता (५।९२) में प्राप्त प्राचीन परम्परा के अनुसार इस सूक्त का उच्चारण गर्भाधान से सम्बद्ध कर्म में किया जाना चाहिए। मन्त्रों की अधिकांश प्रार्थनाएँ सन्तान सम्बन्धी होने के कारण यह विनियोग सबसे सङ्गत प्रतीत होता है। और सन्तान का आधार विवाह होने के कारण विवाह संस्कार में भी उनकी विनियोगार्हता असंदिग्ध है।

उपर्युक्त छः आहुतियों के अतिरिक्त कृष्णयजुर्वेदीय गृह्यसूत्रों में निम्नलिखित तीन मन्त्रों के साथ तीन और आहुतियों का निर्देश है[1]:—

अग्नये जनिविदे स्वाहा ॥
सोमाय जनिविदे स्वाहा ॥
गन्धर्वाय जनिविदे स्वाहा ॥ [१३२-१३४]

पत्नी के प्राप्तकर्ता अग्नि को यह आहुति अर्पित है ॥ पत्नी के प्राप्तकर्ता सोम को यह आहुति अर्पित है ॥ पत्नी के प्राप्तकर्ता गन्धर्व को यह आहुति अर्पित है ॥

अग्नि, सोम तथा गन्धर्व के विशेषण 'पत्नी का प्राप्तकर्ता' के आधार पर इन मन्त्रों का विनियोग सङ्गत है। इन तीनों का विवाह से सम्बन्ध ऋ० के विवाह-सूक्त में भी लक्षित होता है।[2]

एक अन्य आहुति के लिये अथर्व० (५।२९।१) के निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है[3]:—

युक्तो वह जातवेदः पुरस्तादग्ने विद्धि कर्म क्रियमाणं यथेदम्।
त्वं भिषग् भेषजस्यासि कर्ता त्वया गा अश्वान् पुरुषान् सनेमि ॥ [१३५]

हे जातवेदा, पहले ही उन्नित प्रकार से (आहुति का) वहन कीजिये, हे अग्नि, जिस प्रकार यह कर्म किया जा रहा है, उसे जान लीजिये।

---

१. आप० गृ० २।५।२ (मं० पा० १।४।१-३), कां० गृ० २५।११, वा० गृ० १४।१०, मा० गृ० १।१३, बौ० गृ० १।४।१४-१६, मा० गृ० १।१०।८।

२. ऋ० १०।८५।४०। सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः। तृतीयो अग्निष्टे पतिः।

३. मा० गृ० १।१३, मा० गृ० १।१०।९, बौ०गृ० १।३।३३, आग्नि० गृ० १।५।२। अथर्व० में वस्तुतः आरम्भ में पुरस्तात् पाठ है, कर्म का अभाव है और गा अश्वान् पुरुषान् सनेमि के स्थान पर गामश्वं पुरुषं सनेम पाठ है।

आप औषध के निर्माता वैद्य हैं, आपके द्वारा मैं गौओं, घोड़ों और पुरुषों को प्राप्त करूँ ॥

हि० गृ० (१।२।१८) में इसका प्रयोग उपनयन संस्कार में एक आहुति के लिये किया गया है। वा० गृ० (१।२३) के अनुसार पाक यज्ञों में इसके द्वारा आहुति दी जानी चाहिये। यद्यपि अग्नि के प्रार्थना-रूप इस मन्त्र की अग्नि में आहुति के प्रसङ्ग में सामान्य विनियोगार्हता है, तथापि विवाह संस्कार में इसके विशिष्ट प्रयोग का सम्यक् आधार नहीं है।

आप० गृ० और बौ० गृ० में आहुति के लिये निम्नलिखित मन्त्र भी प्रयुक्त हुआ है:[1]—

उत्तिष्ठातो विश्वावसो ऽन्यामिच्छ प्रपूर्व्यां सं जायां पत्या सह ॥ [१३६]

हे विश्वावसु ! यहाँ से उठो और किसी दूसरी (पत्नी) की इच्छा करो। इस पत्नी को पति के साथ समृद्ध करो।

विश्वावसु एक गन्धर्व का नाम होने के कारण इस मन्त्र का विनियोग विवाह-संस्कार में उचित ही प्रतीत होता है क्योंकि गन्धर्वों का विवाह-संस्कार से विशेष सम्बन्ध है। इसके अतिरिक्त बृ० उ० में भी पुत्रमन्थ अथवा गर्भाधान कर्म में पत्नी के अभिषिञ्चन के लिये इसका विनियोग किया गया है। सम्भवतया पत्नी के साथ मन्त्र के इस सम्बन्ध से ही गृह्यसूत्रकारों को भी विवाह संस्कार के अन्तर्गत इसके विनियोग की प्रेरणा मिली होगी।

पाणिग्रहण

लगभग सभी गृह्यसूत्रों में यह विधान है कि वधू का पाणिग्रहण करते हुए वर को निम्नलिखित मन्त्र (ऋ० १०।८५।३६, अथर्व० १४।१।५०) का उच्चारण करना चाहिये[2]:—

---

१. आप० गृ० २।५।२, (मं० पा० १।४।४), बौ० गृ० १।४।१७, दे०. अथर्व० १४।२।३३।

२. आ० गृ० १।५।३, शां० गृ० १।१३।२, पा० गृ० १।६।३, हि० गृ० १।२०।१, आप० गृ० २।४।१५ (मं० पा० १।३।३), आग्नि० गृ० १।६।२, बौ० गृ० १।४।१०, भा० गृ० १।१५, वा० गृ० १४।१३, मा० गृ० १।१०।१५, का० गृ० २५।२२, वै० गृ० ३।३, गो० गृ० २।२।१५ (मं० ब्रा० १।२।१६), खा० गृ० १।३।३१, जै० गृ० २१।१।

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः ।
भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः ।। [१३७]

मैं तुम्हारा हाथ ग्रहण करता हूँ जिससे कि हम सन्तान से युक्त हों और तुम मुझ पति के साथ वृद्धावस्था तक (सुखो) रहो। भग, अर्यमा, सविता और पुरन्धि देवों ने गृहस्थ का स्वामी होने के लिए तुम्हें मुझे दिया है।

मा० गृ० में मन्त्र से पूर्व निम्नलिखित पंक्ति आती है:—

यथेन्द्रो हस्तमग्रहीत् सविता वरुणो भगः [१३८]

जिस प्रकार से इन्द्र, सविता, वरुण और भग ने हाथ ग्रहण किया था।

उक्त प्रसङ्ग में इस मन्त्र का विनियोग न केवल इसलिये उपयुक्त है कि यह विवाह-सूक्त में विद्यमान है अपितु इसलिए भी कि ऋग्वेदकाल में इस मन्त्र की रचना उक्त कर्म के लिये ही की गई प्रतीत होती है। रोम जाति में भी इसी प्रकार का कर्म **डेक्स्ट्रेरम जंक्शो** विद्यमान है।[1] कुछ कृष्णयजुर्वेदीय गृह्यसूत्रों में इस मन्त्र के अतिरिक्त अपने ही वेद के[2] एक अन्य मन्त्र का विनियोग किया गया है:[3]—

देवस्य ते सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां हस्तं गृह्णामि ।।

सविता देवता की प्रेरणा पर अश्विनों की भुजाओं से पूषा के हाथों से मैं तुम्हारा हाथ ग्रहण करता हूँ।

उपर्युक्त सभी गृह्यसूत्रों में यह मन्त्र **गृभ्णामि ते** इत्यादि का पुरोगामी है। वस्तुतः विवाह संस्कार में इसके विशिष्ट प्रयोग का स्थूल आधार नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन गृह्यों ने केवल अपने वेद की मुद्रा लगाने के लिये यहाँ इसका समावेश किया है। क्योंकि अधिकांश गृह्यसूत्रों में इसका विनियोग उपनयन संस्कार में हुआ है अतः इस संस्कार से सम्बद्ध आठवें अध्याय में इसका विस्तृत विवेचन करना अधिक उपयुक्त होगा। यहाँ इस बात की ओर ध्यान देना चाहिए कि वस्त्रोपहार-कर्म के पश्चात् यह एक और ऐसा कर्म है जिसमें विवाह और उपनयन दोनों संस्कारों के मन्त्र समान हैं।

पाणिग्रहण कर्म के तत्काल पश्चात् कुछ गृह्यसूत्रों में निम्नलिखित मन्त्र

---

१. वेबर, इं० स्टु०, खं० ५, पृ० २७७, आल्ट० हॉख०, पृ० ४६।
२. तै० सं० २।६।४।१, ७।१।११।१, ५।७।३।१।
३. मा० गृ० १।१५, आग्नि० गृ० १।६।२, वा० गृ० १४।१३, मा० गृ० १।१०।१५, का० गृ० २५।२१।

(अथर्व० १।२।७१) के उच्चारण का विधान किया गया है:[1]—

अमोऽहमस्मि सा त्वं सा त्वमस्यमोऽहम् ।
सामाहमस्मि ऋक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वं तावेहि विवहावहै
सह रेतो दधावहै प्रजां प्रजनयावहै पुत्रान् विन्दावहै बहून् ते सन्तु जरदष्टयः संप्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ ।
पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतम् ।। [१३९]

यह मैं हूं, वह तुम हो, वह तुम हो, यह मैं हूँ । मैं साम हूँ तुम ऋचा हो, मैं आकाश हूं तुम पृथ्वी हो, आओ हम दोनों विवाह करें, हम दोनों समागम करें हम दोनों सन्तान उत्पन्न करें और बहुत से पुत्रों को प्राप्त करें। तुम वृद्धावस्था अर्थात् दीर्घायु को प्राप्त होओ। हम एक दूसरे को प्रिय हों हमारी एक दूसरे में आसक्ति हो और हमारा मन प्रसन्न रहे। हम सौ वर्ष तक देखें सौ वर्ष तक जीवित रहें और सौ वर्ष तक सुनें।

उपर्युक्त पाठ पा० गृ० का है। आ० गृ० में प्रथम दो पंक्तियाँ इसके समान हैं, तृतीय पंक्ति से केवल **प्रजां प्रजनयावहै** लिया गया है, पूर्ण चतुर्थ पंक्ति है और पाँचवीं पंक्ति के स्थान पर **जीवेव शरदः शतम्** पाठ है। शां० गृ० में **पृथिवी त्वम्** के आगे **सा मामनुव्रता भव** जोड़ा गया है। **सह रेतो दधावहै** का अभाव है और अन्तिम दोनों पंक्तियां ज्यों की त्यों हैं।

आप० गृ० २।४।१७ (मं० पा० १।३।१४) के अनुसार इस मन्त्र का उच्चारण सप्तपदी कर्म के पश्चात् किया जाना चाहिए। आग्नि० गृ० (१।८।३) में विधान है कि सप्तपदी से पहले वर को वधू के कान में इस मन्त्र का जाप करना चाहिये। बौ० गृ० (१।७।४२) में चतुर्थी कर्म में पति द्वारा पत्नी के आलिङ्गन के प्रसङ्ग में इसका विनियोग किया गया है। का० गृ० (२५।२७) ने गाथा के ठीक पश्चात् इसे उद्धृत किया है। स्वभावतः ही इस गृह्यसूत्र ने अपनी संहिता (का० सं० ३५।८) के निम्नलिखित पाठ को स्वीकार किया है:—

सा त्वमस्यमोऽहममोऽहमस्मि सा त्वं ता एहि विवहावहै ।
पुंसे पुत्राय कर्तवे रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय ।। [१४०]

उत्तरार्द्ध—पुरुष पुत्र की प्राप्ति के लिए, धन की पुष्टि के लिए अच्छी सन्तान के लिए और शक्ति के लिए।

---

१. पा० गृ० १।६।३, आ० गृ० १।७।६, शां० गृ० १।१३।५, वा० गृ० १४।१३, भा० गृ० १।२०, हि० गृ० १।२०।२, मा० गृ० १।१०।१५।

जै० गृ० १।२१ में विधान है कि अश्मारोहण कर्म के पश्चात् वर को स्वयं इस मन्त्र का उच्चारण करना चाहिए। इसमें **पृथिवी त्वम्** तक मन्त्र का पाठ पा० गृ० के पाठ के अनुकूल है। तत्पश्चात् निम्नलिखित पाठ है:—

तावेहि सम्भवाव सह रेतो दधावहै पुंसे पुत्राय वेत्तवै।
मामनुव्रता भव सहशय्या मया भवासौ ॥ [१४१]

आओ हम दोनों संयुक्त हों और पुरुष पुत्र की प्राप्ति के लिए हम दोनों बीज स्थापित करें। अमुक नाम को तुम मेरी अनुगामिनी हो जाओ और मेरे साथ समान शय्या पर शयन करो।

कौशिक० (७९।१०) के अनुसार इस मन्त्र के अथर्व० पाठ के द्वारा वर-वधू को एक दूसरे का स्पर्श करना चाहिए।

यह मन्त्र ब्राह्मणों और श्रौतसूत्रों में पाठान्तर सहित उपलब्ध होता है।[1] कुछ स्थलों पर श्रौतयागों में भी इसका विनियोग गृह्यविनियोग के समानान्तर है। तै०ब्रा० और आप० श्रौ० के अनुसार यदि किसी यज्ञानुष्ठान के मध्य यजमान की पत्नी रजस्वला हो जाए तो तृतीय रात्रि की समाप्ति पर यजमान को इस मन्त्र के द्वारा उसे सम्बोधित करना चाहिये।[2] श० ब्रा० १४।९।४।१९ में विधान है कि गुणवान् पुत्र की प्राप्ति के निमित्त अनुष्ठित किये जाने वाले एक काम्य याग में पति-पत्नी के समागम के अवसर पर इसका उच्चारण किया जाना चाहिए।[3] यह ध्यान देने योग्य बात है कि मन्त्र के उपर्युक्त सभी श्रौत और गृह्य-विनियोगों में मन्त्र में संकेतित दाम्पत्य संयोग का किसी न किसी रूप में ध्यान रखा गया है। श्रौत और गृह्यसाहित्य में इसके पाठ-भेदों की संख्या देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि अथर्व० और का० सं० में संगृहीत होने के पश्चात् भी इसका लौकिक रूप समाप्त नहीं हुआ था और तब भी कर्मकाण्डियों के द्वारा इसमें बड़े परिवर्तन किये जा रहे थे।

गाथाओं का उच्चारण

का० गृ० २५।२३ में विधान है कि पाणिग्रहण के पश्चात् वर को एक गाथा अर्थात् **सरस्वति प्रेदम्** इत्यादि अनुवाक का उच्चारण करना चाहिए। इसके टीकाकार देवपाल ने इस अनुवाक के रूप में २१ मन्त्र उद्धृत किये हैं।[4] उक्त अनुवाक के

---

१. नॉन ऋ० मन्त्रज् इन मैरिज, पृ० २१३-२१५।
२. तै० ब्रा० ३।७।१।९, आप० श्रौ० ९।२।३;
३. परन्तु ऐ० ब्रा० ८।२७।४ में राजा के द्वारा पुरोहित के वरण के प्रसङ्ग में इसका विनियोग किया गया है।
४. लौ० गृ०, पृ० २४८-२६०।

निम्नलिखित प्रथम दो मन्त्रों का विनियोग पा० गृ० १।७।२ में भी गाथा के रूप में किया गया है। परन्तु वहाँ अश्मारोहण कर्म के पश्चात् इनके उच्चारण का विधान है:[1]—

सरस्वति प्रेदमव सुभगे वाजिनीवति ।
यां त्वा विश्वस्य भूतस्य प्रगायाम्यस्याग्रतः ॥ [१४२]
याग्रे सर्वं समभवद्यस्यां विश्वमिदं जगत् ।
तामद्य वाचं गास्यामि या स्त्रीणामुत्तमं मनः [१४३]।

हे सर्वहितकारिणी ओषधियों से युक्त सरस्वती, इस सारे प्राणि-जगत् की उत्पत्ति से पहले ही स्थित जिस तुम भगवती की मैं स्तुति करता हूँ वह तुम इस कर्म की रक्षा करो ॥ जो स्त्रियों के मन का उत्तम प्रकाशन है, जो सर्व प्रथम सृष्टि के आरम्भ में सर्वरूपा हुई और जिस पर यह सारा संसार आश्रित है आज मैं उस सरस्वती की स्तुति करूँगा ॥ दे० पा०

अन्य कृष्णयजुर्वेदीय गृह्यसूत्रों में ये दोनों मन्त्र गाथाओं के रूप में नहीं आए अपितु केवल पाणिग्रहण के मन्त्र के साथ साथ उच्चारणार्थ उद्धृत किये गये हैं।[2] मा० गृ० और वा० गृ० में निम्नलिखित पंक्ति अधिक है:—

याग्रे (ऊर्ध्वा) वाक् समवदत् (समभवत्) पुरा देवासुरेभ्यः [१४४]

जो ऊर्ध्वा वाणी अर्थात् सरस्वती पहले देवताओं और असुरों से भी पूर्व उत्पन्न हुई।

बौ० गृ० १।४।६ के अनुसार इन मन्त्रों का उच्चारण वधू के दक्षिण कर्ण में किया जाना चाहिये। आग्नि० गृ० में केवल प्रथम मन्त्र ही है और पाणिग्रहण के पश्चात् अश्मारोहण के लिए वधू को खड़ा करते हुए वर के द्वारा इसके उच्चारण का विधान है। वै० गृ० ३।३ के अनुसार वधू का पाणिग्रहण करते हुए इसका उच्चारण किया जाना चाहिये।

यद्यपि उपर्युक्त सभी स्थलों पर मन्त्रों को गाथा नहीं कहा गया तथापि सर्वत्र वे वधू को ही सम्बोधित हैं। इससे यह स्पष्ट है कि गृह्यसूत्रों में इसके मूल प्रयोग का उल्लङ्घन नहीं किया गया। मन्त्रों का स्रोत अज्ञात है। सम्भवतया प्रथम

१. पा० गृ० में प्रगायामि के स्थान पर प्रजायाम्, याग्रे सर्वम् के स्थान पर यस्यां-भूतम्, वाचम् के स्थान पर गाथाम् और मनः के स्थान पर यशः पाठ है।
२. मा० गृ० १।१०।१५, वा० गृ० १४।१३, हि० गृ० १।२०।१. भा० गृ० १।१६; आप० गृ० २।४।१५ (मं० पा० १।३।४-६)।

मन्त्र की रचना मै० सं० ४।१२।१६ के प्रभाव में हुई क्योंकि उसका निम्नलिखित पूर्वार्ध बहुत कुछ प्रेदमव इत्यादि के समान है:—

प्र ते महे सरस्वति सुभगे वाजिनीवति । [१४५]

अश्मारोहण

पुरोहित के द्वारा अग्नि के उत्तर की ओर शिला रखे जाने के पश्चात् वर वधू को उठने को कहता है और उससे शिला पर पद-क्रमण करवाता है इस अवसर पर उच्चारणार्थ सभी गृह्यसूत्रों[1] में निम्नलिखित मन्त्र का[2] विनियोग किया गया है:—

आरोहेममश्मानमश्मेव त्वं स्थिरा भव ।
अभितिष्ठ पृतन्यतोऽवबाधस्व पृतनायतः ।। [१४६]

तुम इस शिला पर चढ़ो और तुम शिला के समान स्थिर हो जाओ। जो तुम्हें कष्ट पहुँचाना चाहते हैं, उन्हें नष्ट कर दो और अपने शत्रुओं को वश में करो।—ओल्डनबर्ग

सामवेदीय गृह्यसूत्रों में उत्तरार्ध का पाठ यह है:—

द्विषन्तमपबाधस्व मा च त्वं द्विषतामधः ।। [१४७]

शत्रु को निरुद्ध करो और तुम शत्रुओं के नीचे अर्थात् वश में न रहो।

इसी प्रकार काठक और मैत्रायणी संहिताओं के गृह्यों में भी पर्याप्त पाठ-भेद है। उनके अनुसार मन्त्र का उत्तरार्ध इस प्रकार है:—

कृण्वन्तु विश्वेदेवा आयुष्टे शरदः शतम् ।। [१४८]

सभी देवता तुम्हारी आयु सौ वर्ष की करदें।

यह पाठ अथर्व० २।१३।४ के बहुत निकट है। इस पाठ-भेद के अतिरिक्त इन

---

१. आ० गृ० १।७।७, शां० गृ० १।१३।१२, पा० गृ० १।७।१, हि० गृ० १।१९।८, आप० गृ० २।५।३; ७।६ (मं० पा० १।५।१), भा० गृ० १।१६, बौ० गृ० १।४।२४, आग्नि० गृ० १।६।२, वै० गृ० ३।३, मा० गृ० १।१०।१६, का० गृ० २५।२८, वा० गृ० १४।१५, गो० गृ० २।२।४ (मं० ब्रा० १।२।१), खा० गृ० १।२।१९, जै० गृ० २१।६, कौशिक० ५४।८। शां० गृ०—प्रथम पाद—एह्यश्मानमातिष्ठ, मं० पा० और बौ० गृ० में आरोह के स्थान पर आतिष्ठ और अवबाधस्व के स्थान पर सहस्व, हि० गृ०, भा० गृ०, का० गृ० और आग्नि० गृ० में उत्तरार्ध—प्रमृणीहि दुरस्यून् सहस्व पृतनायतः ।।

२. अथर्व० १४।१।४७।

गृह्यसूत्रों में विनियोग में भी स्वल्प अन्तर है। तदनुसार का० गृ० में जब पूर्वार्ध में

अश्मेव त्वं स्थिरो भव [१४९]

शब्दों से आरब्ध मन्त्र का पाठ पुरोहित करता है, उस समय वर पहले स्वयं अश्मा-रोहण करता है। इसके पश्चात् वह उपर्युक्त मन्त्र [१४६] के द्वारा अश्मारोहण करवाता है। इस स्थल पर उत्तरार्ध का पाठ **प्रमृणीहि** इत्यादि है। दे० पा० टि० १

मा० गृ० के अनुसार पुरोहित द्वारा वर और वधू से एक साथ अश्मारोहण करवाया जाता है। क्योंकि इसके अनुसार क्रिया दो व्यक्तियों द्वारा की जा रही है, अतः मन्त्र में कर्ता और क्रिया को भी द्विवचनान्त करके पूर्वार्ध का पाठ निम्नलिखित कर दिया गया है :—

एतमश्मानमातिष्ठतमश्मेव युवां स्थिरौ भवतम् ॥ [१५०]

तदनुसार ही उत्तरार्ध में **आयुष्टे** के स्थान पर **आयुर्वाम्** पाठ है। मा० गृ० और का० गृ० का वर वधू दोनों से एक साथ अथवा पृथक्-पृथक् अश्मारोहण करवाने का विचार सराहनीय है। इस प्रकार गार्हस्थ्य के दोनों सदस्यों को एक समान ही स्थिरता की शपथ दिलवाई जाती है।

उपनयन तथा विवाह दोनों संस्कारों में बहुत से गृह्यसूत्रों द्वारा एक ही क्रिया में प्रयुक्त यह तृतीय मन्त्र है।[1] उपनयन में भी इसका विनियोग सार्थक है क्योंकि वहां भी अध्ययन में स्थिरता का आदर्श सामने रखा गया है। अथर्व० २।१३ के अन्य मन्त्रों की विशेषताओं से प्रतीत होता है कि मूल रूप में इस मन्त्र की रचना उपनयन के अन्तर्गत अश्मारोहण के लिये हुई थी।

केवल मा० गृ० १।१०।१७ एक मात्र गृह्य है जहां शिला से अवतरण करने का भी विधान है। तदर्थ पुरोहित द्वारा वर को निम्नलिखित वाक्य कहा जाता है।

यथेन्द्रः सहेन्द्राण्या अवारुहद्गन्धमादनात्, एवं त्वमस्मादश्मनोऽवरोहस्व। [१५१]

जिस प्रकार इन्द्र ने इन्द्राणी के साथ गन्धमादन पर्वत से अवरोहण किया था उसी प्रकार तुम भी (वधू के साथ) इस शिला से अवरोहण करो।

इस क्रिया तथा उसमें प्रयुक्त मन्त्र का विवाह से कोई प्रतीकात्मक सम्बन्ध

---

१. हि० गृ० १।४।१, आप० गृ० ४।१०।९ (मं० पा० २।२।२), मा० गृ० १।८, आग्नि० गृ० १।१।२, बौ० गृ० २।५।१०, मा० गृ० १।२२।१२, का० गृ० ४१।८ जै० गृ० ११।८।

नहीं है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि आदर्श दंम्पती के रूप में इन्द्र तथा इन्द्राणी से वर वधू की तुलना की गई है।[1]

वर के अवरोहण के पश्चात् जब वधू दूसरी बार अश्मारोहण करती है, उस समय पुरोहित निम्नलिखित मन्त्र से उसे सम्बोधित करता है:—

आरोहस्व समे पादौ प्रपूर्व्यायुष्मती कन्ये पुत्रवती भव ।। [१५२]

हे अनुकूल मन वाली वधू, दोनों पाँवों से क्रमशः आरोहण करो, हे कन्या, तुम आयुष्मती और पुत्रवती हो जाओ।

लाजहोम अर्थात् खीलों की आहुति

वधू का भ्राता उसके हाथों में खीलें डालता है, और वह अञ्जलि बना कर अग्नि में उनकी आहुति देती है। अधिकांश गृह्यसूत्रों में वधू की इस क्रिया के साथ वर के द्वारा निम्नलिखित मन्त्र के उच्चारण का विधान किया गया है:[2]—

अर्यमणं नु देवं कन्या अग्निमयक्षत।
स इमां देवोऽर्यमा प्रेतो मुञ्चातु नामुतः स्वाहा ॥ [१५३]

यह कन्या जिस दानादि गुण से युक्त, अग्रणी अर्यमा की पूजा करती है, वह अर्यमा देव इस वधू को माता पिता के पास से मुक्त करादे (परन्तु) इसे मुझसे वियुक्त न करे। ह० मि०

यद्यपि आ० गृ० और शां० गृ० दोनों ऋ० से सम्बद्ध हैं, तथापि इस मन्त्र का विनियोग चतुर्थी कर्म में प्रारम्भिक आहुतियों में करके शां०गृ०(१।१८।३) ने आ०गृ० से भेद प्रकट किया है। परन्तु आ०गृ०, वा०गृ० और मा०गृ० के समान ही शां०गृ० में भी दो बार अर्यमा के स्थान पर वरुण और पूषा देवों के नामों के साथ मन्त्र की आवृत्ति की गई है। गो० गृ० में अर्यमा के स्थान पर पूषा के नाम के साथ केवल

---

१. आदर्श दम्पती के रूप में इन्द्र और इन्द्राणी की कल्पना के लिए दे० ऋ० १०।८६।११:—

इन्द्राणीमासु नारिषु सुभगामहमश्रवम्।
न ह्यस्या अपरं चन जरसा मरते पतिर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ।।

२. आ० गृ० १।७।१३, मा० गृ० १।११।१३, वा० गृ० १४।१८, का० गृ० २५। ३०, ३५, गो० गृ० २।२।७ (मं० ब्रा० १।२।३, ४), खा० गृ० १।३।२३, बौ० गृ० १।४।१८, आप० गृ० २।५।२, ८ (मं० पा० १।४।५, ५।७) पा० गृ० १।६।२ (प्रथम पंक्ति में नु नहीं है, द्वितीय पंक्ति स नो अर्यमा देवः प्रेतो मुञ्चतु मा पतेः है), जै० गृ० २२।२।

एक बार आवृत्ति हुई है। का० गृ० के अनुसार प्रति बार जब अग्नि-पर्यंयण करके शिला का स्थापन और फिर लाजहोम किया जाता है, तब उपर्युक्त मन्त्र की आवृत्ति **अर्यमा** के स्थान पर **गन्धर्व** के नाम के साथ की जाती है। निस्सन्देह विवाह संस्कार से वरुण और पूषा की अपेक्षा गन्धर्व का सम्बन्ध अधिक है। इस आवृत्ति में का० गृ० में **नु** को निकाल कर **गन्धर्वं पतिवेदनम्** पाठ दिया गया है। इसके अतिरिक्त दोनों स्थलों पर उत्तरार्ध में **इमाम्** के स्थान पर **अस्मान्** और **नामुतः** के स्थान पर **मामुष्य गृहेभ्यः** पाठ है।

ऐसा प्रतीत होता है कि पाठान्तरों सहित इस गृह्य-मन्त्र पर अथर्व० १४।१।१७ का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। अथर्व-मन्त्र निम्नलिखित है:—

अर्यमणं यजामहे सुबन्धुं पतिवेदनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनात् प्रेतो मुञ्चामि नामुतः ॥ [१५४]

हम पति के ज्ञाता, शोभन-बन्धु अर्यमा की उपासना करते हैं। जिस प्रकार खरबूजा अपने बन्धन से मुक्त होता है उसी प्रकार मैं (अपने आप को) यहाँ से मुक्त कराती हूँ, वहाँ (पति के घर) से नहीं॥

इस मन्त्र का और गृह्यमन्त्र का भाव भी लगभग समान है। इसके अतिरिक्त आ० गृ० १।७।१७-१८ में इसके पश्चात् ऋ० १०।८५।२४, २५ उद्धृत किये गये हैं जो क्रमशः अथर्व० १४।१।१९, १८ के समान हैं। अतः अथर्व० और आ० गृ० दोनों में ये मन्त्र साथ साथ आने के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि अथर्व० ने आ० गृ० को प्रभावित किया होगा।

उपर्युक्त कुछ गृह्यसूत्रों में[1] तथा कुछ अन्यों में लाजहोम के लिये निम्नलिखित मन्त्र[2] का विधान है:—

---

१. पा० गृ० १।६।२ (दीर्घायुः के स्थान पर आयुष्मान्) आप० गृ० २।५।६ (मं० पा० १।५।२), का० गृ० २५।२३, मा० गृ० १।११।१२, वा० गृ० १४।१८, गो० गृ० २।२।६ (मं० ब्रा० १।२।२), खा० गृ० १।३.२२, जै० गृ० २१।२० (लाजानावपन्तिका के स्थान पर अग्नौ लाजानावपन्ती) शां० गृ० १।१४।१, हि० गृ० १।२०।४, भा० गृ० १।१६, कौशिक० ७६।१७-१८, (पूर्णतया अथर्व० पाठ), आग्नि गृ० १।५।४, बौ० गृ० १।४।२६।

२. अथर्व० में **लाजान्** के स्थान पर **पूल्यानि** और **एधन्तां ज्ञातयो मम** के स्थान पर **जीवति शरदः शतम्** पाठ है। **पूल्यानि** का अर्थ भी खीलें हैं। और इसी अर्थ वाला पंजाबी शब्द फुल्लियाँ सीधा **पूल्यानि** से आया प्रतीत होता है।

इयं नार्युपब्रूते लाजानावपन्तिका।
दीर्घायुरस्तु मे पतिरेधन्तां ज्ञातयो मम ॥ [१५५]

लाजों की आहुति डालती हुई यह स्त्री प्रार्थना कर रही है कि मेरा पति दीर्घायु हो और मेरे सम्बन्धी समृद्ध हों।

यहाँ भी शांखायन और आश्वलायन में मतभेद है क्योंकि आश्वलायन ने इसका विनियोग ही नहीं किया। अन्यथा न केवल इसके स्रोत (विवाह सूक्त) के आधार पर, अपितु इसमें अभिव्यक्त भाव के आधार पर भी इस मन्त्र का विनियोग इस में अत्यन्त सङ्गत है।

लाजाहुति के लिये निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग कुछ यजुर्वेदीय गृह्यों में किया गया है:[1]—

इमाँल्लाजानावपाम्यग्नौ समृद्धिकरणं तव।
मम तुभ्यं च संवननं तदग्निरनुमन्यतामियम् ॥ [१५६]

(अमुक नाम वाली) मैं तुम्हारी समृद्धि के साधन रूप इन लाजों की अग्नि में आहुति डाल रही हूँ। मेरा और तुम्हारा संयोग हो और अग्नि उस संयोग का अनुमोदन करे।

किसी अन्य ग्रन्थ में उपलब्ध न होने के कारण यह मन्त्र शुद्ध रूप से केवल गृह्य-परम्परा से सम्बद्ध प्रतीत होता है।

अग्नि-परिणयन

वर वधू के साथ अग्नि की प्रदक्षिणा करता है अर्थात् अग्नि की ओर अपना दाहिना अंग रखकर उसकी परिक्रमा करता है। इस प्रसङ्ग में बौ० गृ० और आप० गृ० में निम्नलिखित तीन मन्त्रों का विनियोग किया गया है:[2]—

तुभ्यमग्रे पर्यवहन्त्सूर्यां वहतुना सह।
पुनः पतिभ्यो जायां दा अग्ने प्रजया सह ॥ [१५७]

पुनः पत्नीमग्निरदादायुषा सह वर्चसा।
दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवाति शरदः शतम् ॥ [१५८]

---

१. हि० गृ० १।२०।३, पा० गृ० १।६।२, भा० गृ० १।१६, आग्नि० गृ० १।६।२, वै० गृ० ३।३।

२. आप० गृ० २।५।७, ६, १० (मं० पा० १।५।३-५), बौ० गृ० १।४।२७, २६, ३१।

विश्वा उत त्वया वयं धारा उदन्या इव। अतिगाहेमहि द्विषः ।। [१५६]

तुम्हारे लिए (सब देव) सूर्या को रथ के साथ लेकर आये हैं। हे अग्ने ! फिर से तुम पति को सन्तान सहित पत्नी दो ।। फिर अग्नि ने आयु और तेज से युक्त पत्नी को प्रदान किया है। इसका जो पति है वह दीर्घायु होकर सौ वर्ष तक जीवित रहे ।। जिस प्रकार से जल की धारायें सभी कुछ डुबो देती हैं उसी प्रकार से हम तुम्हारे साथ शत्रुओं का अतिक्रमण करें ।।

इनमें से प्रथम दो मन्त्र ऋ० और अथर्व० दोनों में विद्यमान हैं[1] और तीसरा केवल ऋ० (२।७।३) में उपलब्ध होता है।

किसी भी ऋग्वेदीय गृह्यसूत्र के द्वारा इन मन्त्रों का विनियोग न किया जाना आश्चर्यजनक है।[2]

मा० गृ० १।११।१२ में लाजाहुति के लिए प्रथम दो मन्त्रों का विनियोग किया गया है। इसी गृह्यसूत्र (१।१५।१) में सीमन्तोन्नयन के अन्तर्गत पत्नी के केशों का उन्नयन करने के प्रसंग में द्वितीय मन्त्र के उच्चारण का विधान है। पा० गृ०, भा० गृ० और वा० गृ० में वर-वधू के द्वारा अग्नि की परिक्रमा करने के प्रसंग में केवल प्रथम मन्त्र का प्रयोग किया गया है।[3] इसी क्रिया के लिए हि० गृ० (१।२०।५) और आग्नि० गृ० (१।६।२) में केवल अन्तिम मन्त्र का निर्देश है। जै० गृ० (२२-३) में भी केवल यही मन्त्र आता है परन्तु वहाँ प्रत्येक बार लाजाहुति के पश्चात् इसके उच्चारण का विधान है।

जहाँ तक इन मन्त्रों के विनियोग के औचित्य का प्रश्न है, प्रस्तुत प्रसंग में केवल प्रथम दो मन्त्र सबसे अधिक संगत हैं। ये दोनों न केवल दोनों वेदों के प्रसिद्ध विवाह सूक्तों से उद्धृत किये गये हैं अपितु इनमें वर और वधू दोनों की समृद्धि और दीर्घायु की प्रार्थना भी की गई है। तृतीय मन्त्र के विषय में सम्भवतया धारा शब्द से अग्नि की परिक्रमा में विनियोग की प्रेरणा प्राप्त हुई होगी। यूँ तो इस मन्त्र का देवता अग्नि ही है।

---

१. ऋ० १०।८५।३८, ३९, अथर्व० १४।२।१, २ (प्रथम मन्त्र में उत्तरार्ध में पुनः के स्थान पर स नः)।
२. केवल कौ० गृ० १।८।२० में प्रथम मन्त्र का विनियोग हुआ है।
३. मा० गृ० १।१६, वा० गृ० १४।२०, कौशिक० ७८।१०, पा० गृ० १।७।३-प्रथम मन्त्र में कर्कादि टीकाकारों के अनुसार दा अग्ने के स्थान पर दाग्ने पाठ है। (सं० वि० पृ० २०५, पा० टि० २)।

शिखाविमोचन

आ० गृ० १।७।१७, १८ के अनुसार यदि वधू की दोनों वेणियाँ गुँथी हुई हों तो वर निम्नलिखित दो मन्त्रों का उच्चारण करता हुआ उन्हें खोलता है[1]:—

प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद् येन त्वाबध्नात् सविता सुशेवः ।
ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोकेऽरिष्टां त्वा सह पत्या दधामि ॥[१६०]

प्रेतो मुञ्चामि नामुतः सुबद्धाममुतस्करम् ।
यथेयमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रा सुभगासति ॥ [१६१]

मैं तुम्हें वरुण के उस पाश से मुक्त करता हूँ जिसके द्वारा सुसमृद्ध सविता ने तुम्हें बांधा था। ऋत के उत्पत्ति स्थान अर्थात् स्वर्ग में और सत्कार्यों के लोक में पति के साथ मैं तुम्हें स्वस्थ रूप में स्थापित करता हूँ। यहाँ से अर्थात् पितृगृह से मैं तुम्हें मुक्त करता हूँ, इससे अर्थात् वर से नहीं। इसके साथ तुम्हें सुसम्बद्ध करता हूँ। जिस प्रकार हे दयालु इन्द्र ! यह अच्छे पुत्रों वाली और सौभाग्यवती हो जाये, ऐसा विधान कीजिये ॥

इस कर्म में वधू के केश माता-पिता के साथ उसके सम्वन्ध का प्रतीक हैं। वर उसे उसी सम्बन्ध से मुक्त कराने का उपक्रम करता है।

कौशिक० ७५।२३ में भी इसी कर्म का विधान है परन्तु वहाँ केवल प्रथम मन्त्र का विनियोग किया गया है।

आप० गृ०, वा० गृ० और मा० गृ० के अनुसार जो मेखला-सूत्र आरम्भ में वधू की कटि पर बांधा गया था, पति-गृह की ओर प्रस्थान के समय उस सूत्र की गाँठ खोलते हुए प्रथम मन्त्र का उच्चारण किया जाना चाहिये।[2] आप० गृ० में इसी मन्त्र का यजु-पाठ ग्रहण किया गया है। उसमें प्रमुख पाठान्तर **प्र त्वा मुञ्चामि** के स्थान पर **इमं वि ष्यामि** है। शां० गृ० १।१५।१ में वधू के अपने माता-पिता के घर से प्रस्थान के समय उपर्युक्त दोनों मन्त्रों के साथ ऋ० १०।८५।२६ (दे० मं०सं० २०३) का विनियोग भी किया गया है। मन्त्रों के अर्थ के अनुकूल ही उनके विभिन्न

---

१. ऋ० १०।८५।२४, २५, (तु० ऋ० ६।७४।४), अथर्व० १४।१।१९,१८, तै० सं० १।१।१०।२, ३।५।६।१-२, मै० सं० १।५।१६,१७।

२. कौशिक० ७६।२८, वा० गृ० १४।२४, मा० गृ० १।११।२०. आप० गृ० २।५।१२ (मं० पा० १।५।१६, १७), वा० गृ० में मुञ्चामि के स्थान पर मुञ्चतु, ऋतस्य के स्थान पर धातुश्च, अरिष्टाम् त्वा के स्थान पर हृष्टाभे सम् पाठ है।

विनियोगों में खोलने का अथवा वियोग का भाव प्रमुख है। क्योंकि ये मन्त्र ऋ० और अथर्व० के प्रसिद्ध विवाह सूक्तों से उद्धृत हैं अतः गृह्य प्रसङ्ग में इनका विनियोग ऋ० जितना प्राचीन प्रतीत होता है। प्रथम मन्त्र का समानान्तर श्रौत विनियोग भी हुआ है। तै० ब्रा० और श्रौतसूत्रों में दर्शपूर्णमास याग के अन्तर्गत यजमान की पत्नी की मेखला को शिथिल करने में इनका विनियोग किया गया है।[1]

सप्तपदी

विवाह संस्कार में अनुष्ठित सभी वैदिक कर्मों में सप्तपदी सर्वाधिक महत्त्व-पूर्ण है। प्रायः सभी स्मृतिकारों के द्वारा इसका महत्त्व स्वीकार किया गया है। मनु के अनुसार जब तक सप्तपदी सम्पादित न हो जाए तब तक विवाह पूर्ण नहीं होता।[2] दूसरे शब्दों में सप्तपदी को विवाह की चरम अवस्था कहा जा सकता है।

इस कर्म का यह महत्त्व देखते हुए यह बहुत विचित्र लगता है कि इसमें प्रयुक्त मन्त्र संहिताओं से नहीं लिये गये। एक प्रकार से सप्तपदी के सम्पूर्ण प्रमुख मन्त्र का स्रोत तै० ब्रा० (३।७।७।११-१२) में निम्नलिखित रूप में हैं:—

एकमिषे विष्णुस्त्वान्वेतु। द्वे ऊर्जे विष्णुस्त्वा···। त्रीणि व्रताय···। चत्वारि मायोभवाय······। पञ्च पशुभ्यः···। षड्रायस्पोषाय······। सप्त सप्तभ्यो होत्राभ्यः···। सखायः सप्तपदा अभूम। सख्यं ते गमेयम् सख्यात्ते मा योषम्। सख्यान्मे मा योष्ठाः। [१६२-१७२]

एक अन्न के लिए, विष्णु तुम्हारा अनुसरण करे। दो ऊर्जा के लिए ···तीन नियम के लिए······। चार सुख-समृद्धि के लिए······पांच पशुओं के लिए······। छः धन की पुष्टि के लिए···। सात सातों यज्ञों के लिए···। हम सात पदों के मित्र हो गये हैं। मैं तेरी मित्रता से पृथक् न होऊँ। तू मेरी मित्रता से पृथक् न हो।

सायणभाष्य के अनुसार सोमयाग की दीक्षा के प्रसंग में जब सोमक्रयणी गौ ले जाई जा रही हो तो यजमान उसके पदचिह्नों पर चलता हुआ उसे इस समस्त

---

१. तै० ब्रा० ३।३।१०।१, आ० श्रौ० १।११।३, शां० श्रौ० १।६५।६, आप० श्रौ० ३।१०।६, मा० श्रौ० १।३।५।१७, का० श्रौ० ३।८।२।

२. मनु० ८।२२७

पाणिग्रहणिका मन्त्रा नियतं दारलक्षणम्।
तेषां निष्ठा तु विज्ञेया विद्वद्भिः सप्तमे पदे॥

वाक्य समूह से सम्बोधित करता है। अथ **सोमक्रयणीविषये यदुक्तं सूत्रकारेण...... निष्क्रम्यमाणेषु यजमानोऽनुवर्तयित्वा इति। तत्र मन्त्रमाह..........**) मन्त्र के अर्थ से यह स्पष्ट है कि यह व्यक्ति की सामान्य सुख-समृद्धि की प्रार्थना है। जिस प्रकार के अन्न, ऊर्जा नियम, सुख, पशु और धन की पुष्टि सोमक्रयणी गौ विष्णु के माध्यम से यजमान को उपलब्ध कराएगी उसी प्रकार के इन पदार्थों को प्रत्येक गृहिणी प्राप्त करना चाहेगी। **सप्तभ्यो होत्राभ्यः** से सम्भवतया गृह-यज्ञों की समृद्धि का अभिप्राय है। और मित्रता के विषय में होने के कारण मन्त्र का दूसरा भाग और अधिक प्रसंगानुकूल है। कुछ गृह्यसूत्रों में इस अंश में प्रशंसनीय ढंग से बहुवचन के स्थान पर द्विवचन का प्रयोग किया गया है।

तै० ब्रा० के मन्त्र के प्रथम भाग के जिन वाक्यों का सातों में से प्रत्येक पद के साथ उच्चारण किया जाता है उनका पाठ बहुत से गृह्यसूत्रों में तै० ब्रा० के समान है।[1] गो० गृ० और खा० गृ० में **विष्णुस्त्वान्वेतु** के स्थान पर **विष्णुस्त्वा नयतु** का प्रयोग किया गया है। यह प्रयोग निस्सन्देह अधिक अच्छा है क्योंकि इसका अभिप्राय होगा विष्णु तुम्हें अन्नादि के लिए ले जाय अर्थात् अन्नादि प्राप्त करने में वह तुम्हारा सहायक हो। जब कि बौ० गृ० इत्यादि के द्वारा स्वीकृत तै० ब्रा० के वाक्य का अर्थ होता है **अन्नादि के लिए विष्णु तुम्हारा अनुसरण करे**। सामवेद के ही जै० गृ० में तै० ब्रा० का पाठ ग्रहण किया गया है परन्तु तृतीय, पञ्चम और षष्ठ पदों के वाक्यों में निम्नलिखित परिवर्तन किये गये हैं और सातवें पद के वाक्य में आनुषङ्गिक प्रार्थना नहीं रखी गई:—

त्रीणि रायस्पोषाय, पञ्च प्रजाभ्यः षड्ऋतुभ्यः, सखा सप्तपदी भव।

क्या इससे यह प्रकट नहीं होता कि सामवेदीय गृह्यसूत्रों ने इस प्रसङ्ग में तै० सं० के गृह्यसूत्रों का अनुसरण किया है और उनके पाठ को सुधारने का प्रयत्न किया है। परन्तु जैसा कि आगे दिखाया जायेगा जै० गृ० का साम्य ऋग्वेदीय गृह्यों तथा यजुर्वेदीय गृह्यों के साथ अधिक है। अन्य विद्वान् भी जै० गृ० को बौ० गृ० का ऋणी मानते हैं।[2]

का० गृ० २५।४२ जै० गृ० के समान है। केवल अन्त में **दीर्घायुत्वाय सप्तमम्** जोड़ा गया है। मा० गृ० १।११।१८ और वा० गृ० १४।२३ भी इसके समान

१. बौ० गृ० १।१।२८, हि० गृ० १।२१।१, आग्नि० गृ० १।६।१, भा० गृ० १।१७, वै० गृ० ३।४, आप० गृ० २।४।१६-१७ (मं० पा० १।३।७-१४) षड्राय-स्पोषाय के स्थान पर षड्ऋतुभ्यः, गो० गृ० २।२।१०, (मं० ब्रा० १।२।१३), खा० गृ० १।३।२४।

२. वै० इं० वै० कल्प०, पृ० ३४।

ही हैं। वा० गृ० गोभिल के समान ही **विष्णुस्त्वां नयतु** का प्रयोग करता है। पा० गृ० १।८।१-२ का पाठ जै० गृ० के समान ही है। केवल **पञ्च प्रजाभ्यः** के स्थान पर **पञ्च पशुभ्यः** का भेद है।

ऋग्वेदीय गृह्यसूत्रों की शैली की यह विशेषता है कि उनमें **इष एकपदी, ऊर्जे द्विपदी** आदि पाठ हैं और **विष्णुस्त्वान्वेतु** अथवा **विष्णुस्त्वा नयतु** का नितान्त अभाव है। जहाँ तक पदोंके साथ प्रार्थना का सम्बन्ध है, आ० गृ० (१।७।१९) और जै० गृ० में पूर्ण साम्य है, कौ० गृ० (१।१४) और शां० गृ० (१।१४।६) में चतुर्थ और पञ्चम पद के लिए क्रमशः **मायोभवाय चतुष्पदी** और **पशुभ्यः पञ्चपदी** पाठ है, और इस प्रकार यह पाठ पा० गृ० के अधिक निकट है।

क्योंकि प्रथम दो पदों के लिये सभी गृह्यसूत्रों में निर्विशेष रूप से क्रमशः **इष्** और **ऊर्ज्** की प्रार्थना की गई है, अतः ऐसा प्रतीत होता है कि इन दोनों शब्दों की पृष्ठभूमि में अत्यन्त प्राचीन परम्परा विद्यमान है और उसी के आधार पर सभी गृह्यसूत्रों ने एकमत होकर इन्हें ग्रहण किया है। आप्टे के अनुसार "सम्भवतया पदों की सात संख्या का धूमिल स्रोत ऋ० ८।७२।१६ में है":—

अधुक्षत् पिप्युषीमिषमूर्जं सप्तपदीमरिः। सूर्यस्य सप्तरश्मिभिः ॥[१७३]

गतिशील तत्त्व ने सूर्य की सात किरणों के द्वारा समृद्ध होने वाली सर्पणशील चरणों वाली इच्छाशक्ति तथा ऊर्जा का दोहन किया है।

"इस मन्त्र में न केवल उपर्युक्त मन्त्र के **इषम्** और **ऊर्जम्** शब्द आये हैं, अपितु सप्तपदी ऊर्जा के साथ सूर्य की सात रश्मियों के सम्पर्क का उल्लेख भी हुआ है"[1]

इसी प्रकार मन्त्र के द्वितीय भाग के विषय में सभी गृह्यसूत्रों के दो प्रमुख वर्ग हैं—एक वह जिसमें ठीक तै० ब्रा० जैसा पाठ है और दूसरा वह जिसमें इसका अभाव है। बौ० गृ० में तै० ब्रा० के पाठ का अक्षरशः पालन हुआ है। हि० गृ० और आग्नि० गृ० में भी वही मन्त्र है, परन्तु **सखायःसप्तपदा अभूम**, को **सखायौ सप्तपदावभूव** (द्वि०) में परिवर्तित करके प्रस्तुत सप्तपदी कर्म के प्रसङ्ग के अधिक उपयुक्त बना दिया गया है[2] क्योंकि इस कर्म में वस्तुतः वर और वधू केवल दो ही

---

१. नॉन ऋग् मन्त्रज़ इन आ० गृ०, पृ० ९२।

२. मं० पा० १।३।१४ में इन सबके अतिरिक्त और मन्त्र भी हैं परन्तु वहाँ उनके असमान्य और एक मात्र अस्तित्व के कारण यहाँ उनका विवेचन नहीं किया गया।

व्यक्ति अपनी सप्तपदों की मित्रता की उद्घोषणा कर रहे हैं। इस वर्ग के अवशिष्ट गृह्यसूत्रों में इस परिवर्तन को सुरक्षित रखा गया है। आप० गृ, भा० गृ० और वै० गृ० में **सखायौ सप्तपदावभूव** से पूर्व **सखा सप्तपदा भव** भी जोड़ा गया है। गो० गृ० और खा० गृ० में यद्यपि **सखायः सप्तपदा अभूम** अथवा **सखायौ सप्तपदावभूव** दोनों का ही अभाव है, परन्तु **सखा सप्तपदी भव** अवश्य रखा गया है। मं० ब्रा० में मन्त्र के इस भाग का पाठ कुछ भिन्न है :—

सख्यं ते गमेयम्। सख्यं ते मा योषाः सख्यं ते मा योष्ठ्याः ॥

भट्टनारायण ने इसकी टीका इस प्रकार की है—**मैत्रीं तव अहं गमेयम्। किञ्च सख्यं ते मा योषाः, मया सह तव सख्यम् अन्या योषाः स्त्रियो मा च्छिन्दन्तु इति शेषः। किञ्च सख्यं ते मायोष्ठ्याः मायः सुखं तस्योत्थानं मायोष्ठं तत्र भवा मायोष्ठ्याः सुखकारिण्यः स्त्रियः त्वया सह मम सख्यं कुर्वन्तु इति शेषः।** सारांश यह कि "अन्य स्त्रियाँ मेरे साथ तुम्हारी मित्रता भङ्ग न करें। सुखकरी स्त्रियाँ तुम्हारे साथ मेरी मित्रता सम्पादित करें।" गुणविष्णु ने भी इसकी यही व्याख्या की है। परन्तु यह अत्यन्त दूराकृष्ट व्याख्या है और इससे यह स्पष्ट है कि मं० ब्रा० का पाठ भ्रष्ट है। फिर भी सायण की व्याख्या अधिक युक्तियुक्त है:—

.........**किञ्च प्राप्तं ते सख्यं मा योषाः। यु मिश्रणामिश्रणयोरिति। मा योष्ठा इत्यस्य स्थाने मा योषा इति च्छान्दसः। तत्रापि व्यत्ययेनोत्तमस्य स्थाने मध्यमः। तव सख्याद्वियुक्तो मा भूवमित्यर्थः। आपस्तम्बस्तु सख्यात्ते मा योषमिति पठति। किञ्च ते त्वमित्यर्थः। त्वमपि सख्यं मदीयं मा योष्ठाः। मम सख्यान्मा वियुक्ता भूः।**

जिन कृष्णयजुर्वेदीय गृह्यसूत्रों में **सखा सप्तपदा भव** वाक्य प्रयुक्त हुआ है, वहाँ यह प्रयोग परम्परागत नहीं प्रतीत होता। पाणिनि के व्याकरण-सम्बन्धी प्रमाण के आधार पर भी इन गृह्यसूत्रों का यह मौलिक पाठ न होकर कहीं से उद्धृत ही सिद्ध होता है। जिन गृह्यों का यह मौलिक वाक्य प्रतीत होता है उनमें **सप्तपदा** पाठ न होकर **सप्तपदी** है।[1] पाणिनि के अनुसार ईकारान्त रूप शुद्ध है। इसके सूत्र ४।१।८ (पादोऽन्यतरस्याम्) के अनुसार यदि **पाद्** शब्द समस्त पद के अन्त में हो तो समासान्त नियम से उसका **पद्** हो जाता है और फिर स्त्रीलिङ्ग अभीष्ट होने पर

---

१. **शां० गृ०, आ० गृ०, मा० गृ०, वा० गृ०, का० गृ०, पा० गृ०, खा० गृ०, कौशिक०। वा० गृ० में अन्तिम पाद यह है:—**

सखी सप्तपदी भव सख्यं ते गमेयं सख्यात्ते मा रिषम्।

विकल्प से या तो वह अपरिवर्तित रहता है, या उसके आगे ङीप् (ई) प्रत्यय लगता है। दूसरी ओर उसके अनुसार (पा० ४।१।९–टावृत्ति), आकारान्त पद केवल तभी सम्भव है जब समस्त पद ऋचा का विशेषण हो। परन्तु प्रस्तुत प्रसङ्ग में ऋचा का अभिप्राय तो है नहीं, यहाँ तो यह शब्द सात पदों का क्रमण करने वाली वधू का विशेषण है। इसी वर्ग के गृह्यों में (जिनमें सप्तपदी-ईकारान्त पाठ है) दो गृह्यसूत्र ऐसे हैं जिनमें न तो तै० ब्रा० का पाठ है और न ही ईकारान्त पाठ। का० गृ० और पा० गृ० में **सप्तपदा** पाठ है। क्या इससे यह प्रकट नहीं होता कि ये दोनों गृह्य इस वर्ग में अर्वाचीनतम हैं ? अथवा यह भेद शाखा के कारण भी सम्भव है।

कौथुम गृह्य की भूमिका (पृ० ७१) में डा० सूर्यकान्त लिखते हैं कि "इस प्रकार सप्तम पद के अभाव या उल्लेख और साथ ही साथ उसके द्वारा प्राप्त पदार्थ के आधार पर सुविधापूर्वक गृह्यसूत्रों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है; और यह बहुत सम्भव है कि इन दो वर्गों में मन्त्र दो भिन्न स्रोतों से उद्धृत किये गये हों। इस विभाजन के आधार को आगे चलकर एक मात्र शब्द **सप्तपदा** के मुकावले **सप्तपदी** तक सीमित किया जा सकता है। यह ध्यान देने की बात है कि मैत्रायणी वर्ग में **सप्तपदी** पाठ है जब कि काठक वर्ग में **सप्तपदा** और जितनी स्थिरता से इन दोनों वर्गों में शब्दों का प्रयोग किया गया है उसके आधार पर मुझे तत्क्षण ही पारस्कर के **सप्तपदा** का **सप्तपदी** के रूप में और उसके विपरीत कौशिक० के **सप्तपदी** का **सप्तपदा** के रूप में संशोधन कर देना चाहिये।"

ऋग्वेदीय गृह्यसूत्रों में प्रत्येक पद के पश्चात् **विष्णुस्त्वान्वेतु** (नयतु) का अभाव ध्यानाकर्षक है।[1] जिन गृह्यों (भा० गृ०, का० गृ०, वा० गृ०) में **सखायौ सप्तपदावभूव** आदि नहीं है उनसे भी इनमें **सखा सप्तपदी भव** के पश्चात् **मा ते व्योम संदृशि** न होने से भेद उत्पन्न हो गया है। शां० गृ० और जै० गृ० में जहाँ **सप्तपदी भव** पर मन्त्र पूर्ण हो जाता है वहाँ आ० गृ० में इसके पश्चात् निम्नलिखित जोड़ा गया है:—

सा मामनुव्रता भव, पुत्रान् विन्दावहै बहूंस्ते सन्तु जरदष्टयः।[१७४]

वह तुम मेरी अनुगामिनी हो जाओ, हम दोनों बहुत से पुत्र प्राप्त करें और तुम्हारी आयु दीर्घ हो।

पा० गृ० में इसमें से केवल **सा मामनुव्रता भव** लिया गया है। केवल यही

---

१. केवल कौ० गृ० १।८।२८ में इस वाक्य की आवृत्ति प्रत्येक पद के साथ हुई है। और यह यजुर्वेदीय सूत्रों का प्रभाव प्रतीत होता है।

अंश जै० उप० ब्रा० (१।५४।६) में उपलब्ध होता है। यह मन्त्रांश एक विचित्र प्रसङ्ग में आया है। उपवसथ अर्थात् उपवास की रात्रि को ऋक् और साम का जन्म होता है। जब साम का जन्म होने को होता है तो वह ऋक् को कहता है— **अमोऽहमस्मि.........सा मामनुव्रता भूत्वा प्रजाः प्रजनयावहै,** यहाँ निर्देश है कि उस रात्रि को घर पर नहीं सोना चाहिये। मैत्रायणी और काठक संहिताओं के गृह्यसूत्रों में इसके स्थान पर निम्नलिखित वाक्य दिया गया है:—

सुमृडीका सरस्वति [ती] मा ते व्योम सन्दृशि (शी— मा०गृ०, शे· का० गृ०)।।[१७५]

इसका स्रोत अथर्व० ७।६३।३ प्रतीत होता है जहाँ सम्पूर्ण मन्त्र इस प्रकार है:—
शिवा नः शन्तमा भव सुमृडीका सरस्वती। मा ते युयोम सन्दृशः।। [१७६]

हे सरस्वती हमारे लिये कल्याणकर, सबसे अच्छी शरणदात्री तथा शोभनसुख वाली हो। हम तेरी दृष्टि से पृथक् न हों।

गृह्यों में अथर्व० के **युयोम** के स्थान पर **व्योम** पाठ से अस्पष्टता आ गई है। यह परिवर्तन ज्ञानपूर्वक न होकर भूल प्रतीत होती है, क्योंकि प्रसङ्ग में **युयोम** ही अर्थसङ्गत है। फिर भी टीकाकारों ने **व्योम** पाठ मानकर—यथाकथञ्चित् दूराकृष्ट व्याख्या की है, यथा लौ० गृ० में देवपाल द्वारा निम्नलिखित व्याख्या दी गई है:—

'हे सरस्वति मा ते तव व्योम आकाशस्थः कश्चित् सप्तमं पदं द्राक्षीत् पवनान्दोलित-वाससो नग्नं वा कञ्चित् प्रदेशम् ।।'

इसी मन्त्र का प्रयोग तै० आ० ४।४२।१ में अवान्तरदीक्षा के अन्तर्गत शान्तिपाठ के लिये किया गया है। उस स्थान पर सायण की टीका उपरिलिखित टीका से अधिक सन्तोषजनक है:—

हे सरस्वति.......सुमृडीका सुष्ठु सुखकरी च भव। ते सन्दृशि तव कटाक्षे सति व्योम सुखशून्यत्वं मा भूत् ।। (हे सरस्वती, जब तुम मुझ पर कटाक्ष करो, उस समय सुख का अभाव न हो।) इसका यह अभिप्राय है कि वधू का कटाक्ष अथवा छोटे से छोटा कार्य भी सुख से रहित न हो। इस व्याख्या का एक और सौन्दर्य यह है कि इसके अनुसार जिन प्रसङ्गों में भी इस मन्त्र का विनियोग हुआ है उन सभी में यह उपयुक्त हो सकता है। तै० आ० १।१।३; २१, ३ में (सायण के अनुसार) यज्ञ में जलरूप इष्टकाओं की स्थापना के कार्य में इसका प्रयोग किया गया है। तै० आ० १।३१।६ में वैश्रवण याग में वैश्रवण की पूजार्थ प्रयुक्त मन्त्रों में से यह भी एक है। ऐ० आ० भू० १(ब) में यह आरण्यक के प्रारम्भ में शान्ति पाठ का अंग

है। आ० श्रौ० ७।१४।१८ में इसी मन्त्र का विनियोग महाव्रत से सम्बद्ध स्तोमों में हुआ है। इस मन्त्र का गृह्य-विनियोग निस्सन्देह प्रसङ्गानुकूल है क्योंकि इसके द्वारा वधू का उत्कर्ष सरस्वती देवी के रूप में हो जाता है।

सप्तपदी के विषय में कौशिक० ७६।२१ की परम्परा पूर्ण रूपेण भिन्न है। तदनुसार इस कर्म के अनुष्ठान से पूर्व निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए भूमि पर सात रेखाएँ खींचनी चाहियें:—

सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामिदेकामभ्यंहुरो गात्।
आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीडे पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ ॥ [१७७]

कवियों अर्थात् मेधावी ऋषियों ने सात मर्यादाएँ अर्थात् चौर्य, गुरुपत्नी-समागम ब्रह्महत्या, भ्रूणहत्या, सुरापान, पुनः-पुनः दुष्कर्म न करना, पाप-कर्म करके अनृत न बोलना, बनाई हैं। उनमें से एक में प्रवृत्त होने वाला व्यक्ति भी पापी होता है। (दूसरा, इनमें प्रवृत्त न होने वाला) इन्द्रियों के विसर्जन काल में अर्थात् मृत्यु के समय निरन्तर गमन शील सूर्य के मण्डल में स्थित सब प्राणियों के सर्जक नारायण के घर के चिरस्थायी स्थानों में रहता है। —या० सा०

ऋ० १०।५।६ में यह मन्त्र अग्नि-सूक्त का अंग है और वहाँ इसके प्रसंग के अनुसार सप्तपदी जैसे कर्म से इसका कोई सम्बन्ध प्रकट नहीं होता। यह अथर्व० ५।१।६ और नि० ६।२७ में भी विद्यमान है परन्तु कहीं भी प्रसंग से उपर्युक्त कर्म के साथ इसका सम्बन्ध लक्षित नहीं होता। ऐसा प्रतीत होता है कि केवल एकमात्र शब्द सप्त के आधार पर ही इसका विनियोग उपर्युक्त कर्म में किया गया है। और इसी सूत्र में एक अन्य स्थल पर इसी मन्त्र के विनियोग से यह प्रकट होता है कि कौशिक० के रचयिता ने केवल मन्त्र के अर्थ की ओर ध्यान न दिया हो ऐसी बात नहीं है अपितु उसकी ध्वनि की ओर भी घ्यान नहीं दिया।[1]

इसके पश्चात् २२ से २४ सूत्रों में कहा गया है कि 'वह वधू को उन रेखाओं पर चलाता है और प्रथम पद के साथ **इषे त्वा सुमङ्गलि प्रजावति सुसीमे;** द्वितीय पद के साथ **ऊर्जे त्वा;** तृतीय पद के साथ **रायस्पोषाय त्वा;** चतुर्थ पद के साथ **सौभाग्याय त्वा;** पंचम पद के साथ **साम्राज्याय त्वा;** षष्ठ पद के साथ **सम्पदे त्वा;**

---

१. कौशिक० ७६।१ में विधान है—सप्तमर्यादा इति तिसृणां प्रातरावपते। दशकर्माणि ब्रह्मवेदोक्तानि नामक पद्धति में और अथर्वणीय पद्धति में इससे पूर्व कहा गया है अथ चतुर्थी कर्म और चतुर्थिका कर्म उच्यते। परन्तु मन्त्र के अर्थ अथवा ध्वनि से चतुर्थी कर्म के साथ कोई सम्बन्ध प्रकट नहीं होता।

सप्तम पद के साथ **जीवातवे त्वा सुमङ्गलि प्रजावति सुसीमे** तथा अन्त में **सखा सप्तपदी भव** का उच्चारण करता है। [१७८–१८५]

इन वाक्यों की स्थिति से यह स्पष्ट है कि **सुमङ्गलि प्रजावति सुसीमे** की आवृत्ति प्रत्येक पद के साथ होनी चाहिये। ये शब्द अन्यत्र अप्राप्य हैं। यद्यपि अन्य गृह्यों की परम्परा से कौशिक० विच्छिन्न है तथापि प्रसंग की दृष्टि से इन मन्त्रों का चयन बहुत प्रशंसनीय है। **ऊर्जे त्वा** की तुलना अथर्व० १९।३७।३ **ऊर्जे त्वा बलाय त्वा.........पर्यूहामि शतशारदाय** से की जा सकती है। यह मन्त्र अग्नि को सम्बोधित है और इसीलिए इसे कौशिक० मन्त्र का सीधा स्रोत नहीं कहा जा सकता। **रायस्पोषाय त्वा** अथर्व० १९।३१।१३ में **रायस्पोषाय प्रतिमुञ्चे अहं त्वाम्** के रूप में प्राप्त होता है। वहाँ इसका विषय औदुम्बर मणि है। यह तै० सं० १।६।१।३ में भी **रायस्पोषाय त्वा गृह्णामि** के रूप में विद्यमान है। वहाँ दर्शपूर्णमास याग में आज्यभाग ग्रहण करते हुए यजमान के द्वारा इसके उच्चारण का विधान है। परन्तु गृह्य प्रसङ्ग से इस प्रसंग का कोई सम्बन्ध नहीं है। **सौभाग्याय त्वा** और **साम्राज्याय त्वा** अन्यत्र नितान्त अप्राप्य हैं। **सम्पदे त्वा** वा० सं० १५।८ में निम्नलिखित रूप में प्राप्त होता है :—

प्रतिपदसि प्रतिपदे त्वानुपदस्यनुपदे त्वा सम्पदसि सम्पदे त्वा तेजोऽसि तेजसे त्वा।

वा० सं० का उक्त प्रसंग इस मन्त्र के गृह्य विनियोग का आधार नहीं प्रतीत होता। कौशिक० का यह मन्त्र का० सं० ३९।६ और आप० श्रौ० १६।३१।१ में भी विद्यमान है परन्तु यहाँ भी इसके प्रसंग से गृह्यविनियोग का संकेत नहीं प्राप्त होता। वहाँ इसका विनियोग वेदीचयन कर्म के अन्तर्गत इष्टकाधान में किया गया है। **जीवातवे त्वा** भी अन्यत्र अप्राप्य है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यद्यपि ये कौशिक० मन्त्र आंशिक रूप में अथवा पूर्ण रूप में कुछ वैदिक ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं तथापि उन्हें इनका स्रोत नहीं कहा जा सकता। अतः यह प्रतीत होता है कि इन मन्त्रों का मूलाधार शुद्ध रूप से गृह्य है।

सप्तपदी के उपरान्त वधू के घर में अनुष्ठित कर्म

मूर्धाभिषेक

कुछ गृह्यसूत्रों में विधान है कि सप्तपदी की समाप्ति पर वर और वधू की मूर्धा का पवित्र जल से अभिषिञ्चन किया जाना चाहिये और इस अवसर पर निम्नलिखित तीन मन्त्रों (ऋ० १०।९।१-३) का उच्चारण किया जाना चाहिए:[1]—

---

१ पा० गृ० १।८।६, भा० गृ० १।१८, जै० गृ० २२।१०, वै० गृ० ३।४, मा० गृ०-१।११।६, हि० गृ० १।२१।५।

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे ।। [१८६]
यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः ।। [१८७]
तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ। आपो जनयथा च नः ।। [१८८]

हे जल क्योंकि तू सुख उत्पन्न करने वाला है अतः उस प्रकार का तू हमें अन्न के लिये धारण कर और हमें महान् तथा रमणीय दर्शन अर्थात् ज्ञान के लिये भी धारण कर ।। या० जिस प्रकार पुत्र की कामना करती हुई माताएं अपना दूध पिलाती हैं उसी प्रकार हे जल ! तेरा जो कल्याणतम रस है हमें उसका भागी बना ।। हे जल हम तेरे उस रस को पर्याप्त रूप में प्राप्त करें जिसके संयोग से तू हमें प्रसन्न करता है, और तू हमारे (पुत्र-पौत्रादि तथा अनाज) उत्पन्न कर ।। ह० मि०

सूत्र साहित्य में प्रथम मन्त्र के आद्य शब्दों के आधार पर यह मन्त्र-समूह **आपोहिष्ठीय** नाम से प्रसिद्ध है। समस्त वैदिक संहिताओं में इसके अस्तित्व के आधार पर निस्सन्देह ऐसा प्रतीत होता है कि इस मन्त्र-समूह को बहुत अधिक महत्त्व प्राप्त था।[१]

प्रत्येक यजुर्वेद संहिता में यह दो-तीन बार आया है, और मै० सं० जितने प्राचीन काल में इसे आद्य शब्दों के द्वारा उद्धृत किया जाता था (तु० २।१३।१—आपोहिष्ठेति तिस्रः)।

ऋग्वेद से सम्बद्ध होने पर भी इन मन्त्रों के रहते हुए आ० गृ० (१।७।२०) द्वारा वर-वधू के मूर्धाभिषेक कर्म के लिए किसी भी मन्त्र का प्रयोग न किया जाना आश्चर्यजनक है। अन्य कर्मों में इन मन्त्रोंका विनियोग हुआ ही है। वास्तुपरीक्षा कर्म में (आ० गृ० २।८।१२; ६।८) जब गृहस्थ जल की अविच्छिन्न धारा बहाता हुआ नव-निर्मित शाला की प्रदक्षिणा करता है उस समय उसके द्वारा इन मन्त्रों के उच्चारण का विधान किया गया है। आ० गृ० ४।६।१४ में शान्तिकर्म के अन्तर्गत जब गृहस्थ के सम्बन्धी अग्नि, वृषभ और गोमय साथ लेकर जल की अविच्छिन्न धारा

---

१. साम० १८३७, अथर्व० १।५।१-३, वा० सं० ११।५०-५२, ३६।१४-१६, तै० सं० ४।१।५।१, ५।६।१।४, ७।४।१९।४, मै० सं० २।७।५, १३।१, ४।९।२७, का० सं० १६।४, ३५।३, तै० आ० ४।४२।४, १०।१।११, नि० ९।२७।

बहाते हुए अभिनव औपासन अग्नि की परिक्रमा करते हैं उस समय इस मन्त्र-समूह के उच्चारण का विधान किया गया है। परन्तु शां० गृ० १।१४।६ में सप्तपदी के तत्काल पश्चात् सप्तपदक्रमण के स्थल पर जलाभिषिञ्चन के लिए इन मन्त्रों का विनियोग किया गया है। आग्नि० गृ० १।६।३ में सप्तपदी से तत्काल पूर्व विभिन्न दिशाओं में जल-प्रसेचन की क्रिया में इन मन्त्रोंका विनियोग हुआ है। मूर्धाभिषिञ्चन में विनियोग के अतिरिक्त पा० गृ० २।२।१४ में उपनयन के अन्तर्गत छात्र को उसकी वेशभूषा की वस्तुएं प्रदान किये जाने के पश्चात् आचार्य द्वारा उसकी अञ्जलि को जल से पूर्ण करने के प्रसङ्ग में भी इन मन्त्रों का विनियोग किया गया है। एक अन्य स्थान पर (पा० गृ० २।१४।२१) श्रवणाकर्म के अन्त में देहली के प्रक्षालनार्थ इन मन्त्रों का प्रयोग हुआ है। पा० गृ० ३।५।४ में शाला निर्माण पूर्ण होने के पश्चात् कुम्भस्थापन कर्म में कुम्भ में जल-प्रसेचनार्थ इन मन्त्रों का विनियोग किया गया है। मा० गृ० २।२।२७ के अनुसार नवाग्न्याधान की समाप्ति पर स्नान करते हुए अनुष्ठाताओं को इन मन्त्रों का उच्चारण करना चाहिए। का० गृ० में विधान है कि मधुपर्क के अन्तर्गत जब अतिथि गृहस्थ से अर्घ्य जल प्राप्त करता है उस समय उसे इन मन्त्रों का उच्चारण करना चाहिये। कुछेक गृह्यसूत्रों में उत्सर्ग के अन्तर्गत स्नान के लिए इन मन्त्रों का विनियोग किया गया है।[१] इन सभी विनियोगों के अतिरिक्त इस मन्त्र-समूह का विनियोग बहुत से गृह्यसूत्रों में समावर्तन संस्कार के अन्तर्गत स्नातक के स्नान के लिए किया गया है। (तु० अध्याय ९)

उपर्युक्त सभी विनियोगों में किसी न किसी प्रकार से मन्त्रों का सम्बन्ध जल द्वारा अनुष्ठित कर्म से है।[२] इससे जल के पवित्र और शोधक तत्त्व का संकेत प्राप्त होता है और साथ ही जल देवता वाले इन मन्त्रों के विनियोग का औचित्य भी प्रकट होता है।

सामान्य नियम के रूप में विभिन्न श्रौत कर्मों में भी इन मन्त्रों का विनियोग

---

१. मा० गृ० ३।८, हि० गृ० २।१८।९, आग्नि० गृ० १।२।२।

२. मा० गृ० १।१।२४ इस नियम का अपवाद है क्योंकि उसके अनुसार प्रारम्भिक होम के पूर्ण होने पर पति को अपने मुख पर भस्मावलेप करते हुए इन मन्त्रों का उच्चारण करना चाहिये। कौशिक० में इन मन्त्रों का सामूहिक विनियोग नहीं किया गया है। केवल एक स्थान पर (४२।१३) अथर्वणीय पद्धति में इनका उल्लेख हुआ है। (दे० ब्लूमफ़ील्ड, कौशिक०, पृ० ११६, पा० टि० ३)

जल से सम्बद्ध क्रियाओं में किया गया है।[1] वा० सं०, आप० श्रौ० (१६।४।१) और का० श्रौ० (१६।३।१७) के अनुसार उत्तरावेदी के निर्माण के क्रम में जब पर्ण वृक्ष की गोंद के द्वारा गरम किया गया जल मिट्टी के लोष्ठ पर अभिषिक्त किया जाता है उस समय इस मन्त्र-समूह का उच्चारण किया जाना चाहिये। तै० सं०, श०ब्रा० और मा०श्रौ० में भी उखा-निर्माण के अन्तर्गत उसी प्रकार से मृत्तिका-लोष्ठ पर अभिषिञ्चन के लिए इन मन्त्रों का प्रयोग किया गया है।[2] तै० सं०, तै० ब्रा० और आप० श्रौ० में अश्वमेध यज्ञ के अन्तर्गत स्त्रियों की शुद्धीकरण-क्रिया में इन मन्त्रों का विनियोग किया गया है।[3]

इस मन्त्र-समूह के विविध प्रयोगों का आधार उन सब प्रयोगों में जल का सम्बन्ध होना है। क्रिया का साधन जल होना चाहिए, फिर वह क्रिया चाहे अभिषिञ्चन हो अथवा स्नान, प्रक्षालन हो अथवा जल का स्पर्श हो अथवा उदकधारा का प्रवाहन हो, उससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। केवल जल की उपस्थिति मात्र इन मन्त्रों के विनियोग के लिए पर्याप्त है।

पा० गृ० १।८।५ में इसी कर्म अर्थात् मूर्धाभिषिञ्चन के अन्तर्गत इन मन्त्रों से पूर्व निम्नलिखित मन्त्र के उच्चारण का भी विधान है:—

आपः शिवाः शिवतमाः शान्ताः शान्ततमास्ते कृण्वन्तु भेषजम् ॥ [१८६]

जल कल्याणकर है, सबसे अधिक कल्याणकर है, शान्त है, सबसे अधिक शान्त है, वह (अपने आप को) औषध (-रूप) बनादे।

इस मन्त्र का अर्थ भी आपोहिष्ठीय मन्त्रों के समान है। यह मन्त्र अन्यत्र अप्राप्य है। इस प्रसङ्ग में यह ध्यान देने की बात है जिस सूक्त से आपोहिष्ठीय मन्त्र उद्धृत किये गये हैं उसी सूक्त (ऋ० १०।९।७) में जल की भैषज्य शक्ति का उल्लेख किया गया है—**आपः पृणीत भेषजम्।**

---

१. आ० श्रौ० ५।२०।६, शां० श्रौ० ४।११।६, १५।३, २१।५, ८।६।७, ७।१२,२०, ९।२८।६, १४।५७।७, आप० श्रौ० ७।२१।६, ९।१८।८, १३।१५।१३, १४।१८।१, १५।११।१६, ला० श्रौ० २।१०।२०, ३।६।६, ४।११।७, मा० श्रौ० ४।३।३३। तै० सं० ५।६।१।४ और मा० श्रौ० ६।१।६।१९ में ये मन्त्र कुम्भेष्टकाओं को सम्बोधित किये गये हैं। जल से इनका कोई सम्बन्ध नहीं।

२. तै० सं० ४।१।५।१, श० ब्रा० ६।५।१।२, मा० श्रौ० ६।१।२।२।

३. तै० सं० ७।४।१९।४-६, तै० ब्रा० ३।९।७।५, आप० श्रौ० २०।१८।७।

हृदयालम्भन

यह विधान किया गया है कि मूर्धाभिषिञ्चन कर्म के पश्चात् वर को अपना दक्षिण हाथ वधू के दक्षिण स्कन्ध पर से ले जाकर उसके द्वारा वधू के हृदय देश का स्पर्श करते हुए निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिए:[1]—

मम हृदये हृदयं ते अस्तु मम चित्तं चित्तेनान्वेहि ।

मम वाचमेकमना जुषस्व प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम् ॥ [१९०]

मेरे हृदय में तुम्हारा हृदय हो, अपने मन के साथ मेरे मन को संयुक्त करो। अनन्यचित्त होकर मेरे वचन का पालन करो, प्रजापति तुम्हें मेरे लिए नियुक्त करे अर्थात् मेरे प्रति तुम्हारी आसक्ति करे।

मन्त्र के अर्थ से स्पष्ट है कि हृदयालम्भन कर्म न केवल शरीर-संयोग की स्थिरता का, अपितु दम्पती के हृदयों के संयोग की स्थिरता का भी प्रतीक है।

मा० गृ० १।१०।१३ के अनुसार जब वधू वर का अवलोकन करे, उस समय वर को इस मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये। यहाँ एक दूसरे को देखने की क्रिया को हृदय-संयोग का माध्यम माना गया है। बहुत से गृह्यसूत्रों में इस मन्त्र का विनियोग उपनयन के अन्तर्गत आचार्य द्वारा छात्र के हृदय देश का स्पर्श करने में भी किया गया है। (दे० अध्याय ८)

इस मन्त्र का स्रोत बृहद्देवता में उल्लिखित ऋ० का एक खिल सूक्त माना गया है और शेफ्तेलोवित्ज़ द्वारा उद्धृत भी किया गया है परन्तु औफ्रेख्त और मक्स म्युलर के संस्करणों में वह उपलब्ध नहीं होता। इस विषय में मैकडॉनल का मत अधिक निर्णायक है जैसा कि उसने इस मन्त्र के अनुवाद की टिप्पणी में लिखा है "यह (अर्थात् मम व्रते शब्दों से आरम्भ खिल सूक्त) उन दो खिल सूक्तों में प्रथम है जो कश्मीर संस्करण में ऋ० १०।८४ और ८५ के मध्य आते है। इसमें प्रधानतया

---

१. पा० गृ० १।८।८, मा० गृ० १।१७, बौ० गृ० १।४।१, हि० गृ० १।२१।३, वै० गृ० ३।४, गो० गृ० २।२।१५ (मं० ब्रा० १।२।२१), खा० गृ० १।३।३१, आग्नि० गृ० १।६।३ (सप्तपदी से पूर्व), पा० गृ० और मा० गृ० में पूर्वार्ध—मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनु चित्तं ते अस्तु। मा० गृ० में दधामि के स्थान पर दधातु। बौ० गृ० और मा० गृ० में प्रथम पाद—मम चित्ते चित्त-मस्तु ते, जुषस्व के स्थान पर शृणु और इसके पश्चात् बौ० गृ०, मा० गृ० और आग्नि० गृ० में मामेवानुव्रता भव सहचर्या मया भव पाठ है।

अनुष्टुभ् छन्द के बत्तीस पद्य हैं।"[1] परन्तु पिल्ले के अनुसार इसका स्रोत ऋ० खि० ३।१५।१ है।[2]

नाभि-स्पर्श

केवल हि० गृ० (१।२।१४) में हृदयालम्भन के पश्चात् उक्त कर्म का विधान है और तदर्थ निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है:—

प्राणानां ग्रन्थिरसि स मा विस्रसः ॥ [१६१]

हे नाभि, तू प्राणों की ग्रन्थि है, तू अपने स्थान से न हिल।

इसी मन्त्र का विनियोग उपनयन संस्कार में भी इसी कर्म में किया गया है।[3] यह प्रार्थना वस्तुतः सामान्य स्वास्थ्य के लिये बहुत उपयुक्त है क्योंकि नाभि में सभी नाड़ियाँ आकर मिलती हैं।

सूर्योदीक्षण अर्थात् वधू को सूर्य दिखाना

केवल पा० गृ० में विधान है कि वर **तच्चक्षुर्देवहितम्** इत्यादि (वा० सं० ३६।२४) का उच्चारण करते हुए वधू को सूर्य-दर्शन कराता है।[4] का० गृ० २५।४३ के अनुसार इस मन्त्र के उच्चारण से वर वधू द्वारा सूर्योपस्थान करवाता है।

स्वस्थ दीर्घ आयु के लिए प्रार्थना होने के कारण यह मन्त्र प्रसङ्गानुकूल है। सूर्य काल का विधान करता है, अतः इस प्रार्थना का सूर्य से किया जाना और भी उपयुक्त है। अधिकांश गृह्यों में इसका विनियोग उपनयन संस्कार में किया गया है, अतः इसका विस्तृत विवेचन उसके अन्तर्गत ही किया जायेगा। (दे० अध्याय ८)

प्रेक्षकानुमन्त्रण अर्थात् दर्शकों से प्रार्थना

बहुत से गृह्यों के अनुसार उपरिलिखित कर्मों के पश्चात् निम्नलिखित मन्त्र द्वारा[5] दर्शकों को सम्बोधित किया जाना चाहिये[6] :—

---

१. हा० ओ० सी०, खं० ६, पृ० २८१।

२. नॉन ऋ० मन्त्रज़ इन मैरेज, पृ० २०२।

३. हि० गृ० १।५।१२, विस्तृत विवेचन के लिये दे० अध्याय ८।

४. पा० गृ० १।८।७ (पा० गृ० १।१७।६ में निष्क्रमणिका-कर्म में नवजात शिशु को प्रथम बार सूर्य-दर्शन कराने के लिये इस मन्त्र का विनियोग किया गया है।)

५. ऋ० १०।८५।३३, अथर्व० १४।२।२८।

६. गो० गृ० २।२।१३ (मं० ब्रा० १।२।१४), आ० गृ० १।८।७, जै० गृ० २२।१०, बौ० गृ० १।५।३०, मा० गृ० १।१२।१, कौशिक० ७७।१०, वा० गृ० १४।२५, खा० गृ० १।३।२७।

सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत।
सौभाग्यमस्यै दत्त्वायाथास्तं वि परेतन॥ [१६२]

यह वधू कल्याणी है, सब यहां एकत्र होइये और इसे देखिये। इसे शुभ आशीर्वाद देकर स्वेच्छा से अपने घर लौट जाइये।

इस विनियोग के अतिरिक्त विवाह संस्कार में ही अन्य प्रसङ्गों में भी कुछ गृह्यों द्वारा इसका प्रयोग किया गया है। का० गृ० २५।४६ के अनुसार यह वधू द्वारा अवलोकित (वीक्षितान्) ध्रुव, अरुन्धती आदि नक्षत्रों को सम्बोधित किया जाता है।[1] यहाँ यह स्मरणीय है कि इस गृह्य में इस मन्त्र के उच्चारण से पूर्व ही वधू को पितृगृह में ये नक्षत्र दिखाने का विधान है। मन्त्र का यह विनियोग भी अर्थ के प्रतिकूल नहीं है क्योंकि यहां वह निवेदन नक्षत्रों के प्रति समझा जा सकता है। वै० गृ० (३।३) में जहाँ नव परिधान धारण करने वाली वधू के साथ वेदी पर लौट कर वर द्वारा दर्शकों को इस मन्त्रसे सम्बोधित किये जाने का विधान है, वहाँ भी इसका विनियोग अर्थानुकूल है। आप० गृ० २।६।११ (मं० पा० १।६।५) के अनुसार वधू के वर के घर में प्रवेश करने के पश्चात् और उसकी गोद में कोई लड़का बिठाये जाने के बाद वर को इसका उच्चारण करना चाहिये। यहाँ भी हम दर्शकों की इस रूप में कल्पना कर सकते हैं कि वर के सम्बन्धी और प्रतिवेशी वधू के स्वागतार्थ उसकी प्रतीक्षा करते थे।

परन्तु पा० गृ० (१।८।९) के अनुसार वर द्वारा इस मन्त्र का उच्चारण वधू का हृदयालम्भन करने के पश्चात् किया जाना चाहिये। हि० गृ० (१।१६।४) के अनुसार विवाह-होम से पूर्व वर इस मन्त्र का उच्चारण करता हुआ वधू का अवलोकन करता है। इन दोनों स्थलों पर मन्त्र वधू (एक०) को सम्बोधित किया गया है यद्यपि पश्यत क्रिया बहुवचनान्त है। इस विनियोग का यह भी अभिप्राय होगा कि आत्मानम् जैसे शब्द के प्रयोग के बिना वधू को स्वयं अपने लिये सम्बोधित किया गया है। यह स्थिति बहुत ही अस्पष्ट है। अतः निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि जिन स्थानों पर यह मन्त्र अन्य व्यक्तियों अर्थात् दर्शकों को किसी रूप में सम्बोधित किया गया है, वहाँ इसका विनियोग उपयुक्ततम है।

---

१. डॉ० राम गोपाल के अनुसार (इंड० वै० कल्प०, पृ० २३६) गो० गृ० के समान ही का० गृ० में भी मन्त्र दर्शकों को सम्बोधित किया गया है। परन्तु दे० पा० के अनुसार यह नक्षत्रों को सम्बोधित है। दे० पा० का मत प्रामाणिक प्रतीत होता है—'वीक्षितान् ध्रुवादीन् गुरुरनुमन्त्रयते।'

चतुर्थ अध्याय

नव-दम्पती का घर की ओर प्रस्थान

गमनार्थ रथ का स्थापन

पालकी में अथवा किसी यान, यथा रथ में वधू का उद्वहन किया जा सकता है। यदि इस कार्य के लिये रथ का प्रयोग किया जाये तो सर्वप्रथम गन्तव्य दिशा की ओर रथ स्थापित किया जाता है। इस क्रिया के लिये आप० गृ० २।५।१६ में निम्नलिखित मन्त्र (मं० पा० १।६।१) का विनियोग किया गया है:—

सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः।
ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधि श्रितः॥ [१६३]

सत्य के द्वारा पृथ्वी स्थिर की गई है, सूर्य के द्वारा आकाश स्थिर किया गया है। ऋत के द्वारा आदित्य स्थिर रहते हैं और (उसी के द्वारा) आकाश में चन्द्रमा सुस्थित है।

यह ऋ० (१०।८५) तथा अथर्व० (१४।१) के विवाह सूक्तों का प्रथम मन्त्र है। इसके गृह्यविनियोग की पुष्टि न तो इसके अर्थ से होती है और न ही उक्त सूक्तों में इसके क्रम से। विवाह सूक्तों में इसके अनुगामी मन्त्रों से स्पष्ट है कि उपर्युक्त मन्त्र के समेत वे सब सोम की स्तुति में है। और सोम को सूर्या का प्रथम वर माना ही गया है।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि रथ-स्थापन क्रिया में इसका विनियोग उत्तभिता, तिष्ठन्ति तथा अधिश्रितः शब्दों से प्रभावित होकर किया गया। कौशिक० (७५।६) में इसका प्रयोग विशेषतया ध्यानाकर्षक है क्योंकि वहां विवाह-कर्मों के प्रारम्भ में ही एक आहुति के साथ इसके उच्चारण का विधान है। इस विनियोग का सौष्ठव स्पष्ट ही है। एक प्रकार से अभिप्राय हो जाता है कि जिस प्रकार मन्त्र में परिगणित नक्षत्र आदि सत्य और ऋत के द्वारा अपने अपने स्थान पर स्थिर हैं उसी प्रकार यह भावी विवाह सम्बन्ध भी सत्य और नियमित जीवन पर आधारित होकर चिरस्थायी बने।

---

१. सोमो वधूयुरभवत्—ऋ० १०।८५।६, अथर्व० १४।१।६।

रथ में पशुओं को जोतना

आपस्तम्ब और मानव के अनुसार जब रथ के दोनों ओर घोड़े अथवा वृषभ जोते जाते हैं, उस समय क्रमशः निम्नलिखित मन्त्रों का उच्चारण किया जाना चाहिये:[1] —

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्ति परि तस्थुषः। रोचन्ते रोचना दिवि ॥ [१६४]
योगेयोगे तवस्तरं वाजेवाजे हवामहे। सखाय इन्द्रमूतये ॥ [१६५]

आदित्य रूप में, हिंसा रहित अग्नि के रूप में और वायु के रूप में सर्वत्र विचरणशील इन्द्र के चारों ओर अवस्थित (तीनों लोकों के प्राणी) अपने कार्यों में देवरूप में उसे सम्बद्ध करते हैं। उसी इन्द्र के मूर्तिरूप नक्षत्र आकाश में प्रकाशित होते हैं ॥ सा० हम सब मित्र दम्पती के प्रत्येक संयुक्त कार्य में और प्रत्येक अन्न युक्त आहुति में, रक्षा के निमित्त अधिक बलशाली इन्द्र का आह्वान करते हैं। दे० पा०

उपर्युक्त दोनों ही मन्त्र इन्द्र की स्तुति में हैं। प्रथम मन्त्र के पीछे विद्यमान अविच्छिन्न परम्परा इसके गृह्य विनियोग का आधार प्रतीत होती है। समग्र पूर्ववर्ती साहित्य में इस मन्त्र का विनियोग अश्वमेध यज्ञ के अन्तर्गत अश्व को जोतने के लिये किया गया है।[2]

शुक्लयजुर्वेदीय परम्परा के अनुसार उपरिलिखित द्वितीय मन्त्र के द्वारा उखा के लिये मृत्तिका-खनन करने को जाने से पूर्व छाग का अभिमन्त्रण किया जाना चाहिये।[3] परन्तु कृष्णयजुर्वेदीय परम्परा में अश्व को जोतने की क्रिया से इस मन्त्र का सम्बन्ध न होते हुए भी किसी और रूप में अश्व के साथ सम्बन्ध अवश्य है। तदनुसार वेदीचयन के अवसर पर जब घोड़े को जोतकर यजमान उसके साथ मृत्तिका-खनन के लिये निर्दिष्ट स्थान पर जाता है उस समय इस मन्त्र का उच्चारण किया जाना चाहिए।[4] श्रौत यज्ञों में मन्त्र के उपर्युक्त विनियोग और 'योगे' शब्द से प्रभा-

---

१. आप० गृ० २।५।२० (मं० पा० १।६।२-३), मा० गृ० १।१३।२।

२. ऋ० १।६।१, अथर्व० २०।२६।४, ४७।१०, ६९।९, वा० सं० २३।५, तै० सं० ७।४।२०।१, मै० सं० ३।१२।१८, १६।३, का० सं० अ० ४।९, तै० ब्रा० ३।९।४।१, श० ब्रा० १३।२।६।१, मा० श्रौ० ९।२।३।१९, का० श्रौ० २०।५।१०, आप० श्रौ० २०।१६।१।

३. ऋ० १।३०।७, अथर्व० १९।२४।७, २०।२६।१, वा०सं० ११।१४, का० श्रौ० १६।२।९।

४. तै० सं० ४।१।२।१, ५।१।२।१-२, मै० सं० २।७।२, का० सं० १६।१, आप० श्रौ० १६।२।३, मा० श्रौ० ६।१।१।१०।

वित होकर सम्भवतया गृह्यकारों ने इसका विनियोग रथ में घोड़े जोतने के प्रस्तुत प्रसंग में किया है ।

का० गृ०२६।१ में भी यह द्वितीय मन्त्र इसी प्रसंग में विनियुक्त हुआ है। का० गृ० २५।८ में यह मन्त्र विवाह संस्कार के प्रारम्भ में उस समय प्रयुक्त हुआ है जब घर के बाहर वैवाह्य अग्नि की स्थापना के पश्चात् वर और वधू को एक रथ में जोता जाता है । मन्त्र के इस प्रयोग में परम्परा से विच्युति होने पर भी इस विशेष कर्म का एक महत्त्व है। यह इस आदर्श का प्रतीक है कि गार्हस्थ्य रूपी रथ का भार वर और वधू के द्वारा समान रूप से वहन किया जाना चाहिए। का० गृ० ४१।७ में उपनयन संस्कार के अन्तर्गत छात्र के नव-परिधान धारण कर लेने के पश्चात् इस मन्त्र के द्वारा उसके अभिमन्त्रण का विधान है। यहाँ पर भी सम्भवतया योगे योगे शब्द से (परिधान से) संयुक्त होने का भाव ग्रहण किया गया है। परन्तु यह दूराकृष्ट प्रतीत होता है।

शां० गृ० १।१५।८ में रथ में पशु जोतने की क्रिया में निम्नलिखित दो मन्त्रों (ऋ०१।८२।५,६) का विनियोग किया गया है :—

युक्तस्ते अस्तु दक्षिण उत सव्यः शतक्रतो ।
तेन जायामुप प्रियां मन्दानो याह्यन्धसो योजा न्विन्द्र ते हरी ।। [१९६]
युनज्मि ते ब्रह्मणा केशिना हरी उप प्र याहि दधिषे गभस्त्योः ।
उत्त्वा सुतासो रभसा अमन्दिषुः पूषण्वान् वज्रिन्त्समु पत्न्यामदः ॥ [१९७]

हे बहुकर्मशील इन्द्र, आपके (रथ में) दाहिनी ओर तथा बायीं ओर अश्व जुत जाये। उस (रथ) के द्वारा सोमरूपी अन्न के पान से मत्त होकर आप अपनी प्रिय पत्नी के पास जाइये। हे इन्द्र (अपने रथ में शीघ्र ही) अश्वों को जोतिये। हे इन्द्र आपके दोनों केशयुक्त अश्वों को इस मन्त्र के द्वारा मैं (रथ में) जोत रहा हूँ, (उस रथ पर) जाइये, अपनी भुजाओं में (लगामों को) धारण कीजिये। (यज्ञ में) तैयार किये गये तीव्र-मादक सोम ने आपको अत्यन्त मदयुक्त बनाया है, इसलिये हे वज्रधारी, पुष्टियुक्त आप अपनी पत्नी के साथ सन्तृप्त हो जाइये ।। सा०

दोनों ही मन्त्रों में इन्द्र के हरि नामक अश्वों के जोतने का वर्णन है। अतः उपर्युक्त गृह्य प्रसङ्ग में इनका विनियोग सीधा इनके अर्थ से प्रभावित प्रतीत होता है। द्वितीय मन्त्र के विनियोग की पुष्टि तो श्रौत विनियोग से भी होती है क्योंकि आ० श्रौ० ६।११।९ और शां० श्रौ० ८।८।३ में इस मन्त्र को हरि-योजन कर्म के अन्तर्गत याज्या के रूप में उद्धृत किया गया है।

रथ के अक्षका अनुलेपन

शां० गृ० १।१५।३ में उपर्युक्त क्रिया के साथ निम्नलिखित मन्त्र (ऋ० १।८२।२; अथर्व० १८।४।६१) के उच्चारण का विधान है :—

अक्षन्नमीमदन्त ह्यव प्रिया अधूषत ।
अस्तोषत स्वभानवो विप्रा नविष्ठया मती योजा न्विन्द्र ते हरी ॥ [१६८]

हे इन्द्र, (यजमानों ने आपके द्वारा प्रदत्त अन्न का) भोग किया, वे तृप्त हुए और तृप्ति में उन्होंने अपने शरीर हिलाये। स्वयं तेजस्वी वे मेधावी अत्यन्त नवीन स्तुति के द्वारा उपासना करने लगे। इसलिये, हे इन्द्र अपने अश्वों को शीघ्र ही रथ में जोत लो ॥ सा०

इस मन्त्र का अक्ष से कोई सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता। गृह्य प्रसंग में इसके विनियोग के लिये एक मात्र संकेत इन्द्र के अश्वों के जोतने का वर्णन है। या फिर सम्भवतया इस विनियोग के लिए शां० गृ० का रचयिता मन्त्र के अक्षन् और रथ के अक्ष की समानता से प्रभावित हुआ होगा। गृह्यकारों के लिये मन्त्रों के शब्दों के सम्बन्ध में इस प्रकार की भ्रान्ति होना असाधारण बात नहीं है।

ऐसा प्रतीत होता है कि समस्त यजुर्वेदीय परम्परा में भी इसके अर्थ की ओर ध्यान नहीं दिया गया क्योंकि वहाँ साकमेध के एक अङ्ग के रूप में पितृयज्ञ में आहवनीय अग्नि के उपस्थान के लिये इसका विनियोग किया गया है।[1]

शां० गृ० १।१५।४ में रथचक्रों के भी अनुलेपन का विधान है। तदर्थ निम्नलिखित दो मन्त्रों का विनियोग किया गया है :—

शुची ते चक्रे यात्या व्यानो अक्ष आहतः ।
अनो मनस्मयं सूर्याऽऽरोहत् प्रयती पतिम् ॥ [१६९]

सूर्याया वहतुः प्रागात् सविता यमवासृजत् ।
अघासु हन्यन्ते गावोऽर्जुन्योः पर्युह्यते ॥ [२००]

हे सूर्ये, जब तुम (पतिगृह को) जा रही थीं तब तुम्हारे दोनों कान (रथ के) दो चक्र थे और भार सहन करने वाला व्यान-वायु अक्ष था। पति (सोम) के पास जाती हुई सूर्या ने मनरूपो शकट पर आरोहण किया।

---

१. वा० सं० ३।५१, तै० सं० १।८।५।२, का० सं० ९।६, मै० सं० १।१०।३, श० ब्रा० २।६।१।३८, तै० ब्रा० १।६।८।९, आप० श्रौ० ८।१६।९, मा० श्रौ० १।७।६।५५, का० श्रौ० ५।९।१६, शां० श्रौ ३।७।२, ला० श्रौ० ५।२।१०।

सविता ने (सूर्या के लिये) जिस (कन्यादान के निमित्त पशु आदि धन) की सृष्टि की थी सूर्या के वे गौ आदि पदार्थ पहले चले गये। मघानक्षत्रों में तो गौएँ (सोम के घर को) हाँकी जाती हैं और दोनों फल्गुनी नक्षत्रों में (सूर्या) ले जाई जाती है ॥ सा०

ये दोनों मन्त्र ऋ० (१०।८५।१२-१३) और अथर्व० (१४।१।१२-१३) के विवाह सूक्तों में साथ-साथ विद्यमान हैं। यद्यपि मन्त्रों में अनुलेपन का कोई उल्लेख नहीं है तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि विवाह सूक्त में से उद्घृत होने के कारण और चक्र, अक्ष अनः (शकट) और वहतु (रथ) शब्दों के आधार पर प्रस्तुत प्रसंग में इनका विनियोग किया गया है।

रथ-चक्रों का अभिमन्त्रण

कृष्णयजुर्वेद की मैत्रायणी और काठक शाखाओं से सम्बद्ध गृह्यसूत्रों में निम्नलिखित मन्त्र द्वारा रथचक्रों के अभिमन्त्रण का विधान है:[1]—

अङ्कौ न्यङ्कावभितो रथं ये ध्वान्ता वाताग्निमभिसं चरन्ति ॥
दूरेहेतिः पतत्री वाजिनीवाँस्ते नो ऽग्नयः पप्रयः पालयन्तु ॥ [२०१]

जो काष्ठ आदि इन्धन से उत्पन्न होने वाली हैं, जो वैद्युताग्नि में संचरण करती हैं वे दूर गति वाली वायु आदि में स्थित तथा व्रीहि आदि अन्न में स्थित हमारा पालन करने वाली अग्नियाँ रथ के सब ओर स्थित अंक और न्यंकों का पालन करें। (अंक और न्यंक ऐसे यन्त्र हैं जिनके द्वारा चक्र चलते हैं।) दे० पा०

मन्त्र का यह पाठ मा०गृ० में दिया गया है और यह ठीक मा०श्रौ० ७।१।२।३० के समान है। यह ध्यान देने की बात है कि जिन संहिताओं से ये गृह्यसूत्र सम्बद्ध हैं, उपर्युक्त मन्त्र उनमें प्राप्त न होकर तै० सं० (१।७।७।२) में प्राप्त होता है। तै० सं० में इसका पाठ कुछ भिन्न है। वहाँ ये के स्थान पर यौ पाठ है और उसके पश्चात् ध्वान्तं वाताग्रमनुसञ्चरन्तौ लिया गया है। उत्तरार्ध में पतत्री वाजिनीवान् के स्थान पर इन्द्रियावान् पतत्री और अन्त में पालयन्तु के स्थान पर पारयन्तु पाठ है।

का० गृ० और वा० गृ० में तै० सं० के वाताग्रं और पारयन्तु सुरक्षित हैं। परन्तु इन सब में किसी न किसी रूप में छन्दोभङ्ग हुआ है। उदाहरणार्थ का० गृ० में पूर्वार्ध में वाताग्रमभि ये सम्पतन्ति और उत्तरार्ध में पतत्रिणी पाठ है और इस प्रकार मन्त्र के दोनों भागों में एक एक अक्षर अधिक है। इसी प्रकार वा० गृ० में

१. मा० गृ० १।१३।४, का० गृ० २६।२, वा० गृ० १५।१।

भी का० गृ० के समान ही पूर्वार्ध में ये अधिक है और वाता और अग्रम् का सन्धि-विच्छेद कर दिया गया है जिससे कि पूर्वार्ध में दो अक्षर अधिक हो जाते हैं। यद्यपि मं० पा० २।२१।१७ मै० सं० से सम्बद्ध नहीं है तथापि इस मन्त्र के पाठ में इसमें तै० सं० से अधिक मा० श्रौ० का निकटता से अनुसरण किया गया है। परन्तु पूर्वार्ध में यहाँ भी वाता और अग्निम् का सन्धि-विच्छेद करके तथा अभि और सञ्चरन्ति के मध्य ये का समावेश करके छन्दोभङ्ग किया गया है। जहां तक विनियोग का सम्बन्ध है आप० गृ० ८।२२।१४ में भी इसका सम्बन्ध चक्रों का स्पर्श करने की क्रिया से है परन्तु वह क्रिया विवाह का अंग नहीं है। इस गृह्य में रथ की प्राप्ति पर उसके आरोहण के लिये अनुष्ठित किये जाने वाले विशेष कर्म में इसका प्रयोग किया गया है। यद्यपि पा० गृ० (३।१४।६) शुक्लयजुर्वेद से सम्बद्ध है तथापि उसमें इस मन्त्र का पाठ पूर्णरूपेण तै० सं० के अनुसार है। यहाँ भी रथारोहण कर्म का वर्णन विवाह संस्कार से पृथक् किया गया है। इस गृह्य के अनुसार मन्त्र का उच्चारण रथ के आसन का स्पर्श करते हुए किया जाना चाहिए। हि० गृ० १।१२।२ में विधान है कि स्नातक को इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए रथ पर आरोहण करना चाहिए।

जहाँ तक प्राग्-गृह्यसूत्र साहित्य में इस मन्त्र के विनियोग का सम्बन्ध है वहाँ भी यह विधान है कि वाजपेय यज्ञ में यजमान इसका उच्चारण करता हुआ रथ के दोनों पार्श्वों को थपथपाये।[1] इस प्रकार से इस मन्त्र के गृह्यविनियोग के आधार में रथ के किसी अंग के स्पर्श की क्रिया रही होगी। और इस विनियोग का मूल स्पष्टतया श्रौत कर्मकाण्ड में विद्यमान है।

रथारोहण

कुछ गृह्यसूत्रों में वर-वधू द्वारा रथारोहण के समय निम्नलिखित मन्त्र के उच्चारण का विधान किया गया है:[2]—

---

१. पं० ब्रा० १।७।५, तै० ब्रा० १।३।५।४; २।७।८।१,१६, आप० श्रौ० १८।४।६, मा० श्रौ० ७।१।२।३०।

२. आप० गृ० २।५।२२ (मं० पा० १।६।४), का० गृ० २६।४, मा० गृ० १।१३।६, वा० गृ० १५।२, गो० गृ० २।४।१ (मं० ब्रा० १।३।११), जै० गृ० २२।१६, तु० कौशिक० ७७।१। का० गृ० में लोकम् के स्थान पर योनिम् पाठ है, वा० गृ० में सुचक्रम् के स्थान पर सुधुरम् और लोकम् इत्यादि के स्थान पर पन्थाँस्तेन याहि गृहान् स्वस्ति पाठ है।

सुकिंशुकं शल्मलिं विश्वरूपं हिरण्यवर्णं सुवृतं सुचक्रम् ।
आरोह सूर्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पत्ये वहतुं कृणुष्व ।। [२०२]

हे सूर्ये (वधू) सुन्दर पलाशादि पुष्पों से युक्त और गमनशील अथवा सुन्दर पलाश तथा शाल्मली की लकड़ी से निर्मित, नाना आकार वाले, उज्ज्वल रूप, फलों फूलों से आवृत अथवा सहज गति वाले, शोभन चक्रों वाले अमृत-लोक (रूप) रथ पर चढ़ो, तुम इस यान को अपने पति के लिए सुखद बनाओ । दे० पा०

यह मन्त्र ऋ० (१०।८५।२०) और अथर्व० (१४।१।६१) के विवाह सूक्तों में से उद्धृत है । शां० श्रौ० (६।२८।११) में सूर्या देवी को आहुति देने के लिये इस मन्त्र के उच्चारण का विधान है । यह ध्यान देने की बात है कि उसी वेद (ऋ०) से सम्बद्ध होने पर शाङ्खायन ने श्रौतसूत्र में इस मन्त्र का अर्थानुकूल विनियोग नहीं किया है । अतः इसके गृह्य विनियोग का मूल स्रोत ऋग्वेद ही प्रतीत होता है क्योंकि न केवल वहाँ यह विवाह सूक्त में आया है, अपितु इसमें रथारोहण का संकेत भी है ।

आ० गृ० (१।८।१) में रथारोहण के लिये ऋ० १०।८५।२६ का विनियोग किया गया है :—

पूषा त्वेतो नयतु हस्तगृह्याश्विना त्वा प्रवहतां रथेन ।
गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथमा वदासि ।। [२०३]

हे वधू, पूषा तुम्हें पितृगृह से हाथ पकड़ कर बाहर ले जाये, दोनों अश्विन् देव तुम्हें (मेरे घर) पहुँचा दें । रथ पर तुम (अपने पति के) घर जाओ । (और जाकर) जिस प्रकार गृहिणी होती है वैसी ही तुम हो जाओ। आत्मवशिनी तुम सबके प्रति अनुराग करो । और यज्ञ अर्थात् श्रौत स्मार्त कर्म करो । ह० मि०

अथर्व० १४।१।२० में यह मन्त्र पूषा के स्थान पर भग: पाठान्तर से प्राप्त होता है ।

कुछ कृष्णयजुर्वेदीय गृह्यों के अनुसार विवाह होने से पूर्व जब स्नात और अलंकृत वधू को वर यज्ञ-स्थल की ओर ले जाता है उस समय वह इस मन्त्र का उच्चारण करता है ।[1] यद्यपि मन्त्र के प्रथम पाद में ले जाने (नयतु) का भाव अभिव्यक्त किया गया है, तथापि आ० गृ० में इसका विनियोग उपयुक्ततम है क्योंकि रथ

---

१. आप० गृ०२।४।६ (मं० पा० १।२।८), बौ० गृ० १।५।४, का० गृ० २५।५ ।

के उल्लेख के अतिरिक्त गृहान् गच्छ गृहपत्नी इत्यादि शब्दों से यह स्पष्ट है कि वधू अपने नये घर जाने को तैयार खड़ी है। कौशिक० (७६।१०) में इसका विनियोग वधू को विवाह-शाला में से बाहर लाने के प्रसङ्ग में किया गया है। यहाँ भी भाव यही है कि इसके पश्चात् वधू को पतिगृह जाना है। दश कर्माणि० में अथर्व० १४।१।५१ के रूप में इस मन्त्र में भगस्ते हस्तमग्रहीत् संशोधन किया गया है।[1]

आप० गृ० और का०गृ० में रथारोहण प्रसङ्ग में निम्नलिखित दो और मन्त्रों को उच्चारणार्थ उद्धृत किया गया है[2] :—

उदुत्तममा रोहन्ती व्यस्यन्ती पृतन्यतः।
मूर्धानं पत्युरारोह प्रजया च विराड् भव॥ [२०४]

स्नुषाणां श्वशुराणां च प्रजायाश्च धनस्य च।
पतीनां देवराणां च सजातानां विराड् भव॥ [२०५]

हे वधू, उत्तम (घर अथवा सच्चरित्र) पर आरोहण करती हुई, सेना की इच्छा करने वाले शत्रुओं को फेंकती हुई पति के मस्तक पर आरोहण करो अर्थात् अपने गुणों के द्वारा सम्मानित हो, पुत्रपौत्रादि सन्तान से विशेष रूप से शोभित हो। बहुओं, श्वसुरों, सन्तान, धन, पति, देवरों और अन्य बन्धु बान्धवों में तुम विशेष रूप से शोभित हो अर्थात् घर का सर्वस्व तुम्हारे अधीन हो। दे० पा०

क्योंकि ये मन्त्र अन्य किसी पूर्ववर्ती ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होते, अतः ऐसा प्रतीत होता है कि इनकी रचना ऋ० १०।८५।४६ को आदर्श मान कर की गई है (दे० मन्त्र सं० २७७)। और का० गृ० में तो वह मन्त्र इन दो के मध्य भी आया है।

मा० गृ० १।१३।५ में निम्नलिखित मन्त्र द्वारा रथासन के अभिमन्त्रण का विधान है:—

वनस्पते वीड्वङ्गो हि भूया अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः॥
गोभिः सन्नद्धो असि वीडयस्वास्थाता ते जयतु जेत्वानि॥ [२०६]

हे वनस्पति-विकार रथ, दृढ़ अङ्गों वाले हो जाओ, तुम हमारे मित्र हो, हमें पार करने वाले, शोभन योद्धाओं से युक्त हो। क्योंकि तुम बैलों के

---

१. कौशिक सूत्र (सं० ब्लूमफील्ड), पृ० २०३, पा० टि० ६।
२. आप० गृ० २।५।२२ (मं० पा० १।६।५,७), का० गृ० २५।४७।

चर्मादि से सुबद्ध हो, अतः अपने आप को दृढ़ बनाओ। तुम पर आरूढ़ (योद्धा) जय योग्य शत्रु सैन्यों पर विजय प्राप्त करें। ह० मि०

आ० गृ० (२।६।५) में यह मन्त्र विवाह संस्कार के अन्तर्गत उद्धृत न होकर पृथक् रूप से वर्णित रथारोहण कर्म में विनियुक्त हुआ है। तदनुसार जब अश्व अभीष्ट दिशा की ओर चलना प्रारम्भ करदें तब इस मन्त्र द्वारा उनका अभिमन्त्रण किया जाना चाहिये। मन्त्र का **वनस्पति** शब्द रथ का ही वाचक है क्योंकि रथ मुख्यतया काष्ठ-निर्मित होता है। इसके अतिरिक्त **गोभिः सन्नद्धो असि** का अर्थ यदि **बैलों से युक्त** लिया जाय तो भी रथ की ही अभिव्यक्ति होती है क्योंकि रथ में बैल भी जोते जाते थे।

इस मन्त्र के गृह्यविनियोग का समानान्तर विनियोग संहिताओं तथा श्रौत-सूत्रों में दृष्टिगोचर होता है जहाँ अश्वमेध यज्ञ में इसके द्वारा रथ को सम्बोधित किया जाता है।[1]

मा० गृ० (१।१३।७-९) और वा० गृ० (१५।३,४) के अनुसार जब रथ अभीष्ट दिशा में चलने लगे तो निम्नलिखित दो मन्त्रों का उच्चारण किया जाना चाहियेः—

अनु मा यन्तु देवता अनु ब्रह्म सुवीर्यम् ।
अनु क्षत्रं च यद्यशमनु मामेतु यद्यशम् ।। [२०७]
प्रति मा यन्तु देवताः प्रति ब्रह्म सुवीर्यम् ।
प्रति क्षत्रं च यद्बलं प्रति मामैतु यद् बलम् ।। [२०८]

देवता अर्थात् दैवी शक्तियाँ मेरा अनुसरण करें अर्थात् मुझे प्राप्त हों। ब्राह्मण की शक्ति मुझे प्राप्त हो। और जो यश क्षत्रिय को प्राप्त होता है, वह यश मेरे पास आये।। देवता अर्थात् दैवी शक्तियाँ मेरी ओर आयें, ब्राह्मण शक्ति मेरी ओर आये। जो बल क्षत्रिय की ओर जाता है, वह बल मेरे पास आये।।

वा० गृ० में उपरिलिखित मा०गृ० के मन्त्र के सभी स्थलों पर **प्रति** के स्थान पर **उप** पाठ है। ये मन्त्र पूर्ववर्ती साहित्य में अप्राप्य हैं। अतः यह प्रतीत होता है कि विशेष रूप से गृह्य प्रयोग के लिये इनकी रचना की गई। इन मन्त्रों

---

१. ऋ० ६।४७।२६, अथर्व० ६।१२५।१, वा० सं० २९।५२, तै० सं० ४।६।६।५, मै० सं० ३।१६।३, का० सं० अ० ६।१, नि० २।५,९।१२, मा० श्रौ० ९।२।३।१९, बौ० श्रौ० १०।२४।

के अनुसार रथ की गति प्रार्थयिता के प्रति दैवीशक्ति, ज्ञान, क्षत्रियशक्ति आदि की गति की प्रतीक है।

कुछ गृह्यसूत्रों के अनुसार यदि वर-वधू की यात्रा का साधन नौका हो तो नौकारोहण के अवसर पर निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण किया जाना चाहिये[1]:—

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्।
दैवीं नावं स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये॥ [२०६]

स्तोता और याज्ञिक जनों की रक्षक, विस्तीर्ण अथवा विख्यात, दीप्त अथवा स्तुत्य, क्रोध रहित, शोभन सुखवाली, दीनतारहित देवताओं की माता, स्तोताओं और याज्ञिकों की कामनाओं को पूर्ण करने वाली, देव-सम्बन्धिनी, सुन्दर पतवार वाली, निर्दोष तथा नष्ट न होने वाली नाव पर हम अपने अविनाश के लिये आरोहण करें। अभिप्राय यह कि जिस प्रकार समुद्र के जल को पार करने के लिए पुरुष लौकिक नाव पर आरोहण करते हैं, उसी प्रकार संसार की नश्वरता पार करने के लिये हम अदितिरूपी नाव पर आरोहण करें। ह० मि०

पा० गृ० ३।१५।११ के अनुसार इस मन्त्र का उच्चारण नदी पार करते हुए करना चाहिये। केवल **आरुहेम** शब्द के आधार पर शां० गृ० ४।१५।२२ में श्रवणाकर्म के अन्तर्गत शय्याधिरोहण के लिये यह मन्त्र विनियुक्त हुआ है।

नौकारोहण में मन्त्र का विनियोग करने वाले गृह्यकारों को सम्भवतया मन्त्र के **नावम्** शब्द से भ्रान्ति हुई है; परन्तु वास्तव में वह शब्द यहाँ अदिति-रूपी पृथिवी के लिए प्रयुक्त हुआ है। समस्त पूर्ववर्ती साहित्य में भी इस विनियोग का आधार प्राप्त नहीं होता क्योंकि वहाँ अदिति को आहुति प्रदान करते हुए इस मन्त्र[2] के

---

१. शां० गृ० १।१५।१७, आ० गृ० २।६।८, मा० गृ० १।१३।१६; ११।६,१०, कौशिक० ७१।२३; ८६।२६।

२. ऋ० १०।६३।१०, अथर्व० ७।६।३, वा० सं० २१।६, तै० सं० १।५।११।५, मै० सं० ४।१२।४,१४।४, का० सं० २।३,११।१३, का० सं० अ० १।६,४।६, ऐ० ब्रा० १।६।७, तै० आ० १।१३।२, आ० श्रौ० ३।८।१,४।३।२, शां० श्रौ० ५।५।२,६।३।८, का० श्रौ० १६।७।१६, मा० श्रौ० ५।१।१४।२५ (आदित्य को आहुति) आप० श्रौ० १०।६।४—अग्निष्टोम की दीक्षा में यजमान कृष्णमृग के चर्म पर आरोहण करता है। इस विनियोग की तुलना शां० गृ० ४।१५।२२ के विनियोग से की जा सकती है (ऊपर)। दे० मन्त्र सं० ६६१ के पश्चात्।

उच्चारण का विधान किया गया है।

कुछेक गृह्यों में नदी पार करते हुए निम्नलिखित मन्त्र के उच्चारण का निर्देश किया गया है:[1]—

अश्मन्वती रीयते सं रभध्वमुत्तिष्ठत प्र तरता सखाय:।
अत्रा जहाम ये असन्नशेवाः शिवान् वयमुत्तरेमाभि वाजान् ॥ [२१०]

जो तुम विविध खाद्यान्न सम्पन्न हो, वह तुम घर की ओर चलो। तुम नाव पर आरोहण करो और नदी पार करो। हे सखि (वधू) इस नदी में जो असुख होते हैं, उनको हम छोड़ दें और छोड़कर सुखपूर्ण पूजित अर्थात् भंवर आदि दोषों से रहित मार्गों से हम नदी पार करें। ह० मि०[2]

आ० गृ० १।८।२,३ में मन्त्र के दोनों भागों को विभाजित करके पृथक् विनियुक्त किया गया है। पूर्वार्ध के द्वारा नौकाधिरोहण का और उत्तरार्ध के द्वारा नदी को पार करने का विधान है।

यद्यपि यह मन्त्र सभी संहिताओं में विद्यमान है[3], तथापि इसके विनियोग का स्रोत श० ब्रा० १३।८।४।३ प्रतीत होता है। वहाँ यह विधान है कि पितृमेध कर्म में मृत व्यक्ति का दाह संस्कार करके यजमान तीन क्यारियाँ खोदकर उन्हें जल और दूध से भरता है, उनमें कुछ पत्थर डालता है और जब घर लौटता हुआ उन्हें लाँघता है तो इस मन्त्र का उच्चारण करता है। मन्त्र का ऐसा ही प्रयोग तै० आ० (६।३।२) और का० श्रौ० (२१।४।२१) में भी किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि मन्त्र के अश्मन्वती शब्द से सङ्गति बिठाने के लिये ही क्यारियों में पत्थर डालने की क्रिया का विधान किया गया है। आ० गृ० ४।६।१३ में इस मन्त्र का विनियोग दाह-संस्कार के पश्चात् शान्तिकर्म में किया गया है और इस प्रकार वह उपर्युक्त श्रौत कर्म के निकटतर बैठता है। परन्तु आ० गृ० में इसका सम्बन्ध क्यारियाँ पार करने से न होकर पत्थर के स्पर्श से है। शां० श्रौ० (४।१५।५) में निर्देश है कि घर लौट कर यजमान एक पात्र जल से भरता है, उसे सद्य:प्राप्त गोबर पर रखता है और फिर इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए अनुलिप्त पत्थर, अग्नि तथा उदपात्र का स्पर्श करता है। इन दोनों विनियोगों में भी ऐसा प्रतीत होता है कि अश्मन्वती शब्द

---

१. शां० गृ० १।१५।१८, का० गृ० २६।१२, कौशिक० ७१।२४।
२. इस व्याख्या में हरदत्त मिश्र ने अत्यधिक व्यत्यय का आश्रय लिया है, अतः यह दूराकृष्ट हो गई है।
३. ऋ० १०।५३।८, वा० सं० ३५।१०, तु० अथर्व० १२।२।२६।

का प्रमुख प्रभाव है ।

आप० गृ० और बौ० गृ० में यह विधान है कि यदि मार्ग में नदी पार करनी पड़े तो वर को पहले निम्नलिखित में से प्रथम मन्त्र द्वारा नौका का अभिमन्त्रण करना चाहिये और नदी पार करके द्वितीय मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये[1]:—

अयं नो मह्याः पारं स्वस्ति नेषद्वनस्पतिः ।
सीरा नः सुतरा भव दीर्घायुत्वाय वर्चसे ॥ [२११]
अस्य पारे निर्ऋथस्य जीवा ज्योतिरशीमहि ।
मह्या इन्द्र स्वस्तये ॥ [२१२]

यह वनस्पति अर्थात् नौका (क्योंकि नौका काष्ठनिर्मित होती है) हमें कल्याणपूर्वक पृथ्वी के पार ले जाये । हे नदी, तू दीर्घ आयु और तेज के निमित्त सरलता से पार होने योग्य हो जा ॥ हे इन्द्र, पृथ्वी के पार जीवनसहित हम इस गतिशील (सूर्य) की ज्योति प्राप्त करें ॥

प्रथम मन्त्र का अधिकांश तथा द्वितीय मन्त्र का प्रथम पाद पूर्ववर्ती ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं है । प्रथम मन्त्र का चतुर्थ पाद पूर्ववर्ती ग्रन्थों में बहुत से मन्त्रों का चतुर्थ पाद है । द्वितीय मन्त्र का द्वितीय पाद ऋ० ७।३२।२६ से और तृतीय पाद ऋ० ६।५७।६ से उद्धृत है । विभिन्न मन्त्रों के अंशों के योग से नये मन्त्र-सर्जन की परम्परा गृह्यसूत्रों में अत्यधिक प्रचलित है । अथवा यह भी सम्भव है कि इस प्रकार के मन्त्र किसी ऐसी संहिता से उद्धृत हों जो अब उपलब्ध नहीं ।

यदि वधू प्रस्थान के समय रोदन करे

कुछ गृह्यसूत्रों द्वारा[2] प्रस्थान के समय वधू के रोदन की अवस्था में निम्नलिखित मन्त्र (ऋ० १०।४०।१०, अथर्व० १४।१।४६) के उच्चारण का विधान किया गया है:—

जीवं रुदन्ति वि मयन्ते अध्वरे दीर्घामनु प्रसितिं दीधियुर्नरः ।
वामं पितृभ्यो य इदं समेरिरे मयः पतिभ्यो जनयः परिष्वजे ॥ [२१३]

इस सुन्दर वधू को इसके जिन माता पिता भ्राता आदि बन्धुओं ने भावी सन्तान की अभिलाषा से पितृरूप मुझ पति को एक साथ प्रदान

१. आप० गृ० २।६।१,३ (मं० पा० १।६।१३-१४), बौ० गृ० ४।३।६, का० गृ० २६।१२ (केवल प्रथम) ।
२. आ० गृ० १।८।४, शां० गृ० १।१५।२, आप० गृ० २।४।६ (मं० पा० १।१।६), बौ० गृ० १।६।२६,४।१।११, कौशिक० ७६।३० ।

किया है जिससे कि यह सुख प्राप्त करे, वे इस सुखजीविनी वधू को रुलाएँ नहीं परन्तु सुखी करें। वे बन्धु श्रौत स्मार्त यज्ञों में दीर्घ बन्धन अर्थात् दीर्घ अनुष्ठान का आनुपूर्व्य से वर्धन करें ॥[1] ह०मि०

आप० गृ० में प्रस्थान के अवसर पर इसके उच्चारण का विधान नहीं है। तदनुसार पाणिग्रहण के पश्चात् यदि वधू अथवा उसके सम्बन्धियों का रोदन आदि कोई अपशकुन घटे तो इसका उच्चारण किया जाना चाहिये। तथापि इसका सम्बन्ध रोदन से ही है। मं० पा० में **जीवम्** के स्थान पर **जीवाम्** पाठ है और इसी को साक्षी मानकर ऋ० मन्त्र में हरदत्त मिश्र ने लिङ्गव्यत्यय माना है।[2]

अथर्व० में यह मन्त्र विवाह सूक्त में विद्यमान है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि ऋ० के **मयन्ते** के स्थान पर अथर्व० में **नयन्ति** पाठ है। प्रस्थान के प्रसंग में यह पाठ अधिक संगत है और इसी आधार पर यह मन्त्र मूल रूप में आथर्वण रचना प्रतीत होती है और ऐसा लगता है कि उक्त गृह्य-कर्म के लिये ही इसकी रचना की गई होगी।

मार्ग में विभिन्न स्थानों पर उच्चारणार्थ मन्त्र

मार्ग में दुर्भाग्य के निवारणार्थ यह विधान है कि जब शुभ स्थान, वृक्ष, चतुष्पथ आयें तो निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण किया जाना चाहिए:[3]—

मा विदन् परिपन्थिनो य आसीदन्ति दम्पती।
सुगेभिर्दुर्गमतीतामप द्रान्त्वरातयः॥ [२१४]

जो पिशाचादि मार्ग में कष्ट देने के लिये आते हैं, वे मार्गरोधक मार्ग में जाते हुए दम्पती को न जानें और सुगम मार्गों से ये दोनों दुर्गम स्थान पार करें। हमारे शत्रु मार्ग से पृथक् होकर लड़खड़ा जायें॥ ह०मि०

यह मन्त्र ऋ० और अथर्व० में विद्यमान है।[4] आप०गृ० २।५।२४ (मं० पा० १।६।१०) के अनुसार नव दम्पती के रथारोहण करते समय इसका उच्चारण किया

---

१. अत्यधिक व्यत्ययों को मानने से अर्थ दूराकृष्ट हो गया है।
२. जीवम् अत्रापि लिङ्गव्यत्ययः। जीवामित्यर्थः। तथा च तैत्तिरीयाणां पाठः जीवां रुदन्तीति। सुखजीविनीमिमाम्—।
३. आ० गृ० १।८।६, गो० गृ० २।४।२ (मं० ब्रा० १।३।१२) कौशिक० ७७।३, शां० गृ० १।१५।१४ (केवल चतुष्पथों पर)।
४. ऋ० १०।८५।३२, अथर्व० १४।२।११, १२।१।३२, बृ० दे० ७।१।३३, तु० प्रथम पाद—वा० सं० ४।३४।

जाना चाहिये। का० गृ० (२६।८) के अनुसार दम्पती के रथ में आसीन होने के पश्चात् उसके चलने पर इसका उच्चारण किया जाना चाहिये। इसी गृह्य में अन्यत्र (२५।५) भी इस मन्त्र का विनियोग हुआ है। तदनुसार वधू के स्नान और अलंकृत होने के पश्चात् जब उसका पिता या भ्राता यज्ञ स्थल पर उसको लाता है उस समय वह इसका उच्चारण करता है।

निर्बाध मार्ग की प्रार्थनारूप यह मन्त्र यात्रा के विविध प्रसङ्गों में विनियुक्त किया गया है। का० गृ० २५।५ के विनियोग के आधार में भी गमन क्रिया प्रतीत होती है।

शां० गृ० (१।१५।१५) में विधान है कि जब वे लोग श्मशान भूमि के पास से निकलें तो निम्नलिखित मन्त्र (ऋ० १०।८५।३१, अथर्व० १४।२।१०) का उच्चारण किया जाना चाहिये :—

ये वध्वश्चन्द्रं वहतुं यक्ष्मा यन्ति जनादनु।
पुनस्तान् यज्ञिया देवा नयन्तु यत आगताः॥ [२१५]

जो यक्ष्मा आदि रोग वधू के चन्द्रमा जैसे उज्ज्वल रथ का अनुसरण करते हैं और उसमें आसीन जनों को (ग्रहण करते हैं), पूजनीय देवता उन्हें फिर वहीं ले जायें जहाँ से वे आये थे।

बौ० गृ० (१।५।३) और भा० गृ० १।१८ के अनुसार जब रथ का वाहन किया जा रहा हो उस समय इसका उच्चारण किया जाना चाहिये। आप० गृ० २।५।२३ (मं०पा० १।६।६) इसका विनियोग रथारोहण कर्म में ही करता है। रथ पर आसीन व्यक्तियों के लिये सम्भावित यक्ष्मा आदि रोगों के निवारणार्थ प्रार्थना होने के कारण यह मन्त्र विभिन्न प्रकार से रथ से सम्बद्ध किया गया है।

मा०गृ० और वा०गृ० में विधान है कि मार्ग में जब गाँव, एकान्त वृक्ष, श्मशान भूमि, चतुष्पथ अथवा तीर्थ पड़े तो निम्नलिखित पाँच मन्त्रों[1] में से क्रमशः एक-एक

---

१. मा० गृ० १।१३।१०-१४, वा० गृ० १५।५-६, इसमें प्रथम वाक्य का मन्त्र सहित तथा पञ्चम वाक्य का अभाव है और समान स्रोत वाले निम्नलिखित वाक्य तथा मन्त्र का विनियोग उस प्रसङ्ग में किया गया है जब यात्री यात्रा के मध्य कुछ पीता है:—

नमो रुद्राय पात्रसदे॥ [२२१]
ये अन्नेषु विविध्यन्ति पात्रेषु पिबतो जनान्॥ [२२२]

पात्र में प्रतिष्ठित रुद्र को नमस्कार। जो पात्रों में पीते हुए जनों को अन्न के विषय में व्यथित करते हैं। दे० पा०

का प्रसंगानुसार उच्चारण किया जाना चाहिये :—

नमो रुद्राय ग्रामसदे ॥ [२१६]
नमो रुद्रायैकवृक्षसदे ॥ [२१७]
नमो रुद्राय श्मशानसदे ॥ [२१८]
नमो रुद्राय चतुष्पथसदे ॥ [२१९]
नमो रुद्राय तीर्थसदे ॥ [२२०]

ग्राम में प्रतिष्ठित रुद्र को नमस्कार ॥ एकान्त वृक्ष पर प्रतिष्ठित रुद्र को नमस्कार ॥ श्मशान में प्रतिष्ठित रुद्र को नमस्कार ॥ चतुष्पथ पर प्रतिष्ठित रुद्र को नमस्कार ॥ तीर्थ में प्रतिष्ठित रुद्र को नमस्कार ॥

नमस्कार रूप इन वाक्यों के साथ पाँच मन्त्र भी संलग्न किये गये हैं। उन्हें केवल प्रतीकेन उद्धृत किया गया है। जिस क्रम में उन्हें उपरिलिखित वाक्यों के साथ संलग्न किया जाना चाहिये उसी क्रम में नीचे उन्हें उद्धृत किया जाता है :—

इमा रुद्राय तवसे कपर्दिने क्षयद्वीराय प्रभरामहे मतीः
यथा शमसद् द्विपदे चतुष्पदे विश्वं पुष्टं ग्रामे अस्मिन्ननातुरम् ॥ [२२३]
ये वृक्षेषु शष्पिञ्जरा नीलग्रीवा विलोहिताः ।
तेषां सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥ [२२४]
ये भूतानामधिपतयो विशिखासः कपर्दिनः । तेषां··· [२२५]
ये पथां पथिरक्षय ऐडमृदा यव्युधः । तेषां··· [२२६]
ये तीर्थानि प्रचरन्ति सृगवन्तो निषङ्गिणः । तेषां··· [२२७]

वीरों के निवास स्थान, वृद्धि से युक्त, जटाधारी रुद्र के प्रति हम इन स्तुतियों का उच्चारण करते हैं। जिससे कि आक्रमण होने की अवस्था में हमारे दो पाँव वालों (मनुष्यों) और चार पाँव वालों (पशुओं) के लिए सुख हो, और जिससे कि इस ग्राम में सभी प्राणी स्वस्थ और दुःख रहित हों ॥१॥ ह० मि० । वृक्षों में अवस्थित जो कोमल घास के समान भूरे, नीलकण्ठ और अत्यन्त रक्त हैं, उन प्रत्यञ्चासहित धनुष वाले रुद्रों के धनुषों को हम अति दूर स्थित होकर स्तुति द्वारा शिथिल करते हैं ॥२॥ जो पृथ्वी, जल, आकाश आदि भूतों के रक्षक, मुण्डित होते हुए भी जटाधारी हैं···॥३॥ जो आदित्य रूप मार्ग रक्षक, अन्न को कोमल करने वाले और संग्राम में सम्मिलित होने वाले हैं···॥४॥ जो तपस्या की अतिशय सिद्धि के निमित्त, मालाधारी होकर और खड्ग हाथ में लेकर तीर्थों में सञ्चरण करते हैं···॥५॥ दे० पा०

का० गृ० ८।४ में व्रतारम्भ के अवसर पर रुद्रों को स्थालीपाकाहुति

प्रदान करने के लिये अन्तिम चार मन्त्रों का प्रयोग किया गया है। नव-दम्पती की यात्रा के प्रसंग में अपनी शाखा के पाठ का अनुसरण करते हुए का०गृ० २६।७,६,१२ में चतुर्थ, द्वितीय और पञ्चम मन्त्रों का विनियोग किया गया है।

पाँचों के पाँचों मन्त्र केवल यजुर्वेद संहिताओं में उपलब्ध होते हैं।[1] प्रथम मन्त्र ऋ० १।११४।१ में भी है। यहाँ इस मन्त्र का ऋग्वेदीय पाठ ही उद्धृत किया गया है क्योंकि उसमें छन्द की पूर्णता है। वा० सं० में भी वही पाठ है। अन्य संहिताओं में उत्तरार्ध में **यथा** के पश्चात् **नः** पाठ है जिससे कि जगती छन्द में एक अक्षर का आधिक्य हो जाता है। चतुर्थ मन्त्र में का० सं० में **पथाम्** के स्थान पर **पथीनाम्** पाठ के कारण भी छन्द में एक अक्षर का आधिक्य होता है। **ऐडमृदः** (अन्नसमूह को कोमल बनाने वाले) के स्थान पर मै० सं० में ऐलमृडाः (अन्न से प्रसन्न होने वाले) पाठ है,[2] परन्तु यह बहुत अच्छा नहीं है क्योंकि मन्त्र में ऋषि का उद्देश्य रुद्र की शामक शक्तियों का वर्णन है। इस प्रकार से वा० सं० और तै० ब्रा० का **ऐलबृदः** पाठ भी प्रशस्य है क्योंकि इसकी व्याख्या **ऐलं बिभ्रति इति ऐलभृतः** (अन्न धारण करने वाले) है। परन्तु यहाँ **बृदः** को **भृतः** का रूपान्तर स्वीकार करने में कठिनाई होती है।

श्रौत कर्मकाण्ड में रुद्र को अवदान आहुतियाँ देने के प्रसङ्ग में उच्चारण की जाने वाली शतरुद्रिय स्तुति में इन मन्त्रों का समावेश किया गया है।[3] अतः इनके गृह्य प्रयोग में श्रौत-प्रभाव लक्षित नहीं होता। प्रस्तुत प्रसङ्ग में गृह्यसूत्रों में इनके विनियोग का कारण सम्भवतया यह है कि रुद्र केवल दिव्य रक्षक ही नहीं, अपितु दिव्यभिषक् भी माने जाते हैं।[4]

---

१. प्रथम मन्त्र—वा० सं० १६।४८, तै० सं० ४।५।१०।१, मै० सं० २।६।६, का० सं० १७।१६, २-५ मन्त्र—वा० सं० १६।५८-६१, तै० सं० ४।५।११।१, मै० सं० २।६।६, का० सं० १७।१६ (द्वितीय मन्त्र—का० सं० में **वृक्षेषु** के स्थान पर **वनेषु** और तै० सं० में **शष्पिञ्जराः** के स्थान पर **सस्पिञ्जराः** पाठ है। पंचम मन्त्र—तै० सं० और का० सं में **सृगवन्तः** के स्थान पर **सृकावन्तः** और वा० सं० में **सृकाहस्ताः** पाठ है। चतुर्थ मन्त्र में वा० सं० में **यव्युधः** के स्थान पर **आयुर्युधः** पाठ है और मै० सं० में **वोयुधः**।

२. नॉन ऋग् मन्त्रज् इन मैरिज, पृ० २६५, सं० २६४—इसका यह अर्थ भी सम्भव है —जो अन्न से हमें सुखी करते हैं।

३. तु० आप० श्रौ० १७।११।३-६ बौ० श्रौ० १०।४८, मा० श्रौ० ६।२।४, का० श्रौ० १८।१।१-५।

४. ऋ० २।३३।४ भिषक्तमम् त्वा भिषजां शृणोमि।

का० गृ० २६।८ के अनुसार जब वर आदि यात्री श्मशान भूमि के पास से निकलें तो उन्हें निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये—

ये श्मशानेषु पुण्यजनाः शावास्तेषु शेरते ।
तत्रैव ते रमन्तां मा वधूरन्ववेक्षत ॥ [२२८]

जो पुण्य जन, यक्ष और जो प्रेत उन श्मशानों में निवास करते हैं, वे वहीं रमण करें । वे वधू को न देखें ।दे० पा०

इस मन्त्र का स्रोत अज्ञात है । सम्भवतया यह केवल गृह्यपरम्परा का मन्त्र है ।

का० गृ० २६।१।२ में विधान है कि तीर्थ के निकट पहुँचने पर उपर्युक्त ये तीर्थानि इत्यादि मन्त्र के अतिरिक्त निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण भी किया जाना चाहिये :-

ता मन्दमाना मनुषो दुरोण अधत्तं रयिं सहवीरं वचस्यवे ।
कृतं तीर्थम् सुप्रपाणं शुभस्पती स्थाणुं पथेष्ठामप दुर्मतिं हतम् ॥ [२२६]

हे अश्विनो, हमारे द्वारा स्तूयमान आप दोनों मनुष्य के घर में पुत्र सहित धन स्थापित कीजिए और शोभन वाणी की अभिलाषा करने वाले के लिए तीर्थ को सरलता से अवगाहन-योग्य तथा स्थिर सम्पत्ति वाला बनाइए । हे शुभ पालक देवो, इस मनुष्य की सुरूढ दुर्बुद्धि का नाश कीजिए । दे० पा०

बौ० गृ० और आप० गृ० के अनुसार तीर्थों के अतिरिक्त स्तम्भों और चतुष्पथों के पास से निकलते हुए भी इस मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये ।[1]

स्वल्प परिवर्तनों सहित यह ऋ० (१०।४०।१३) से उद्धृत किया गया है ।[2] गृह्यसूत्रों में ऋ० के मन्दसाना के स्थान पर मन्दमाना तथा आ धत्तम् के स्थान पर अधत्तम् पाठ है । पूरवर्ती पाठ से अर्थ में कठिनाई उत्पन्न होती है । यह कठिनाई देवपाल द्वारा भी अनुभव की गई क्योंकि वह अ को आ का छान्दस रूप बताता है (छान्दसं ह्रस्वत्वम्) ।

---

१. बौ० गृ० १।५।६, आप० गृ० २।५।२५ (मं० पा० १।६।१२)

२. तु० निम्नलिखित अथर्व० १४।२।६ :—

सा मन्दसाना मनसा शिवेन रयिं धेहि सर्ववीरं वचस्यम् ।
सुगं तीर्थं सुप्रपाणं शुभस्पती स्थाणुं पथिष्ठामप दुर्मतिं हतम् ॥ [२३०]

मन्त्र के देवता अश्विन् हैं। अन्य अनुग्रहों के साथ-साथ उनसे तीर्थं को सरलता से अवगाहन योग्य बनाने की प्रार्थना भी की गई है। यह प्रार्थना ही सम्भवतया इसके गृह्य विनियोग का आधार है।

यात्रा के मध्य जलाशय पार करना

मा० गृ० १।१३।१५ और वा० गृ० १५।१० में विधान है कि यदि मार्ग में कोई जलाशय पार करना हो तो सर्वप्रथम निम्नलिखित मन्त्रों का[1] उच्चारण करते हुए तीन जलाञ्जलियां अर्पित करनी चाहियें[1]:—

समुद्राय वैणवे सिन्धूनां पतये नमः ॥ [२३१]
नमो नदीनां सर्वासां पत्ये ॥ [२३२]
विश्वाहा जुषतां विश्वकर्मणामिदं हविः स्वः स्वाहा ॥ [२३३]

नदियों के पति, वैणु (?) समुद्र को नमस्कार है ॥१॥ सभी नदियों के पति को नमस्कार ॥२॥ विश्वकर्माओं की यह आहुति सदा (उनकी) सेवा करे ॥३॥

वा गृ० में प्रथम मन्त्र में **वैणवे** के स्थान पर **वयुनाय** पाठ है। द्वितीय मन्त्र में **नमः** का अभाव है, **पत्ये** के स्थान पर **पित्वे** पाठ है और सम्भवतया तृतीय मन्त्र के **जुषतां विश्वकर्मणाम्** के प्रभाव से **जुहुता विश्वकर्मणे** जोड़ा गया है। इसमें तृतीय मन्त्र यह है—**विश्वहादाभ्यं हविः**। यह पाठ भ्रष्ट प्रतीत होता है। ये मन्त्र पूर्ववर्ती साहित्य में अप्राप्य हैं।

शां० गृ० ४।१४।२ में जलाशय पार करने के पृथक् कर्म के अन्तर्गत उदक-अञ्जलि के निमित्त निम्नलिखित तीन मन्त्र उद्धृत किये गये हैं :—

समुद्राय वैणवे नमः ॥ [२३४]
वरुणाय धर्मपतये नमः ॥ [२३५]
नमः सर्वाभ्यो नदीभ्यः ॥ [२३६]

वैणु समुद्र को नमस्कार। धर्मपति वरुण को नमस्कार। सभी नदियों को नमस्कार।

जलाभिमन्त्रणार्थं इसमें एक अन्य मन्त्र का विनियोग किया गया है :—

सर्वासां पित्रे विश्वकर्मणे दत्तं हविर्जुषताम् ॥ [२३७]

सबके पिता विश्व कर्मा को प्रदत्त आहुति का वह आनन्द ले।

---

१. तु० का० सं० ३४।१९, आप० श्रौ० १४।१६।१ (अन्तिम मन्त्र)

इस मन्त्र में उपरिलिखित मा० गृ० के द्वितीय और तृतीय मन्त्रों का सम्मिश्रण प्रतीत होता है। विश्वकर्मा अखिल विश्व का स्रष्टा है, इसलिये सम्भवतया जल के साथ भी उसका सम्बन्ध यहाँ स्वीकार किया गया है।

मा० गृ० १।१३।१६ के अनुसार जलाशय पार करते समय कर्ता को निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए तीन बार आचमन करना चाहिये :—

अमृतं वा आस्ये जुहोम्यायुः प्राणेऽप्यमृतं ब्रह्मणा सह मृत्युम् तरति ।
प्रासहादिति रिष्टिरिति मुक्तिरिति मुक्षीयमाणः सर्वं भयं नुदस्व स्वाहा ॥
[२३८]

मैं (अपने) मुख में अमृत की आहुति देता हूँ, प्राण में भी आयु और अमृत की आहुति देता हूँ, (मनुष्य) ब्रह्म-(विद्या) के द्वारा मृत्यु को पार करता है। शक्ति, रोग, मुक्ति, मुक्त किया जाता हुआ तू सारे भय को दूर कर॥

परन्तु वा० गृ० १५।११ में भी इसी मन्त्र को इस प्रकार तीन भागों में विभाजित किया गया है:—

अमृतमास्ये जुहोम्यायुः प्राणे प्रतिदधामि ॥ [२३९]
अमृतं ब्रह्मणा सह मृत्युं तरेम ॥ [२४०]
प्रासहादितीष्टिरस्यदितिरेव मृत्युन्धयम् ॥ [२४१]

यह रूप अधिक स्पष्ट है। सम्भवतया तीन बार आचमन को ध्यान में रखते हुए ही इस मन्त्र का यह तीन भागों में विभाजन किया गया है। 'यह मन्त्र केवलमात्र मानव शाखा में है' ऐसा निर्णय करते हुए किसी प्रकार डा० पिल्ले का ध्यान वाराह के इस प्रयोग की ओर नहीं गया।[1] तथापि पूर्ववर्ती साहित्य में यह अप्राप्य है।

यदि रथ भग्न हो जाये

यदि यात्रा के मध्य रथ भग्न हो जाये तो होम करके रथ की मरम्मत की जानी चाहिये। यह भी विधान है कि इस अवसर पर वैवाह्य अग्नि का पुनराधान किया जाना चाहिये। वधू वर का स्पर्श करती है और वह आहुति अर्पित करता है। इन आहुतियों के साथ उच्चारणार्थ विभिन्न गृह्यसूत्रों में विभिन्न मन्त्र दिये गये हैं।

---

१. नांन ऋ० मन्त्रज् इन मैरिज, पृष्ठ २६७, सं० २६९ ।

आप० गृ० २।६।४ (मं० पा० १।७।१) में प्रथम आहुति के साथ निम्नलिखित मन्त्र[1] दिया गया है:—

य ऋते चिदभिश्रिषः पुरा जत्रुभ्य आतृदः ।
सन्धाता सन्धिं मघवा पुरूवसुर्निष्कर्ता विह्रुतं पुनः ॥ [२४२]

(हे रथ) जो, तू बन्धनों के बिना, बिना किसी आघात के पहले ही नष्ट हो गया है, उस तुझे जोड़ने वाला बहुत धनवान् इन्द्र जोड़कर फिर से अविकल गति के योग्य बना देगा। दे० पा०

क्योंकि उपरिलिखित अथर्व० के पाठ का सभी गृह्यसूत्रों में पूर्ण अनुसरण किया गया है, अतः स्पष्ट है कि इसकी मूल रचना गृह्यविनियोग के लिये हुई होगी। ऋ० में **पुरूवसुर्निष्कर्ता के स्थान पर पुरूवसुरिष्कर्ता** पाठ है।

का० गृ० २७।२ के अनुसार रथ के किसी अङ्ग के भग्न हो जाने पर आहुति के बिना ही इस मन्त्र का उच्चारण किया जाना चाहिये। गो० गृ० २।४।३ में विधान है कि जब रथ के भग्न अङ्ग के स्थान पर जोड़े गये नये अङ्ग का आज्यशेष से अनुलेप किया जाये, उस समय इसका उच्चारण किया जाना चाहिये। परन्तु मन्त्रब्राह्मण में इस मन्त्र का अनस्तित्व आश्चर्यजनक है। और फिर भी सूत्र में इसे प्रतीक द्वारा उद्धृत किया गया है। सम्भवतया इसका कारण गो० गृ० के वेद साम० में इसका विद्यमान होना है। कौशिक० ७७।७में नवदम्पती की यात्रा के मध्य यान के प्रक्षालनार्थ इस मन्त्र का विनियोग किया गया है। कौशिक० ५७।७ के अनुसार यदि उपनयन संस्कार में छात्र का दण्ड टूट जाये तो इसका उच्चारण किया जाना चाहिए। शां० गृ० ५।८।४ में मृत्तिकानिर्मित होम-पात्र के टूट जाने पर प्रायश्चित्त के रूप में इसके उच्चारण का विधान है। उपर्युक्त सभी गृह्यविनियोगों में यह बात ध्यान देने योग्य है कि सभी स्थलों पर किसी पदार्थ के भग्न होने को दृष्टि में रखा गया है। गृह्यविनियोग के इस आधार की पुष्टि इसके श्रौत विनियोग से भी होती है। श्रौतसूत्रों में इसका विनियोग उखा अथवा महावीर पात्र के टूटने पर उसके प्रायश्चित्त में किया गया है।[2] अर्थ के अनुसार भी किसी भी पदार्थ के भग्न होने की स्थिति में इस मन्त्र का साधारणतया विनियोग किया जा सकता है।

आप० गृ० २।६।२ (मं० पा० १।७।२) के अनुसार द्वितीय आहुति के साथ

---

१. ऋ० ८।१।१२, साम० १।२४४, अथर्व० १४।२।४७, तां० ब्रा० ९।१०।१, पं० ब्रा० ९।१०।१, तै० ब्रा० ४।२०।१-२।
२. मा० श्रौ० ३।८।२, शां० श्रौ० १३।१२।१३, का० श्रौ० १५।५।३०।

निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण किया जाना चाहिये:[1]—

इडामग्ने पुरुदंसं सनिं गोः शश्वत्तमं हवमानाय साध ।
स्यान्नः सूनुस्तनयो विजावाऽग्ने सा ते सुमतिर्भूत्वस्मे ।। [२४३]

हे अग्ने, होम करने वाले अथवा तुम्हारा आह्वान करने वाले यजमान के लिये बहुत कर्म करने योग्य अर्थात् बहुत सिद्धि योग्य गौएँ अर्थात् पशुधन प्रदान करने वाला अविच्छिन्न अन्न प्राप्त कराओ। हमारे पुत्र पौत्र आदि सन्तान अविच्छिन्न हो। हे अग्ने हमारे प्रति तुम्हारी इस प्रकार की शोभन बुद्धि रहे। दे० पा०

पूर्ववर्ती वैदिक साहित्य में गार्हपत्य-चयन के अन्तर्गत एक इष्टका के आधान में इस मन्त्र का विनियोग किया गया है।[2] इस प्रकार से श्रौत और गृह्य दोनों ही कर्मों में मन्त्र का सम्बन्ध अग्नि से है—और मन्त्र में सामान्य सुख समृद्धि के लिये अग्नि से प्रार्थना भी की गई है। परन्तु का० गृ० २८।५ में नव-गृह-प्रवेश के पश्चात् जब नवोढा की गोद में एक बालक को बैठाकर उसे फल उपहार में दिये जाते हैं उस समय इसके उच्चारण का विधान है। सुख-समृद्धि की प्रार्थना उचित होते हुए भी उक्त कर्म में अग्नि को सम्बोधित करने का विशेष औचित्य प्रतीत नहीं होता। ऐसा प्रतीत होता है कि इस विनियोग में सूत्रकार की दृष्टि प्रमुखतया **सूनुः** और **तनयः** शब्दों पर रही होगी क्योंकि बालक को गोद में बिठाने की क्रिया भी पुत्र-प्राप्ति की अभिलाषा का प्रतीक है। मां० गृ० २।८।७ के अनुसार **अष्टका** के अन्तर्गत अग्नि स्विष्टकृत् को आहुति प्रदान करते हुए इसका उच्चारण किया जाना चाहिये। का० गृ० ४७।१३ में भी पाकयज्ञों के वर्णन में स्विष्टकृत् आहुति में इसका विनियोग किया गया है। तदनुसार उत्तरार्ध में **भूत्वस्मे** के स्थान पर **भूदस्मे** पाठ है। सम्पादक के अनुसार **भूत्वस्मे** चारायणीय शाखा का पाठ है।[3]

पा० गृ० १।१०।१ में इस प्रसङ्ग में दो मन्त्रों द्वारा दो आहुतियाँ अर्पित करने का विधान है। प्रथमाहुति के साथ निम्नलिखित मन्त्र दिया गया है:—

इह रतिरिह रमध्वमिह धृतिरिह स्वधृतिः स्वाहा ।। [२४४]

---

१. ऋ० ३।१।२३, ५।११, ६।११, ७।११, १५।७, २२।५, २३।५।
२. वा० सं० १२।५१, तै० सं० ४।२।४।३, का० सं० १६।११, मै० सं० २।७।११, श० ब्रा० ७।१।१।२७, आ० श्रौ० ३।५।६, आप० श्रौ० १६।१४।६, शां० श्रौ० ५।१६।६, का० श्रौ० १७।१।११, मा० श्रौ० ५।१।५।३३।
३. लौ० गृ० द्वितीय खण्ड, पृ० १९८, पा० टि० १।

यहाँ सुख है, यहाँ रमण करो, यहाँ स्थिरता है, यहाँ अपनी स्थिरता है।

पूर्ववर्ती साहित्य में इसके अनेक पाठ-भेद हैं। मै० सं० में इसका अधोलिखित पाठ उपलब्ध होता है:—

इह धृतिरिह स्वधृतिरिह रम इह रमन्ताम् ॥ [२४५]

यहाँ स्थिरता है, यहां अपनी स्थिरता है, यहाँ सुख है, यहाँ सब रमण करें।

तै० सं० में निम्नलिखित पाठ है:—

इह धृतिः स्वाहेह विधृतिः स्वाहेह रन्तिः स्वाहेह रमतिः स्वाहा ॥ [२४६]

वा० सं० में **इह रतिरिह रमध्वम्** (२४४) के स्थान पर इह रन्तिरिह रमताम् पाठ है। ऐ० ब्रा० में पाठ वा० सं० के अनुरूप है, केवल रन्तिः के स्थान पर रमः का भेद है। जहाँ तक इसके विनियोग का सम्बन्ध है समस्त श्रौत साहित्य को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। एक वर्ग में अश्वमेध यज्ञ के अन्तर्गत यजमान और अध्वर्यु द्वारा अश्व के कान में इसके उच्चारण का विधान है।[1] द्वितीय वर्ग में द्वादशाह अथवा गवामयन याग के दसवें दिन सत्रोत्थान के अवसर पर गार्हपत्य अग्नि में एक आहुति डालते समय इसके उच्चारण का निर्देश किया गया है।[2] गृह्यसूत्रों में भी विविध पाठों सहित विविध प्रसङ्गों में इस मन्त्र का विनियोग किया गया है। गो० गृ० के अनुसार वर-वधू के पति-गृह पहुँचने पर जब उसकी गोद में बिठाया गया बालक उठ जाता है तो वह इसका उच्चारण करती हुई आठवीं धृति आहुति का अनुष्ठान करती है।[3] जै०गृ०१।२२ के अनुसार इस आहुति का अनुष्ठान वर करता है। हि०गृ० और आग्नि०गृ० दोनों में ही[4] इस मन्त्र को समावर्तनके अन्तर्गत रथ

---

१. वा० सं० १२।१६, तै० सं० ७।१।१२।१, का० सं० अ० १।३, मै० सं० ३।१२।४, श० ब्रा० १३।१।६।२, का० श्रौ० २०।२।६, आप० श्रौ० २०।५।६।

२. वा० सं० ८।५१, श० ब्रा० ४।६।९।८, ऐ० ब्रा० ५।२२।१०, का० श्रौ० १२।४।६, आप० श्रौ० २१।९।१३, ला० श्रौ० ३।८।१२, जै० ब्रा० ४।३०४।

३. गो० गृ० २।४।१०, (मं० ब्रा० १।३।१४)—इह धृतिरिह स्वधृतिरिह रन्तिरिह रमस्व मयि धृतिर्मयि स्वधृतिरिह रमो मयि रमस्व ॥

४. हि० गृ० १।१२।२—इह धृतिरिह विधृतिरिह रमो रमताम् ॥ आग्नि० गृ० १।४।१।

मयि धृतिं मयि विधृतिं मयि स्वधृतिं मयि रन्तिं मयि रमतिं मयि पुष्टिं पुष्टिपतिर्दधातु ॥ [२४७]

से सम्बद्ध किया गया है। हि० गृ० के अनुसार जिस रथ पर स्नातक गांव को जाता है, उस पर आरोहण करते हुए उसे इसका उच्चारण करना चाहिए। आग्नि० गृ० के अनुसार इसका उच्चारण उस स्थिति में किया जाना चाहिये यदि रथ चलते हुए शब्द करे। मा० गृ० (१।१।२२) और वा० गृ० (५।३७) ने मै० सं० के पाठ का अनुसरण करते हुए उपनयन के अन्तर्गत सन्ध्या के समय अग्नि का उपस्थान करने के पश्चात् छात्र द्वारा अपने हृदय देश, स्कन्ध अथवा ग्रीवा का स्पर्श करने की क्रिया में इसका विनियोग किया है।

इसके पश्चात् इस मन्त्र का सर्वाधिक प्रयोग वृषोत्सर्ग कर्म में गौओं के मध्य प्रज्वलित अग्नि में आज्याहुति डालने के लिये किया गया है। इस प्रसङ्ग में शां० गृ० ३।११।४ में मन्त्र को निम्नलिखित दो भागों में विभाजित किया गया है :—

इह रतिरिह रमध्वं स्वाहा ॥ इह धृतिरिह स्वधृतिः स्वाहा ॥

पा० गृ० ३।९।४ ने इसे और भी अधिक चार भागों में विभाजित किया है :

इह रतिः ॥ इह रमध्वम् ॥ इह धृतिः ॥ इह स्वधृतिः ॥

का० गृ० ५९।३ में इसके अधिकाधिक सम्भव भेद दस वाक्यांशों के रूप में प्रकट होते हैं, और दस आहुतियों में उनका विनियोग किया गया है :—

इह रडिः स्वाहा ॥ इह रतिः स्वाहा ॥ इह धृतिः स्वाहा ॥ इह विधृतिः स्वाहा ॥ इह स्वधृतिः स्वाहा ॥ इह रन्तिः स्वाहा ॥ इह रमः स्वाहा ॥ इह रमतां स्वाहा ॥ अग्ने वेट् ॥ स्वाहा वेट् ॥ [२४८-२५७]

पा० गृ० में एक अन्य स्थल (३।४।७) पर नव-गृह प्रवेश के तत्काल पश्चात् आज्याहुति के लिये इस मन्त्र का विनियोग किया गया है। आप०गृ० ७।१९।९ (मं० पा० २।१८।६, ७) के अनुसार प्रत्यवरोहण कर्म के अन्तर्गत तृणास्तरण पर शयन के समय उच्चारणीय मन्त्रों में इह धृतिरिह स्वधृतिः इह रन्तिरिह रमतिः का समावेश भी किया जाना चाहिये।

इस मन्त्र के इन विविध विनियोगों का आधार इसकी सामान्य विनियोगार्हता ही है। इसमें इह (यहाँ) शब्द द्वारा निर्दिष्ट स्थान अथवा पदार्थ में से प्राप्त होने वाले आनन्द और स्थैर्य के लिये प्रार्थना है।

रथ-भग्न होने पर द्वितीय आहुति के लिये पा० गृ० १।१०।१ में अधोलिखित मन्त्र के उच्चारण का विधान किया गया है :—

उप सृजन् धरुणं मात्रे धरुणो मातरं धयन् ।
रायस्पोषमस्मासु दीधरत् स्वाहा ।। [२५८]

मैंने बछड़े को अपनी माता के पास जाने के लिये छोड़ दिया है। माता का स्तन्य-पान करता हुआ वह बछड़ा हमारे लिये धन की पुष्टि धारण करे। ओ० ब०

यह मन्त्र भी उपर्युक्त मन्त्र (सं० २४६) के विवेचन में उद्धृत पूर्ववर्ती साहित्य के द्वितीय वर्ग के सभी ग्रन्थों में उसके साथ ही प्रयुक्त किया गया है। स्वाभाविक रूप से इससे सम्बद्ध कर्म भी उन स्थलों पर **सत्रोत्थान** ही है। जिस प्रकार गृह्यसूत्रों में पूर्वनिर्दिष्ट **इह रतिः** आदि मन्त्र का विविध प्रयोग हुआ है, उस प्रकार इसका नहीं हुआ। तथापि पा० गृ० (३।४।७,९।४) में उसी के समान इसका भी अन्य दोनों कर्मों में विनियोग किया गया है। शां०गृ० ३।११।४ में भी वृषोत्सर्ग के अन्तर्गत पूर्वोक्त मन्त्र के साथ-साथ इसका विनियोग हुआ है। वहाँ केवल **उपसृजन्** के स्थान पर **उपसृजम्** एक मात्र पाठान्तर है। वस्तुतः **उपसृजम्** भ्रान्तिजनित पाठ प्रतीत होता है क्योंकि दोनों प्रकार से सन्धियुक्त पाठ **उसृजन्धरुणम्** ही होगा।[1]

शां० गृ० (१।१५।१०) में रथ के नवयोग के समय निम्नलिखित ऋ० ३।५३।१९ के उच्चारण का विधान है:—

अभि व्ययस्व खदिरस्य सारमोजो धेहि स्पन्दने शिंशपायाम् ।
अक्ष वीडो वीडित वीडयस्व मा यामादस्मादव जीहिपो नः ।। [२५९]

हे इन्द्र, खदिर की सार (-भूत आणि) को उपयुक्त स्थानों पर स्थापित कीजिये, (रथ के) गमन के समय शिंशपा (की लकड़ी द्वारा निर्मित रथ के फलक) में शक्ति या दृढ़ता स्थापित कीजिए। हे दृढ़ीकृत अक्ष, हमें दृढ़ बनाओ, इस गतिशील रथ से हमें न गिराना।

अर्थ की दृष्टि से उपर्युक्त कर्म में इस मन्त्र के विनियोग का औचित्य असंदिग्ध है क्योंकि इसमें अक्ष को सम्बोधन किया गया है।

रथ का नवयोग हो जाने पर वर और वधू उस पर चढ़ते हैं। पा० गृ० के अनुसार रथारोहण की क्रिया के साथ वा० सं० २०।१० और १२।११ मन्त्रों का उच्चारण किया जाना चाहिये। इसमें से प्रथम (**प्रति क्षत्रे** इत्यादि) का विवेचन चतुर्दश अध्याय में प्रत्यवरोहण के अन्तर्गत किया जायेगा क्योंकि अधिकांश गृह्यसूत्रों में उसी कर्म में उसका विनियोग किया गया है(दे० मन्त्र सं० १०१९)। द्वितीय मन्त्र

---

१. पा० ८।३।२३ मोऽनुस्वारः ।। और पा० ८।४।५८ अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः ।।

अधोलिखित है :—

आ त्वाहार्षमन्तरभूर्ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधिभ्रशत् ॥ [२६०]

हे रथ ! मैं तुम्हें अन्दर लाया हूं, तुम स्थिर हो गये हो। तुम अविचल ठहरो। सभी प्रजा तुम्हारी अभिलाषा करे, तुमसे राष्ट्र भ्रष्ट न हो।

यजुर्वेदीय ग्रन्थों में वेदी चयन के अवसर पर आसन्दी पर रखे जाने से पूर्व उखा को हाथ में लेने के लिये इस मन्त्र का प्रयोग किया गया है।[1] उपर्युक्त प्रसङ्ग में मन्त्र का विनियोग दूराकृष्ट-सा प्रतीत होता है क्योंकि उस दशा में उव्वट और महीधर के अनुसार विशः का अर्थ अन्न और राष्ट्रम् का अर्थ यश करना होगा।[2] ऋ० और अथर्व० में उचित रूप में मन्त्र राजा के प्रति सम्बोधित किया गया है और तदनुसार विशः का सीधा अर्थ प्रजा और राष्ट्रम् का राज्य प्रसंगानुकूल बैठता है।[3] पारस्कर ने राजा के रथारोहण प्रसङ्ग में भी इस मन्त्र का विनियोग किया है और यह विनियोग पूर्ण रूप से अर्थानुकूल है। गो० गृ० २।४।४ में रथारोहण से पूर्व वामदेव्य साम के गायन का विधान है। शां० गृ० १।१५।१२ के अनुसार ऋ० ५।५१।११-१५ के पाँच स्वस्ति मन्त्रों का उच्चारण ठीक किए गये रथ पर वधू के आरोहण से पूर्व किया जाना चाहिये। इन सभी मन्त्रों में सामान्य कल्याण की प्रार्थना की गई है। आ० श्रौ० ८।१।२३ में भी वैश्वदेव यज्ञ के षष्ठ दिवस के माध्यन्दिन सवन में ये मन्त्र विनियुक्त हैं।

गृह-प्रवेश : पशुओं का खोला जाना

गृहप्रवेश से पूर्व वर रथ में जुते हुऐ दोनों पशुओं को बन्धनमुक्त करता है।[4] पहले वह ऋ० १०।४०।१२ का उच्चारण करते हुए दक्षिण पार्श्व के पशु को

---

१. तै० सं० ४।२।१।४ (अन्तिम पाद—अस्मिन् राष्ट्रमधिश्रयं), मै० सं० २।७।८ (अविचाचलिः के स्थान पर अविचाचलत्, अन्तिम पाद—अस्मे राष्ट्राणि धारय), का० सं० १६।८ (अविचाचलत्, अन्तिम पाद- अस्मे राष्ट्रमधिश्रय) श० ब्रा० ६।७।३।७, तै० ब्रा० २।४।२।८, का० श्रौ० १६।५।१६, आप० श्रौ० १६।१०।१४, मा० श्रौ० ६।१।४।१३।

२. वा० सं० १२।११ पर उव्वट और महीधर भाष्य में यह अर्थ श०ब्रा० को प्रमाण मानकर दिये गये हैं। परन्तु वहाँ भी उन अर्थों का आधार नहीं प्रतीत होता।

३. ऋ० १०।१७३।१ (प्रथम पंक्ति—अभूः के स्थान पर एधि। अथर्व० ६।८७।१ (अविचाचलिः के स्थान पर अविचाचलत्)।

४. आप० गृ० २।६।७ (मं० पा० १।७।११,१२)।

खोलता है:—

आ वामगन्त्सुमतिर्वाजिनी वसून्यश्विना हृत्सु कामाँ अयंसत।
अभूतं गोपा मिथुना शुभस्पती प्रिया अर्यम्णो दुर्याँ अशीमहि ॥ [२६१]

हे अन्नरूपी धन वाले, जल के स्वामी, साथ साथ रहने वाले अश्विनो, आप दोनों की शोभनबुद्धि हमें प्राप्त हो। हमारे हृदयों में अभिलाषायें नियन्त्रित रहें। आप मेरे रक्षक हो जायें। प्रिय (होती हुई) हम पति का घर प्राप्त कर लें। सा०

अथर्ववेद में यह मन्त्र विवाह सूक्त (१४।२।५) का अंग है। सम्भवतः यही इसके गृह्यविनियोग का स्रोत है। मन्त्र अश्विन् देवों (अश्वों के स्वामी) को सम्बोधित है। प्रायः इनकी स्तुति दिव्य रक्षकों के रूप में भी की जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस मन्त्र के गृह्यविनियोग का आधार अश्विन् देवों का अश्वों से सम्बन्ध ही है।

वाम पार्श्व के पशु को खोलने के लिये विनियुक्त मन्त्र का पाठ निम्नलिखित है:[1]—

अयं नो देवस्सविता बृहस्पतिः इन्द्राग्नी मित्रावरुणा स्वस्तये।
त्वष्टा विष्णुः प्रजया संरराणः काम आयातं कामाय त्वा विमुञ्चतु ॥
[२६२]

यह सविता देव, बृहस्पति, इन्द्र और अग्नि, मित्र और वरुण, त्वष्टा, विष्णु, सन्तान से समृद्ध कामना, (इस रथ में) आये हुए तुम्हें हमारे कल्याणार्थ हमारी कामना (की पूर्ति) के लिये मुक्त कर दें।

इस कर्म में इस मन्त्र का विनियोग करते हुए आपस्तम्ब ने विमुञ्चतु शब्द पर बल दिया है। इस मन्त्र का ठीक स्रोत ज्ञात नहीं है। इस का तृतीय पाद समान भाव वाले एक अन्य यजुर्वेदीय मन्त्र के तृतीय पाद जैसा है।[2]

---

१. नॉन ऋ० मन्त्रज़ (पृष्ठ २७१, सं० ३०८) में डा० पिल्ले ने इसे प्रथम मन्त्र के रूप में उद्धृत किया है जब कि मं० पा० के क्रम के अनुसार (ऊपर) यह द्वितीय मन्त्र है।

२. वा० सं० ८।१७, तै० सं० १।४।४४।१, मै० सं० १।३।३८, का० सं० ४।१२, १३।९, का० श्रौ० १०।८।१२, आप० श्रौ० १३।१८।४, बौ० श्रौ० ८।१०, मा० श्रौ० २।५।४।१६।

यजुर्वेदीय ग्रन्थोंमें पशुयज्ञ के अन्त में नौ समिष्टयजु: आहुतियों में से प्रथम के अर्पण के साथ इस मन्त्र के उच्चारण का विधान है।

वधू को गृह-प्रदर्शन

आप० गृ० २।६।६ (मं० पा० १।७।१०) के अनुसार निम्नलिखित मन्त्र (अथर्व० १४।२।१२) का उच्चारण करते हुए वर वधू को अपना घर दिखाता है:—

संकाशयामि वहतुं ब्रह्मणा गृहैरघोरेण चक्षुषा मैत्रेण।
पर्याणद्धं विश्वरूपं यदस्यां स्योनं पतिभ्यः सविता कृणोतु तत् ॥ [२६३]

ब्रह्म और मित्रतापूर्ण तथा भयहीन दृष्टि के द्वारा मैं अपने घर के साथ साथ वधू के पितृकुल से प्राप्त धन को दिखाता हूँ। इस (वधू) द्वारा धारण किया गया जो विश्वरूप नामक आभूषण है, सविता देव उसे मुझ पति के लिये सुखद बनाये। —ह० मि०

यह मन्त्र न तो घर को सम्बोधित है और न ही वधू को, वस्तुतः इसमें वहतु (रथ)[1] को प्रधान रूप से प्रदर्शित करने की बात कही गई है। अत: यह प्रसङ्गानुकूल नहीं प्रतीत होता। यहाँ तक कि भाष्यकार हरदत्त मिश्र ने भी इस मन्त्र को उपर्युक्त प्रसङ्ग से जोड़ने में कठिनाई अनुभव की है। उसके शब्दों में—"इस मन्त्र को इस प्रसङ्ग से जैसे तैसे सम्बद्ध करना चाहिये।"[2] कौशिक० (७७।१४) में वधू की डोली वर-गृह के निकट पहुँचने पर इस मन्त्र के उच्चारण का विधान है। एक अन्य स्थान पर कौशिक० और का० गृ० में निर्देश है कि वधू की यात्रा के मध्य यदि कोई नवोढा मिले तो इस मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये।[3] इन विनियोगों में प्रमुख रूप से रथ ही सम्बोध्य पदार्थ है, अतः वे अर्थसङ्गत हैं।

---

१. ह०मि० ने वहतु का अर्थ पितृगृह से प्राप्त धनादि अर्थात् दहेज किया है। परन्तु अन्य विद्वानों द्वारा इसका अर्थ यान भी किया गया है–वह (वहन करना) से—जो वहन करता है। कौशिक० और का०गृ० के विनियोग भी इसी अर्थ की पुष्टि करते हैं। सजे हुए घर के साथ साथ वर उस सजे हुए यान को भी दिखाना चाहता है जिसने उसकी नवोढा पत्नी का वहन किया है।

२. दे० आप० गृ० २।६।६ पर अनाकुला — मन्त्रश्चास्मिन्नर्थे यथाकथञ्चिद् योजनीयः।

३. कौशिक० ७७।४, का० गृ० २६।६ (संकाशयामि के स्थान पर संकाशय, वहतुम् के स्थान पर विवहतम् और अस्याम् के स्थान पर अस्याः)।

का० गृ० (२७।३) के अनुसार अपना नया घर देखने पर वधू को निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये:—

ऊर्जं बिभ्रती वसुवनिः सुमेधा गृहानागां मोदमाना सुवर्चाः ।
अघोरेण चक्षुषाहं मैत्रेण गृहाणां पश्यन्ती वय उत्तिरामि ।।
गृहाणामायुः प्र वयं तिराम गृहा अस्माकं प्र तिरन्त्वायुः ।। [२६४]

अन्न को धारण तथा उसका पोषण करती हुई, धन दान करती हुई, प्रसन्न होती हुई, सुन्दर सुबुद्धि, दीप्ति युक्त मैं घर पर आ गई हूँ। सौम्य तथा हितैषी दृष्टि से घर को देखती हुई मैं (परिजनों को) धन दान देती हूँ। हम घर की आयु (उपलेपादि के द्वारा) बढ़ायें, घर अर्थात् घर की अधिष्ठात्री देवता हमारी आयु बढ़ाये। दे० पा०

इस मन्त्र और पूर्व मन्त्र के **अघोरेण चक्षुषा मैत्रेण** शब्द समान हैं। तृतीय पंक्ति केवल अथर्व० और का० सं० में विद्यमान है।[1] अथर्व० मन्त्र की पूर्ण समानता केवल प्रथम पाद से है। उसके पश्चात् निम्नलिखित पाठ है:—

अघोरेण चक्षुषा मित्रियेण । गृहानैमि सुमना वन्दमानो रमध्वं मा बिभीत मत् ।।

इन शब्दों का भाव भी लगभग उपरिलिखित मन्त्र जैसा है। वा०सं० ३।४१ का निम्नलिखित पाठ इससे भी कम समान है:—

गृहा मा बिभीत मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रत एमसि ऊर्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः ।।

का० श्रौ०, आप० श्रौ० और कुछ गृह्यसूत्रों में नगण्य परिवर्तनों सहित वा० सं० का यही पाठ अपनाया गया है।[2] आप० श्रौ० को छोड़कर अन्य सभी ग्रन्थों के अनुसार प्रवास से लौटकर गृहस्थ को इसका उच्चारण करना चाहिये। आ० श्रौ० (४।१७।३) के निर्देशानुसार अग्न्याधान के स्थान से घर लौट कर अग्निहोत्री को इसका उच्चारण करना चाहिये। इस श्रौतसूत्र में एक अन्य स्थान पर (१६।१६।४) मन्त्र का जो पाठ दिया गया है वह का० गृ० के पाठ के बहुत समान है। इस स्थान पर अग्निचिति कर्म में राक्षसों का अपसारण करके जब यजमान अपने घर लौटता है

---

१. अथर्व० ७।६०।१, का० सं० ३८।१३ (बिभ्रती के स्थान पर बिभ्रत, गृहानागाम् के स्थान पर गृहाणाम्, मैत्रेण के स्थान पर शिवेन)।

२. का० श्रौ० ४।१२।२२, शां० गृ० ३।७।२, हि० गृ० १।२९।१, भा० गृ० १।२७, कौ० गृ० ३।४।५—बिभीत से आगे मा मे बिभ्यतोर्जं बिभ्यतेषमूर्जं वसुमनाः सुवर्चाः पाठ है।

उस समय वह इस मन्त्र का उच्चारण करता है। आ०श्रौ० २।५।१४ में भी प्रवास से घर लौटने पर गृहस्थ द्वारा उच्चारण के निमित्त इसे प्रतीकेन उद्धृत किया गया है। कौशिक० २४।११ में भी मन्त्र का समान प्रयोग है। इन सभी श्रौत और गृह्य विनियोगों में एक बात अर्थात् घर को लौटना सर्व-सामान्य है। मन्त्र तो घर के प्रति सम्बोधित है ही।

का० गृ० २७।३ में अपने नये घर को देखते हुए वधू द्वारा उच्चारणार्थ अथर्व० (७।६०।६, ५, ४) के निम्नलिखित तीन मन्त्र उद्धृत किये गये हैं:—

सूनृतावन्तः स्वधावन्त इरावन्तो ह सामदाः ।
अक्षुध्या अतृष्या गृहा मास्मद्बिभेतन ।। [२६५]
उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः ।
अथो अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु मे ।। [२६६]
उपहूता भूरिधनाः सखायः साधुसंमदाः ।
अरिष्टाः सर्वपुरुषा गृहा नः सन्तु सर्वदा ।। [२६७]

हे घर, तू सत्यवचन-युक्त, पितृयज्ञ-युक्त, अन्नयुक्त, शान्तिदायक, क्षुधारहित तथा पिपासारहित हो जा और हम से नहीं डर ।। मैंने अपने घर में गौओं, बकरियों, भेड़ों को निमन्त्रित किया है। और मैंने अन्नसम्बन्धी रस को भी निमन्त्रित किया है ।। उसी प्रकार मैंने बहुत धनवान् सहायक (मित्रों) को निमन्त्रित किया है। वे ठीक कार्य करके सर्वदा हर्षयुक्त हों। हमारा घर भी सदा क्षति-रहित और सभी (स्वस्थ) पुरुषों से युक्त हो ।।
दे० पा०

जहाँ तक मन्त्रों के अथर्ववेदीय पाठ का सम्बन्ध है, प्रथम मन्त्र में **स्वधावन्तः** और **ह सामदाः** के स्थान पर क्रमशः **सुभगाः** और **हसामुदाः** पाठ है। उत्तरार्ध के प्रथम दो शब्दों का क्रम विपरीत है, **गृहाः** से पूर्व **स्त** पाठ है और **बिभेतन** के स्थान पर **बिभीतन** पाठ है। द्वितीय मन्त्र समान है। तृतीय मन्त्र के पूर्वार्ध का अन्तिम शब्द अथर्व० में **स्वादुसम्मुदाः** है। और उत्तरार्ध के रूप में प्रथम मन्त्र के उत्तरार्ध की पुनरावृत्ति हुई है। इस स्थिति में उपरिलिखित तृतीय मन्त्र के उत्तरार्ध का स्रोत आप० श्रौ० ६।२७।३ प्रतीत होता है। द्वितीय मन्त्र आप० श्रौ० के अतिरिक्त वा० सं० ३।४३ और ला० श्रौ० ३।३।१ में भी विद्यमान है।

हि० गृ० १।२६।१ में भी ये तीनों मन्त्र विनियुक्त हुए हैं परन्तु इसके अनुसार इनका उच्चारण वधू नहीं, अपितु प्रवास से लौटकर गृहस्थ करता है। यहाँ द्वितीय और तृतीय मन्त्रों का पाठ तत्सम है, प्रथम मन्त्र का पाठ निम्नलिखित है :—

ऊर्जस्वन्तः पयस्वन्त इरावन्तो हसामुदाः ।
अनश्या अतृष्या गृहा मास्मद् बिभीतन ।। [२६८]

शक्तिसे युक्त, दुग्ध-समृद्ध, अन्नयुक्त, हास्य-प्रमोद से परिपूर्ण, अनश्वर, तथा पिपासा रहित घर ! तू हमसे न डर।

शां० गृ० में शाला निर्माण कर्म में (३।३।१) तथा प्रवास से लौटकर उच्चारण के लिए (३।७।२) केवल द्वितीय मन्त्र उद्धृत किया गया है।

इन सभी मन्त्रों में घर ही प्रार्थना का विषय है, अतः श्रौतसूत्रों तथा गृह्यसूत्रों में जिन कर्मों में ये विनियुक्त हुए हैं मूल रूप में इनकी रचना उनके उद्देश्य से ही की गई प्रतीत होती है।

मा० गृ० १।१४।५ के अनुसार जैसे ही वर नव-वधू के साथ अपने घर के पास पहुँचता है वैसे ही उसे निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये :—

येष्वध्येति प्रवसन्येषु सौमनसं महत् ।
तेनोपह्वयामहे ते नो जानन्त्वागतम् ।। [२६९]

प्रवासी जिसमें लौटकर आता है, जिसमें महान् सौहार्द है, उस कारण हम (घर को) सम्बोधित करते हैं, वह हमारे आगमन को जान ले।

स्वल्प पाठभेद सहित यह मन्त्र कुछ अन्य पूर्ववर्ती ग्रन्थों में भी विद्यमान है।[1] प्रमुख भेद **येषु** के स्थान पर **येषाम्**, **सौमनसं महत्** के स्थान पर **सौमनसो बहुः**, **तेन** के स्थान पर **गृहान्**, **आगतम्** के स्थान पर **ऐजतः** या **जानतः** है। यहाँ यह कहना होगा कि गृह्य पाठ अधिक संगत और प्रसङ्गानुकूल है। केवल तृतीय पाद में पूर्ण छन्द प्राप्त करने के लिये **तेन उपह्वयामहे** सन्धि-विच्छेद करना पड़ेगा। परन्तु अन्य गृह्यसूत्रों में इसका पाठ संहिता-पाठ के अधिक निकट है।[2] हि० गृ० में प्रथम **येषु** के स्थान पर **एषाम्** और द्वितीय के स्थान पर **एति** पाठ है। संहिता पाठ से भिन्न का० गृ० में प्रथम पाद **येषां मध्येऽधिप्रवसन्** है। इन सभी संहिताओं, श्रौतसूत्रों तथा गृह्यसूत्रों में इस मन्त्र का विनियोग अपने अपने उन्हीं प्रसङ्गों में किया गया है जिनमें उपरिलिखित तीन मन्त्रों का हुआ है। यह विशेष उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं कि उन मन्त्रों के समान इस मन्त्र में भी घर को ही सम्बोधित किया गया है। और ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त प्रसङ्गों में विनियोग हेतु इसकी भी रचना की गई थी।

---

१. अथर्व ७।६०।३, वा० सं० ३।४२, आप० श्रौ० ६।२७।३, ला० श्रौ० ३।३।१।
२. हि० गृ० १।२९।१, शां० गृ० ३।७।२, का० गृ० २७।३, कौशिक० २४।११, मा० गृ० १।२७।

गृह-प्रवेश

आ० गृ० १।८।८, शां० गृ० १।१५।२२ और कौशिक० ७७।२० का विधान है कि जब वर-वधू गृहप्रवेश करें तो वर को निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये[1] :—

इह प्रियं प्रजया ते समृध्यतामस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि ।
एना पत्या तन्वं सं सृजस्वाधा जिव्री विदथमा वदाथः ।। [२७०]

हे वधू, इस मेरे घर में भावी सन्तति के साथ तुम्हारा प्रेम बढ़े । इस मेरे घर में गृहस्वामिनी बनने के लिये तुम यत्नशील हो । इस (मुझ) पति के साथ अपना शरीर संयुक्त करो, (और इस प्रकार यौवन बिता कर) फिर वृद्ध होकर हम दोनों यज्ञ के विषय में अर्थात् श्रौतस्मार्त कर्मों के विषय में उपदेश देंगे । ह० मि०

आप० गृ० २।६।११ (मं० पा० १।६।४) के अनुसार गृह-प्रवेश के पश्चात् वधू की गोद में बालक के बिठाए जाने पर वर इस मन्त्र का जाप करता है । जै० गृ० २२।१६ के अनुसार वधू के वर-गृह पर पहुँचने पर जब कोई वृद्धा उसे यान से उतारती है, उस समय इस मन्त्र का उच्चारण किया जाना चाहिये । क्योंकि यह मन्त्र ऋ० और अथर्व० के विवाह सूक्तों का अंग है, अतः ऐसा प्रतीत होता है कि मूल रूप से इसकी रचना गृह्य विनियोग के निमित्त ही हुई थी । अथर्व० मन्त्र के पाठ में भेद है । **प्रजया** के स्थान पर **प्रजायै**, **संसृजस्व** के स्थान पर **संस्पृशस्व** पाठ है और उसके पश्चात् अथ **जिर्विर्विदथमावदासि** है । अन्तिम शब्द **आवदासि** जै० गृ० में भी स्वीकार किया गया है । क्योंकि यहाँ यह एक व्यक्ति—वधू को सम्बोधित किया जाता है अतः एकवचनान्त **आवदासि** पाठ अधिक सङ्गत प्रतीत होता है ।

मा० गृ० १।१४।६, वा० गृ० १५।१७ और बौ० गृ० १।५।७ में विधान है कि पति-गृह-प्रवेश के अवसर पर वधू को निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिए ।

गृहानहं सुमनसः प्रपद्ये वीरं हि वीरवतः सुशेवा ।
इरां वहन्ती घृतमुक्षमाणास्तेष्वहं सुमनाः संवसामः ।। [२७१]

शोभन सुखवाली मैं वीरों से युक्त, शोभन मन वाले घर में प्रवेश करती हूँ । (मैं भी) वीर पुत्र को (प्राप्त करूँ) । अन्न वहन करती हुई, शोभन मन वाली मैं और घी की धारा प्रवाहित करते हुए हम (सब गृहस्थ) इस घर में रहें ।

---

१. ऋ० १०।८५।२७, अथर्व० १४।१।२१, नि० ३।२१ ।

मन्त्र का उपरिलिखित पाठ मा० गृ० में दिया गया है। डा० रघुवीर ने स्व-सम्पादित वा० गृ० में मन्त्र का संशोधित रूप दिया है जिसके अनुसार **वीरं हि** के स्थान पर **अवीरघ्नी, घृतमुक्षमाणाः** के स्थान पर **घृतमुक्षमाणान्** और **संवसामः** के स्थान पर **संविशामि** पाठ है।[1] बौ० गृ० और मं० पा० में **अहम्** के स्थान पर **भद्रान्, वीरं हि** के स्थान पर **अवीरघ्नी, सुशेवा** के स्थान पर **सुवीरान्, वहन्ती** के स्थान पर **वहतः** और **संवसामः** के स्थान पर **संविशामि** पाठ है। यह पाठ अधिक अच्छा है—केवल **उक्षमाणाः** (प्र० बहु०) यहाँ भी बहुत स्पष्ट नहीं है। आप० गृ० २।६।८ (मं०पा० १।८।२) के अनुसार जब वधू गृह प्रवेश करने लगे तब वर को उससे इस मन्त्र का उच्चारण करवाना चाहिये। का०गृ० २७।३ में वधू द्वारा पति-गृह देखने पर इस मन्त्र के उच्चारण का विधान है।[2] इसमें **वीरं हि वीरवतः** के स्थान पर **अवीरघ्नी वीरपतिः** पाठ है। यद्यपि उत्तरार्ध प्रायः बौ०गृ० के समान है, तथापि **उक्षमाणान्** (द्वि० बहु०, **गृहान्** का वि०) पाठ के द्वारा इसमें सुधार हो गया है। हि०गृ० १।२९।४ और शां० गृ० ३।५।३ में यह मन्त्र विवाह-कर्म के अन्तर्गत न होकर प्रवास से लौटने पर गृह-प्रवेश संस्कार के अन्तर्गत है। हि० गृ० के अनुसार ग्राम में प्रवेश करते हुए गृहस्थ को इसका उच्चारण करना चाहिये। इस गृह्य में **अवीरघ्नः** (पूर्ववर्ती प्रपद्ये के एकार के पूर्वरूप के विना), मा०गृ० के **वीरवतः** के स्थान पर **वीरतमः सुशेवा** के स्थान पर **सुशेवान्, वहन्ती** के स्थान पर **वहन्तः, घृतमुक्षमाणाः** के स्थान पर **सुमनस्यमानाः** और **संवसामः** के स्थान पर **संविशामि** पाठ है। इस प्रकार अन्तिम पाद को छोड़कर मन्त्र का छन्द त्रिष्टुभ् हो गया है। अन्तिम पाद में भी यदि **तेषु अहम्** सन्धि विच्छेद करके पढ़ा जाए तो त्रिष्टुभ् के ग्यारह अक्षर हो जाते हैं। यह पाठ सर्वोत्तम कहा जा सकता है क्योंकि इसमें कोई अर्थ सम्बन्धी कठिनाई उत्पन्न नहीं होती। शां० गृ० का पाठ मं० पा० के बहुत निकट है। केवल मात्र पाठभेद **अवीरघ्नी वीरवतः** के स्थान पर **अवीरघ्नः वीरतरः, वहतः** के स्थान पर **वहन्तः, तेषु** के स्थान पर **अन्येषु** और **संविशामि** के स्थान पर **संविशेयम्** हैं। ओल्डन बर्ग के अनुसार यहाँ **अन्येषु** पाठ प्रमादवश है।[3] परन्तु सम्भवतया इससे घर के अन्य सदस्य अभिप्रेत हैं और तदनुसार यह पाठ भी शुद्ध माना जाना चाहिये।[4]

---

१. डा० रघुवीर सम्पादित वा० गृ०, पृ० ४२, पा० टि० १२।
२. परन्तु दे० पा०—वीरघ्नी गत्यर्थोऽत्र हन्तिः पुत्राणां प्रापिका लम्भिका। ऐसा प्रतीत होता है कि दे० पा० ने प्रमादवश वीरघ्नी पाठ दिया है।
३. से० बु० ई० खं० २९, पृ० ९६।
४. नॉन० ऋ० मन्त्रज़ इन मैरिज, सं० ३२०, पृ० २७९।

श्रौत साहित्य में से आप० श्रौ० १६।१६।४ में विधान है कि अग्नि-चिति कर्म के अन्तर्गत जब यजमान इष्टकाधान करके अपने घर लौटता है, उस समय वह अन्य मन्त्रों के साथ-साथ इसका भी उच्चारण करता है। आ० श्रौ० २।५।७ में आहिताग्नि अथवा अनाहिताग्नि द्वारा गृह-प्रवेश के समय इसके उच्चारण का विधान है। क्योंकि मन्त्र में स्वयं गृह-प्रवेश का निर्देश है अतः इसकी मूल रचना भी उसी कर्म के निमित्त की गई प्रतीत होती है।

ऋषभ-चर्मास्तरण

नव दम्पती के गृह-प्रवेश के उपरान्त पूर्वाभिमुख ग्रीवा वाली ऋषभ-चर्म भूमि पर बिछाया जाता है। आप० गृ० २।६।८ (मं० पा० १।८।१) ने इस अवसर पर निम्नलिखित मन्त्र[1] के उच्चारण का विधान किया है :—

शर्म वर्मेदमा भरास्यै नार्या उपस्तिरे।
सिनीवालि प्रजायतामियं भगस्य सुमतावसत् ॥ [२७२]

हे सिनीवाली, इस स्त्री के बिछौने में यह शरण और सुरक्षा प्रदान कीजिये। यह सन्तानवती हो जाए और भग की सुबुद्धि में रहे।

कौशिक० ७८।१ में यह मन्त्र ऋषभचर्म लाने वाले व्यक्ति को सम्बोधित किया गया है। चर्म बिछाने के लिये अगले ही सूत्र में एक अन्य मन्त्र का भी प्रयोग किया गया है।[2] मन्त्र का उपस्तिरे शब्द बिछाने की क्रिया का द्योतक है और मन्त्र समृद्धि और सन्तान की प्रार्थना है। इसके अतिरिक्त यह मन्त्र अथर्व० के विवाह सूक्त का अंग है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस कर्म में विनियोग के लिये ही इस मन्त्र की रचना हुई थी।

ऋषभचर्म पर बैठना

कुछ गृह्यसूत्रों में ऋषभचर्म पर नवदम्पती के बैठने के अवसर पर उच्चारणार्थ निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है।[3] अन्य सूत्रों के अनुसार इसका

---

१. अथर्व० १४।२।२१ इदम् के स्थान पर एतत्, भर के स्थान पर हर। उत्तरार्ध में इयम् नहीं है, अतएव पूर्ण अनुष्टुभ् बनता है।

२. अथर्व० १४।२।२२

यं बल्बजं न्यस्यथ चर्म चोपस्तृणीथन।
तदा रोहतु सुप्रजा या कन्या विन्दते पतिम् ॥ [२७३]

३. आप गृ० २।६।१० (मं० पा० १।६।१), भा० गृ० १।१८, जै० गृ० २२।२, हि०गृ० १।२२।६।

उच्चारण करते हुए वधू को ऋषभचर्म पर बिठाया जाता है। वै० गृ० ३।५ और आग्नि० गृ० १।४।५ का निर्देश है कि चर्म पर बैठता हुआ वर इसका उच्चारण करता है :—

इह गावो निषीदन्त्विहाश्वा इह पूरुषाः।
इहो सहस्रदक्षिणो अपि पूषा निषीदतु ॥ [२७४]

यहाँ (इस घर में) गौएँ बैठें, यहां घोड़े और यहीं पुरुष बैठें। और सहस्र दक्षिणाओं वाला पूषा भी यहीं बैठे।

मन्त्र का यह पाठ हि० गृ० के अनुसार है। का०गृ० में **अपि** के स्थान पर **यज्ञ इह**, आग्नि० गृ० में **अपि** के स्थान पर **अधि** और जै० गृ० तथा भा० गृ० में **अपि** के स्थान पर **अभि** पाठ है। इस प्रकार से इन सभी गृह्यसूत्रों में मन्त्र का पाठ अधिकांशतः समान है। अन्य सूत्रों में अथर्व० २०।१२७।१२ के पाठ का अनुसरण किया गया है। तदनुसार पूर्वार्द्ध में **निषीदन्तु** के स्थान पर **प्रजायध्वम्** पाठ है। कुछेक गृह्यसूत्रों में उत्तरार्ध में **अपि पूषा** के स्थान पर **रायस्पोषः** पाठ भी है। क्योंकि गृह्यसूत्रों में मन्त्र बैठने की क्रिया से सम्बद्ध है, अतः पूर्वार्ध में **निषीदन्तु** पाठ ही प्रसङ्गानुकूल प्रतीत होता है। भाव यह है कि जिस प्रकार वर-वधू इस चर्म पर बैठ रहे हैं उसी प्रकार मन्त्र में परिगणित गौएँ आदि भी इस घर में बैठें अर्थात् चिर-स्थिर रहें। का० गृ० ४७।१३ में विवाह के पश्चात् पाकयज्ञ के एक उपहोम में स्विष्टकृत् आहुति से पूर्व इसका विनियोग किया गया है।

प्राग्-गृह्यसूत्र साहित्यमें से अथर्व०और शां०श्रौ०१२।१५।१।३ में यह मंत्र पृष्ठ्य के षष्ठ दिवस में प्रयुक्त कुन्ताप सूक्तों में समाविष्ट है (दे० वैतान० ६।२)। का० सं०, आप० श्रौ० और ला० श्रौ० में इसका विनियोग पृषदाज्य प्रायश्चित्त में किया गया है। ऐ० ब्रा० ८।११ में राजसूय यज्ञ के अन्त में यह पशुओं, अश्वों और वीरों की प्रार्थना के रूप में आया है।

इस मन्त्र का अर्थ और ऋषभचर्म पर बैठने के कर्म में इसके विनियोग से यह प्रकट होता है कि यह कर्म पशु-धन की समृद्धि की अभिलाषा का प्रतीक था।

आहुतियाँ

आ० गृ० १।८।९ में विधान है कि ऋषभचर्म पर वर-वधू के बैठने के पश्चात् वर को ऋ० १०।८५।४३-४६ मन्त्रों का उच्चारण करते हुए चार

---

१. बौ० गृ० १।५।५२, गो० गृ० २।४।६ (मं० ब्रा० १।३।१३), पा० गृ०१।८।१० ।
२. का० सं० ३५।३, आप० श्रौ० ९।१७।१, ला० श्रौ० ३।३।२ ।

आहुतियाँ प्रदान करनी चाहियें। गो॰ गृ॰ २।२।१५ (मं॰ ब्रा॰ १।२।१७-२०) में पाणिग्रहण कर्म में प्रयुक्त छः मन्त्रों में से चार मन्त्रों के रूप में इनका निर्देश है। इनमें से द्वितीय मन्त्र (**अघोरचक्षुः इत्यादि**) का विवेचन ऊपर हो चुका है। (दे॰ मन्त्र सं॰ १००)। अवशिष्ट तीन मन्त्रों (ऋ॰ १०।८५।४३, ४५, ४६) का पाठ अधोलिखित है (दे॰ सं॰ २०४,२०५):—

आ नः प्रजां जनयतु प्रजापतिराजरसाय समनक्त्वर्यमा।
अदुर्मङ्गलीः पतिलोकमा विश शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे॥ [२७५]

इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु।
दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि॥[२७६]

सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु॥[२७७]

प्रजापति हमारी सन्तान उत्पन्न करे, अर्यमा वृद्धावस्था तक हमें संयुक्त रखे। हे वधू! कल्याणवती तुम मुझ पति के घर में प्रवेश करो, तुम हमारे मनुष्यादि के लिये और चौपायों के लिए सुखकर हो जाओ॥ हे धनवान् इन्द्र! तुम इस वधू को शोभनपुत्र वाली और शोभन धन वाली बनाओ। इस वधू में दस पुत्रों को स्थापित करो, (मुझ) पति को ग्यारहवां (पुरुष) बना दो। हे वधू! तुम अपने श्वसुर, श्वश्रू, ननद और देवरों के प्रति सम्राज्ञी अर्थात् उन पर शासन करने वाली हो जाओ। ह॰मि॰

आपस्तम्ब ने इन मन्त्रों का भिन्न-भिन्न प्रसङ्गों में प्रयोग किया है। प्रथम का विनियोग चतुर्थी कर्म में पति द्वारा अपने तथा पत्नी के हृदय-देश का आज्य द्वारा अवलेपन किये जाने पर उच्चारणार्थ किया गया है।[1] द्वितीय मन्त्र के उच्चारण का विधान मुख्य-यज्ञ में अर्पित आहुतियों में से एक के साथ किया गया है।[2] हि॰ गृ॰ १।२०।२ के अनुसार पाणिग्रहण कर्म के पश्चात् इस मन्त्र द्वारा वधू का अभिमन्त्रण किया जाना चाहिये। आप॰ गृ॰ में तृतीय मन्त्र के उच्चारण का विधान उस समय है जब पति-गृह को प्रस्थान के अवसर पर वधू रथारोहण करती है।[3] शां॰ गृ॰ १।६।६ के अनुसार दोनों पक्षों के वैवाह्य सम्बन्ध के विषय में सहमत हो जाने पर, वर पक्ष का आचार्य वधू के सिर पर पुष्प, धान्य, यव और सुवर्ण से

---

१. आप॰ गृ॰ ३।८।१० (मं॰ पा॰ १।११।५)
२. आप॰ गृ॰ २।५।२ (मं॰ पा॰ १।४।६)
३. आप॰ गृ॰ २।५।२२ (मं॰ पा॰ १।६।६)

पूर्ण पात्र रखता है और **आ नः प्रजाम्** आदि मन्त्र का पाठ करता है। शां० गृ० १।१३।१ में तृतीय मन्त्र का विनियोग पाणिग्रहण कर्म के ठीक पूर्व उस समय किया गया है जब वधू का पिता अथवा भ्राता उसके सिर पर से आहुतियाँ अर्पित करते हैं। का० गृ० २५।४७ में द्वितीय और तृतीय मन्त्रों का विनियोग पति-गृह की ओर प्रस्थान के अवसर पर वधू के अभिमन्त्रण के लिये किया गया है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि इन सभी विविध प्रसङ्गों में ये मन्त्र वधू को सम्बोधित किए गए हैं। गृह्यसूत्रकारों ने इन मन्त्रों का प्रयोग विविध विवाह सम्बन्धी कर्मों में सम्भवतया इस लिये किया है क्योंकि वे ऋ० के विवाह सूक्त में से उद्धृत हैं और विवाह में उनकी सामान्य विनियोगार्हता है। इनमें से अन्तिम मन्त्र इसलिए भी विशेष ध्यान देने योग्य है क्योंकि इससे ऋग्वेद कालीन नारी की सम्मानजनक दशा पर प्रकाश पड़ता है। उसका स्थान परिवार में इतना ऊँचा था कि वह सभी सम्बन्धियों पर शासन करती थी—दासी होकर नहीं रहती थी।

जहां तक ऋ० के अतिरिक्त अन्य प्राग्-गृह्यसूत्र साहित्य में इन मन्त्रों के अस्तित्व का प्रश्न है, अथर्व० में केवल प्रथम और अन्तिम मन्त्र पाठान्तर सहित उपलब्ध होते हैं। अथर्व० १४।२।४० में प्रथम मन्त्र में नः के स्थान पर **वाम्** और **आजरसाय** के स्थान पर **अहोरात्राभ्याम्** पाठ है और उत्तरार्ध में तृतीय पाद के अन्त में अर्थात् **आ विश** के पश्चात् **इमम्** का समावेश किया गया है। इस मन्त्र का प्रथम पाद कृष्णयजुर्वेदीय ग्रन्थों में भी उपलब्ध है।[1] अन्तिम मन्त्र का पाठ अथर्व० १४।१।४४ में इस प्रकार है :—

सम्राज्ञ्येधि श्वशुरेषु सम्राज्ञ्युत देवृषु।
ननान्दुः सम्राज्ञ्येधि सम्राज्ञ्युत श्वश्र्वाः॥ [२७८]

कुल मिलाकर मन्त्र का भाव अपरिवर्तित ही है।

शां० गृ० १।१६।३ में चार आहुतियों के लिये अधोलिखित चार मन्त्रों का विनियोग किया गया है :—

अग्निना देवेन पृथिवीलोकेन लोकानामृग्वेदेन वेदानां तेन त्वा शमयाम्यसौ स्वाहा। [२७९]
वायुना देवेनान्तरिक्षलोकेन लोकानां यजुर्वेदेन वेदानां··· [२८०]
सूर्येण देवेन द्यौलोकेन लोकानां सामवेदेन वेदानां···। [२८१]
चन्द्रेण देवेन दिशां लोकेन लोकानां ब्रह्मवेदेन वेदानां···। [२८२]

---

१. मै० सं० २।१३।२३, का० सं० १३।१५, ४०।१, आप० श्रौ० १४।२८।४ मा० श्रौ० १।६।४।२१।

अग्नि देवता के द्वारा, लोकों में से पृथिवी के द्वारा, वेदों में से ऋग्वेद के द्वारा, उसके द्वारा मैं तुम्हें शान्त करता हूँ ॥ वायु देवता के द्वारा, लोकों में से अन्तरिक्ष लोक के द्वारा, वेदों में से यजुर्वेद के द्वारा, उसके द्वारा मैं…॥ सूर्य देवता के द्वारा, लोकों में से द्यौ लोक के द्वारा, वेदों में से सामवेद के द्वारा, उसके द्वारा मैं…॥ चन्द्रमा देवता द्वारा, लोकों में से दिशाओं के लोक द्वारा, वेदों में से अथर्ववेद के द्वारा, उसके द्वारा मैं तुम्हें शान्त करता हूँ ॥

ये मन्त्र केवल शां० गृ० की सम्पत्ति हैं और इस प्रसङ्ग में उचित प्रतीत होते हैं क्योंकि इनके द्वारा यज्ञकर्ता अग्नि को सन्तुष्ट करता है ।

इसी गृह्य(१।१६।४)में निम्नलिखित मन्त्र द्वारा एक और आहुति विहित है:-

या ते पतिघ्न्यलक्ष्मी देवरघ्नी जारघ्नीं तां करोमि ॥ [२८३]

तुम्हारा जो (शरीर) पतिनाशक, अशुभ,देवरनाशक है उसे मैं जार-नाशक बनाता हूँ ।

बहुत से गृह्यसूत्रों में इस प्रकार के मन्त्रों का प्रयोग चतुर्थीकर्म में किया गया है । अतः उसी प्रसङ्ग में इनका विवेचन करना उचित होगा ।[1]

आप० गृ० २।६।१० में मं० पा० (१।८।३-१५) के तेरह मन्त्रों के द्वारा तेरह आहुतियों का विधान है । वे सभी प्रसङ्गानुकूल हैं क्योंकि उनमें दम्पती तथा घर और सम्पत्ति की समृद्धि की प्रार्थना है ।

का० गृ० २८।४ में इस अवसर पर पन्द्रह आहुतियों का विधान है । इनमें से पहली चार आहुतियों से सम्बद्ध चार मन्त्रों का विवेचन किया जा चुका है ।[2] इसके पश्चात् पाँच आहुतियों के साथ अगले ५ मन्त्रों के उच्चारण का विधान है, और उसके आगे की पाँच आहुतियों के साथ इन्हीं मन्त्रों के विपरीत क्रम में उच्चारण का विधान है । इन मन्त्रों का विवेचन चतुर्थीकर्म के अन्तर्गत करना अधिक उपयुक्त होगा ।[3] अन्तिम आहुति के साथ विनियुक्त **त्र्यायुषं जमदग्नेः** आदि (अथर्व० ५।२८।७) मन्त्र का विवेचन भी चूडाकर्म के अन्तर्गत किया जाएगा क्योंकि अधिकांश गृह्यसूत्रों द्वारा उसका विनियोग वहीं किया गया है ।[4]

---

१. दे० मन्त्र सं० ३१४-३२० ।

२. दे० मन्त्र सं०१२६-१२६ ।

३. दे० मन्त्र सं० ३१४-३१८, ३२३ ।

४. दे० अध्याय ७, मन्त्र सं० ५०१ ।

वधू की गोद में बालक बिठाना

आहुतियों के पश्चात् वधू की गोद में किसी बालक को बिठाया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह क्रिया पुत्र प्राप्ति की कामना का प्रतीक है। आपस्तम्ब और मानव ने इस क्रिया के लिये निम्नलिखित मन्त्र के उच्चारण का निर्देश किया है[1]:—

सोमेनादित्या बलिनः सोमेन पृथिवी मही ।
अथो नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहितः ॥ [२८४]

चन्द्रमा द्वारा आदित्य बलशाली हैं, चन्द्रमा के द्वारा ही पृथ्वी विशाल है, और इन नक्षत्रों की गोद में ही यह सोम स्थापित है।

यह मन्त्र ऋ०(१०।८५।२)और अथर्व०(१४।१।२)के विवाह सूक्तों में विद्यमान है। मा०गृ० में **अथो** के स्थान पर **असौ** से बालक के नाम की ओर सीधा संकेत किया गया है। **सोम** का अभिप्राय यहां चन्द्रमा है। अतः अप्रत्यक्ष रूप में गृह्य-विनियोग के अनुसार मन्त्र में चन्द्रमा के गुणों सहित पुत्र की अभिलाषा व्यक्त की गई है। तथापि विवाह सूक्त में समाविष्ट होने के कारण विवाह कर्म में इसकी सामान्य विनियोगार्हता है। यह भी सम्भव है कि केवल **उपस्थ** (गोद) के आधार पर गृह्य-सूत्रकारों ने इसका विनियोग उपर्युक्त प्रसङ्ग में किया हो।

शां० गृ० १।१६।८ द्वारा प्रयुक्त मन्त्र **आ ते योनिम्** इत्यादि (अथर्व० ३।२३।२) का विवेचन चतुर्थीकर्म में करना अधिक उचित है। (दे० मन्त्र सं० ३५८)

आप० गृ० २।६।११ (मं० पा० १।६।३) ने विधान किया है कि वधू की गोद में बैठे इस बालक को फल प्रदान किए जाने चाहियें। इस क्रिया के साथ निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण किया जाना चाहिये :—

प्रस्व स्थः प्रेयं प्रजया भुवने शोचेष्ट ॥ [२८५]

यह वधू सन्तान के द्वारा संसार में तेजस्विनी हो।

यह मन्त्र केवल इस गृह्यसूत्र में उपलब्ध है। सन्तान की प्रार्थना होने के कारण यह प्रसङ्गानुकूल भी है।

वर-वधू द्वारा साथ-साथ दधि-भक्षण

कुछ गृह्यसूत्रों में विधान है कि निम्नुलिखित मन्त्र (ऋ० ४।३९।६) के उच्चारण के साथ वर-वधू को साथ-साथ दधि भक्षण करना चाहिए[2]:—

---

१. आप० गृ० २।६।११ (मं० पा० १।६।२), मा० गृ० १।१४।८।
२. शां० गृ० १।१७।१, का० गृ० २८।५, वा० गृ०१५।२।

दधिक्राव्णो अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः ।
सुरभि नो मुखा करत् प्र ण आयूंषि तारिषत् ।। [२८६]

मैं दही का पाचन करने वाले वैश्वानर, जयशील, शरीरव्यापी, अन्नपति जठराग्नि का सन्तर्पण करता हूँ। वह दही खाने वाले हमारे मुख को सुगन्धित अर्थात् विद्या आदि के उद्गार से अलङ्कृत करे। वह हमारी आयु दीर्घ करे। दे० पा०

वा० गृ० में उल्लेख है कि पहले केवल वर को ही अकेले दधि-भक्षण करना चाहिए। अध्यायोपाकर्म संस्कार में भी छात्रों द्वारा दधि-भक्षण की क्रिया के साथ इसके उच्चारण का विधान है।[1] केवल वा० गृ० ५।६ में उपनयन संस्कार के आरम्भ में छात्र द्वारा तीन बार दधि भक्षण के समय इसका विनियोग किया गया है। जो भी हो, इन सभी गृह्य-विनियोगों में मन्त्र दधि-भक्षण से सम्बद्ध है। ऐसा प्रतीत होता है कि आदि के शब्द में दधि की भ्रांति से ही सभी गृह्यसूत्रकारों ने इसे दधि-भक्षण से सम्बद्ध किया है। निरुक्त के अनुसार दधिक्रा एक घोड़े का नाम है।[2] दधिक्रा पद के समान ही दधिक्रावन् की भी व्युत्पत्ति की जा सकती है।

प्राग्- गृह्यसूत्र साहित्य की विस्तृत शृङ्खला में यह मन्त्र उपलब्ध होता है।[3] परन्तु उनमें से किसी भी ग्रन्थ द्वारा इसके गृह्य विनियोग की पुष्टि नहीं होती। उन सभी ग्रन्थों में अश्वमेध यज्ञ में उस समय सभी व्यक्तियों द्वारा इसके उच्चारण का विधान किया गया है जब मृत अश्व के पार्श्वमें लेटी हुई यजमान की पत्नी को वहाँ से उठाया जाता है। प्राचीनकाल से ही यह मन्त्र लोकप्रिय रहा होगा क्योंकि का० सं० और सभी ब्राह्मणों में इसका निर्देश प्रतीक द्वारा किया गया है। श० ब्रा०, तै० ब्रा० और आप० श्रौ० में इसका उल्लेख सुरभिमती ऋक् के नाम से हुआ है।

का० गृ० के एक भाष्यकार देवपाल ने दधिक्रावन् शब्द की दूराकृष्ट व्युत्पत्ति देते हुए इसके गृह्य-विनियोग का औचित्य सिद्ध किया है :—दधि क्रामति-

---

१. शां० गृ० ४।५।१०, का० गृ० ८।४, गो० गृ० ३।३।७।

२. नि० २।७।२७—अश्वनामान्युत्तराणि षड्विंशतिः...तत्र दधिक्रा इत्येतत् दधत् क्रामतीति वा, दधत् क्रन्दतीति वा, दधदाकारी भवतीति वा। इसे देवता भी माना गया है। नि० १०।३।३१ में उद्धृत मन्त्र ऋ० ४।३८।१० से प्रकट है कि यह वृष्टि-देव है।

३. दे० वै० कॉन्०, पृ० ४७१—अथर्व० २०।१३७।३, वा० सं० २३।३२, तै० सं० १।५।११।४, मै० सं० १।५।१, का० सं० ६।९, ऐ० ब्रा० ६।३८।८, श० ब्रा० १३।२।९।९, तै० ब्रा० ३।९।७।५ आप० श्रौ० ४।१४।१ इत्यादि।

स हि सर्वं भक्षितं जरयति जठरे स्थितो दध्यादिकम् । (दही का अतिक्रमण करता है अर्थात् पेट में स्थित वह (जठराग्नि) दही आदि सभी भुक्त पदार्थों को पचा देता है ।)

परन्तु मन्त्र के उतरार्ध को गृह्य-विनियोग के अनुकूल माना ही जा सकता है क्योंकि उसमें मुखके सुगन्धित होने की और दीर्घायुष्य की प्रार्थना है । यह स्पष्ट है कि कुल मिलाकर इस मन्त्रका गृह्य विनियोग गृह्यकारों के अज्ञान अथवा उदासीनता पर आधारित है । विवाह में विनियोग के लिए एक मात्र धूमिल संकेत तै० सं० २।२।५।१ में प्राप्त होता है जहाँ यह विधान है कि सन्तान की कामना करने वाले को वैश्वानर, वरुण, और दधिक्रावा को आहुति प्रदान करनी चाहिए ।

वाराह और मानव के अनुसार वर पहले स्वयं दधि-भक्षण करके अवशिष्ट भाग निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करता हुआ वधू को देता है[1] :—

चक्रमिवानडुहः पदं मामेवान्वेतु ते मनः ।
मां च पश्यसि सूर्यं च मा चान्येषु मनस्कृथाः ।
चाक्रवाकं संवननं तन्नौ संवननं कृतम् ।। [२८७]

जिस प्रकार रथ का चक्र बैल के पदचिह्नों पर चलता है उसी प्रकार तुम्हारा मन मेरा अनुसरण करे । तुम मुझे और सूर्य को देख रही हो, किसी अन्य के प्रति अपना मन आसक्त न करो । जिस प्रकार चकवों का संयोग होता है वैसा ही हम दोनों का संयोग हुआ है ।।

मा० गृ० में इसका अधोलिखित पाठ दिया गया है :—

चक्रीवानडुहौ वा मे वाङ्मैतु ते मनः ।
चाक्रवाकं संवननं तन्नौ संवननं कृतम् ।। [२८८]

जैसा कि ड्रेस्डन ने भी संकेत किया है, इस पाठ का पूर्वार्ध भ्रष्ट प्रतीत होता है ।[2] यहाँ सहभक्षणके अवसर पर हृदय-संयोग की प्रार्थना की गई है । दही का विशिष्ट उल्लेख नहीं है । और इसीलिये का० गृ० में आहुति-प्रदान के पश्चात् अवशिष्ट स्थालीपाक के वर-वधू द्वारा सह-भक्षण के अवसर पर इस मन्त्र के उच्चारण का विधान असङ्गत नहीं है ।[3] यहाँ यह विशेषोल्लेख करना अप्रासङ्गिक न होगा

---

१. वा० गृ० १५।२२, मा०गृ० १।१४।१२, दे० बौ० गृ० १।४।५, हि० गृ० १।२४।६, मा० गृ० १।१७, आग्नि० गृ० १।५।४ ।

२. मा० गृ० अनु० पृ० ७२, १।१४।१२ पर पा० टि० "उनके (का० गृ० और वा० गृ०) पाठ के अनुसार अनुवाद दिया गया है ।"

३. का० गृ० २६।१, द्वितीय पंक्ति—च पश्यसि के स्थान पर चैव पश्य, तृतीय पंक्ति—तन्नौ संवननं कृतम् के स्थान पर मम चामुष्याश्च भूयात् ।

कि इस मन्त्र में काव्य सौन्दर्य भी विद्यमान है क्योंकि इसमें दो आकर्षक उपमायें हैं। प्रथम तो कहा गया है कि "तुम्हारा मन उसी प्रकार मेरा अनुसरण करे जैसे रथ का चक्र बैल के पदचिह्नों पर चलता है।" इसके अतिरिक्त अन्त में नव-दम्पती के संयोग की तुलना चकवा-चकवी के आदर्श संयोग से की गई है। ये दोनों ही उपमायें भारतीय जीवन के अत्यन्त निकट हैं।

शां० गृ० १।१७।१ में वर-वधू के साथ-साथ दधि-भक्षण के अवसर पर निम्न लिखित तीन मन्त्रों (ऋ० ८।३५।१०-१२) का विनियोग किया गया है :—

पिबतं च तृप्णुतं चा च गच्छतं प्रजां च धत्तं द्रविणं च धत्तम्।
सजोषसा उषसा सूर्येण चोर्जं नो धत्तमश्विना ॥ [२८९]
जयतं च प्र स्तुतं च प्र चावतं प्रजां च............॥ [२९०]
हतं च शत्रून् यततं च मित्रिणः प्रजां च.........॥ [२९१]

हे अश्विनो, (सोम) पीजिये और तृप्त होइये और आइये, हमें सन्तान दीजिये और धन दीजिये। उषा और सूर्य के द्वारा शक्ति दीजिये॥ आप दोनों विजयी होइये, आपकी स्तुति हो और आप हमारी रक्षा कीजिये, हमें सन्तान दीजिये......॥ शत्रुओं का नाश कीजिये, मित्रों की सहायता कीजिये, हमें सन्तान दीजिये......॥

ये मन्त्र अश्विनों को सम्बोधित हैं। सन्तान, धन और अन्न की प्रार्थना इन सब में समान है। विवाहित जनों की यह सामान्य प्रार्थना है और विवाह संस्कार के किसी भी कर्म में सङ्गत हो सकती है। ऐसा प्रतीत होता है कि गृह्यसूत्रों के रचियता को पिबतं च तृप्णुतं च शब्दों ने दधि और ओदन के सह-भक्षण के प्रसङ्ग में इन मन्त्रों का विनियोग करने को प्रेरित किया। परन्तु यह ध्यान देने की बात है कि ये शब्द मन्त्र में दम्पती को नहीं कहे गये अपितु अश्विनों को कहे गये हैं। सम्भवतया अश्विनों की प्रार्थना करते हुए वर और वधू के मस्तिष्क में इस विचार की कल्पना की गई है कि हम भी अश्विनों के समान अनपायी हो जायें।

ध्रुवादि-दर्शन

सामवेदीय गृह्यसूत्रों में विधान है कि नक्षत्र-दर्शन से पूर्व वर को निम्नलिखित छः मन्त्रों के उच्चारण के साथ छः आहुतियाँ अर्पित करनी चाहियें:[1]—

---

१. गो० गृ० २।३।६ (मं० ब्रा० १।३।१-६) खा० गृ० १।४।३, जै० गृ० २०।१७। गो० गृ० के अनुसार समशन सहित नक्षत्र दर्शन कर्म वधू के पितृ-गृह में किया जाना चाहिये।

लेखासन्धिषु पक्ष्मस्वावर्तेषु च यानि ते।
तानि ते पूर्णाहुत्या सर्वाणि शमयाम्यहम् ॥
केशेषु यच्च पापकमीक्षिते रुदिते च यत्। तानि……॥
शीलेषु यच्च पापकं भाषिते हसिते च यत्। तानि……॥
आरोकेषु च दन्तेषु हस्तयोः पादयोश्च यत्। तानि……॥
ऊर्वोरुपस्थे जङ्घयोः सन्धानेषु च यानि ते। तानि……॥
यानि कानि च घोराणि सर्वाङ्गेषु तवाभवन्।
पूर्णाहुतिभिराज्यस्य सर्वाणि तान्यशीशमम् ॥ [२९२—२९७]

तुम्हारे शरीर की रेखाओं की सन्धियों में, बरौनियों में और शरीर के गर्तों में जो (दोष) हैं, उन सब को मैं पूर्णाहुति द्वारा शान्त करता हूँ ॥ तुम्हारे केशों में, दृष्टि में और रोदन में जो पाप अर्थात् दोष हैं, उन सबको…॥ तुम्हारे आचरण में, भाषण में और हंसने में जो दोष हैं, उन सबको……॥ तुम्हारे शरीररन्ध्रों, में हाथों और पाँवों में जो दोष हैं, उन सबको……॥ तुम्हारी जाँघों में, गोद में, पिण्डलियों और विविध सन्धिस्थलों में जो दोष हैं, उन सबको……॥ और जो भी भयानक दोष तुम्हारे सभी अङ्गों में हों, उन सबको मैं आज्य की पूर्णाहुतियों से शान्त करता हूँ ॥

इन मन्त्रों से आहुतियाँ अर्पित करके वर वधू के शरीरगत सभी दोषों को शान्त करने का समारम्भ करता है। ये मन्त्र किसी प्राग्-गृह्यसूत्र ग्रन्थ में प्राप्य नहीं। इस स्थिति में या तो उन्हें गृह्य-परम्परा सी उद्भूत कहा जा सकता है और या ये किसी ऐसे ग्रन्थ से उद्धृत हैं जो अब उपलब्ध नहीं।

शां०गृ० (१।१७।३) और पा०गृ० (१।८।१९)का विधान है कि वधू को ध्रुव-दर्शन कराते हुए वर को निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहियेः—

ध्रुवैधि पोष्या मयि मह्यं त्वादाद्बृहस्पतिः।
मया पत्या प्रजावती सं जीव शरदः शतम् ॥ [२९८]

मुझे तुम्हें, बृहस्पति ने दिया है, मेरे द्वारा पोषण योग्य तुम मेरे प्रति स्थिर हो जाओ। मुझ पति के साथ सन्तान सहित तुम सौ वर्षों तक जीवित रहो ॥

पा० गृ० में मन्त्र से पूर्व निम्नलिखित शब्द जोड़े गये हैं:—

ध्रुवमसि ध्रुवं त्वा पश्यामि। [२९९]

तुम ध्रुव हो, तुम ध्रुव को मैं देखता हूँ।

आप० गृ० २।६।१० (मं० पा० १।८।९) ने भी इस मन्त्र को उद्धृत किया है परन्तु वहाँ इसका विनियोग ऋषभचर्म पर वर-वधू के आसीन होने पर वर द्वारा अर्पित आहुतियों में से एक के साथ उच्चारणार्थ किया गया है।

यह ऋ० १०।८५ के अन्त में षष्ठ खिल मन्त्र है। प्रथम पाद के **ममेयमस्तु पोष्या** पाठान्तर सहित यह मन्त्र अथर्व० (१४।१।५२) में भी विद्यमान है। दोनों ही संहिताओं में यह विवाह सूक्तों का अंग है और इसलिये विवाह संस्कार में इसकी विनियोगार्हता सिद्ध है। मन्त्र में ध्रुव नक्षत्र का उल्लेख नहीं है। अतः उपर्युक्त ध्रुव दर्शन कर्म के साथ इसका एक मात्र सम्बन्ध ध्रुव शब्द प्रतीत होता है।

जै० गृ० (२२।१३) के अनुसार ध्रुव दर्शन करते हुए वधू को निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये:—

ध्रुवोऽसि ध्रुवाहं पतिकुले भूयासममुष्य ॥ [३००]

तुम ध्रुव (स्थिर) हो, मैं भी अपने इस पति के कुल में स्थिर हो जाऊँ ॥

गो० गृ० (२।३।९) में भी यही मन्त्र **ध्रुवोऽसि** के स्थान पर **ध्रुवमसि** शब्दों के साथ प्रयुक्त किया गया है।

तैत्तिरीय शाखा से सम्बद्ध अधिकांश गृह्यसूत्रों में ध्रुवोपासना के निमित्त एक भिन्न मन्त्र का विनियोग किया गया है:[1]—

ध्रुवक्षितिर्ध्रुवयोनिर्ध्रुवमसि ध्रुवतः स्थितम् ।
त्वं नक्षत्राणां मेथ्यसि स मा पाहि पृतन्यतः ॥ [३०१]

स्थिर निवास वाले, स्थिर जन्म स्थान वाले, तुम ध्रुव (स्थिर) हो। तुम स्थिरता से स्थित हो। तुम नक्षत्रों के स्तम्भ हो, ऐसे तुम शत्रु से मेरी रक्षा करो ॥ ओ० ब०

बौ० गृ० में प्रथम पाद का पाठ **ध्रुवोऽसि ध्रुवक्षितिः** है। मन्त्र का केवल प्रथम पाद ही यजुर्वेदीय ग्रन्थों में विद्यमान है।[2] वहाँ इस पाद वाला मन्त्र अश्विनों

---

१. आप० गृ० २।६।१२ (मं० पा० १।९।६), हि० गृ० १।२२।१४, भा०गृ० १।१८, बौ० गृ० १।५।१३, वै० गृ० ३।५।

२. वा० सं० १४।१, तै०सं०४।३।४।१, मै० सं० २।८।१, का०सं० १७।१, श०ब्रा० ८।१।१।४,१४, मा०श्रौ० ६।२।१, आप० श्रौ० १७।१।२, का०श्रौ०१७।८।१५। गृ० वि० ११]

को सम्बोधित है और वेदी पर अश्विनी इष्टकाओं के आधान में विनियुक्त है। ऐसा प्रतीत होता है कि गृह्यसूत्रों में यजुर्वेद से केवल प्रथम पाद उद्धृत किया गया है और गृह्य कर्म के अनुसार उसका विस्तार किया गया है। या फिर यह सम्भव है कि यह मन्त्र किसी अनुपलब्ध वैदिक संहिता का अंग था।

आग्नि०गृ० १।५।४, ६।३ में अधोलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है—

ध्रुवं नमस्यामि मनसा ध्रुवेण ध्रुवं नौ सख्यं दीर्घमायुश्च भूयात्।
अद्रुग्धावस्मिंश्च परे च लोके ध्रुवं प्रविष्टौ स्याम शरणं सुखार्तौ ॥[३०२]

स्थिर चित्त से मैं ध्रुव को नमस्कार करता हूँ, हमारी मित्रता स्थिर हो और आयु दीर्घ हो। इहलोक और परलोक में अवियुक्त होकर हम ध्रुव शरण में प्रविष्ट होकर सुखी हो जायें।

इस मन्त्र के उत्तरार्ध में कर्तृपद (सुखार्तौ) और क्रियापद (स्याम) में वचन की असङ्गति द्रष्टव्य है। यह मन्त्र केवल आग्नि० गृ० में विद्यमान है और सम्भवतया यह गृह्य परम्परा से उद्भूत हुआ है।

मा० गृ०१।१४।१० और वा० गृ० १५।२१ ने ध्रुव, अरुन्धती, जीवन्ती और सप्तर्षि नक्षत्रों को दिखाने के कर्म में निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग किया है :—

अच्युता ध्रुवा ध्रुवपत्नी ध्रुवं पश्येम सर्वतः।
ध्रुवासः पर्वता इमे ध्रुवा स्त्री पतिकुलेयम् ॥ [३०३]

तुम अविचल स्थिर ध्रुवपत्नी हो, हम सभी ओर ध्रुव को देखें। ये पर्वत, ध्रुव अर्थात् स्थिर हैं, पति के कुल में यह स्त्री स्थिर हो जाये।

वा० गृ० में **सर्वतः** के स्थान पर **विश्वतः** पाठ सहित केवल मन्त्र का पूर्वार्ध दिया गया है। यह मन्त्र भी प्राग्-गृह्यसूत्र साहित्य में अप्राप्य है।

तैत्तिरीय शाखा से सम्बद्ध गृह्यसूत्रों में अरुन्धती की उपासना के लिये निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है[1]:—

सप्त ऋषयः प्रथमां कृत्तिकानामरुधन्तीं यद् ध्रुवतां ह निन्युः।
षट् कृत्तिका मुख्ययोगं वहन्तीयमस्माकमेधत्वष्टम्यरुन्धती ॥ [३०४]

कृत्तिकाओं में प्रथम 'अरुन्धती' को जो सप्तर्षियों ने स्थिरता प्राप्त

१. बौ०गृ० १।५।१४, आप० गृ० ३।६।१२, (मं० पा० १।६।७,) भा० गृ० १।१६ (केवल अरुन्धती), वै०गृ० ३।५ (सप्तर्षि भी), हि० गृ० १।२२।१४, आग्नि० गृ० १।६।३ (सप्तर्षि, कृत्तिकायें और नक्षत्र भी।)

कराई है, वह आठवीं जो छः कृत्तिकाओं के साथ (चन्द्रमा का) योग कराती है, वह हमारे प्रति दीप्त हो।

उपरिलिखत पाठ बौ० गृ० का है। अन्य सभी गृह्यसूत्रों में अन्त में **अरुन्धती** शब्द नहीं है। मं० पा० को छोड़ कर शेष सभी में अंतिम पाद में **एधंतु** के स्थान पर **भ्राजतु** पाठ है। उनमें द्वितीय पाद में **यद्** के स्थान पर **ये** पाठ है और उसे **ध्रुवताम्** के पश्चात् रखा गया है। (हि०गृ० में उसका स्थान अपरिवर्तित ही है।) यह मन्त्र केवल गृह्यसूत्रों में उपलब्ध होता है और सम्भवतया यह गृह्य-परम्परा से उद्भूत है।

जै० गृ० २२।१४ के अनुसार अरुन्धतीनक्षत्र-दर्शन करते समय निम्नलिखित वाक्य का उच्चारण करना चाहिए :—

अरुन्धत्यरुद्धाहं पत्या भूयासममुना ॥ [३०५]

हे अरुन्धती, मैं इस पति के द्वारा रोकी न जाऊँ।

गो० गृ० २।३।११ (**अरुन्धत्यसि रुद्धाहमस्मि**) के आधार पर कैलेंड ने यहाँ **अरुद्धा** के स्थान पर **रुद्धा** संशोधन प्रस्तुत किया है और तदनुसार ही इसका अनुवाद किया है—"मैं अपने पति द्वारा अवरुद्ध की जाऊँ।" परन्तु वस्तुतः इस संशोधन की ऐसी आवश्यकता नहीं है क्योंकि **अरुद्धा** का भाव भी पूर्णतया सङ्गत है। उधर अरुन्धती में भी अरुद्धा की ध्वनि निकलती है। भाव यह है कि यदि पत्नी पर पति को सन्देह हो जाये तभी उस पर बन्धन लगाये जाते हैं, यदि पत्नी का चरित्र पूर्णतया शुद्ध हो तो किसी प्रकार के बन्धन का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः दूसरे शब्दों में वधू यहाँ अपनी सच्चरित्रता के लिये प्रार्थना कर रही है जिससे उसके प्रति किसी की भी संदिग्ध दृष्टि न हो।

गो० गृ० के अनुसार अरुन्धतीदर्शन के पश्चात् वर वधू को निम्नलिखित मन्त्र द्वारा सम्बोधित करता है। खा० गृ० में इसका विनियोग ध्रुवदर्शन में ही किया गया है[1] :—

ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवं विश्वमिदं जगत्।
ध्रुवासः पर्वता इमे ध्रुवा स्त्री पतिकुले इयम् ॥ [३०६]

आकाश स्थिर है, पृथिवी स्थिर है, यह सारा संसार स्थिर है। ये पर्वत स्थिर हैं, (इसी प्रकार) यह स्त्री पति के कुल में स्थिर हो जाये।

इस सम्पूर्ण मन्त्र की, और विशेष रूप से उत्तरार्ध की तुलना मन्त्र सं०

---

१. गो० गृ० २।३।१२ (मं० ब्रा० १।३।७), खा० गृ० १।४।४।

३०३ से की जा सकती है। यह मन्त्र पूर्ववर्ती ग्रन्थों में भी उपलब्ध होता है, परन्तु वहाँ चतुर्थ पाद का पाठ ध्रुवो राजा विशामयम् है।[1] इससे स्पष्ट है कि मूल रूप में यह मन्त्र किसी राज-कर्म से संबद्ध था, परन्तु गृह्यसूत्रों में गृह्यकर्म के अनुसार अंतिम पाद में परिवर्तन कर लिया गया। यद्यपि इस मन्त्र में किसी नक्षत्र का उल्लेख नहीं है, तथापि ऐसे चिरस्थायी पदार्थ परिगणित हैं जिनसे गार्हस्थ्य के स्थिरत्व की कामना अभिव्यक्त होती है।

आ० गृ० १।७।२२ और शां० गृ० १।१७।४ का विधान है कि नक्षत्रदर्शन के पश्चात् वधू को निम्नलिखित दो वाक्यों का उच्चारण करना चाहिये :—

ध्रुवं पश्यामि प्रजां विन्देय ॥ [३०७]

मैं ध्रुव को देख रही हूँ, मैं सन्तान प्राप्त करूँ।

जीवपत्नीं प्रजां विन्देय ॥ [३०८]

मेरा पति जीवित रहे, मैं सन्तान प्राप्त करूँ।

हि० गृ० १।२२।११-१३ के मतानुसार निम्नलिखित मन्त्र के द्वारा दिशाओं नक्षत्रों और चन्द्रमा की उपासना की जानी चाहिए :—

देवीः षडुर्वीरुरु णः कृणोत विश्वे देवास इह वीरयध्वम्।
मा हास्महि प्रजया मा तनूभिर्मा रधाम द्विषते सोम राजन् ॥ [३०९]

हे छः विशाल देवियो अर्थात् छः दिशाओ! हमें प्रभूत धन दो। हे सभी देवो इस कर्म में हमें सशक्त बनाओ। हम सन्तान से और शरीरों से भी त्यक्त न हों। हे राजा सोम, हम शत्रु के वशीभूत न हों॥ हृ० मि०

आप० गृ० ५।१२।१३ (मं० पा० २।९।६) के मतानुसार समावर्तन संस्कार के अंत में इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए स्नातक को दिशाओं, नक्षत्रों और चन्द्रमा की उपासना करनी चाहिये। विवाह और समावर्तन दोनों में इसके विनियोग का आधार यह दिशाओं आदि की उपासना ही है। यह मन्त्र संहिताओं में भी उपलब्ध होता है।[2] वहाँ धिष्ण्यों पर विहव्य इष्टकाओं के आधान में विनियुक्त मन्त्रों में से यह एक है। परन्तु इससे सम्बद्ध गृह्यकर्म इस श्रौतकर्म के समान नहीं है।

---

१. ऋ० १०।१७३।४, अथर्व० ६।८८।१, तै० ब्रा० २।४।२।८।

२. ऋ० १०।१२८।५, अथर्व० ५।३।६ (पूर्वार्ध) और ५।३।७ (उत्तरार्ध) आरम्भ दैवीः से और पूर्वार्ध के अंत में मादयध्वम्। तै० सं० ४।७।१४, का० सं० ४०।१०—आरम्भ में देवीः के स्थान पर त्रयीः।

सम्भवतया गृह्यसूत्रकारों के मस्तिष्क में मन्त्र की छः देवियों का अर्थ छः दिशायें, विश्वेदेवाः का अर्थ नक्षत्र-गण और राजा सोम का अर्थ चन्द्रमा रहा होगा।

ध्रुवोपासना के निमित्त हि० गृ० १।२२।१४-२३ में एक सम्पूर्ण अनुवाक के पाठ का विधान है। सकलपाठेन उद्धृत इस अनुवाक के प्रारम्भिक शब्द हैं :—

नमो ब्रह्मणे ध्रुवायाच्युतायास्तु ॥ [३१०]

भा० गृ० १।१६ में इसी कर्म के निमित्त इसे प्रतीकेन उद्धृत किया गया है। इस अनुवाक का कोई प्राग्-गृह्यसूत्र स्रोत उपलब्ध नहीं होता।

स्थालीपाक होम और समशन

विभिन्न नक्षत्रों का अवलोकन करके वर अग्नि में स्थालीपाक आहुतियां अर्पित करता है। तत्पश्चात् वरवधू स्थालीपाक के अवशेष का समशन करते हैं। गो० गृ० और खा० गृ० में निर्देश है कि समशन से पूर्व वर को निम्नलिखित तीन मन्त्रों द्वारा तीन बार भोजन का स्पर्श करना चाहिए[1] :—

अन्नपाशेन मणिना प्राणसूत्रेण पृश्निना।
बध्नामि सत्यग्रन्थिना मनश्च हृदयं च ते ॥[३११]

यदेतद्धृदयं तव तदस्तु हृदयं मम।
यदिदं हृदयं मम तदस्तु हृदयं तव ॥ [३१२]

अन्नम् प्राणस्य षड्विंशस्तेन बध्नामि त्वा असौ ॥ [३१३]

अन्नपाशरूपी मणि, रंगबिरंगे सत्य रूप गांठ वाले प्राणों के सूत्र से मैं तुम्हारे मन और हृदय को बांधता हूँ॥ जो यह तुम्हारा हृदय है, वह मेरा हृदय हो जाए, जो मेरा हृदय है वह तुम्हारा हृदय हो जाये॥ अन्न ही प्राणों का छब्बीसवां (प्राण) है, यह मैं उससे तुम्हें बांधता हूँ॥

प्रथम मन्त्र ऋ० खि० ३।१५।७ में **अन्नपाशेन** के स्थान पर **अन्नभयेन** पाठ सहित और **मनः** तथा **हृदयम्** के परस्पर स्थान-विनिमय सहित विद्यमान है। का० गृ० २६।१ में भी ये पाठान्तर हैं। इसमें तृतीय पाद **सिनोमि सत्यग्रंथिना** है। कौशिक० ८६।१० में भी उपरिलिखित तृतीय मन्त्र जैसा एक मन्त्रार्ध है :—

अन्नं प्राणस्य बन्धनं तेन बध्नामि त्वा मयि ॥

द्वितीय मन्त्र भी ऋ० खि० ३।१५।४ के रूप में विद्यमान है। उसमें प्रथम और तृतीय पाद क्रमशः **आ हरयेत् ते हृदयम्** और **अथो यन्मम हृदयम्** हैं। हृदय-

१. गो० गृ० २।३।२१ (मं० ब्रा० १।३।८-१०), खा० गृ० १।४।१०।

संयोग का भाव तीनों मन्त्रों में विद्यमान है । और क्योंकि समशन का भी उद्देश्य इस संयोग की प्राप्ति है, अतः ऐसा प्रतीत होता है कि ये मन्त्र मौलिक रूप में इसी कर्म के लिए रचे गए थे ।

दम्पती के स्थालीपाक के अवशेष के समशन के अवसर पर का० गृ० २६।१ में एक और मन्त्र के उच्चारण का विधान है :—

> अन्नमेव विवननमन्नं संवननं स्मृतम् ।
> अन्नं पशूनां प्राणोऽन्नं ज्येष्ठं भिषक् स्मृतम् ॥[३१४]

अन्न ही विभाजक और अन्न ही संयोजक माना जाता है । अन्न पशुओं का प्राण है, अन्न ही सर्वोत्तम औषधि माना गया है । दे० पा०

इस मन्त्र में अन्न की प्रशस्ति है और इसीलिए यह गृह्य प्रसंग में सर्वथा उपयुक्त है । वस्तुतः जिनके साथ खान-पान चलता हो वे ही बन्धु की श्रेणी में आते हैं । यह का० गृ० के अतिरिक्त अन्य किसी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होता । सम्भव है कि यह केवल गृह्य परम्परा से उद्भूत हो ।

पञ्चम अध्याय

सन्ततिलाभार्थ कर्म

चतुर्थी कर्म

सन्तति से सम्बद्ध कर्मों का श्रीगणेश गर्भाधान संस्कार से होता है। इस संस्कार का विवरण प्रायः सभी गृह्यसूत्रों में चतुर्थी कर्म के अन्तर्गत दिया गया है।[1] यह विधान है कि विवाह के पश्चात् तीन रात तक नवदम्पती को ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। चतुर्थ रात्रि को उन्हें विवाह निष्पत्ति करनी चाहिए। इस अवसर पर वे जो भी कर्मानुष्ठान करते हैं उन्हें सामूहिक रूप से चतुर्थी कर्म कहते हैं।

आज्याहुतियाँ

कुछ गृह्यसूत्रों के अनुसार सर्व प्रथम निम्नलिखित मन्त्रों का उच्चारण करते हुए अग्नि में आज्याहुतियाँ अर्पित करनी चाहियें[2]:—

अग्ने प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि। याऽस्यै पतिघ्नी तनूस्तामस्यै नाशय॥ [३१५]

वायो प्रायश्चित्ते...........। याऽस्यै प्रजाघ्नी.........॥ [३१६]

सूर्य प्रातश्चित्ते............। याऽस्यै पशुघ्नी ....॥ [३१७]

चन्द्र प्रायश्चित्ते............। याऽस्यै गृहघ्नी ....॥ [३१८]

गन्धर्व प्रायश्चित्ते ....। याऽस्यै यशोघ्नी.........॥ [३१९]

हे प्रायश्चित्तरूप अग्नि, तुम देवताओं की प्रायश्चित्ति हो, शरण का अभिलाषी मैं ब्राह्मण तुम्हारे पास आया हूँ। इसका जो पतिनाशक शरीर है उसे नष्ट कर दो ....इत्यादि।

---

१. केवल बौ० गृ० ४।६।१ और का० गृ० ३०।१ में गर्भाधान शब्द का प्रयोग किया गया है—परन्तु विवरण चतुर्थी कर्म जैसा ही है।

२. पा० गृ० १।११।२, गो०गृ० २।५।२ (मं० ब्रा० १।४।१-५) जै०गृ० २३।६-१६, खा० गृ० १।४।१२ हि० गृ० १।२४।१, आग्नि० गृ० १।६।३, बौ० गृ० १।६।१२-१५, आप० गृ० ३।८।१० (मं० पा० १।१०।३-६) मा० गृ० १।१६, शां० गृ० १।१८।३, वै० गृ० ३।४।

मन्त्रों का यह रूप पारस्कर द्वारा दिया गया है। हि० गृ० में **त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि** अंश को छोड़ दिया गया है। मन्त्र के प्रथम भाग में बौ० गृ०, मं० पा० और भा० गृ० को छोड़कर प्रायः सभी गृह्यसूत्रों में **उपधावामि** शब्द रखा गया है। इन तीनों में इसके स्थान पर **प्रपद्ये** पाठ है। और मन्त्र का दूसरा भाग निम्नलिखित है :—

याऽस्यां पतिघ्नी तनूः प्रजाघ्नी पशुघ्नी लक्ष्मीघ्नी जारघ्नीमस्यै तां कृणोमि ॥ [३२०]

जो इसका पतिनाशक, सन्ततिनाशक, पशुनाशक, लक्ष्मीनाशक शरीर है, इसके उस शरीर को मैं जारनाशक बनाता हूँ।

हि०गृ० में यह भाग भी पा०गृ० के समान है—केवल **पतिघ्नी** के स्थान पर **घोरा** और द्वितीय **अस्यै** के स्थान पर **इतः** पाठान्तर है। आग्नि० गृ० में भी यह भाग द्वितीय **अस्यै** के स्थान पर **इतः** और **नाशय** के स्थान पर **नाशयामसि** पाठान्तर सहित विद्यमान है। मं० ब्रा० में द्वितीय भाग का निम्ननिलिखित पाठ है :—

याऽस्याः पापी लक्ष्मीस्तामस्या अपजहि ॥ [३२१]

जै० गृ० में **पापी लक्ष्मीः** के स्थान पर **प्रजाघ्नी** पाठ है। शां० गृ० में **प्रायश्चित्ते** के स्थान पर **प्रायश्चित्तिरसि** पाठ है और प्रथम भाग में से **ब्राह्मणस्त्वा** आदि को छोड़ दिया गया है। द्वितीय भाग में इसमें **अस्यै** के स्थान पर **अस्याः** और **नाशय** के स्थान पर **अपजहि** पाठ है। गृह्यसूत्रों में देवताओं के नामों के विषय में भी मतभेद है। गो० गृ० और जै० गृ० में गन्धर्व को छोड़ दिया गया है और यह निर्देश किया गया है कि पाँचवीं आहुति के साथ चारों देवताओं को एक साथ सम्बोधित करना चाहिये और तदनुसार क्रिया बहुवचनान्त होनी चाहिये। हि० गृ० में अग्नि, वायु और आदित्य, देवताओं को लिया गया है और द्वितीय भाग में इनके साथ क्रमशः **घोरा, निन्दिता** और **पतिघ्नी** शब्दों का प्रयोग किया गया है। चतुर्थ आहुति के लिये मन्त्र का प्रारम्भ इस प्रकार होता है :—

आदित्य प्रायश्चित्ते, वायो प्रायश्चित्ते, अग्ने प्रायश्चित्ते, वायो प्रायश्चित्ते, अग्ने प्रायश्चित्ते, वायो प्रायश्चित्ते, आदित्य प्रायश्चित्ते ॥ [३२२]

आग्नि० गृ० में भी ये तीनों ही देवता हैं परन्तु वहाँ क्रमशः पत्नी के संवादी विशेषण **पतिघ्नी, पुत्रघ्नी** और **पशुघ्नी** हैं। चतुर्थ आहुति के लिये इसमें देवताओं के नामों के स्थान पर **सर्व** का प्रयोग किया गया है और द्वितीय भाग में सामूहिक रूप से **पतिघ्नी, पुत्रघ्नी, पशुघ्नी** और **निन्दिता** विशेषण दिये गये हैं। बौ० गृ०, आप० गृ० और भा० गृ० में अग्नि, वायु, आदित्य और प्रजापति देवता

रखे गये हैं। भा० गृ० में प्रजापति से सम्बद्ध द्वितीय भाग अधोलिखित है :—

यास्यै निन्दिता तनूस्तामितो नाशयामसि ॥ [३२३]

शां० गृ० में अग्नि, वायु और सूर्य देवता तथा उनके संवादी पत्नी के विशेषण पतिघ्नी, अपुत्रिया और अपशव्या दिये गये हैं। का० गृ० (२८।४) में कुछ परिवर्तनों सहित इन मन्त्रों का विनियोग दम्पती के वृषभ-चर्म पर बैठने के पश्चात् आहुतियों के लिये किया गया है। इसमें प्रथम भाग में से ब्राह्मणस्त्वा आदि छोड़ दिया गया है और प्रत्येक मन्त्र के द्वितीय भाग के रूप में

यास्यै मृशा तनूस्तामस्या नाशय स्वाहा [३२४]

वाक्य रखा गया है। चारों मन्त्रों में एक-एक करके क्रमशः वायु, सूर्य, चन्द्र और विष्णु देवों को सम्बोधित किया गया है। दूसरी बार देवों का यह क्रम विपरीत कर दिया गया है। और अन्त में अग्नि को भी सम्मिलित किया गया है। ये मन्त्र प्राग्-गृह्यसूत्र साहित्य में अनुपलब्ध हैं और इसीलिये ये केवल गृह्य-परम्परा का अंग प्रतीत होते हैं। इसी कारण सम्भवतया गृह्यसूत्रों में इनके इतने अधिक पाठान्तर प्राप्त होते हैं।

उपरिलिखित मन्त्रों के अतिरिक्त आप०गृ० ३।८।१०(मं०पा० १।१०।७-९) में आज्याहुतियों के साथ निम्नलिखित मन्त्रों के उच्चारण का भी विधान किया गया है :-

प्रसवश्चोपयामश्च काटश्चार्णवश्च धर्णसिश्च द्रविणं च भगश्चान्तरिक्षं च सिन्धुश्च समुद्रश्च सरस्वांश्च विश्वव्यचाश्च ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः······॥ [३२५]

मधुश्च माधवश्च शुक्रश्च शुचिश्च नमश्च नमस्यश्चेषश्चोर्जश्च सहश्च सहस्यश्च तपश्च तपस्यश्च ते यं·········॥ [३२६]

चित्तं च चित्तिश्चाकूतं चाकूतिश्चाधीतं चाधीतिश्च विज्ञातं च विज्ञानं च नाम च क्रतुश्च दर्शश्च पूर्णमासश्च ते यं·········॥ [१२३]

प्रसव (उत्पादन-शक्ति), उपयाम (संयम), काट, अर्णव (मेघ) घर्णसि (?) द्रविण (धन), भग (ऐश्वर्य), अन्तरिक्ष, नदियों के तथा अन्य जल से युक्त समुद्र और विश्वव्यापी (परमेश्वर)—वे (जो देव हैं), उनके वश में हम उसे स्थापित करते हैं जिससे हम द्वेष करते हैं और जो हमसे द्वेष करता है ॥ मधु और माधुर्य अर्थात् आनन्द, तेजस्वी और तेजस्विता, आकाश और आकाशीय (तत्त्व), इच्छायें और ऊर्जाएँ, बल और बलजन्य (शक्ति) तथा तपस्या और तपस्याजन्य (फल)—वे···॥ मन और मनन शक्ति, बुद्धि और विचार शक्ति, अध्ययन और विद्या, ज्ञान और

जानने की शक्ति, नाम और कर्म तथा अमावस्या और पूर्णमासी —वे…॥

सभी मन्त्रों में समार्न ते यम् आदि द्वितीय भाग का० सं० १७।६ में उपलब्ध होता है। संहिता में दध्मः के स्थान पर दधामि पाठ है। अग्निचिति कर्म में पञ्चचूडा इष्टकाओं का आधान करने के समय प्रयुक्त मन्त्रों के साथ इस भाग को संलग्न किया गया है। (दे० श० ब्रा० ८।६।१।१६) जहां तक मन्त्रों के प्रधानांश का प्रश्न है, प्रथम मन्त्र की तुलना मै० सं० ३।१२।१२ से की जा सकती है। वहाँ वे अश्व मेध-यज्ञ में जल को आहुति देने के लिये विनियुक्त किये गये हैं। (दे० आप० श्रौ० १७।२।६) द्वितीय मन्त्र लगभग सभी यजुर्वेद संहिताओं में प्राप्त होता है।[1] मै० सं० में द्वितीय भाग सहित सम्पूर्ण मन्त्र विद्यमान है, मात्र पाठान्तर एषाम् के स्थान पर एतयो: है। तै० सं० में प्रत्येक च के पश्चात् त्वम् पाठ है, इसमें द्वितीय भाग का अभाव है। वा० सं० और का० सं० दोनों में प्रथमा विभक्ति के स्थान पर चतुर्थी का प्रयोग किया गया है। तदनुसार वहाँ प्रत्येक वाक्य उपयामगृहीतोऽसि मधवे त्वा रूप में प्राप्त होता है। प्राग्- गृह्यसूत्र साहित्य में इस मन्त्र का विनियोग सोमयाग के अन्तर्गत ऋतुग्रहों को ग्रहण करने के लिये किया गया है।[2] तृतीय मन्त्र तै० सं० ३।४।४।१ और मै० सं० १।४।१४ में प्रसिद्ध जय-मन्त्रों के रूप में प्राप्त होता है। तै० सं० में अधीतं चाधीतिश्च के स्थान पर मनश्च शक्वरीश्च और नाम च ऋतुश्च के स्थान पर बृहच्च रथन्तरं च पाठ है। मै० सं० में ऋतुः के स्थान पर भगः पाठ है। प्राग्-गृह्यसूत्र साहित्य में इन मन्त्रों के विनियोग के आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि आप० गृ० में केवल तृतीय मन्त्र के श्रौत विनियोग का अनुसरण किया गया है क्योंकि अन्य मन्त्र कहीं भी अग्नि में आहुति डालने के प्रसङ्ग में विनियुक्त नहीं हुए।

केवल द्वितीय और तृतीय मन्त्रों का विविध गृह्यविनियोग हुआ है। आग्नि० गृ० १।७।४ में आग्रयण कर्म की मुख्य आहुति के साथ तपस्यश्च तक द्वितीय मन्त्र के उच्चारण का विधान है। बौ० गृ० १।१।१६ के अनुसार सामान्य रूप से गृह्यकर्मों में जय-आहुतियों के लिये तृतीय मन्त्र का विनियोग किया गया गया है। हि० गृ०, आग्नि० गृ० और भा० गृ० में उपनयन के अन्तर्गत अग्नि-स्विष्टकृत् में जय-आहुतियों के अर्पण के समय इस मन्त्र के उच्चारण का विधान है।[3]

---

१. वा० सं० ७।३०; २२।३१ तै०सं० १।४।१४ का०सं० ४।७, मै०सं० १।३।१६; ३।१२।१३।

२. श० ब्रा० ४।३।१।१४, आप० श्रौ० १२।२६।११, का० श्रौ० ६।१३।१-४।

३. हि० गृ० १।३।६, आग्नि० गृ० १।१।२, भा० गृ० ३।४।

विवाह संस्कार में अग्नि के पश्चिम में वर-वधू के बैठने के पश्चात् जय-आहुतियों के लिये प्रायः सभी गृह्यसूत्रों द्वारा तृतीय मन्त्र का विनियोग किया गया है। **दे० तृतीय अध्याय, मन्त्र सं० १२३।**

शाखा-अपहरण

केवल बौ० गृ० १।५।१८ में यह विधान है कि स्थालीपाक और आज्याहुतियों के पश्चात् दम्पती के मध्य तीन रात तक स्थापित की गई शाखा का अपहरण पति को निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए करना चाहिये :–

ऊर्जः पृथिव्या अध्युत्थितोऽसि वनस्पते शतवल्शो विरोह।
त्वया वयमिषमूर्जं वदन्तो रायस्पोषेण समिषा मदेम ॥ [३२७]

हे वनस्पते, तुम पृथिवी की ऊर्जा से उत्पन्न हुई हो, तुम सैंकड़ों शाखाओं वाली होकर बढ़ो। हम तुम्हारे द्वारा इच्छा और ऊर्जा का वर्णन करते हुए धन की पुष्टि तथा इच्छा (की पूर्ति) से आनन्दित हों॥

यह मन्त्र विभिन्न प्राग्-गृह्यसूत्र ग्रन्थों के मन्त्रों का विचित्र सम्मिश्रण है। इसका द्वितीय पाद ऋ० ३।८।११ का प्रथम पाद है तथा चतुर्थपाद यजुर्वेद संहिताओं में विद्यमान एक मन्त्र का चतुर्थपाद है।[1] यह शां० गृ० ३।११।१४ और पा० गृ० ३।९।६ में वृषोत्सर्ग में प्रयुक्त एक मन्त्र का चतुर्थ पाद भी है। विशेष ध्यान देने की बात यह है कि इस सम्मिश्रण की रचना गृह्यसूत्रों से पूर्व ब्राह्मण और श्रौत ग्रन्थों में हो चुकी थी।[2] सम्भवतया इस मन्त्र का स्रोत कोई ऐसी संहिता होगी जो अब उपलब्ध नहीं। श्रौत-कर्मकाण्ड में इसका विनियोग **अग्न्याधान** के अन्तर्गत उदुम्बर की लकड़ी लाने के लिये किया गया है। उपर्युक्त गृह्यकर्म में भी पति के द्वारा हटाई जाने वाली शाखा उदुम्बर वृक्ष की है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि इस मन्त्र के विनियोग में बौ० गृ० श्रौत-विनियोग से प्रभावित हुआ है।

पति उस शाखा को पत्नी के पास ले जाता है, वह इसे स्वीकार करती है। वह इसे उस (पति) के पास ले जाती है, वह इसे स्वीकार करता है। बौ० गृ० १।५।१९-२२ में इन चारों क्रियाओं के साथ क्रमशः निम्नलिखित मन्त्रों के उच्चारण का विधान है :—

प्रजया त्वा संसृजामि मासरेण सुरामिव।
प्रजावती भूयासम् ॥

---

१. वा० सं० ४।१, तै० सं० १।२।३।३, का० सं० २।४।

२. दे० तै० ब्रा० १।२।१।५, आप० श्रौ० ५।२।४।

प्रजया त्वा पशुभिः संसृजामि मासरेण सुरामिव ॥
प्रजावान् पशुमान् भूयासम् ॥ [३२८-३३१]

जिस प्रकार मासर से सुरा को मिश्रित किया जाता है, उसी प्रकार मैं तुम्हें सन्तान से संयुक्त करता हूँ ॥ मैं सन्तान से युक्त हो जाऊँ ॥ जैसे मासर से सुरा को मिश्रित किया जाता है उसी प्रकार मैं तुम्हें सन्तान और पशुओं से संयुक्त करती हूँ ॥ मैं सन्तान और पशुओं से युक्त हो जाऊँ ॥

भा० गृ० १।१६ में ऐसा ही मन्त्र लाजाहोम के अवसर पर प्रयुक्त इयं नार्युपब्रूते आदि मन्त्र के विस्तार के रूप में प्राप्त होता है।

मासर जल का एक घोल है जिसमें चावल और बाजरे को प्रकिण्व (खमीर), घास आदि के साथ उबाला जाता है।[1] अमरकोष के अनुसार चावलों के माँड को ही मासर कहते हैं।[2]

परस्परावलोकन

आप० गृ० ३।८।१० (मं० पा० १।११।१,२) में विधान किया गया है कि आहुतियों के पश्चात् निम्नलिखित मन्त्रों (ऋ० १०।१८३।१-२) में से प्रथम का उच्चारण करते हुए पत्नी पति का और द्वितीय मन्त्र का उच्चारण करते हुए पति पत्नी का अवलोकन करे :—

अपश्यं त्वा मनसा चेकितानं तपसो जातं तपसो विभूतम् ।
इह प्रजामिह रयिं रराणः प्र जायस्व प्रजया पुत्रकाम ॥ [३३२]
अपश्यं त्वा मनसा दीध्यानां स्वायां तनू ऋत्व्ये नाधमानाम् ।
उप मामुच्चा युवतिर्बभूयाः प्र जायस्व प्रजया पुत्रकामे ॥[३३३]

हे पुत्र के इच्छुक, ब्रह्म तेज के द्वारा अतिशय दीप्तियुक्त, तपस्या अर्थात् प्रजापति से उत्पन्न और उसी से वृद्धि को प्राप्त हुए आपको मैं मनसे देखती हूँ। मुझसे पुत्र रूप धन लेते हुए आप संतान उत्पन्न कीजिये ॥ हे पुत्र की इच्छुक, समृद्धि के लिये अपने शरीर में से सन्तान की याचना करने वाली तथा दीप्तिमती तुम्हें मैं मन से देखता हूँ। मेरे समीप रहती हुई तुम पूज्यतमा तरुणी हो जाओ, सन्तान के रूप में तुम जन्म लो। दे०पा०

मैत्रायणी और काठक संहिताओं से सम्बद्ध गृह्यसूत्रों के अनुसार[3] जब दम्पती

---

१. मोनियर विलियम्स-संस्कृत-अंग्रेजी शब्द-कोष।
२. मासराचामनिस्रावा मण्डे भक्तसमुद्भवे ॥ अमर० १८०५।
३. मा० गृ० १।१४।१६, वा०गृ० १६।१, का० गृ० ३०।३।

एक ही शय्या पर शयन करें तो पत्नी और पति द्वारा क्रमशः प्रथम और द्वितीय मन्त्र का उच्चारण किया जाना चाहिये। यद्यपि सन्तान की प्रार्थना होने के कारण यह मन्त्र चतुर्थीकर्म की किसी भी क्रिया में सुसङ्गत हो सकता है, तथापि आदि शब्द **अपश्यम्** को देखते हुए आपस्तम्ब द्वारा अवलोकन-क्रिया में इसका विनियोग उपयुक्ततम है। इतना ही नहीं, इस विनियोग की श्रौत-पृष्ठभूमि भी है क्योंकि आ० श्रौ० ४।६।३ में प्रवर्ग्य के अवसर पर पुरोहित द्वारा प्रथम तथा द्वितीय मन्त्रों का उच्चारण करते हुए यजमान और उसकी पत्नी के अवलोकन का विधान है। इस विषय में हम यह भी कह सकते हैं कि उपर्युक्त मन्त्र प्राप्त होने पर आपस्तम्ब आदि ने शाखान्तर का ध्यान नहीं किया। ध्यान देने की बात है कि आ० श्रौ० ऋग्वेद से सम्बद्ध है।

दम्पती द्वारा हृदयदेश-संमार्जन

आप० गृ० ३।८।१०(मं०पा० १।११।३) के अनुसार यज्ञावशिष्ट आज्य द्वारा पति **समञ्जन्तु** इत्यादि मन्त्र का उच्चारण करता हुआ अपने और पत्नी के हृदय देश का संमार्जन करता है। ऋ०१०।८५।४७ के इस मन्त्र का विवेचन द्वितीय अध्याय में किया जा चुका है। (दे० मन्त्र सं० १२०)।

उपर्युक्त गृह्यसूत्र के अनुसार ही हृदयदेश-संमार्जन की क्रिया के तत्काल पश्चात् पति को निम्नलिखित तीन मन्त्रों (मं० पा० १।११।४-६) का उच्चारण करना चाहिये :—

प्रजापते तन्वं मे जुषस्व त्वष्टर्देवेभिः सहसा म इन्द्र।
विश्वैर्देवै रातिभिः संरराणः पुंसां बहूनां मातरः स्याम ॥ [३३४]
आ नः प्रजां जनयतु प्रजापतिराजरसाय समनक्त्वर्यमा।
अदुर्मङ्गलीः पतिलोकमा विश शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ॥
तां पूषन् शिवतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्या वपन्ति।
या न ऊरू उशती विश्रयाते यस्यामुशन्तः प्रहराम शेपम् ॥ [३३५]

हे प्रजापति, मेरे शरीर को स्वीकार कीजिये। हे त्वष्टृरूप प्रजापति, हे इन्द्र, बल से युक्त होकर देवताओं और विश्वेदेवों के साथ दानकर्मों द्वारा प्रसन्न होते हुए मेरे शरीर को स्वीकार कीजिये। मैं बहुत से पुत्रों की माता हो जाऊँ ॥ दे० पा०—हे पूषन्! उस अनन्त कल्याणी (स्त्री) को (हमारी ओर) प्रेरित कीजिये, जिसमें मनुष्य (शुक्राणुरूप) बीज-वपन करते हैं, जो सन्तान की कामना करती हुई हमारे उपस्थ का आश्रय लेती है और जिससे (सन्तान की) कामना करते हुए हम शेप (जननेन्द्रिय) का

प्रहार करते हैं ।।

प्रथम मन्त्र किसी भी संहिता में उपलब्ध नहीं होता ।[1] मैत्रायणी और काठक संहिताओं से सम्बद्ध गृह्यसूत्रों में समानशय्या पर दम्पती के शयन के समय पत्नी द्वारा उच्चारणार्थ इसका विनियोग किया गया है ।[2] इन गृह्यसूत्रों में मन्त्र के पाठ में कुछ भेद भी है । का० गृ० का पाठ मं० पा० के निकटतम है । केवल मात्र भेद **म इन्द्र** के स्थान पर **न इन्द्रः** और **रातिभिः संरराणः** के स्थान पर **यज्ञियैः संविदानः** है । इसमें भी क्रिया मध्यमपुरुषवाची होने के कारण इन्द्रः (प्रथमा) भ्रष्ट प्रतीत होता है । मा० गृ० में तो पाठ नितान्त भिन्न है :—

प्रजापतिस्तन्वं मे जुषस्व त्वष्टा देवैः सहमान इन्द्रः ।
विश्वेदेवैर्ऋतुभिः संविदानः पुंसां बहूनां मातरौ स्याव ।।

यह भी भ्रष्ट पाठ प्रतीत होता है । क्योंकि यहां भी कर्ता (प्र० पु०) और क्रिया (म० पु०) में संगति नहीं । **सहमानः** भी **सहसा नः** का भ्रष्ट रूप प्रतीत होता है । वा० गृ० में प्रथम पाद तो मं० पा० जैसा ही है, परन्तु तदनन्तर तीनों पादों का पाठ निम्नलिखित है :—

त्वष्टा वीरैः सहसाहमिन्द्रः । इन्द्रेण देवैर्वीरुधः संव्ययन्तां बहूनां पुंसां पितरौ स्याव ।।

यद्यपि पाठान्तरकार ने इसमें सङ्गति बिठाने का पूरा प्रयत्न किया है तथापि इसे मौलिक पाठ नहीं कहा जा सकता । अन्य पाठों से तुलना करने पर इसकी भ्रष्टता स्पष्ट हो जाती है । निस्सन्देह मं० पा० का पाठ मौलिक प्रतीत होता है । इसमें भी अन्य पाठों की सहायता से डा० पिल्ले के अनुसार **सहसाम** (एक शब्द-सामों से युक्त) के स्थान पर **सहसा मे** (दो शब्द) स्वीकार करना उचित समझा गया है ।[3]

बौ० गृ० १।९।३ द्वारा इसका विनियोग पुंसवन संकार में किया गया है । उस संस्कार का उद्देश्य भी पुत्रोत्पत्ति होने के कारण वहाँ भी यह असङ्गत नहीं है । अन्तिम दोनों मन्त्र ऋग्वेद और अथर्ववेद के विवाह-सूक्तों से उद्धृत हैं ।[4] इससे सिद्ध है कि मूल रूप में इनकी रचना इसी कर्म में विनियोगार्थ की गई थी । द्वितीय मन्त्र का विवेचन किया जा चुका है । (दे० मन्त्र सं० २७५) अन्तिम मन्त्र बौ० गृ०

१. तृतीय पाद की तुलना तै० सं० ५।७।२४।१ के द्वितीय पाद विश्वैर्देवैर्यज्ञियैः संविदानः से की जा सकती है ।
२. मा० गृ० १।१४।१६, वा० गृ० १६।१, का० गृ० ३०।३ ।
३. नॉन ऋग्० मन्त्रज इन मैरिज, सं० ३८५, पृ० ३०७ ।
४. १०।८५।४३,३७, अथर्व० १४।२।४०,३८ ।

१।७।४४ में एक समान प्रसङ्ग में विनियुक्त किया गया है। पा० गृ० १।४।१६ में विवाह संस्कार में वर-वधू के परस्पर समीक्षण के अवसर पर इसी मन्त्र का ईषद् भिन्न रूप प्रयुक्त किया गया है :—

सा नः पूषा शिवतमामेरय सा न ऊरू उशती विहर ।
यस्यामुशन्तः प्रहराम शेपं यस्यामु कामा बहवो निविष्ट्यै ॥ [३३५ क]

इस पाठ की भ्रष्टता प्रथम पाद में ही प्रकट हो जाती है। **पूषा** (पुं०) कर्ताकारक प्रथमा विभक्ति में है और सा (स्त्री०) भी उसी कारक और विभक्ति में है जब कि दोनों का लिङ्गभेद के कारण विशेषण विशेष्य सम्बन्ध नहीं हो सकता। दूसरी असङ्गति **सा** अथवा **पूषा** (प्र० पु०) और **एरय** म० पु० के पुरुष भेद में है। हि० गृ० १।२।२० के अनुसार पाणिग्रहण कर्म के पश्चात् वर द्वारा इस मन्त्र का उच्चारण किया जाना चाहिये। परन्तु मन्त्र के अर्थ के सर्वाधिक अनुकूल विनियोग आपस्तम्ब का ही है।

ऋतु-समावेशन से पूर्व मन्त्रोच्चारण

चतुर्थी कर्म के विवरण के पश्चात् आपस्तम्ब, बौधायन और हिरण्यकेशी ने विधान किया है[1] कि पत्नीके ऋतुस्नाता होने पर, पति को उसके साथ समावेशन के अवसर पर निम्नलिखित मन्त्रों का उच्चारण करना चाहिये।[2] हि० गृ० के अनुसार इन मन्त्रों के द्वारा पति को पत्नी का आह्वान करना चाहिये :—

विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु ।
आ सिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भम् दधातु ते ॥ [३३६]
गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वति ।
गर्भं ते अश्विनौ देवावा धत्तां पुष्करस्रजा ॥ [३३७]
हिरण्ययी अरणी यं निर्मन्थतो अश्विना ।
तं ते गर्भम् हवामहे दशमे मासि सूतवे ॥[३३८]

विष्णु तुम्हारा गर्भ तैयार करे, त्वष्टा (शिशु के) रूप का निर्माण करे, प्रजापति (शुक्र) सिंचित करे, धाता तुम्हारा गर्भ-धारण करे।। हे सिनीवाली, गर्भ प्रदान करो, हे सरस्वती, गर्भ प्रदान करो, कमल-माला धारण किये हुए दोनों अश्विन्देव तुम्हें गर्भ प्रदान करें। जिस भ्रूण को दोनों अश्विन्देव अपनी सुवर्णमयी अरणियों से उत्पन्न करते हैं, उस भ्रूण को

---

१. आप० गृ० ३।८।१३ (मं० पा० १।१२।१-३), बौ० गृ० १।७।३७,३६,४०, हि० गृ० १।२५।१।
२. ऋ० १०।१८४।१-३, अथर्व० ५।२५।५,३ (केवल प्रथम दो)

हम तुम्हारी कुक्षि में आह्वान करते हैं जिससे कि दस मास पश्चात् तुम उसे जन्म दो।। ओ० ब०

सामवेदीय गृह्यसूत्रों में इन मन्त्रों का विनियोग चतुर्थीकर्म में पति द्वारा उच्चारणार्थ किया गया है।[1] केवल जै० गृ० में तीनों मन्त्र हैं। गो० गृ० और खा० गृ० में केवल प्रथम दो मन्त्रों का विनियोग है। मन्त्रों के गृह्य-विनियोग का आधार ब्राह्मणों में प्रतीत होता है क्योंकि वहां भी पुत्रमन्थ कर्म के अन्तर्गत पति द्वारा पत्नी का स्पर्श करने पर इनके उच्चारण का विधान है।[2] उपर्युक्त सभी प्रयोगों में यह बात समान है कि मन्त्रों का उच्चारण समावेशन से पूर्व निर्दिष्ट है। शां० गृ० १।२२।१२ में केवल प्रथम मन्त्र का विनियोग सीमन्तोन्नयन संस्कार में उस अवसर पर किया गया है जब कि पति उस उदपात्र में अक्षत-धान डालता है जिसमें से पत्नी को जल पीना होता है। इस विशेष विनियोग का आधार सम्भवतया **आ सिञ्चतु** शब्द है।

उपर्युक्त मन्त्रों के समान ही आपस्तम्ब, बौधायन और हिरण्यकेशी ने निम्न-लिखित दोनों मन्त्रों का विनियोग उपर्युक्त अवसर पर ही किया है[3]:—

यथाग्निगर्भा पृथिवी द्यौर्यथेन्द्रेण गर्भिणी।
वायुर्यथा दिशां गर्भ एवं गर्भं दधामि ते।। [३३९]
व्यस्य योनिं प्रति रेतो गृहाण पुमान् पुत्रो जायतां गर्भे अन्तः।
तं माता दशमासो बिभर्ति स जायतां वीरतमः स्वानाम्।। [३४०]

जिस प्रकार से पृथिवी के गर्भ में अग्नि है, जिस प्रकार आकाश के गर्भ में इन्द्र है, जिस प्रकार दिशाओं का गर्भ वायु है, उसी प्रकार मैं तुम्हारा गर्भ स्थापित करता हूँ।। योनि को खोल कर रेतः (वीर्य) स्वीकार करो, तुम्हारे गर्भ के भीतर पुत्र उत्पन्न हो। माता उसे दस मास तक धारण करे, वह अपने सम्बन्धियों में सबसे अधिक वीर रूप में उत्पन्न हो।।

मन्त्रों का यह पाठ श० ब्रा० और हि० गृ० के अनुसार है। बौ० गृ० में केवल प्रथम मन्त्र का विनियोग किया गया है। इसमें बौ० गृ० और मं० पा० में **दधामि** के स्थान पर **दधातु** पाठ है। द्वितीय मन्त्र के द्वितीय पाद में मं० पा० में **जायताम्** के स्थान पर **धीयताम्** पाठ है। शां० गृ० (१।१९।६) में ये दोनों मन्त्र

---

१. गो० गृ० २।५।६ (मं० ब्रा० १।४।६, ७), खा०गृ० १।४।१५, जै०गृ० २३।१८।
२. कौ० ब्रा० ८।५, श० ब्रा० १४।९।४।२०, बृ० उ० ६।४।२१-२२।
३. आप० गृ० ३।८।१३ (मं० पा० १।१२।५, ८), बौ० गृ० १।७।३८, हि० गृ० १।२५।१।

भिन्न प्रसङ्ग में आये हैं। तदनुसार उनका उच्चारण पति द्वारा पत्नी के साथ समावेशन के पश्चात् किया जाना चाहिये। प्रथम मन्त्र में शां० गृ० में **पृथिवी** के स्थान पर **भूमिः** पाठ है। द्वितीय मन्त्र में इसमें **व्यस्य** के स्थान पर **यस्य**, **प्रति** के स्थान पर **पति**, **गृहाण** के स्थान पर **गृभाय**, **जायताम्** के स्थान पर **धीयताम्** और **वीरतमः** के स्थान पर **श्रैष्ठचतमः** पाठ है। तृतीय पाद **तं पिपृहि दशमास्योऽन्तरुदरे** है। शां०गृ० में इस मन्त्र के प्रारम्भ में **यस्य** पाठ भ्रष्ट प्रतीत होता है। यद्यपि **प्रति** के स्थान पर **पति** भी अज्ञान का परिणाम प्रतीत होता है, तथापि प्रसङ्ग में उसकी सङ्गति बैठ जाती है। ऐसा आभास होता है कि विशेष रूप से शाखाभेद प्रदर्शित करने के लिये ये परिवर्तन किये गये होंगे।

श० ब्रा० में केवल प्रथम मन्त्र की विनियोग पुत्रमन्थ में पत्नी का आश्लेष करते हुए पति के उच्चारणार्थ किया गया है[1]। अतः इसका गृह्य-विनियोग का आधार होना स्पष्ट ही है।

पत्नी के गुप्त अंगों का स्पर्श

गन्धर्वस्य विश्वावसोर्मुखमसि ॥ [३४१]

तुम विश्वावसु गन्धर्व का मुख हो।

विवाह से गन्धर्व का सम्बन्ध सुविख्यात है। लाक्षणिक रूप में यहाँ गन्धर्व को विवाह-निष्पत्ति का द्वार कहा गया है। इसके अतिरिक्त गन्धर्व के मुख से पवित्रता का भाव भी सम्बद्ध प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ अथर्व० ७।७३।३ में कहा गया है कि सभी देवता गन्धर्व के मुख से लेहन करते हैं[2] :—

तमु विश्वे अमृतासो जुषाणा गन्धर्वस्य प्रत्यास्ना रिहन्ति ॥ [३४१ क]

उपर्युक्त क्रिया के लिये ही हि० गृ० १।२४।३ और भा० गृ० १।२० में निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है :—

अभि त्वा पञ्चशाखेन शिवेनाविद्विषावता।
साहस्रेण यशस्विना हस्तेनाभिमृशामसि सुप्रजास्त्वाय ॥ [३४२]

पाँच शाखाओं (उंगलियों) वाले, कल्याणकर, विद्वेषरहित, सहस्रों की शक्ति से युक्त, यशस्वी हाथ के द्वारा शोभन सन्तान के लिये मैं तुम्हारा स्पर्श करता हूँ ॥

---

१. श० ब्रा० १४।६।४।२१, बृ० उ० ६।४।२२, दे० अथर्व० ५।२५।२।

२. दे० आ० श्रौ० ४।७।४, शां० श्रौ० ५।१०।२३—तमीं विश्वे इत्यादि।

भा० गृ० में मन्त्रका पूर्वार्ध शिवेन त्वा पंचशाखेन हस्तेनाविद्विषावता है। उत्तरार्ध में हस्तेन नहीं है और अभिमृशामसि के स्थान पर अभिमृशामि पाठ है। परन्तु इस पाठ में छन्दोभङ्ग हो गया है जबकि हि० गृ० के पाठ में से यदि अन्तिम शब्द निकाल दिया जाये (क्योंकि वह अतिरिक्त प्रतीत होता है) तो मन्त्र पूर्ण अनुष्टुभ् होगा। किसी भी रूप में मन्त्र काव्यात्मक होते हुए पूर्णतया प्रसङ्गानुकूल है।

उपर्युक्त क्रिया के लिये ही बहुत से गृह्यसूत्रों द्वारा एकशब्दात्मक अत्यन्त लघु मन्त्र का प्रयोग किया गया है[1] :—

करत् ॥ वह शुभ करे। [३४३]

केवल भा० गृ० में इसके आगे दधत् जोड़ा गया है। कौशिक० ९१।११ में परम्परा से पृथक् इस मन्त्र का विचित्र प्रयोग हुआ है। तदनुसार अर्घ्यकर्म में अतिथि इस मन्त्रका उच्चारण करता हुआ षष्ठ वार मधुपर्क-भक्षण करता है। वहां इसके साथ स्वाहा भी जुड़ा हुआ है। सम्भवतया दोनों प्रसङ्गों में मन्त्र का अर्थ प्रसङ्गानुकूल होने के कारण इसका विनियोग मधुपर्क में भी किया गया है।

पत्नी के गुप्ताङ्ग-स्पर्श की क्रिया के लिये कौशिक० ७७।११ में निम्नलिखित मन्त्र (अथर्व० ४।१।१) का विनियोग किया गया है :—

ब्रह्मजज्ञानम् प्रथमं पुरस्ताद्र् विसीमतः सुरुचो वेन आवः।
स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च वि वः॥ [३४४]

जो ब्रह्म पहले पूर्व दिशा में उत्पन्न हुआ था, वेन (सूर्य) सुदीप्त सीमा से प्रकट हुआ था, उसने इस सत् और असत् की योनि (गर्भ) के मूल रूपों को प्रकट किया है॥ ह्विट्ने

विभिन्न ब्राह्मण ग्रन्थों में इस मन्त्र का विनियोग विविध प्रसङ्गों में किया गया है।[2] श० ब्रा० में राजसूय यज्ञ के अंतर्गत अग्निचिति में कमलपत्र पर यजमान का स्वर्णहार स्थापित करने के अवसर पर इसके उच्चारण का विधान है। ऐ० ब्रा० और कौ० ब्रा० के अनुसार इसका उच्चारण प्रवर्ग्य कर्मों में होता को करना चाहिये। तै० ब्रा० में पशुयज्ञों में वपा की आहुति में इसका विनियोग किया गया है। कौशिक० में स्वयं यह मन्त्र विविध रूप में विनियुक्त हुआ है। कौशिक० ९।१ में इसका विनियोग गौओं के स्वास्थ्य और कल्याण के निमित्त कर्मों में किया

---

१. मा० गृ० १।१४।७, वा० गृ० १६।२, का० गृ० ३०।५, भा० गृ० १।२०।
२. श० ब्रा० ७।४।१।१४, वैतान० २८।२३, ऐ० ब्रा० १।१९, कौ० ब्रा० ८।४ तै० ब्रा० २:८।८।८।

गया है, कौशिक० ३८।२३ में इसका विनियोग विद्या में सफलता और प्रतिस्पर्धा में विजय प्राप्त करने के लिये किया गया है, कौशिक० १३६।१० में वेदारम्भ के समय इसके उच्चारण का विधान है। बौ० गृ० १।१५।३१ में इसका विनियोग उपनयन में आज्याहुति के लिये किया गया है। परन्तु इनमें से कोई भी विनियोग ब्राह्मणों के विनियोग के समान नहीं है। वेदारम्भ और उपनयन में इसके विनियोग का औचित्य केवल ब्रह्म शब्द के आधार पर माना जा सकता है जिसका एक अर्थ वेद भी है। चतुर्थीकर्म में तो मन्त्र में इस प्रसङ्ग में मन्त्रान्तर्गत योनि शब्द और जन्म का उल्लेख विनियोक्ता के ध्यान में रहा होगा।

का० गृ० ३०।६ में पत्नी द्वारा पति-जननेन्द्रिय-स्पर्श के लिये निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है :—

भसत् ॥ [३४५]

हे जननेन्द्रिय, तुम दीप्यमान अर्थात् सत्कार्यजनन-समर्थ हो जाओ।

समावेशन

आप० गृ० ३।८।१० (मं० पा० १।११।७-११) में विधान किया गया है कि समावेशन-क्रिया करते हुए निम्नलिखित मन्त्रों का उच्चारण किया जाना चाहिये :—

आरोहोरुमुपबर्हस्व बाहुं परिष्वजस्व जायां सुमनस्यमानः।
तस्यां पुष्यतं मिथुनौ सयोनी बह्वीं प्रजां जनयन्तौ सरेतसा॥ [३४६]
आर्द्रयारण्या यत्रामन्थत् पुरुषं पुरुषेण शक्रः।
तदेतौ मिथुनौ सयोनी प्रजयामृतेनेह गच्छतम्॥ [३४७]
अहं गर्भमादधामौषधीष्वहं विश्वेषु भुवनेष्वन्तः।
अहं प्रजा अजनयं पृथिव्यामहं जनिभ्यो अपरीषु पुत्रान्॥ [३४८]
पुत्रिणेमा कुमारिणा विश्वमायुर्व्यश्नुतम्। उभा हिरण्यपेशसा॥[३४९]
वीतिहोत्रा कृतद्वसू दशस्यन्त्वामृताय कम्।
शमूधो रोमशं हथो देवेषु कृणुतो दुवः॥[३५०]

उपस्थ पर आरोहण करो, भुजा फैलाओ और प्रसन्न मन से पत्नी का आलिंगन करो। समान योनि वाले तुम दोनों युगलरूप बहुत सन्तान उत्पन्न करते हुए परिपुष्ट हो जाओ॥ जब इन्द्र आर्द्र अरणी के द्वारा एक पुरुष को दूसरे पुरुष (नारी ?) के साथ मथ दे, तब युगल रूप समान योनि वाले ये दोनों अमर (देव स्वरूप) सन्तान से संयुक्त हो जायें। मैंने ओषधियों में गर्भ स्थापित किया, मैंने सभी प्राणियों के मध्य गर्भ स्थापित किया, मैंने पृथ्वी पर सन्तान उत्पन्न की, मैंने ही स्त्रियों से पुत्रों को जन्म

दिया ॥ स्वर्णिम शोभा वाले आप दोनों पुत्रवान् और कुमारवान् होकर सम्पूर्ण आयु प्राप्त करें ॥ हे प्रिय यज्ञों वाले दम्पती, सुखप्रद (अन्न) देवताओं को प्रदान करने वाले, पात्रों में उपयुक्त धन रखने वाले आप दोनों सन्तान की वृद्धि के लिये रोमश (वृषभ) और ऊध (योनि) का (मैथुन के लिये) संयोग कराइये। पुत्रादि सहित आप दोनों देवों के प्रति स्तुति, अन्न और दानरूप परिचर्या करते हैं ।। सा० (ऋक्पाठानुसार)

प्रथम मन्त्र की तुलना अथर्व० १४।२।३९ से की जा सकती है । द्वितीय मन्त्र किसी अन्य ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होता । तृतीय मन्त्र ऋ० १०।१८३।३ है । मैत्रायणी और काठक संहिताओं से सम्बद्ध गृह्यसूत्रों में समावेशन के लिये दम्पती के शयन करने के समय इस मन्त्र के उच्चारण का विधान है[1] । बौ० गृ० १।७।४३ के अनुसार समावेशन के समय पति को इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए अपना स्पर्श करना चाहिये । किसी भी रूप में इन सभी प्रसङ्गों में इसका विनियोग सङ्गत ही है क्योंकि इसमें सन्तानोत्पत्ति का स्पष्ट उल्लेख है । चतुर्थ और पञ्चम मन्त्रों का स्रोत ऋ० (८।३१।८, ९) है । मं० पा० में इन मन्त्रों के पाठ में कुछ अन्तर है । चतुर्थ मन्त्र में मूल ऋ० पाठ के **ता** तथा **व्यश्नुतः** के स्थान पर यहाँ क्रमशः **इमा** तथा **व्यश्नुताम्** दिया गया है । पञ्चम मन्त्र में ऋ० पाठ के **दशस्यन्तामृताय, समूधः** और **हतः** के स्थान पर क्रमशः **दशस्यन्त्वामृताय, शमूधः** और **हथः** पाठ दिया गया है । यह पाठ मूल का भ्रष्ट पाठ ही प्रतीत होता है । ऋग्वेद सर्वानुक्रमणी में इन दोनों मन्त्रों की देवता दम्पती को ही बताया गया है । सम्भवतया इस देवतानिर्देश और मन्त्रों में की गई दम्पती की प्रशंसा के आधार पर आपस्तम्ब ने दम्पती द्वारा अनुष्ठेय कर्म में इनका विनियोग किया है ।

भा० गृ० (१।२०) के अनुसार समावेशन के समय सम्पूर्ण अनुवाक (तै० सं० १।३।१०) का उच्चारण किया जाना चाहिये । अनुवाक का प्रतीक निम्नलिखित है:—

सं ते मनसा मनः । [३५१]

तुम्हारे मन से अपना मन संयुक्त करता हूँ ।

श० ब्रा० ३।८।३।९ और आप० श्रौ० ७।२३।७ में इस अनुवाक के प्रथम मन्त्र का विनियोग पशु-याग में पशु के हृदय को आर्द्र करने के लिये किया गया है । परन्तु भा० गृ० के विनियोग का इससे कोई साम्य नहीं है । सम्भवतया प्रतीक में व्यक्त मन:संयोग के भाव से इसके गृह्य-विनियोग को प्रेरणा प्राप्त हुई होगी ।

---

१. मा० गृ० १।१४।१६, वा० गृ० १६।१, का० गृ० ३०।३ ।

उपर्युक्त कर्म के निमित्त ही मा० गृ० (१।१४।१८) और वा० गृ० (१६।३) में अधोलिखित दो अत्यन्त लघु मन्त्रों का विनियोग किया गया है :—

जननी ।। तुम जननी हो। [३५२]

जनत् ।। तुम प्रजनन करो। [३५३]

का० गृ० (३०।७) के अनुसार पति को निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए रेत:-प्रसेचन करना चाहिये :—

बृहत् ।। [३५४]

हे रेत:, तुम विस्तीर्ण अर्थात् पुत्रजननसमर्थ हो जाओ। दे० पा०

इन लघु यजुष्-रूप मन्त्रों का स्रोत अज्ञात है। सम्भवतया गृह्यसूत्रकारों ने अपनी आवश्यकता के अनुसार इन्हें स्वयं घड़ लिया हो अथवा जिस संहिता से ये उद्धृत हैं, वह अब अप्राप्य है।

समावेशन के पश्चात् पत्नी का आलिंगन

हि० गृ० (१।२४।५) में विधान है कि समावेशन के पश्चात् निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए पति को पत्नी का आलिंगन करना चाहिये :—

मामनुव्रता भव सहचर्या मया भव।
या ते पतिघ्नी तनूर्जारघ्नीं त्वेतां करोमि।
शिवा त्वं मह्यमेधि क्षुरपविर्जारेभ्यः ।। [३५५]

तुम मेरी अनुगामिनी हो जाओ, मेरी सहचरी हो जाओ। जो तुम्हारा शरीर पतिनाशक है उसे मैं जार-नाशक बनाता हूँ। तुम मेरे प्रति कल्याणकर हो जाओ और जारों की विभेदक हो जाओ।।

विभिन्न गृह्यसूत्रों में द्वितीय पंक्ति के अनेक पाठान्तर हैं और वहाँ इसका विनियोग भी विविध प्रकार से हुआ है। पा० गृ० (१।११।४) में इसका निम्न-लिखित दीर्घ रूप प्राप्त होता है :—

या ते पतिघ्नी प्रजाघ्नी पशुघ्नी
गृहघ्नी, यशोघ्नी निन्दिता तनूर्जारघ्नीं
तत एनां करोमि सा जीर्य त्वं मया सह ।। [३५६]

तुम्हारा जो पतिनाशक, सन्ततिनाशक, पशुनाशक, गृहनाशक, यशो-नाशक, निन्दित शरीर है, उसे मैं जार-नाशक बनाता हूँ, इस प्रकार की तुम मेरे साथ ही आयु व्यतीत करो।।

पा० गृ० के अनुसार इस मन्त्र का उच्चारण विवाह संस्कार में प्रारम्भिक आहुतियों के पश्चात् वधू के मूर्धाभिषेक के समय किया जाना चाहिये। इसी प्रकार का० गृ० (२५।२०) के अनुसार विवाह संस्कार में मुख्य यज्ञ में से अवशिष्ट आज्य की बूँदों को वधू के सिर पर डालते हुए इस मन्त्र का उच्चारण किया जाना चाहिये। वहाँ मन्त्र का निम्नलिखित पाठ दिया गया है :—

या ते पतिघ्नी तनूरपतिघ्नीं ते तां करोमि।
या ते अपुत्रिया तनूः पुत्रियां ते तां करोमि।
या ते अपशव्या तनूः पशव्यां ते तां करोमि॥ [३५७]

तुम्हारा जो पति-नाशक शरीर है उसे मैं अपतिनाशक बनाता हूँ। तुम्हारा जो पुत्र-हीन शरीर है उसे मैं सपुत्र बनाता हूँ। तुम्हारा जो पशु-हीन शरीर है उसे मैं पशु युक्त (अर्थात् पशुओं के लिए शुभ) बनाता हूँ॥

शां० गृ० (१।१६।४) में विधान है कि ऋषभचर्म पर बैठने के पश्चात् प्रदान की जाने वाली आहुतियों में से एक के साथ इसका उच्चारण होना चाहिये। वहाँ इसका पाठ इस प्रकार है :—

या ते पतिघ्न्यलक्ष्मी देवरघ्नी जारघ्नीं तां करोमि॥

(तुम्हारा जो पतिनाशक लक्ष्मी रहित देवरनाशक (शरीर है) उसे मैं जारनाशक बनाता हूँ॥)

उपर्युक्त सभी प्रयोगों की यह समानता है कि सर्वत्र यह वधू के प्रति सम्बोधित किया गया है और यह कि वर वधू के शरीर के विभिन्न सम्भावित दोषों को दूर करने के संकल्प की घोषणा करता है।

समावेशन के पश्चात् मन्त्रोच्चारण

शां० गृ० १।१९।४ के अनुसार समावेशन के पश्चात् पति को निम्नलिखित वाक्य का जाप करना चाहिये :—

प्राणे ते रेतो दधाम्यसौ॥ [३५८]

यह मैं अमुक वाला (नाम) तुम्हारे प्राण में शुक्र धारण करता हूं।

यह वाक्य किसी प्राग्-गृह्यसूत्र ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होता। इस वाक्य के अतिरिक्त इस गृह्यसूत्र में कुछ और भी मन्त्र विनियुक्त किये गये हैं। उनका विवेचन क्रमशः एक-एक करके किया जा रहा है :—

(क) आ ते योनिं गर्भ एतु पुमान् बाण इवेषुधिम्।
आ वीरो अत्र जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः॥ [३५९]

जिस प्रकार बाण तूणीर में रहता है उसी प्रकार तुम्हारी योनि में पुरुष गर्भ आ जाए। उसमें से दस महीने के पश्चात् तुम्हारा वीर पुत्र उत्पन्न हो।

यह मन्त्र अथर्व० ३।२३।२ है। ऋ० खि० २।१०।१ भी यही मन्त्र है परन्तु उसमें **योनिम्** और **गर्भः** का क्रमविपर्यय हो गया है। आग्नि० गृ० १।६।३ में भी समावेशन के पश्चात् उच्चारणार्थ इस मन्त्र का विनियोग किया गया है। इसके अतिरिक्त अन्य गृह्यसूत्रों में सन्तान से सम्बद्ध विविध कर्मों में यह मन्त्र प्रयुक्त हुआ है। स्वयं शां० गृ० १।१६।८ में ही एक अन्य स्थान पर वधू की गोद में किसी बालक को बिठाने के अवसर पर इसका विनियोग किया गया है। आप० गृ० और हि० गृ० के अनुसार समावेशन से पूर्व दम्पती द्वारा उच्चारणीय मन्त्रों में से यह एक है।[1] कौशिक० ३५।३ में पुत्रप्राप्ति के लिये की जाने वाली एक क्रिया में इसका विनियोग किया गया है। आ० गृ० १।१३।६ में अनवलोभन कर्म में पत्नी के नासिका-रन्ध्र में अम्लान बूटी का टुकड़ा डालने के लिये इसका विनियोग किया गया है। पुरुष सन्तान के गर्भ की प्रार्थना होने के कारण मूल रूप में इस मन्त्र की रचना गृह्यकर्मों में विनियोगार्थ की गई प्रतीत होती है।

(ख) **पुमांसं पुत्रं जनय तं पुमाननुजायताम्।**
तेषां माता भविष्यसि जातानां जनयांसि च॥[2] [३६०]

तुम पुरुष सन्तान को जन्म दो, और उसके पीछे पुरुष सन्तान ही उत्पन्न हो। तुम उत्पन्न पुत्रों की माता होगी।

यह मन्त्र अथर्व० ३।२३।३ है जिसका उत्तरार्ध निम्नलिखित है :—

भवासि पुत्राणां माता जातानां जनयाश्च यान्॥

यह मन्त्र कतिपय पाठ-भेद सहित अन्य गृह्यसूत्रों में भी उपलब्ध होता है।[3] उनमें इसका विविध रूप से विनियोग किया गया है। मं० ब्रा० में पूर्वार्ध में

---

१. आप० गृ० ३।८।१३ (मं० पा० १।१२।६), हि० गृ० १।२५।६।

२. मन्त्र का जनयांसि पाठ भ्रष्ट प्रतीत होता है। सीताराम सहगल ने ओल्डनबर्ग के संस्करण में से जातयांसि, जनयान्ति, जनयानि, जनयसि पाठेतर उद्धृत किये हैं। (शां० गृ०, पृ० १७, पा० टि० १२) वस्तुतः ये सब अथर्व० के जनयाश्च-यान् (और जिन्हें तुम जन्म दो) के भ्रष्ट रूप प्रतीत होते हैं। अतः यहां अथर्व० पाठ ही स्वीकार किया जाना चाहिये।

३. गो० गृ० २।६।११ (मं० ब्रा० १।४।६), आप० गृ० ३।८।१३ (मं० पा० १।१३।२), आग्नि० गृ० १।६।३, कौशिक० ३५।३।

जनय के स्थान पर **विन्दस्व** पाठ है। गो०गृ० में इसका विनियोग पुंसवन संस्कार में पत्नी के दक्षिण नासिका-रन्ध्र में चूर्णित न्यग्रोध अंकुर डालने के लिये किया गया है। मं० पा० और आग्नि०गृ० में प्रथम पाद **पुमांस्ते पुत्रौ नारि** है। आग्नि० गृ० में तो विनियोग शां० गृ० के समान है, आप० गृ० के अनुसार इसका उच्चारण पति के द्वारा समावेशन से पूर्व किया जाना चाहिए। कौशिक० में इस मन्त्र का विनियोग भी पूर्वोक्त मन्त्र के समान ही है। (देखिये ऊपर 'क') पुत्रों के प्रजनन का संकेत होने के कारण सम्भवतया यह मन्त्र भी मूल रूप में सन्तान के गर्भ अथवा जन्म से सम्बद्ध कर्म में प्रयोगार्थ रचा गया होगा।

(ग) **पुंसि वै पुत्रे रेतस्तत् स्त्रियामनुषिञ्चतु।**
तथा तदब्रवीद्धाता तत् प्रजापतिरब्रवीत् ॥ [३६१]

निश्चय ही पुरुष सन्तान के लिए (मनुष्य) उस (अपने) वीर्य को स्त्री में प्रवाहित करे। वही बात धाता ने कही है और वही बात प्रजापति ने कही है॥

यह मन्त्र अथर्व० ६।११।१२ के बहुत समान है। उक्त अथर्व० मन्त्र का विनियोग कौशिक० ३५।८ में भी पुंसवन में किया गया है। अतः सम्भवतया इस संस्कार के साथ इस मन्त्र का सम्बन्ध अथर्व० जितना प्राचीन होगा।

(घ) **प्रजापतिर्व्यदधात्, सविता व्यकल्पयत्।**
स्त्रीषूयमन्यात्स्वादधत् पुमांसमादधादिह ॥ [३६२]

प्रजापति ने विधान किया, सविता ने रचना की-(उसने) स्त्री-जन्म तो अन्य (स्त्रियों) में स्थापित किया और पुरुष सन्तान को यहाँ (तुझमें) स्थापित किया।

अन्यात्स्वादधत् पाठ को भ्रष्ट मानकर सभी विद्वान् इसका संशोधन **अन्यास्वादधत्** के रूप में करने का सुझाव देते हैं।[1] इस मन्त्र के निकटतम पूर्ववर्ती रूप अथर्व० ६।११।३ में तृतीय पाद का पाठ **स्त्रैषूयमन्यत्र दधत्** है। उससे इस पाठ की भ्रष्टता और भी स्पष्ट हो जाती है। **स्त्रीषूयम्** का अर्थ भी **स्त्रैषूयम्** (स्त्रीजन्म) पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है।[2] उपर्युक्त मन्त्र के समान ही इस मन्त्र का विनियोग भी कौशिक० ३५।८ में पुंसवन में हुआ है और इसी आधार पर इस मन्त्र की

१. वैं० कॉन्० , सीताराम सहगल—शां० गृ० पृ० १७, पा० टि०१६, पिल्लेनॉन ऋग् मन्त्रज् इन मैरिज, सं० ४११ पृ० ३२०।
२. दे० हा० ओ० सी०, खं०७, पृ० २८७।

रचना भी मूलरूप में उक्त संस्कार में प्रयोगार्थ की गई प्रतीत होती है।

(ङ) **यानि भद्राणि बीजानि पुरुषा जनेयन्ति नः ।**
तेभिष्ट्वं पुत्रं जनय सुप्रसूर्धेनुका भव ।। [३६३]

हमारे लिये पुरुष जिन कल्याणकर बीजों को उत्पन्न करते हैं, उनसे तुम पुत्र उत्पन्न करो। तुम सुप्रसविनी धेनु (के समान) हो जाओ।।

इस मन्त्र का पूर्वार्ध ऋ० खि० २।१०।३ का उत्तरार्ध है- एकमात्र पाठभेद **पुरुषाः** के स्थान पर **ऋषभाः** है। ऋ० खि० २।१०।४ का तृतीय पाद इसके तृतीय पाद के समान है। पूर्णरूपेण अथर्व० ३।२३।४ को इसका मूलस्रोत कहा जा सकता है। वहाँ **पुरुषाः** के स्थान पर **ऋषभाः**, **नः** के स्थान पर **च**, **तेभिः** के स्थान पर **तैः**, **जनय** के स्थान पर **विन्दस्व** और **सुप्रसूः** के स्थान पर **सप्रसूः** पाठान्तर हैं।[1]

आप० गृ० और हि० गृ० में समावेशन से पूर्व पति द्वारा उच्चारणीय मन्त्रों में इसका परिगणन किया गया है।[2] कौशिक० ३५।३ में पुत्रप्राप्ति-निमित्त कर्म में यह विनियुक्त हुआ है। मं० पा० में अथर्व० का पाठ है परन्तु शां० गृ० का **नः** विद्यमान है और **पुत्रम्** के स्थान पर **पुत्रान्** पाठ है। हि० गृ० में निम्नलिखित पाठ है :—

यानि प्रभूणि वीर्याण्यृषभा जनयन्तु ।
तैस्त्वं गर्भिणी भव स जायतां वीरतमः स्वानाम् ।।

भाव समान होते हुए भी यह एक पृथक् मन्त्र प्रतीत होता है। जहाँ तक विनियोग का प्रश्न है, उपर्युक्त मन्त्र और उसके पाठान्तरों का विनियोग अर्थानुकूल है।

(च) **अभिक्रन्द वीडयस्व गर्भमाधेहि साधय ।**
वृषाणं वृषन्नाधेहि प्रजायै त्वा हवामहे ।। [३६४]

हुंकार भरो, प्रेरित करो, गर्भ स्थापित करो, उसे सिद्ध करो, हे ऋषभ (समान बलिष्ठ)! ऋषभ (समान बलिष्ठ) गर्भ को स्थापित करो, हम तुम्हें सन्तान के लिए बुलाते हैं।

इस मन्त्र की तुलना अथर्व० ५।२५।२ से की जा सकती है जिसका विनियोग कौशिक० ३५।५ में पुंसवन संस्कार में किया गया है। अथर्व० में **वीडयस्व** के स्थान पर **वीरयस्व** पाठ है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस मन्त्र की रचना पुत्र-प्रजनन से

---

१. सातवलेकर के ऋ० संस्करण में यह खिलमन्त्र पांचवें मण्डल के पश्चात् चौथा है और पूर्णरूपेण अथर्व० मन्त्र के समान है।

२. आप० गृ० ३।८।१३ (मं०पा० १।१३।३), हि० गृ० १।२५।१

सम्बद्ध कर्म में विनियोगार्थ हुई थी। प्रायः इन्द्र के विशेषणों के रूप में प्रयुक्त **वृषभ** अथवा **वृषा** शब्द पुरुषशक्ति अथवा प्रजनन शक्ति का प्रतीक है। इस मन्त्र का सौन्दर्य यह है कि केवल पुत्र की ही कामना इसमें व्यक्त नहीं है अपितु बलिष्ठ पुत्र की कामना है।

पुंसवन

यद्यपि कुछेक गृह्यसूत्रों में इस संस्कार के अनुष्ठान का समय गर्भाधान से षष्ठ, सप्तम तथा अष्टम मास भी दिया गया है, तथापि बहुमत इसके तृतीय अथवा चतुर्थ मास में पुंल्लिङ्ग नाम वाले नक्षत्र में अनुष्ठान के पक्ष में है।

आहुतियाँ

जै० गृ० १।१५ के अनुसार सर्वप्रथम ऋग्वेद के सम्पूर्ण पुरुष सूक्त (१०।९०) का उच्चारण करते हुए अग्नि में आज्याहुतयाँ अर्पित की जानी चाहियें। यह अत्यन्त स्पष्ट है कि गृह्यसूत्रकार को इस प्रसङ्ग में उक्त सूक्त का विनियोग करने की प्रेरणा केवल **पुरुष** शब्द से प्राप्त हुई होगी क्योंकि उसी एक शब्द का सम्बन्ध इस संस्कार के उद्देश्य पुरुष सन्तान की प्राप्ति से है। अन्यथा इस प्रकार के दार्शनिक सूक्त की संगति इस प्रसङ्ग में नहीं बैठ सकती। या फिर सूक्त में जो **सृष्टि-क्रम** वर्णित हुआ है उसका सम्बन्ध सृष्टि (पुत्रोत्पत्ति) से माना गया होगा। सम्भव है कि उस सूक्त के विनियोग का अभिप्राय उसमें वर्णित सर्वशक्तिसम्पन्न अत्यन्त बलशाली पुत्र की प्राप्ति की कामना की अभिव्यक्ति हो।

भा० गृ० (१।२२) में आहुतियों के लिए निम्नलिखित चार मन्त्रों का विनियोग किया गया है :[1]—

यस्त्वा हृदा कीरिणा मन्यमानो मर्त्यं मर्त्यो जोहवीमि।
जातवेदा यशो अस्मासु धेहि प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम्॥ [३६५]
यस्मै त्वं सुकृते जातवेद उ लोकमग्ने कृणवः स्योनम्।
अश्विनं स पुत्रिणं वीरवन्तं गोमन्तं रयिं नशते स्वस्ति॥ [३६६]
त्वे सुपुत्र शवसोऽवृत्रन् कामकातयः। न त्वामिन्द्रातिरिच्यते॥ [३६७]
उक्थ उक्थे सोम इन्द्रं ममाद नीथे नीथे मघवानं सुतासः।
यदीं सबाधः पितरं न पुत्राः समानदक्षा अवसे हवन्ते॥ [३६८]

जो मैं मनुष्य स्तुति-युक्त हृदय द्वारा आपको मनुष्य मानता हुआ

१. ऋ० ५।४।१०, ११; ८।९२।१४, ७।२५।२, तै० सं० १।४।४५।१-२, का०सं० १०।१२ (केवल द्वितीय मन्त्र)।

बार-बार बुलाता हूँ, हे जातवेदा: हम में यश स्थापित कीजिए, हे अग्नि, मैं सन्तान द्वारा अमरत्व प्राप्त करूँ ।। हे जातवेद अग्नि, जिस सत्कर्म करने वाले के लिए आपने इस लोक को सुखकर बनाया है, वह कल्याणपूर्वक घोड़ों, पुत्रों वीरों तथा गौओं से युक्त धन को प्राप्त करता है ।। हे बल के शोभन पुत्र कामनाओं से युक्त (सभी मनुष्य) आपके पास पहुँचते हैं; हे इन्द्र आपका अतिक्रमण कोई नहीं कर सकता ।। बाधा में पड़े हुए पुत्र जिस प्रकार पिता का आह्वान करते हैं उसी प्रकार एक साथ यज्ञ करने वाले जब भी रक्षा के लिए (इन्द्र का) आह्वान करते हैं (तभी) प्रत्येक उक्ति पर सोम इन्द्र को आनन्दित करता है और पिसे हुए (सोम की) बूँदें भी प्रत्येक अभियान में उस समृद्धिशाली को आनन्दित करती हैं ।।

इन मन्त्रों का सीधा स्रोत तै० सं० प्रतीत होती है क्योंकि वहीं पर सर्वप्रथम ये मन्त्र सामूहिक रूप में इसी क्रम में उपलब्ध होते हैं। ऋ० में ये सब विद्यमान होते हुए भी प्रकीर्ण हैं (दे०पा०टि० १, पृ० १८६)। विनियोग के लिए भी भा०गृ० ने तै० सं० का अनुसरण किया प्रतीत होता है क्योंकि वहाँ ये काम्येष्टियों में याज्याओं के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। और तै० सं० के ब्राह्मणांश (२।२।४।४) में स्पष्ट निर्देश है कि सन्तानेच्छु को क्रमश: प्रथम दो और अन्तिम दो मन्त्रों का उच्चारण करते हुए अग्नि और इन्द्र को पुरोडाश अर्पित करने चाहियें। आ० श्री० (२।१० ६) में केवल प्रथम दो मन्त्रों का विनियोग पुत्रकामेष्टि में किया गया है। इस दृष्टि से आप० गृ० ४।१४।२ (मं० पा० २।११।५—८) द्वारा सीमन्तोन्नयन में आहुतियों के लिये भी इन मन्त्रों का प्रयोग सङ्गत है। बौ० गृ० १।६।१० में इन मन्त्रों का प्रयोग विवाह के अन्तर्गत किया गया है। परन्तु अन्तिम दोनों मन्त्रों की विनियोग के साथ संगति बैठाना कठिन है।

एक यव और दो सर्षप बीज रखना

हि० गृ० (२।२।२-४) और आग्नि० गृ० २।१।१ में विधान है कि पति को निम्नलिखित वाक्य का उच्चारण करते हुए पत्नी के दक्षिण हाथ में जौ का दाना रखना चाहिये:—

वृषासि ।। तुम वृषभ अर्थात् पुरुष शक्ति से युक्त हो। [३६९]

इसके पश्चात् उसे जौ के दोनों ओर एक-एक सर्षप बीज अथवा माष (उड़द) का एक-एक दाना रखना चाहिए और निम्नलिखित वाक्य बोलना चाहिये :—

अण्डौ स्थः ।। तुम दोनों दो अण्डकोश हो। [३७०]

तत्पश्चात् उन पर थोड़ा दही डालकर उसे निम्नलिखित शब्द का उच्चारण

करते हुए वह मिश्रण पत्नी को भक्षणार्थ देना चाहिए :-

श्वावृतत् (श्वापृतत्) ॥ शीघ्र व्याप्त हो ।[1] [३७१]

जैसा कि मन्त्रों से स्पष्ट है उपर्युक्त क्रियाओं में यव और सर्षप बीज पुरुष के प्रजननाङ्ग का प्रतीक हैं और दधि शुक्र का ।

जै० गृ० १।५ के अनुसार पति से यव, सर्षप और दधि का मिश्रण हस्तगत करते हुए पत्नी को निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये—

प्रजापतिः पुरुषः परमेष्ठी स मे पुत्रं ददात्वायुष्मन्तं
यशस्विनं सह पत्या जीवसूर्भूयासम् ॥ [३७२]

प्रजापति पुरुष परम स्थान पर स्थित है । वह मुझे आयुष्मान् और यशस्वी पुत्र प्रदान करे । मैं पति के साथ जीव-प्रसू हो जाऊँ ॥

यह मन्त्र प्राग्-गृह्यसूत्र साहित्य में उपलब्ध नहीं है । अतः इसका गृह्यमूल निश्चित-प्राय है ।

पत्नी का उदर-स्पर्श

हि० गृ० (२।२।५) और आग्नि० गृ० (२।१।१) में विधान है कि पत्नी द्वारा उपर्युक्त मिश्रण के भक्षण के पश्चात् पति को निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए पत्नी का उदर-स्पर्श करना चाहिये—

आभिष्ट्वाहं दशभिरभिमृशामि दशमास्याय सूतवे ॥ [३७३]

मैं इन दस (अंगुलियों) के द्वारा दस मास की प्रसूति के निमित्त तुम्हारा स्पर्श करता हूँ ।

आपस्तम्ब और भारद्वाज ने क्षिप्र-प्रसवन कर्म में पत्नी के उदर-स्पर्श के लिये इस मन्त्र का विनियोग किया है ।[2] मं० पा० का पाठ उपरिलिखित पाठ के समान है । भा० गृ० में **आभिष्ट्वाहं दशभिः** के स्थान पर **दशभिष्ट्वांगुलिभिः** पाठ है । यह मन्त्र किसी पूर्ववर्ती ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं है । तथापि उक्त कर्म के साथ इसकी पूर्ण संगति है और इसीलिये इसका गृह्य-मूल निश्चित प्राय है ।

गो० गृ० और खा० गृ० में पति द्वारा पत्नी की नाभि के स्पर्श के अवसर पर

---

१. अर्थ अस्पष्ट है । ओल्डनबर्ग इसके विषय में मौन है । यह अर्थ यास्क की श्वात्र (शीघ्र) शब्द की निरुक्ति का अनुसरण करके किया गया है जिसके अनुसार श्वा आशु का विर्णविपर्यय है । दे० नि० ५।३ ।

२. आप० गृ० ६।१४।१४ (मं० पा० २।११।१५), भा० गृ० १।२२ ।

निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है[1]—

पुमांसौ मित्रावरुणौ पुमांसावश्विनावुभौ ।
पुमानग्निश्च वायुश्च पुमान् गर्भस्तवोदरे ।। [३७४]

मित्र और वरुण पुरुष हैं, दोनों अश्विन् पुरुष हैं, अग्नि और वायु भी पुरुष हैं । तुम्हारे उदर में भी पुरुष गर्भ (हो) ।

वा० गृ० १६।६ ने इसका विनियोग पति द्वारा पत्नी के उदर-स्पर्श के लिये किया है । तदनुसार मन्त्र का उत्तरार्ध **पुमांसं गर्भं जायस्व त्वं पुमाननुजायताम्** है । इसकी तुलना मं० ब्रा० में एक अन्य मन्त्र के उत्तरार्ध से की जा सकती है । (दे० मन्त्र सं० ३८५) यहाँ उस मन्त्र के **विन्दस्व** के स्थान पर **जायस्व** पाठ भ्रष्ट प्रतीत होता है । वस्तुत: प्रसङ्गानुसार **जनयस्व** (प्रेरणार्थक-उत्पन्न करो) होना चाहिये ।

पा० गृ० (१।६।५) और शां०गृ० (१।१७।६) के अनुसार यदि पत्नी गर्भ-कामा हो तो उसे प्रतिदिन प्रातः और सायं हवन के समय प्रथम आहुति अर्पित करते हुए इस मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये । शां० गृ० में उत्तरार्ध का पाठ **पुमानिन्द्र-श्चाग्निश्च पुमांसं-वर्धतां मयि स्वाहा** है । पा० गृ० का पाठ इसके बहुत निकट है—केवल **अग्निश्च** के स्थान पर **सूर्यश्च** और **संवर्धताम्** के स्थान पर **संवर्तताम्** पाठ-भेद हैं ।[2] इसमें **मयि** और **स्वाहा** के मध्य **पुनः** का भी समावेश है । यह मन्त्र प्राग्-गृह्यसूत्र साहित्य में उपलब्ध नहीं ।

पत्नी के नासा-रन्ध्रों में जड़ी बूटियों के रस का अनुषिञ्चन

यह पुंसवन का सबसे महत्त्वपूर्ण कर्म है । सभी गृह्यसूत्रों में इसका वर्णन किया गया है यद्यपि सबमें इसके साथ मन्त्रों का विनियोग नहीं किया गया । नासारन्ध्रों में डाला जाने वाला विभिन्न औषधियों का रस एक प्रकार का नस्य (नस्वार) बन जाता है । इसका वैज्ञानिक आधार प्रतीत होता है । क्योंकि वैद्यों का विश्वास है कि इसके द्वारा छींकें आने से गर्भाशय में विशेष प्रकार की तरंगें उत्पन्न होती हैं जिनसे पुरुष सन्तान बनने में सहायता प्राप्त होती है । पा० गृ० (१।१४।३) और वा० गृ०

१. गो० गृ० २।६।३ (मं० ब्रा० १।४।८), खा० गृ० २।२।१६ ।

२. ओल्डनबर्ग ने पुमांसम् (द्वितीया) और वर्धताम् (णिजन्त)—इस प्रकार अन्वय किया है । परन्तु डॉ० पिल्ले ने पुमान् संवर्धताम्—ऐसा अन्वय किया है ।—नॉन ऋग्० मन्त्रज् इन मैरिज, पृ० २७६-२८०, सं० ३४३—"कौ०गृ० की मलयालम ताड़पत्र पाण्डुलिपि (त्रावणकोर वि० वि० पाण्डुलिपि पुस्तकालय, सं० ४३६) में पुमान् संवर्धताम् पाठ है ।"

(१६।६) में पति द्वारा पत्नी के दक्षिण नासारन्ध्र में न्यग्रोधवृक्ष की जड़ और सर्वोपरि अंकुर के रस के अनुषिञ्चन के अवसर पर अधोलिखित दो मन्त्रों के उच्चारण का विधान है—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ।। [३७५]
अद्भ्यः सम्भृतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणः समवर्तताग्रे ।
तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे ।। [३७६]

सबसे पहले हिरण्यगर्भ (ब्रह्म) हुआ और उत्पन्न होते ही वह उत्पन्न प्राणिमात्र का एकमात्र पालक था। उसने इस पृथिवी और द्युलोक को धारण किया है। उस सुख स्वरूप देव के लिए हम आहुति द्वारा यज्ञ करें।। जल से, पृथिवी से, रस से उत्पन्न अर्थात् उन सबमें तत्त्वरूप में विद्यमान वह विश्वकर्मा से पहले हुआ। उसका रूप-विधान करता हुआ त्वष्टा प्रकट होता है। मनुष्य के भीतर दिव्यांश-रूप वह सबसे पहले उत्पन्न हुआ।।

विशाल वैदिक वाङ्मय में सर्वत्र इसकी उपस्थिति मात्र से इस मन्त्र का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है।[1] दार्शनिक विषयवस्तु के लिये सुविख्यात हिरण्यगर्भ सूक्त का यह प्रथम मन्त्र है। भारतीय विचार धारा के इतिहास में सर्वप्रथम इसी स्थल पर हमें समस्त विश्व के एक मात्र अधिशासी परमपुरुष के दर्शन होते हैं। परन्तु इस गृह्य प्रयोग से पूर्व कहीं भी इस मन्त्र का विनियोग सन्तति से सम्बद्ध किसी कर्म में नहीं मिलता। अतः यह प्रतीत होता है कि गृह्यसूत्रों के रचयिताओं ने केवल हिरण्यगर्भ के गर्भ, और जातः शब्दों के आधार पर इसे पुंसवन से सम्बद्ध किया है। मा० गृ० १।१०।१० में इसका विनियोग वैवाहिक आहुतियों में किया गया है।

द्वितीय मन्त्र में प्रथम मन्त्र की भावना निहित है। यह केवल यजुर्वेद-

---

१. ऋ० १०।१२१।१, अथर्व० ४।२।७, वा० सं० १३।४, २३।१, २५।१०, वा० सं० का० २६।३३, तै० सं० २।२।१२।१; ४।१।८।३, २।८।२; ५।५।१।२, मै०सं० २।७।१५, १३।२३; ३।१२।१६, का० सं० १६।१५; २०।५, का० सं० अ० ५।११, पं० ब्रा० ६।६।२, श० ब्रा० ७।४।१।१६; १३।५।२।२३, आ० श्रौ० २।१७।१५; ३।८।१, शां० श्रौ० ३।१४।७; ६।२३।६; १३।१२।११; आप० श्रौ० १४।२६।१; १६।७।८, २१।४, २२।३, १७।७।१, २०।२।२, १६।१२, का० श्रौ० १६।१।३५, १७।४।३, २५।११।३४, नि० १०।२३, तै०आ० १।१३।३, १०।१।३ मा० श्रौ० ३।५।१८, ३।६।१६, ५।१।६।११, ६।१।३ इत्यादि

संहिताओं में उपलब्ध होता है।[1] यह मन्त्र भी इन ग्रन्थों में कहीं भी सन्तति से सम्बद्ध कर्म में प्रयुक्त नहीं हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसके गृह्य-विनियोग का प्रमुख आधार सम्भृतः और आजानम् शब्द ही हैं। परन्तु इसके अतिरिक्त अद्भ्यः और पृथिव्यै शब्दों की ओर ध्यान देना भी आवश्यक है क्योंकि वे सृष्टि के प्रमुख साधन-भूत पञ्चमहाभूतों में से दो की ओर संकेत करते हैं। तथापि यह मन्त्र भी प्रधान रूप से विश्व-सृष्टि से सम्बद्ध है। एक बात और ध्यान देने योग्य यह है कि समस्त प्राग्-गृह्यसूत्र साहित्य में केवल मै० सं० २।७।१५ में ये दोनों मन्त्र साथ-साथ एक ही स्थान पर आये हैं। अतः हमारा यह निष्कर्ष निराधार नहीं होना चाहिये कि पा० गृ० और वा० गृ० ने इन मन्त्रों को सीधा वहीं से उद्धृत किया है।

आप० गृ० और भा० गृ० के अनुसार पत्नी के नासा-रन्ध्र में जड़ी बूटियों का रस डालते हुए निम्नलिखित वाक्य का उच्चारण करना चाहिये :[2]—

पुंसवनमसि (अमुष्यै) ॥ [३७७]

तुम अमुकनाम्नी इस स्त्री के पुंसवन अर्थात् पुत्रोत्पादक हो।

गो० गृ० (२।६।७-११) में इस संस्कार का भिन्न वर्णन दिया गया है। इसमें न्यग्रोध वृक्ष के अंकुर का क्रय करते हुए (मं०ब्रा० में अप्राप्य) निम्नलिखित सात मन्त्रों के उच्चारण का निर्देश किया गया है :—

यद्यसि सौमी सोमाय त्वा राज्ञे परिक्रीणामि ॥ [३७८]
यद्यसि वारुणी वरुणाय त्वा राज्ञे परिक्रीणामि ॥ [३७९]
यद्यसि वसुभ्यो वसुभ्यस्त्वा परिक्रीणामि ॥ [३८०]
यद्यसि रुद्रेभ्यो रुद्रेभ्यस्त्वा परिक्रीणामि ॥ [३८१]
यद्यस्यादित्येभ्य आदित्येभ्यस्त्वा परिक्रीणामि [३८२]
यद्यसि मरुद्भ्यो मरुद्भ्यस्त्वा परिक्रीणामि ॥ [३८३]
यद्यसि विश्वेभ्यो देवेभ्यो विश्वेभ्यो देवेभ्यस्त्वा परिक्रीणामि ॥ [३८४]

यदि तुम सोम-सम्बन्धिनी हो, तो मैं तुम्हें राजा सोम केलिये क्रय करता हूँ। यदि तुम वरुण सम्बन्धी हो तो मैं तुम्हें राजा वरुण के लिये क्रय करता हूं। यदि तुम वसुओं के लिए हो तो मैं तुम्हें वसुओं के लिये क्रय करता हूँ। यदि तुम रुद्रों के लिये हो तो मैं तुम्हें रुद्रों के लिये क्रय करता

१. वा०सं० ३१।१७, मै०सं० २।७।१५, का० सं० ३६।२, का० श्रौ० २१।१।१७
२. आप० गृ० ६।१४।११। (सं० पा० २।११।१४), भा०गृ० १।२२।

हूँ। यदि तुम आदित्यों के लिये हो तो मैं तुम्हें आदित्यों के लिए क्रय करता हूँ। यदि तुम मरुतों के लिये हो तो मैं तुम्हें मरुतों के लिये क्रय करता हूँ। यदि तुम विश्वेदेवों के लिये हो तो मैं तुम्हें विश्वेदेवों के लिये क्रय करता हूँ।

इन मन्त्रों में देवताओं के नामोल्लेख और उनका क्रम देखते हुए दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं। एक तो यह कि उक्त देवताओं के समान तेजस्वी और बल-शाली पुत्रों की अप्रत्यक्ष कामना की गई है। और दूसरे यह कि संख्या में अधिक से अधिक पुत्रों की कामना भी की गई है क्योंकि वसु आठ, रुद्र ग्यारह, आदित्य बारह, मरुत् उनंचास तथा विश्वेदेव अधिकतम संख्या के प्रतीक हैं। उनके लिए जड़ी बूटी क्रय करने का अभिप्राय यही प्रतीत होता है कि उस से उन देवताओं के समान गुण तथा संख्या वाले पुत्रों की प्राप्ति हो।

स्वल्प पाठान्तर सहित प्रथम दो मन्त्रों का विनियोग गृह्यसूत्रों में अन्य कर्मों में भी किया गया है। आप०गृ०(३।९।५) में इन मन्त्रों के निम्नलिखित रूप का विनियोग पत्नी द्वारा पति पर विजय प्राप्त करने के निमित्त एक कर्म में किया गया है। इन मन्त्रों का उच्चारण करते हुए पत्नी को पाठा ओषधि के पौधे के चारों ओर जौ के इक्कीस दाने बिखेरने चाहियें :—

यदि वारुण्यसि वरुणात्त्वा निष्क्रीणामि।
यदि सौम्यसि सोमात्त्वा निष्क्रीणामि॥

(यदि तुम वरुण की हो तो वरुण से तुम्हें धन देकर छुड़ाती हूँ। यदि तुम सोम की हो तो सोम से तुम्हें धन देकर छुड़ाती हूँ।)

कौशिक० ३३।७ में शिशु का कष्टहीन प्रसव प्राप्त करने के निमित्त कर्म में इन मन्त्रों का मिलता-जुलता पाठ दिया गया है। इनका उच्चारण करते हुए स्रज पौधे[1] के चारों ओर जौ के इक्कीस दाने बिखेरने चाहियें। कौशिक० का पाठ यह है:—

यदि सोमस्यासि राज्ञः सोमात्त्वा राज्ञोऽधिक्रीणामि॥
यदि वरुणस्यासि राज्ञो वरुणात्त्वा राज्ञोऽधिक्रीणामि॥

न्यग्रोध-अंकुर के इस प्रकार क्रय के पश्चात् पति को निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए उसकी स्थापना करनी चाहिये :—

ओषधयः सुमनसो भूत्वाऽस्यां वीर्यं समाधत्तेयम् कर्म करिष्यति॥ [३८५]

हे औषधियो, प्रसन्न होकर तुम सब इस (औषधि) में बल स्थापित करो, यह (पुत्रोत्पत्ति का) कार्य करेगी॥

१. कौशिक० ८।१५ में इसकी गणना शामक वृक्षों में की गई है। भाष्यकार ने इसकी उत्पत्ति के लिये मालवक भूमि को प्रसिद्ध बताया है।

यह मन्त्र भी मं०ब्रा० में उपलब्ध नहीं होता। कहीं ऐसा तो नहीं कि औषधि से सम्बद्ध उपर्युक्त कर्म और मन्त्र दोनों ही इस गो०गृ० में प्रक्षिप्त हों।

तदनन्तर पिसे हुए न्यग्रोधांकुर को पति अपने अंगूठे और अंगुली में पकड़कर निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए उसे पत्नी के नासा-रन्ध्र में डाल देता है[1]:—

पुमानग्निः पुमानिन्द्रः पुमान्देवो बृहस्पतिः।
पुमांसं पुत्रं विन्दस्व तं पुमाननु जायताम्॥ [३८६]

अग्नि पुरुष है, इन्द्र पुरुष है, बृहस्पति देव पुरुष है, तुम पुरुष सन्तान प्राप्त करो, और उसके पश्चात् पुरुष सन्तान ही उत्पन्न हो।

पुरुष-सन्तान की प्रार्थना होने के कारण पुंसवन में इसकी उपयुक्तता असंदिग्ध है। वा०गृ० १६।६ में इसी संस्कार में पत्नी के उदर-स्पर्श के निमित्त इस मन्त्र का विनियोग किया गया है। उसमें पूर्वार्ध उपरिलिखित मन्त्र के पूर्वार्ध के समान है। उत्तरार्ध का पाठ **पुमानग्निश्च वायुश्च पुमान्गर्भस्तवोदरे** है। और यह अंश मं०ब्रा० के एक और मन्त्र के समान है। (दे० मन्त्र सं० ३७३) का० गृ० ३२।३ में भी पुंसवन में आहुतियों के निमित्त इससे मिलते-जुलते मन्त्र का विनियोग किया गया है। इसमें केवल प्रथम पाद ही समान है। शेष मन्त्र का पाठ अधोलिखित है:—

पुमान् विष्णुरजायत। पुमांसं जनयेत् पुत्रं दशमे मासि सूतवे॥

इस गृह्य द्वारा स्वीकृत अन्तिम पाद का पाठ अधिक लोकप्रिय रहा प्रतीत होता है क्योंकि अनेक पूर्ववर्ती ग्रन्थों में वही उपलब्ध होता है[2]। परन्तु पूर्ण रूप से यह मन्त्र किसी प्राग्-गृह्यसूत्र ग्रन्थ में अप्राप्य है।

सीमन्तोन्नयन

कृष्णयजुर्वेद से सम्बद्ध कुछ गृह्यसूत्रों में विधान है कि सर्वप्रथम निम्नलिखित चार मन्त्रों (तै०सं० ३।३।११।२-३) का उच्चारण करते हुए धाता को चार आहुतियाँ अर्पित की जानी चाहियें[3]:—

धाता ददातु नो रयिमीशानो जगतस्पतिः। स नः पूर्णेन वावनत्॥ [३८७]

---

१. गो०गृ० २।६।११ (मं० ब्रा० १।४।९) खा०गृ० २।२।२३।
२. ऋ० खि० १०।१८४।२,३ अथर्व० ५।२५।१०-१३, मं०पा० १।१२।६।
३. बौ०गृ० १।१०।४,५, आप०गृ० ६।१४।२ (मं०पा० २।११।१-४), हि०गृ० २।१।२, अग्नि० गृ० २।१।२, वै०गृ० ३।१२।

धाता प्रजाया उत राय ईशे धातेदं विश्वं भुवनं जजान ।
धाता पुत्रं यजमानाय दाता तस्मा उ हव्यं घृतवद्विधेम ।। [३८८]

धाता ददातु नो रयिं प्राचीं जीवातुमक्षिताम् ।
वयं देवस्य धीमहि सुमतिं सत्यराधसः ।। [३८९]

धाता ददातु दाशुषे वसूनि प्रजाकामाय मीढुषे दुरोणे ।
तस्मै देवा अमृताः संव्ययन्तां विश्वेदेवासो अदितिः सजोषाः ।। [३९०]

संसार का पालक ईश्वर,धाता हमें धन प्रदान करे। वह हमें पूर्णता से युक्त करे। धाता प्रजा और धन का शासक है, धाता ने इस सम्पूर्ण संसार को उत्पन्न किया है। धाता यज्ञ करने वालों को पुत्र प्रदान करता है, अतः हम उसे घृत-युक्त आहुति अर्पित करें। धाता हमें प्रथम, अक्षय, जीवनप्रद धन दे। हम सच्ची पूर्णता वाले (उस) देव की सद्बुद्धि का ध्यान करते हैं। धाता सन्तान के इच्छुक, दानी, सुख प्रदान करने वाले को घर में ही धन प्रदान करें। अमर देवता विश्वेदेव तथा समान प्रीति वाली अदिति उसके लिये एकत्र होकर कार्य करें।

जहाँ तक अन्य संहिताओं में इन मन्त्रों की उपस्थिति का प्रश्न है, अथर्व० (८।१७।१-३) में क्रमशः प्रथम, तृतीय और चतुर्थ मन्त्र प्राप्त होते हैं। इसके प्रथम मन्त्र में वावनत् के स्थान पर यच्छतु पाठ है। इसके अतिरिक्त मन्त्रों में जहाँ भी ददातु है उसके स्थान पर अथर्व० पाठ में दधातु मिलता है। उपरिलिखित चतुर्थ मन्त्र का प्रथम पाद अथर्व० के द्वितीय मन्त्र का प्रथम पाद है। तृतीय मन्त्र में सत्यराधसः के स्थान पर अथर्व० में विश्वराधसः पाठ है। अथर्व० के चतुर्थ मन्त्र का प्रथम पाद धाता विश्वा वार्या दधातु है। इसी मन्त्र में अथर्व० में मीढुषे के स्थान पर दाशुषे और अमृताः संव्ययन्तां विश्वेदेवासः के स्थान पर अमृताः सव्ययन्तु विश्वेदेवाः पाठ है। मै०सं० ४।१२।६ में उपरिलिखित तृतीय और चतुर्थ मन्त्र प्राप्त होते हैं। तृतीय मन्त्र में सत्यराधसः के स्थान पर सत्यधर्माणः पाठ है। चतुर्थ मन्त्र समान है। का०सं० १३।१६ में ददातु के स्थान पर दधातु पाठभेद सहित केवल प्रथम मन्त्र प्राप्त होता है।

सन्तति से सम्बद्ध कर्म में इन मन्त्रों का विनियोग तैत्तिरीय संहिता जितना प्राचीन है क्योंकि वहाँ (३।४।९) यह विधान है कि प्रजाकाम व्यक्ति को धाता, अनुमति इत्यादि छोटे देवताओं को आहुतियाँ अर्पित करनी चाहियें। आप०श्रौ० १५।१८।६ में प्रवर्ग्य के प्रायश्चित्तों का वर्णन करते हुए यह निर्देश किया गया है कि जिस गौ का दूध यज्ञार्थ प्रयुक्त किया जाने वाला है यदि वह लुप्त हो जाये तो यज-

मान को इन चार धातृ-मन्त्रों का उच्चारण करते हुए उसके स्थान पर दूसरी गो लानी चाहिए। वस्तुतः इन मन्त्रों में सामान्य सुख समृद्धि की अभिलाषा की गई है, अतः सन्तति से असम्बद्ध कर्मों में भी इनका विनियोग असङ्गत नहीं प्रतीत होता।

कुछेक कृष्णयजुर्वेदीय गृह्यसूत्रों में इन मन्त्रों का विनियोग जातकर्म के अन्तर्गत सूतिका-गृह से सूतिकाग्नि हटाकर औपासनाग्नि का आधान करने के लिये किया गया है।[1] यह कर्म भी सन्तति से सम्बद्ध है। आ०गृ० १।१४।३ और शां०गृ० १।२२।७ में केवल द्वितीय और तृतीय मन्त्रों का विनियोग सीमन्तोन्नयन में आहुतियों के लिये किया गया है। यह बड़ी विचित्र बात है कि ऋग्वेद में अप्राप्य होने पर भी इन मन्त्रों को प्रतीकेन उद्धृत किया गया है। सम्भवतया इस प्रकार अपनी शाखा के आ० श्रौ० की ओर संकेत किया गया है। स्टेंज्लर ने इन दोनों मन्त्रों को उस रूप में उद्धृत किया है जिस रूप में वे आ०श्रौ० ६।१४।१६ से लेकर संस्कार-कौस्तुभ और प्रयोगरत्न में दिये गये हैं। उस पाठ के अनुसार तृतीय मन्त्र में **नो रयिम्** के स्थान पर **दाशुषे** और **सत्यराधसः** के स्थान पर **वाजिनीवतः** है। द्वितीय मन्त्र में **प्रजायाः** के स्थान पर **प्रजानाम्** पाठ है और उत्तरार्ध निम्नलिखित है :—

धाता कृष्टीरनिमिषा ऽभिचष्टे धात्र इद्धव्यं घृतवज्जुहोत ॥

(धाता कृषि को निर्निमेष दृष्टि से देखता है। धाता को घृत-युक्त आहुति प्रदान करो।)

उत्तरार्ध का यह पाठ मित्र को संबोधित ऋ० ३।५६।१ के बहुत निकट है। शां०गृ० ने अपनी शाखा के शां०श्रौ० (६।२८।३) का अनुसरण किया है। तदनुसार द्वितीय मन्त्र उपरिलिखित द्वितीय मन्त्र के समान है और तृतीय मन्त्र में **नो रयिम्** के स्थान पर **दाशुषे** तथा **सत्यराधसः** के स्थान पर **सत्यधर्माणः** पाठ है। यह भी सम्भव है कि आ०गृ० और शां०गृ०दोनों ने इन मन्त्रों को ऋ० की ऐसी किसी संहिता से उद्धृत किया हो जो अब अनुपलब्ध है। कौशिक० ५६।१६ में इनमें से प्रथम मन्त्र सर्वकाम (सब वस्तुओं के अभिलाषी)द्वारा विभिन्न देवताओं के प्रति सम्बोधित अनेक मन्त्रों में से एक के रूप में दिया गया है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इस विनियोग का आधार मन्त्र की सामान्य समृद्धि की प्रार्थना है। विशेष रूप से पूर्णेन शब्द सर्वकाम के लिये और भी महत्त्वपूर्ण है।

अन्य आहुतियाँ

पुरोगामी धातृ-आहुतियों के अतिरिक्त आ०गृ० १।१४।३ और शां०गृ० १।२२।७ में निम्नलिखित तीन मन्त्रों के साथ तीन अन्य आहुतियों का भी

1. हि०गृ० २।४।६, भा०गृ० १।२६, आग्नि०गृ० २।१।५।

विधान है:—

नेजमेष परापत सुपुत्रः पुनरापत ।
अस्यै मे पुत्रकामायै गर्भमाधेहि यः पुमान् ॥ [३९१]
यथेयं पृथिवी मह्य्, त्ताना गर्भमादधे ।
एवं तं गर्भमाधेहि दशमे मासि सूतवे ॥ [३९२]
विष्णोः श्रेष्ठेन रूपेणास्यां नार्यां गवीन्याम् ।
पुमांसं पुत्रानाधेहि दशमे मासि सूतवे ॥ [३९३]

हे नेजमेष देव ! (यदि मेरे भावी पुत्र के द्वारा तुम दुष्पुत्र हो तो) तुम मुझ से दूर हो जाओ, (और यदि तुम मेरे भावी पुत्र के द्वारा) सुपुत्र हो तो फिर मेरे पास लौट आओ । और आकर मुझ सन्तान की अभिलाषिणी के लिए वह गर्भ स्थापित करो जो पुरुष हो ॥ जिस प्रकार ऊर्ध्वमुखी समतल (वृष्टि जल को न बहाकर संग्रह करने वाली) पृथिवी ओषधीवनस्पति इत्यादि रूपी गर्भ को धारण करती है, उसी प्रकार से दसवें महीने पुत्र की उत्पत्ति के लिए तुम भी गर्भधारण करो ॥ हे विष्णु, अत्यधिक प्रशस्य आकार से युक्त पुरुष सन्तान को दसवें महीने प्रसव के लिये इस कामिनी नारी में स्थापित करो ॥[1] —ह०मि०

मानव और आपस्तम्ब ने भी अन्य प्रसङ्गों में इन्हें उद्धृत किया है ।[2] मा०गृ० के अनुसार पुत्रकाम को पूर्णिमाके दिन इन मन्त्रोंके साथ आहुतियाँ अर्पित करनी चाहियें । आप० गृ० के अनुसार इन मन्त्रों का उच्चारण पति को समावेशन के समय करना चाहिये । इससे यह स्पष्ट है कि किसी न किसी प्रकार से सर्वत्र ये मन्त्र सन्तानोत्पत्ति से सम्बद्ध हैं । मन्त्रों में पुत्र-प्राप्ति की प्रार्थना प्रकट ही है ।

ये मन्त्र वस्तुतः ऋ० १०।१८४ के पश्चात् एक सम्पूर्ण खिलसूक्त हैं । मक्स म्युलर (खं०६, पृ०३१) और ऑफरेख्त (पृ०६६७) दोनों ने खैलिक सूक्तों के मध्य इसकी गणना की है । अथर्व० में प्रथम मन्त्र नहीं है । द्वितीय मन्त्र की तुलना अथर्व० ५।२५।२ से की जा सकती है । (दे० अथर्व० ६।१७।१,४) तृतीय मन्त्र अथर्व०

---

१. ह०मि० के अनुसार विष्णो (संबोधन) पाठ है । इसी प्रकार वह गवीन्याम् के स्थान पर कविन्याम् पाठ देकर कामिनी अर्थ करता है—"कमु कान्तावित्यस्य वर्णागमविपर्यासादिना कविनीशब्दो द्रष्टव्यः । कामिन्यां सन्दर्शनार्हायामृतुमत्यामित्यर्थः। निःसन्देह यह दूराकृष्ट व्याख्या है । वस्तुतः गवीन्याम् (गौ जैसी) पाठ में कोई कठिनाई नहीं है ।

२. मा०गृ० २।१८।४, आप०गृ० ३।८।१३ (मं०पा० १।१२।७,४,६)

५।२५।१० से बहुत मिलता जुलता है। मात्र पाठान्तर **विष्णोः** के स्थान पर **धाता**, **गवीन्याम्** के स्थान पर **गवीन्योः** और **पुत्रान्** के स्थान पर **पुत्रम्** है। आप०गृ०तथा आ०गृ०मं० के भाष्यकार हरदत्तमिश्र ने सम्भवतया **विष्णो** (सम्बोधन) पाठ अथर्व० के **धातः** (सम्बोधन) के आधार पर रखा है। मं०पा० में विन्तरनित्ज़ का झुकाव भी इसे सम्बोधन मानने की ओर ही है।[1] परन्तु क्योंकि ऋ० के उसी सूक्त का प्रथम मन्त्र नेजमेष को सम्बोधित है, अतः इसे **विष्णोः** (षष्ठ्यन्त) रखना अधिक उचित है क्योंकि प्रार्थना तो नेजमेष से ही की जा रही है, विष्णु से नहीं। परन्तु अनुक्रमणिका में इस सूक्त का देवता विष्णु को कहा गया है, अतः तदनुसार **विष्णो** पाठ ही अच्छा है।

कुछ गृह्यसूत्रों में **प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो** इत्यादि मन्त्र (ऋ०१०।१२१।१०) के द्वारा एक अन्य आहुति का भी विधान है।[2] (दे० मन्त्र सं०२३)

हि०गृ० में इस मन्त्र की गणना सभी दर्वी होमों में आहुति के लिये सामान्य तथा अनिवार्य मन्त्र के रूप में की गई है, और आग्नि०गृ० के विविध प्रयोगों से स्पष्ट है कि वहाँ भी इनका वैसा ही महत्त्व अभीष्ट है।[3] आ०गृ० (१।४।४) में भी उल्लेख है कि चौलकर्म, उपनयन, गोदान तथा विवाह संस्कारों में आहुतियों के साथ इस मन्त्र का उच्चारण किया जाना चाहिये। इस गृह्यसूत्र में एक अन्य स्थल (२।४।१४) पर इसका विनियोग अष्टका के अन्तर्गत बलि किये गये पशु की वपा की आहुतियों की अनुगामी आठ अवदान तथा स्थालीपाक आहुतियों में से सप्तमी आहुति में किया गया है। शां०गृ० (१।१८।४) में इसका विनियोग पुंसवन में भी हुआ है। आप०गृ० और हि०गृ० में शाला के किसी स्तम्भ में से अंकुर फूटना अथवा घर में मधुमक्षिकाओं द्वारा मधु बनाना जैसी घर की अव्यवस्था दूर करने के लिये अनुष्ठित कर्म में अर्पित की जाने वाली आहुतियों के साथ इस मन्त्र के उच्चारण का विधान है।[4] गो०गृ० और खा०गृ० में दारिद्र्य-निवारणार्थ अनुष्ठित कर्म में इसका विनियोग किया गया है।[5] और वस्तुतः मन्त्र के अन्तिम पाद में दारिद्र्य निवारण की

---

१. मं०पा० १।१२।६,पृ०२२ पर पा०टि०
२. आ०गृ० १।१४।३, शां०गृ० १।२२।७, भा०गृ० १।२१, जै०गृ० १।७, हि०गृ० २।१।३, आग्नि०गृ० २।१।२।
३. हि०गृ० १।३।६, ८।१६; ९।७; १८।६; १९।८; २६।१०; २४।१०; ५।२; ६।२; १५।१३, आग्नि०गृ० १।१।२,४;५।४;२।१।१,५;२।४,५, ४।२इत्यादि।
४. आप०गृ० ८।२३।९ (मं०पा० २।२२।१९), हि०गृ० १।१७।६।
५. गो०गृ० ४।६।९ (मं०ब्रा० २।५।८) खा०गृ० ४।१।१०।

ही प्रार्थना है—हम धन के स्वामी हों। और तृतीय पाद में अभिव्यक्त भाव (जिस कामना को भी लेकर हम हवन करते हैं हमारी वह कामना पूर्ण हो जाये) कौशिक० ५६।१६ में विहित सर्वकाम (सब वस्तुओं के अभिलाषी) द्वारा अनुष्ठित कर्म के पूर्णतया अनुकूल ही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस मन्त्र की सामान्य विनियोगार्हता है और सम्भवतया इसी कारण यह विस्तीर्ण प्राग्-गृह्यसूत्र वाङ्मय के एक एक ग्रन्थ में अनेक बार उपलब्ध होता है।[1] इन सब ग्रन्थों में से केवल तै०सं० (२।६।११।४) और तै० ब्रा० (२।८।१।२) में गृह्यसूत्रों के समान ही इस मन्त्र को सन्तति-लाभार्थ कर्म में पुरोनुवाक्या के रूप में दिया गया है। गो०गृ०, खा०गृ० और कौशिक० में इसका विनियोग श०ब्रा०(१४।६।३।३)के समान है ज़हां किसी महत्त्वाकांक्षा की प्राप्ति के लिये विभिन्न कर्म में इसके उच्चारण का विधान है। आ०गृ० में (दे०ऊपर) अष्टका-कर्म में इसका विनियोग कुछ अंश तक तै०सं० (३।२।५।६) के अनुकूल है जहाँ इसका विनियोग पितरों को आहुतियां अर्पित करने के लिये किया गया है, और पितरों को आहुतियाँ अष्टका में भी अर्पित की जाती हैं। सामान्य समृद्धि की प्रार्थना के अतिरिक्त इस मन्त्र में पितरों से सम्बद्ध कोई विशेष बात नहीं है।

सीमन्त अर्थात् माँग बनाना

बहुत से गृह्यसूत्रों में विधान है कि पति को निम्नलिखित दो मन्त्रों का उच्चारण करते हुए ऊपर की ओर पत्नी के केशों का विभाजन कर माँग बनानी चाहिये[2] :—

---

१. अथर्व० ७।७०।४, ८०।३, वा० सं० १०।२०, २३।६५, वा० सं० का० २६।३६, तै० सं० १।८।१४।२, २।२।१२।१; ६।११।४, ३।२।५।६, मै० सं० २।६।१२, ४।१४।१, का०सं० १५।८, ष०ब्रा० १।६।१६, श०ब्रा० ५।४।२।६, १३।५।२।२३, १४।६।३।३, तै०ब्रा० १।७।८।७, २।८।१।२, ३।५।७।१; ७।११।३, तै० आ० १०।५४, आ०श्रौ० २।१४।१२, ३।१०।२३, शां० श्रौ० १६।७।३, ४।१०।४; १८।४, १०।१३।२३; २१।१, १५।१३।११, आप० श्रौ० १।१०।८, ३।११।२, ६।२।४; १२।४; २०।१, १३।६।११; १२।१२, १४।३२।६, का०श्रौ० १५।६।११ मा० श्रौ० १।१।२।३८।

२. गो० गृ० २।७।७,८ (मं० ब्रा० १।५।३,४), भा०गृ० १।२१, बौ० गृ० १।१०।७, हि०गृ० २।१।३, आग्नि०गृ० २।१,२, आप०गृ० ६।१४।३ (मं० पा० २।११।१०, ११), वै० गृ० ३।१२।

राकामहं सुहवां सुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा बोधतु त्मना ।
सीव्यत्वपः सूच्याच्छिद्यमानया ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम् ॥ [३९४]
यास्ते राके सुमतयः सुपेशसो याभिर्ददासि दाशुषे वसूनि ।
ताभिर्नो अद्य सुमना उपागहि सहस्रपोषं सुभगे रराणा ॥ [३९५]

मैं शोभन स्तुति वाली राका का शोभन स्तुति के द्वारा आह्वान करता हूँ। वह अच्छे धन वाली हमारे इस आह्वान को सुने और स्वयं ही (हमारे प्रति अपने कर्त्तव्य को) जान ले। वह पुत्रपौत्रादिरूप, अविच्छिन्न सन्तति की सूची के द्वारा कर्म का विस्तार करे। वह हमें शूरवीर, बहुत धन लाने वाले और प्रशंसनीय पुत्र प्रदान करे ॥ हे राका, जो तुम्हारी अनुग्रहात्मिका, सुरूप बुद्धि है, जिसके द्वारा तुम यजमान को धन प्रदान करती हो, उस बुद्धि से युक्त होकर हमें बहुत धनधान्य देती हुई, हे शोभन धन वाली तुम शोभनमन वाली होकर हमारे पास आओ ॥ —ह० मि०

उपर्युक्त प्रसंग में का० गृ० ३१।३ द्वारा केवल द्वितीय मन्त्र का विनियोग किया गया है। यद्यपि आ० गृ० और शां०गृ० दोनों में इन मन्त्रों का प्रयोग सीमन्तोन्नयन के अन्तर्गत किया गया है, तथापि उनके प्रसंग भिन्न हैं। आ०गृ० (१।१४।३) के अनुसार तो इनका उच्चारण आहुतियों के साथ किया जाना चाहिये, और शां०गृ० (१।२२।१२) के अनुसार गाथा-गायन के पश्चात् पति को इन मन्त्रों का उच्चारण करते हुए अक्षत-धान-मिश्रित जल पत्नी को पिलाना चाहिये। वै० गृ० (३।११) में इनका विनियोग पुंसवन में भी पत्नी के उदर-स्पर्श के लिये किया गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सन्तति तथा धन की प्रार्थना होने के कारण ये मन्त्र सामान्यतया सन्ततिसम्बन्धी किसी भी कर्म में उपयुक्त प्रतीत होते हैं, परन्तु फिर भी हुवे शब्द को तथा तै० सं० में इसके विनियोग को (दे० नीचे) ध्यान में रखते हुए आहुतियों में इनका विनियोग सर्वाधिक सम्मत प्रतीत होता है। सम्भवतया केश विभाजन में इन्हें विनियुक्त करने वाले अधिकांश गृह्यसूत्रों का आधार सीव्यतु और सूच्या शब्द रहे होंगे। अभिप्राय यह कि जिस प्रकार सूई द्वारा वस्त्र सीने पर उस पर एक रेखा-सी बन जाती है वैसी ही रेखा इस स्त्री के केशों में बन जाये। और आप्टे का अनुवाद इस भाव के अनुकूल ही है।[1] परन्तु मन्त्र में इन शब्दों का प्रयोग लाक्षणिक मानना अधिक उचित प्रतीत होता है जैसा कि हरदत्तमिश्र ने किया है। सूची का अर्थ अनुक्रम भी होता ही है। (दे० अर्थ)

---

१. "ऋ० मन्त्रज़ इन रिचुअल सेटिंग, पृ० १७—"विद नीडल अनब्रेकिंग मे शी स्यू हर टास्क" —अखण्डित सुई के द्वारा वह अपने कार्य को सिये।

ये मन्त्र संहिताओं और श्रौतसूत्रों में भी विद्यमान हैं।[1] यद्यपि ऋ० में समस्त सूक्त में से केवल ये दो मन्त्र ही राका के प्रति सम्बोधित हैं, तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि अथर्व० में सोद्देश्य ही इन दोनों मन्त्रों को एक स्वतन्त्र सूक्त के रूप में रखा गया है। तै० सं० (३।४।६), आ० श्रौ० और शां० श्रौ० के अनुसार प्रजाकाम को अन्य छोटे देवताओं के अतिरिक्त राका को आहुतियां अर्पित करनी चाहियें। इस प्रकार से सन्तति से सम्बद्ध कर्मों में इनके प्रयोग की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है।

जै० गृ० (१।७) में पत्नी के केश-विभाजन के लिये अधोलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है :—

प्राणाय त्वापानाय त्वा व्यानाय त्वा ॥ [३६६]

मैं प्राण, अपान तथा व्यान के लिये (तुम्हारा सीमन्तोन्नयन करता हूँ।)

कुछ गृह्यसूत्रों में निर्देश है कि माँग निकालने के पश्चात् उस क्रिया में प्रयुक्त पदार्थों यथा शलली, दर्भ-पत्र और उदुम्बर फल से युक्त शाखा इत्यादि को निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए पत्नी की ग्रीवा पर बाँध देना चाहिये[2] :—

अयमूर्जावतो वृक्ष ऊर्जीव फलिनी भव ॥ [३६७]

यह वृक्ष शक्ति से युक्त है, तुम भी उसके समान फलवती हो जाओ अर्थात् जैसे शक्तिप्रद फल वह देता है वैसे शक्तिशाली पुत्रों को जन्म दो ॥

मं० ब्रा० में इसके आगे यह भी जोड़ा गया है जिससे यह पूर्ण श्लोक बनता है :—

पर्णं वनस्पते नुत्त्वा नुत्त्वा सूयतां रयिः ॥

हे वनस्पते, तुम अपना एक-एक पत्ता हिला-हिलाकर धन उत्पन्न करो ॥

उपर्युक्त मन्त्र में वृक्ष तथा वनस्पति से सम्भवतया उदुम्बर वृक्ष के प्रति संकेत किया गया है क्योंकि इस क्रिया में उसका ही प्रयोग होता है। यह मन्त्र शुद्ध गृह्य-

---

१. ऋ० २।३२।४,५, अथर्व० ७।४८, तै०सं० २।३।११।५, मै० सं ४।१२।६; १३।१०, का०सं० १३।१६, आ०श्रौ० १।१०।७, ५।२०।६, शां०श्रौ० १।१५।४, ८।६।१०, नि० ११।३१।

२. शां० गृ० १।२२।१०, पा० गृ० १।१५।६, गो० गृ० २।७।४ (मं० ब्रा० १।५।१), खा० गृ० २।२।२५।

परम्परा की सम्पत्ति प्रतीत होता हैं। मं० ब्रा० की अतिरिक्त पंक्ति का भाव यह प्रतीत होता है कि जिस प्रकार किसी वृक्ष का एक-एक पत्ता धन दे उसी प्रकार यह नारी भी अपनी प्रत्येक क्रिया के द्वारा समृद्धि-दात्री हो।

गाथा का गायन

अनेक गृह्यसूत्रों में विधान है कि इस अवसर पर वीणावादकों को राजा अथवा किसी अन्य वीर की स्तुति में कोई गाथा गाने को कहा जाना चाहिये।[1] शां० गृ० १।२२।११ में भी यह विधान तो है, परन्तु वहाँ कोई विशेष गाथा निर्धारित नहीं की गई, दूसरी ओर अन्य गृह्यसूत्रों में तदर्थ अधोलिखित पद्य दिया गया है :—

सोम एव नो राजेमा मानुषीः प्रजाः।
अविमुक्तचक्र आसीरंस्तीरे तुभ्यमसौ॥ [३६८]

सोम ही हमारा राजा है, यह मानुषी प्रजा तुम्हारे राजचक्र से अविमुक्त तट पर निवास करें॥

असौ के स्थान पर जिस नदी के निकट वे रहते हों उसका नाम सम्बोधन रूप में लिया जाना चाहिये। उपरिलिखित पाठ पा० गृ० में दिया गया है। हि० गृ० (२।१।३) और आग्नि० गृ० (२।१।२) के अनुसार गाथा वीणावादकों द्वारा न गाई जाकर स्वयं पति द्वारा गाई जानी चाहिये। केवल मात्र भा० गृ० (१।२१) में इस पद्य का विनियोग माँग निकालने की क्रिया में विहित है। पद्य का पाठ प्रत्येक गृह्यसूत्र में भिन्न है यद्यपि सबका भाव समान है। आ० गृ० में निम्नलिखित पाठ है जिसे पद्यात्मक न होने के कारण गाथा नहीं कहा जा सकता :—

सोमो नो राजावतु मानुषीः प्रजाः निविष्टचक्राऽसौ॥ [३६९]

इसका अर्थ बहुत स्पष्ट नहीं है। इस स्पष्टता के प्रयोजन से ही आप्टे ने **सोमो नो राजा** को पृथक् वाक्य के रूप में विच्छिन्न किया है।[2] भाष्यकार नारायण के समान ही वह भी **निविष्टचक्रा** का अन्वय **असौ** (नदी) के साथ करता है। परन्तु हरदत्त मिश्र के अनुसरण में स्टेंज्लर इसे सन्धि का अपवाद मानकर **निविष्टचक्राः** (बहु०) का अन्वय **प्रजाः** के साथ करता है। और यदि अन्य गृह्यसूत्रों का अनुसरण करके **असौ** को सम्बोधन रूप का प्रतिनिधि माना जाये तो आप्टे का सुझाव अनावश्यक प्रतीत होता है। अन्यथा भी आप्टे का सुझाव अनपेक्षित लगता है क्योंकि

---

१. आ०गृ० १।१४।७, पा०गृ० १।१५।८, आप०गृ० ६।१४।६ (मं०पा० २।११।१३) बौ० गृ० १।१०।११ वै० गृ० ३।१२ (केवल प्रतीक)

२. नॉन ऋग्० मन्त्रज् इन आ० गृ०, पृ० १८।

निविष्टचक्राः की **विवृत्तचक्राः** तथा अन्य पाठों से तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है कि इसे नदी का विशेषण न होकर **प्रजाः** का विशेषण होना चाहिये। कृष्णयजुर्वेद से सम्बद्ध सभी गृह्यों में **मानुषीः** के स्थान पर **ब्राह्मणीः**, **इमाः** के स्थान पर **इत्याहुः** और तृतीय पाद में **विवृत्तचक्रा आसीनाः** पाठ के विषय में मतैक्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि **ब्राह्मणीः** पाठ रखने के विषय में आप० गृ० इन सब गृह्यों का अग्रणी है क्योंकि इसमें प्रथम बार इस मन्त्र का विधान ब्राह्मणों के लिये किया गया है।[1] ब्राह्मणों से भिन्नता प्रदर्शित करने के लिये साल्वदेशवासी क्षत्रियों वैश्यों के लिये दूसरा मन्त्र (मं० पा० २।११।१२) दिया गया है :—

यौगन्धरिरेव नो राजेति साल्वीरवादिषुः।
विवृत्तचक्रा आसीनास्तीरेण यमुने तव ॥ [४००]

हे यमुने, तुम्हारे तट के साथ-साथ रहने वाली सुस्थित राजचक्र वाली साल्वदेश की प्रजा कहती है कि यौगन्धरि ही हमारा राजा है ॥

इस पद्य से स्पष्ट है कि साल्वदेश कहीं यमुना नदी के निकट ही बसा हुआ था।[2] जिस पद्य में **ब्राह्मणीः** पाठ है उसमें भी **असौ** के स्थान पर **यमुने** ही उच्चारण करना होता है। मं० पा० के समान ही हि० गृ० और बौ० गृ० में भी **असौ** है। परन्तु भा० गृ० मं० पा० के अधिक निकट है क्योंकि **असौ** के विकल्प में यहाँ यमुने पाठ भी रखा गया है। इससे भा० गृ० के रचयिता का निवास यमुना के निकटवर्ती प्रदेश में होना प्रमाणित होता है।[3] हि० गृ० और आग्नि० गृ० में अन्तिम पाद पा० गृ० के समान है, केवल **असौ** के स्थान पर गङ्गा रखा गया है। तदनुसार इन दोनों सूत्रों के रचयिताओं का निवास गङ्गा का निकटवर्ती प्रदेश रहा होगा।

सीमन्तोन्नयन के अवसर पर इस पद्य के गायन का और उस प्रसङ्ग में किसी नदी के नामोच्चारण का औचित्य बहुत स्पष्ट नहीं है, यद्यपि आप्टे का अनुमान है कि सम्भवतया नदी की आकृति पत्नी की 'माँग' का संकेत देती हो।[4] इसका यह भी उद्देश्य हो सकता है कि सीमन्तोन्नयन उत्सव राजा के पास से विशेष उपहार आदि दिलाने की दृष्टि से भी शुभ हो। परन्तु सीमन्तोन्नयन कर्म की क्रियाओं से इसका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता।

---

१. उत्तरयोः (ऋचोः) पूर्वा साल्वानां ब्राह्मणानामितरा ॥
२. इं० वै० कल्प०, पृ० ६७।
३. भा० श्रौ० भूमिका, पृ० ३०, सम्पा० चिं० ग० काशीकर।
४. सोन ऋग्० मन्त्रज इन आ० गृ०, पृ० १९।

षष्ठ अध्याय

शिशुजन्म के अवसर पर अनुष्ठेय कर्म अथवा जातकर्म

सोष्यन्ती-होम, क्षिप्रप्रसवन

गो० गृ० और खा० गृ० में विधान है कि जब पत्नी का प्रसव होने को हो तो पति को निम्नलिखित दो मन्त्रों का उच्चारण करते हुए दो आज्याहुतियाँ अर्पित करनी चाहियें[1] :—

> **या तिरश्ची निष्पद्यते अहं विधरणी इति ।**
> **तां त्वा घृतस्य धारया यजे संराधनीमहम् ॥**
> **संराधन्यै देव्यै द्वेष्ट्र्यै स्वाहा ॥** [४०१]
>
> **विपश्चित् पुच्छमभरत् तद् धाता पुनराहरत् ।**
> **परेहि त्वं विपश्चित् पुमान् अयं जनिष्यते असौ नाम ॥** [४०२]

जो कुटिला "मैं ही धारणकर्त्री हूं यह सोचकर प्रकट होती है, उस तुझ (कुटिला) सब कुछ धारण करने वाली की मैं घृत की धारा से पूजा करता हूं। सम्यक् आराधनीय उस निर्देशिका देवी के प्रति स्वाहा ॥ विपश्चित् (विद्वान्) ने पूंछ (आधार) ले ली, धाता उसे फिर ले आया। हे विपश्चित्, तुम दूर हो जाओ, यह अमुक नामा पुरुष उत्पन्न होगा।

ये दोनों ही मन्त्र किसी प्राग्-गृह्यसूत्र ग्रन्थ में प्राप्य नहीं हैं। दूसरे मन्त्र में विपश्चित् किसी भूत-प्रेत का नाम प्रतीत होता है जिसे यजमान इस मन्त्र के उच्चारण से अपवारित करना चाहता है।

प्रथम मन्त्र श्रौत और गृह्य साहित्य में बहुत लोकप्रिय प्रतीत होता है। बौधायन, भारद्वाज और आग्निवेश्य ने विवाह-संस्कार के अन्तर्गत प्रधान-होम की एक आहुति के साथ इसके उच्चारण का विधान किया है।[2] भा० गृ० और आग्नि० गृ० में हि० गृ० के साथ ही साथ उपनयन के अवसर पर भी आहुति के लिये इसका विनियोग किया गया है।[3] आप० गृ० ४।१२।६।(मं० पा० २।८।५) के अनुसार समावर्तन

---

१. गो० गृ० २।७।१४।(मं० ब्रा० १।५।६,७), खा० गृ० २।२।३०
२. बौ० गृ० १।३।३८, भा० गृ० १।१३ आग्नि० गृ० १।६।१।
३. भा० गृ० १।५, आग्नि० गृ० ४।१, हि० गृ० १।२।१८

के समय स्नातक द्वारा अर्पित की गई एक आज्याहुति के साथ इसका उच्चारण किया जाना चाहिये। मं०पा० में निष्पद्यते के स्थान पर निपद्यसे पाठ है और तृतीय पंक्ति का अभाव है। द्वितीय पंक्ति में **संधारणीम्** के स्थान पर **संराधनीम्** पाठ है। चतुर्थपाद को छोड़कर उपर्युक्त सभी गृह्यसूत्रों में इस मन्त्र का पाठ मं०पा० के समान ही है। हि०गृ० में अन्त में **अग्नौ** जोड़ा गया है। बौ०गृ० में चतुर्थपाद **अग्नौ-संराधिनीं यजे** है। भा०गृ०और आग्नि०गृ० में इस पाद का पाठ **जुहोमि वैश्वकर्मणीम्** है। इसी स्थान पर हि०गृ० (१।२।१८)और अग्नि०गृ० (१।६।१)में **तिरश्ची** के स्थान पर **अनूची** पाठ वाला मन्त्र का एक अन्य रूप भी दिया गया है जिसके चतुर्थ और पंचम पाद **अग्नौ संराध्यै देव्यै स्वाहा प्रसाधन्यै देव्यै स्वाहा** हैं कुछ गृह्यसूत्रों में इन पादों को दो स्वतन्त्र मन्त्र माना गया है।[1] आग्नि० गृ० (३।२।१) में अष्टका के अन्तर्गत इसके आगे **कामैः स्वधा नमः स्वाहा** जोड़ा गया है। इसी गृह्यसूत्र में उपनयन के प्रसङ्ग में इस मन्त्र का चतुर्थ पाद **अग्नौ संराधन्यै यजे स्वाहा** है।

अर्थ के अनुसार यह मन्त्र कुछ सामान्य प्रकार का है, और इसीलिये इसके ये विविध विनियोग उपलब्ध होते हैं। इस बात की पुष्टि इसके पूर्ववर्ती विविध श्रौत प्रयोगों से भी होती है जहाँ यह विविध यागों में आज्याहुति के साथ आता है।[2] श० ब्रा० में इसका उद्धरण प्राचीनतम है। वहाँ किसी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के निमित्त अनुष्ठित कर्म में इसका विनियोग किया गया है। शां० श्रौ० में इसका विनियोग शूलगव में हुआ है।

शिशु के शीघ्र एवं सुविधापूर्ण जन्म के निमित्त कुछ गृह्यसूत्रों में यह विधान है कि जब प्रसव होने को हो उस समय पतिको निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए गीले हाथों से सिर से लेकर हृदय-देश तक पत्नी का स्पर्श करना चाहिये[3] :—

यथायं वातः पवते यथा समुद्र एजति ।
एवं ते गर्भ एजतु सह जरायुणावपद्यताम् ॥ [४०३]

जिस प्रकार यह पवन बहता है, जिस प्रकार समुद्र गतिशील है, उसी प्रकार तुम्हारा गर्भ गतिशील हो और वह जरायु के साथ नीचे आ जाये।

मन्त्र का उपरिलिखित पाठ का० गृ० के अनुसार है। मं० पा० में **वातः** के स्थान पर **सोमः** पाठ है और **जरायुणा** के पश्चात् निम्नलिखित है :—

---

१. बौ०गृ०१।३।३९, आप० गृ०५।१२।९ (मं०पा०२।८।६,७), भा० गृ०१।१३।
२. श० ब्रा० १४।९।३।३, आ० श्रौ०८।१४।४, शां०श्रौ०४।१८।१,बृ०उ०६।३।३।
३. का० गृ० ३३।२; आप० गृ० ६।१४।१४ (मं० पा० २।११।१६), हि०गृ० २।२।१, भा० गृ० १।२२, आग्नि० गृ० २।१।३, वै० गृ० ३।१४।

निष्क्रम्य प्रतितिष्ठत्वायुषि ब्रह्मवर्चसि यशसि वीर्येऽन्नाद्ये ॥

(निकल कर वह गर्भ आयु, ब्रह्मतेज, यश, वीरता और अन्नभक्षण की क्षमता में प्रतिष्ठित रहे।)

आप० गृ० के भाष्यकार सुदर्शनाचार्य ने मन्त्र को केवल **प्रतितिष्ठतु** तक माना है जिससे कि मं० पा० २।११।१७ से २० तक सभी मन्त्र दो दो अर्धर्चों के हो जायें, अन्यथा २।११।१७ केवल एक अर्धर्च का रहेगा। हि०गृ०, भा०गृ०, आग्नि.गृ. में **वान्नः** के स्थान पर पर्यायवाची **वायुः** शब्द है। हि०गृ० और आग्नि०गृ० में **अवपद्यताम्** के स्थान पर **अवसर्पतु** पाठ है और भा० गृ० में **ते गर्भः** के स्थान पर **कुमारः**।

मूल रूप में यह मन्त्र और उसका विनियोग ऋग्वेद (५।७८।८) जितने प्राचीन हो सकते हैं क्योंकि वहाँ भी इससे मिलता जुलता मन्त्र है और जिस सूक्त में वह आया है वह शिशु के सुरक्षित प्रसव के निमित्त कर्म से सम्बद्ध प्रतीत होता है क्योंकि उसके अधिकांश मन्त्र प्रसव से सम्बद्ध माने जाते हैं। ऋग्-मन्त्र का पाठ अधोलिखित है :—

यथा वातो यथा वनं यथा समुद्र एजति।
एवा त्वं दशमास्य सहावेहि जरायुणा॥ [४०४]

जिस प्रकार वायु, वन और समुद्र गतिशील हैं, उसी प्रकार हे दस मास की आयु वाले, तुम भी जरायु के साथ नीचे आओ।

वा० सं० (८।२८) में इस मन्त्र का यह पाठ दिया गया है :[1]—

एजतु दशमास्यो गर्भो जरायुणा सह।
यथायं वायुरेजति यथा समुद्र एजति।
एवायं दशमास्यो अस्रज्जरायुणा सह॥ [४०५]

दस मास की आयु वाला गर्भ जरायु (आँवल) के साथ गतिशील हो। जिस प्रकार यह वायु गतिशील है, जिस प्रकार समुद्र गतिशील है, उसी प्रकार यह दस मास की आयु वाला जरायु के साथ सरके।

पा० गृ० (१।१६।१) में वा० सं० के उपरिलिखित तथा अगले (८।२९) मन्त्र का विनियोग प्रसव के समय पत्नी का अभिषेक करने के लिये किया गया है। दूसरे मन्त्र का पाठ अधोलिखित है :—

यस्यै ते यज्ञियो गर्भो यस्यै योनिर्हिरण्ययी।
अङ्गान्यह्रुता यस्य तं मात्रा समजीगमं स्वाहा॥ [४०६]

---

१. तु० श० ब्रा० ४।५।२।५, का श्रौ० २५।१०।७।

जिस तुम्हारा गर्भ यज्ञ-सम्बन्धी है, जिस तुम्हारी योनि सुवर्ण मयी है, जिस (गर्भ) में अंग अक्षत हैं उसे मैंने (उस प्रकार की तुम जैसी) माता से संयुक्त किया है।

यह मन्त्र पाठभेद सहित तै० सं० (३।३।१०।१) और का० सं० (१३।६) में भी उपलब्ध होता है।

जैसा कि ऊपर ऋ० के आधार पर स्पष्ट किया गया, प्रथम मन्त्र गृह्यमूल का ही प्रतीत होता है। तथापि शुक्ल यजुर्वेदीय श० ब्रा० ४।५।२।५, और का०श्रौ० २५।१०।७ में इसका विनियोग एक श्रौत कर्म में भी हुआ है, जिसके अनुसार यदि कोई यज्ञपशु सगर्भ हो तो उसके शावक का प्रसव इस मन्त्र के उच्चारण से कराना चाहिये। दूसरी ओर जहाँ तक दूसरे मन्त्र (वा० सं० ८।२९) का सम्बन्ध है, **यज्ञियो गर्भः** शब्द और कृष्णयजुर्वेद में **मात्रा** के स्थान पर **देवैः** पाठ से यह प्रकट होता है कि सम्भवतः मूलरूप में इसकी रचना श्रौत-याग के निमित्त हुई होगी। श्रौत-याग में यदि यज्ञ-पशु सगर्भ हो तो उसके शावक का प्रसव करवाकर, इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए उसके शरीर के विविध अंगों की आहुति दी जाती है।[1]

पा० गृ० (१।१६।२) और हि० गृ० (२।३।३) में आँवल पृथक् करने के लिये निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है :—

अवैतु पृश्नि शेवलं शुने जराय्वत्तवे ।
नैव मांसेन पीवरि न कस्मिंश्चना यतमव जरायु पद्यताम् ॥ [४०७]

कुत्ते के लिये भक्षणार्थ चितकबरी और चिकनी आँवल नीचे आ जाये। न ही मांस के द्वारा स्थूल और न ही किसी (वस्तु के आधार) पर फैली हुई आँवल नीचे आ जाये।

मं० पा० २।११।२० में **अवैतु** के स्थान पर **निरैतु** पाठान्तर-सहित मन्त्र का पूर्वार्ध ही उपलब्ध होता है और आप० गृ० (६।१४।१५) में विधान है कि यदि आँवल बाहर न निकले तो इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए पत्नी का अभिषिञ्चन किया जाना चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि इस मन्त्र की रचना निम्नलिखित अथर्व० १।११।४ मन्त्र के विभिन्न पादों की पुनर्व्यवस्था और उनमें स्वल्प परिवर्तन करके की गई होगी :—

नैव मांसे न पीबसि नैव मज्जस्वाहतम् ।
अवैतु पृश्नि शेवलं शुने जराय्वत्तवेऽव जरायु पद्यताम् ॥

---

१. वा० सं० का० ६।५।२, श० ब्रा० ४।५।२।१० का० श्रौ० २५।१०।११

अथर्व० में इसकी अवस्था से मूलतः इसका गृह्यकर्मार्थ रचित होना सिद्ध होता है।

आयुष्य, कुमाराभिमन्त्रण और प्राशन

मा० गृ० (१।१७।३) में विधान है कि आयुष्य होम का अनुष्ठान आहुतियों के साथ सम्पूर्ण अनुवाक (मै० सं० २।३।४) का उच्चारण करते हुए किया जाना चाहिये। यह अनुवाक आंशिक रूप में का० सं० ११।७ में भी प्राप्त होता है और उसके कुछ अंशों की भावना पा० गृ० (१।१६।६) में उद्धृत, निम्नलिखित मन्त्रों के समान है जिनका विनियोग नवजात शिशु के दीर्घायुष्य के निमित्त उसके दाहिने कान में उच्चारणार्थ किया गया है :—

अग्निरायुष्मान् स वनस्पतिभिरायुष्मांस्तेन त्वाऽयुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि ॥
सोम आयुष्मान् स ओषधीभिः..............॥
ब्रह्मायुष्मत्तद्ब्राह्मणैरायुष्मत्तेन..............॥
देवा आयुष्मन्तस्तेऽमृतेनायुष्मन्तस्तेन.........॥
ऋषय आयुष्मन्तस्ते व्रतैः.....................॥
पितर आयुष्मन्तस्ते स्वधाभिः..................॥
यज्ञ आयुष्मान् स दक्षिणाभिः..................॥
समुद्र आयुष्मान् स स्रवन्तीभिः..............॥ [४०८–४१५]

अग्नि आयुष्मान् है, वह वनस्पतियों के द्वारा आयुष्मान् है, उसकी उस आयु से मैं तुम्हें आयुष्मान् बनाता हूँ॥ सोम आयुष्मान् है, वह ओषधियों के द्वारा आयुष्मान्...॥ब्रह्म (वेद) आयुष्मान् है, वह ब्राह्मणों के द्वारा...॥ देव आयुष्मान् हैं, वे अमृत के द्वारा...॥ ऋषि आयुष्मान् हैं, वे व्रतों के द्वारा...॥ पितर आयुष्मान् हैं, वे स्वधाओं के द्वारा...॥ यज्ञ आयुष्मान् है वह दक्षिणाओं के द्वारा...॥ समुद्र आयुष्मान् है, वह प्रवाहमयी नदियों के द्वारा...॥

भा० गृ० (१।२४) के अनुसार जातकर्म संस्कार में पिता को शिशु का हाथ अपने हाथ में ग्रहण करते हुए इन मन्त्रों का उच्चारण करना चाहिये। तै० सं० (२।३।१०।३) में १, २, ७, ३, ४, ६ क्रम में केवल छः मन्त्र हैं। श्रौतयागों में भी दीर्घायुष्य के निमित्त कर्म में इन मन्त्रों का विनियोग किया गया है। एक आयुष्य याग में अध्वर्यु इन मन्त्रों का उच्चारण करते हुए यजमान का हाथ अपने हाथ में ग्रहण करता है।[1] इस प्रकार से भा० गृ० का विनियोग इस श्रौत विनियोग के और

---

१. तै० सं० २।३।११।५, बौ० श्रौ० १३।३२, आप० श्रौ० १९।२४।११।

भी सन्निकट है। आप० गृ० और आग्नि० गृ० के अनुसार प्रवास से लौटकर पिता को तै० सं० के क्रमानुसार प्रथम पाँच मन्त्रों के द्वारा शिशु का अभिमन्त्रण करना चाहिये ।[1] आग्नि० गृ० में तो पिता द्वारा बालक के हस्त-ग्रहण का भी विधान है । वै० गृ० (३।२२ख) में निर्देश है कि प्रवास से लौटकर पिता को अंगूठे सहित बालक की अंगुलियाँ अपने हाथ में ग्रहण करनी चाहियें और फिर इन पाँच मन्त्रों का उच्चारण करते हुए एक एक करके उन्हें छोड़ना चाहिये । हि० गृ० (२।४।१७, १५।१४) में भी ये पाँच मन्त्र उद्धृत किये गये हैं, परन्तु उनका विनियोग नामकरण और उपनयन संस्कारों में हुआ है। और यहाँ भी उपनयन में आचार्य द्वारा शिष्य के हस्त-ग्रहण की क्रिया विद्यमान है । का० गृ० (३६।७) में नामकरण के अन्तर्गत काँसे के पात्र में घृत में डाले गये सुवर्ण को निकाल कर पुरोहितद्वारा यजमान को देने के लिये **देवा आयुष्मन्तः** से लेकर छः मन्त्रों का विनियोग किया गया है । निश्चित रूप से यहाँ का० गृ० का संकेत का० सं० (११।१७) के प्रति है क्योंकि वहाँ यह मन्त्रसमूह इन्हीं शब्दों से आरम्भ होता है । **पितरः** इत्यादि मन्त्र को छोड़कर इसमें तै० सं० के सभी छः मन्त्र विद्यमान हैं । उस मन्त्र के स्थान पर यहाँ अधोलिखित मन्त्र है :—

ओषधय आयुष्मतीस्ता अद्भिरायुष्मतीस्तासामायुषायुष्मानस्त्वसौ ।।[४१६]

ओषधियाँ आयुष्मती हैं, वे जल के द्वारा आयुष्मती हैं, यह अमुक नाम का (बालक) उनकी आयु से आयुष्मान् हो जाये ।

इस उद्धरण से **तासाम्** अथवा **तेषाम्** से आरम्भ होने वाली प्रत्येक मन्त्र की ध्रुव पंक्ति का अन्तर भी स्पष्ट हो जाता है ।

पा० गृ० (१।१६।८-९) में आगे चलकर निर्देश किया गया है कि यदि पिता यह चाहे कि मेरा शिशु मनुष्यजीवन-सम्मत पूर्ण आयु प्राप्त कर ले, तो उसे **वात्सप्र अनुवाक** का उच्चारण करते हुए शिशु का स्पर्श करना चाहिये । इस स्थिति में अनुवाक का अन्तिम मन्त्र छोड़ दिया जाना चाहिये । कुछ अन्य गृह्यसूत्रों में भी नवजात शिशु का स्पर्श करने के लिये इस अनुवाक के उच्चारण का विधान है ।[2] अनुवाक का प्रारम्भ इस मन्त्र से होता है :—

दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्निरस्मद् द्वितीयं परि जातवेदाः ।
तृतीयमप्सु नृमणा अजस्रमिन्धान एनं जरते स्वाधीः ।।[४१७]

---

१. आप० गृ० ६।१५।१२ (मं० पा० २।१४।५-९) आग्नि० गृ० २।१।५ ।
२. आप० गृ० ६।१५।१ (मं० पा० २।११।२१-३१), मा० गृ० १।२५, मा० गृ० १।२३।११ ।

हमसे पूर्व सर्वप्रथम अग्नि आकाश से उत्पन्न हुआ, दूसरी बार वह जातवेदा के रूप में और तीसरी बार जल में निरंतर अपने बल से प्रदीप्त होता हुआ उत्पन्न हुआ। सद्बुद्धि उसकी स्तुति करता है।

तै० सं० ४।२।२ ही यह अनुवाक है। इसके अतिरिक्त यह अन्य प्राग्-गृह्यसूत्र ग्रन्थों में भी विद्यमान है।[1] इसका वात्सप्र अथवा वात्सप्रिय नाम तै० सं० (५।२ १।६) जितना प्राचीन है। इसी नाम से इसका उल्लेख कुछ अन्य प्राग्-गृह्यसूत्र ग्रन्थों में भी हुआ है।[2] इस अनुवाक का यह नाम इसके द्रष्टा वत्सप्रि भालन्दन के नाम पर है। क्योंकि शु० ब्रा० में भी पा० गृ० के समान ही उपर्युक्त कर्म का उल्लेख है, अतः ऐसा प्रतीत होता है कि इस अनुवाक के गृह्य-विनियोग का आधार श०ब्रा० है।

शिशु के स्पर्श के निमित्त ही आ० गृ० १।१५।३ और पा० गृ० १।१६।१८ में निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग भी किया गया है। कुछेक गृह्य-सूत्रों में केवल शिशु के अभिमन्त्रण के लिये इसका प्रयोग किया गया है[3] :—

अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्तृतं भव।
आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्॥ [४१८]

पाषाण हो जाओ, परशु हो जाओ, निर्दोष सुवर्ण हो जाओ, तुम पुत्र नामक आत्मा हो, वह (तुम) सौ वर्ष तक जीवित रहो।

यह पारस्कर-सम्मत पाठ है। वा० गृ०(३।११) में प्रवास से लौटकर पिता द्वारा शिशु के अभिमन्त्रणार्थ इस मन्त्र का विनियोग किया गया है। हि० गृ० और आग्नि० गृ० के अनुसार शिशु-जन्म के पश्चात् भूमि पर एक शिला रखी जानी चाहिए, शिला पर एक कुल्हाड़ा और उस पर सुवर्ण-खण्ड रखा जाना चाहिये, और पिता को इन पदार्थों के ऊपर शिशु को लेकर इस मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये।[4] ये पदार्थ क्रमशः दृढ़ता, शत्रु-उच्छेदन और सौन्दर्य या तेज के प्रतीक हैं। इनके द्वारा पुत्र में इन गुणों की अभिलाषा का संकेत प्राप्त होता है। सामवेद

---

१. ऋ० १०।४५, वा० सं० १२।१८-२९, का० सं० १६।१९, मं० सं० २।७।९, श० ब्रा० ६।७।४।३, आ० श्रौ० ४।१३।७, का० श्रौ० १६।५।२१, आप० श्रौ० ६।१९।८, १६।११।६, मा० श्रौ० ६।१।४।
२. मै० सं० ३।२।२, श० ब्रा० ६।७।४।२, आप० श्रौ० १६।११।६।
३. मा० गृ० १।२४, मा० गृ० १।१७।५, वा० गृ० २।६।
४. हि० गृ० २।३।२, आग्नि० गृ० २।१।३, तु० वै० गृ० ३।१४।
गृ० वि० १४]

सम्बन्धी गृह्यसूत्रों में इस मन्त्र का विनियोग पिता द्वारा प्रवास से लौटकर पुत्र के सिर का स्पर्श करते हुए उच्चारणार्थ किया गया है।[1] बौ० गृ० और आप० गृ० में जन्म के तत्काल पश्चात् गोद में लेकर पिता द्वारा शिशु के मूर्धा-घ्राण प्रसङ्ग में इसका विनियोग किया गया है और तदनुसर इनमें उत्तरार्ध का अधोलिखित रूप है[2] :—

पशूनां त्वा हिंकारेणाभिजिघ्राम्यसौ ॥

यह मैं अमुक नामवाला पशुओं के हिंकार से तुम्हारा घ्राण करता हूँ।

मं०ब्रा०में उत्तरार्ध का पाठ **आत्माऽसि पुत्र मा मृथाः स जीव शरदः शतम्** है। मन्त्र के पूर्वार्ध में सभी गृह्यसूत्रों में पा० गृ० के **अस्रुतम्** के स्थान पर **अस्तृतम्** पाठ है। परन्तु पा० गृ० का पाठ सर्वाधिक स्वीकार्य है क्योंकि सुवर्ण का नहीं पिघला हुआ विशेषण उपयुक्ततम है। उत्तरार्ध में पा० गृ० के समान गृह्यसूत्रों में से आ०गृ०, हि० गृ० और आग्नि० गृ० में **आत्मा** के स्थान पर **वेदः** पाठ है। वा० गृ० में दोनों पंक्तियों के मध्य निम्नलिखित पंक्ति भी प्राप्त होती है :—

अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधिजायसे ॥ [४२०]

तुम मेरे प्रत्येक अंग से उत्पन्न होते हो और हृदय से जन्म लेते हो॥

हि० गृ०, आप० गृ०, भा० गृ० (१।२५), बौ० गृ० और आग्नि० गृ० में यह पंक्ति इसी प्रसंग में प्रयुक्त एक अन्य मन्त्र के पूर्वार्ध के रूप में आती है। और इस मन्त्र का उत्तरार्ध **अश्मा भव** इत्यादि मन्त्र का उत्तरार्ध ही है। कुछ गृह्यसूत्रों में इसका विनियोग प्रवास से लौटकर गृहस्थ द्वारा पुत्र को सम्बोधित करने के लिये किया गया है।[3] इस प्रसङ्ग में मं० पा० में **आत्मा** के स्थान पर **वेदः** पाठ है। पा० गृ० का **अश्मा भव** इत्यादि मन्त्र श० ब्रा० (१४।९।४।२६) और कौ० ब्रा० उ० (२।११) के मन्त्र के पूर्णतया समान है। इस ब्राह्मण में वह मन्त्र पुत्रमंथ कर्म में विनियुक्त किया गया है—पुत्रमन्थ कर्म जातकर्म जैसा ही है। यद्यपि यह मन्त्र किसी भी वर्तमान संहिता में उपलब्ध नहीं, तथापि यह बात ध्यान देने योग्य है कि शरीर की पाषाण से तुलना करने का भाव ऋ० (६।७५।१२—**अश्मा भवतु नस्तनूः**)

---

१. गो० गृ० २।८।२१ (मं० ब्रा० १।५।१८), खा० गृ० २।३।१३, जै० गृ० ७।१८।

२. बौ० गृ० २।१।५, आप० गृ० ६।१५।१ (मं० पा० २।१२।१)—जै० गृ० का उत्तरार्ध मं० पा० के समान है।

३. पा० गृ० १।१८।२, आप० गृ० ६।१५।१२ (मं० पा० २।१४।३), आ० गृ० १।१५।११, मा० गृ० १।२७, मा० गृ० १।१८।६, गो० गृ०२।८ २१ (मं० ब्रा० १।५।१७), खा० गृ० २।३।१३।

जितना प्राचीन है ।

अङ्गादङ्गात् इत्यादि द्वितीय मन्त्र कुछ प्राग्-गृह्यसूत्र ग्रन्थों में भी प्राप्त होता है ।[1] इन ग्रन्थों में केवल इस मन्त्र का पूर्वार्ध है, उत्तरार्ध भिन्न है । यहाँ विनियोग भी गृह्यसूत्रों से भिन्न है । तदनुसार किसी एक पत्नी के सच्चे प्रेम की प्राप्ति के निमित्त अनुष्ठित कर्म में इसका उच्चारण किया जाना चाहिये । इस प्रसङ्ग से स्पष्ट होता है कि मन्त्र वीर्य को सम्बोधित है। इस दृष्टि से उन ग्रन्थों के मन्त्र का उत्तरार्ध विशेष रूप से द्रष्टव्य है :—

स त्वमङ्गकषायोऽसि दिग्धविद्धामिव मादय ।

(हे वीर्य तुम मेरे अङ्गों के रस हो । अतः जिस प्रकार विष लगाये हुए बाण से घायल हुई हरिणी मूर्छित हो जाती है, उसी प्रकार तुम मेरी इस पत्नी को मेरे प्रति उन्मत्त बना दो—इसे मेरे अधीन कर दो[2] ।)

गृह्यसूत्रों और पूर्ववर्ती ग्रन्थों दोनों के कर्मों में दो व्यक्तियों के निकट-स्नेह-सम्बन्ध की भावना समान रूप में विद्यमान है । सम्भवतया दोनों स्थलों पर भावना की इस समानता के कारण ही कम से कम मन्त्र के पूर्वार्ध का विनियोग किया गया, यद्यपि दोनों प्रसङ्गों में अर्थभेद स्पष्ट है ।

भा० गृ० (१।२५) में निर्देश है कि पिता को अग्नि पर अपने हाथ तपा कर निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए उनके द्वारा नवजात शिशु का स्पर्श करना चाहिये :–

अग्नेष्ट्वा तेजसा सूर्यस्य वर्चसेन्द्रस्येन्द्रियेण
विश्वेषां त्वा देवानां क्रतुनाभिमृशामि ।। [४२१]

अग्नि के तेज के द्वारा, सूर्य की दीप्ति के द्वारा, इन्द्र के बल के द्वारा, सभी देवताओं के विशिष्ट कर्मों के द्वारा मैं तुम्हारा स्पर्श करता हूँ ।।

मा० गृ० (१।१८।४) में **इन्द्रस्येन्द्रियेण** का अभाव है और मन्त्र का विनियोग नामकरण में किया गया है । कुछ पूर्ववर्ती ग्रन्थों में केवल मात्र **अग्नेस्तेजसा सूर्यस्य वर्चसा** शब्द आते हैं, परन्तु गृह्य-विनियोग से उनका कोई सम्बन्ध नहीं ।[3] कतिपय गृह्यसूत्रों में विधान है कि अधोलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए पिता को उस भूमि का

---

१. श० ब्रा० १४।६।४।८, बृ० उ० ६।४।६, कौ० ब्रा० उ० २।११, का० श्रौ० ४।१२।२२ ।

२. बृ० उ० गीताप्रेस गोरखपुर, अनुवाद

३. मै०सं० २।७।१२, ऐ०ब्रा० ८।७।५, ७, ६, तै०ब्रा० १।७।८।४, तै०ब्रा० ६।३।२ ।

स्पर्श करना चाहिए जहाँ शिशु ने जन्म लिया हो अथवा जहाँ वह लेटा हो[१] :—

वेद ते भूमि हृदयं दिवि चन्द्रमसि श्रितम् ।
तथामृतत्वस्येशानो माहं पौत्रमघं रुदम् ।।

हे भूमि, तुम्हारे जिस हृदय का निवास स्वर्ग में, चन्द्रमा में है, उसे मैं जानता हूँ । इस कारण अमरत्व का स्वामी मैं पुत्रसम्बन्धी कष्ट पर न रोऊँ ।। ओ० ब०

मन्त्र का उपरिलिखित पाठ हि० गृ० में दिया गया है । आग्नि० गृ० में तृतीय पाद **तस्यामृतस्य नो धेहि** और भा० गृ० में **वेदामृतस्य गोप्तारम्** है । इसी पाद का एक पाठान्तर मं० पा० में **तद्विद्व पश्यम्** है । मं० पा० में प्रथम पाद **यद् भूमेः हृदयम्** है । इस प्रकार मं० पा० में प्रथम और तृतीय पाद की मात्राएं छः छः रह गई हैं परन्तु **यद् भूमेः** पाठ से विभक्तिहीन **भूमि** शब्द के अर्थ की कठिनाई दूर हो गई है । ओल्डनबर्ग ने **भूमि** को सम्बोधन मानकर अनुवाद किया है[२] । आगे आने वाले अन्य पाठों से इस अनुवाद की पुष्टि हो जाती है (दे० मन्त्र सं० ४२२) । पा० गृ० में मन्त्र के उत्तरार्ध का निम्नलिखित पूर्णतया भिन्न पाठ दिया गया है:—

वेदाहं तन्मां तद्विद्यात् पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं श्रृणुयाम शरदः शतम् ।।

(मैं उस (हृदय) को जानता हूँ, वह मुझे जाने । हम सौ वर्ष तक देखें, हम सौ वर्ष तक जीवित रहें, हम सौ वर्ष तक सुनते रहें ।)

पा० गृ० १।११।९ में **वेद ते भूमि** के स्थान पर **यत्ते सुसीमे** पाठ सहित इसी मन्त्र का विनियोग चतुर्थीकर्म के अन्त में पति द्वारा पत्नी के हृदयदेश का स्पर्श करने के लिये किया गया है ।

पश्येम इत्यादि वाक्य प्रायः सभी संहिताओं के दीर्घायुष्य सम्बन्धी एक मन्त्र का उत्तरार्ध है ।[३] दीर्घायुष्य के लिए आज भी इस प्रार्थना का प्रभूत प्रचलन है ।

हि० गृ०, आग्नि० गृ० और आप० गृ० में इसी कार्य में एक अन्य मन्त्र का विनियोग किया गया है ।[४] वह मन्त्र भी उपरिलिखित मन्त्र के समान है । प्रथम

---

१. पा० गृ० १।१६।१७, हि० गृ० २।३।८, भा०गृ० १।२५, आग्नि० गृ० २।१।३, वा०गृ० २।६, आप० गृ० ६।१५।५ (मं० पा० २।१३।३) ।
२. से० बु० ई० खं० ३०, पृ० २१२ ।
३. ऋ० ७।६६।१६, ऋ० खि० १।५०।३, अथर्व० १९।६७।१, वा० सं० ३६।२४, मै० सं० ४।९।२० ।
४. हि०गृ० २।३।८, आग्नि० गृ० २।१।३, आप०गृ० ६।१५।५ (मं० पा० २।१३।४)

पंक्ति का मात्र भेद वेद ते भूमि के स्थान पर यत्ते सुसीमे है। आग्नि० गृ० में तृतीय पाद उक्त मन्त्र के उस पाद जैसा है। और हि० गृ० में यह पाद आग्नि० गृ० जैसा है। मं० पा० में मन्त्र का अधोलिखित रूप प्राप्त होता है:—

यत्ते सुसीमे हृदयं वेदाहं तत् प्रजापतौ।
वेदाम तस्य ते वयं माहं पौत्रमघं रुदम्॥ [४२३]

हे शोभन सीमा वाली, तुम्हारा जो हृदय है उसे मैं जानता हूँ। तुम्हारे उस हृदय को हम प्रजापति में आधारित जानें, मैं पुत्र सम्बन्धी कष्टों पर न रोऊँ॥

आ० गृ० (१।१३।७) में इसी प्रकार का एक मन्त्र पुंसवन के अतर्गत पत्नी के हृदयदेश का स्पर्श करने के लिए विनियुक्त किया गया है और यह विनियोग सर्वाधिक अर्थानुकूल है। आ० गृ० में मन्त्र का निम्नलिखित पाठ दिया गया है :—

यत्ते सुसीमे हृदये हितमन्तः प्रजापतौ।
मन्येऽहं मां तद्विद्वांसं माहं पौत्रमघं नियाम्॥ [४२४]

हे अन्तर्वत्नि शोभन मर्यादा वाले, तुम्हारे हृदय के मध्य संतान के पालक मुझ पति के द्वारा जो शुक्र स्थापित किया गया, उस अपने आप को मैं विद्वान् मानता हूँ, मैं पुत्र निमित्त दुःख न प्राप्त करूँ— ह० मि०

शां० गृ० १।२४।४ और आ० गृ० १।१५।१ में विधान है कि निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए शिशु को मधु और घृत खिलाया जाना चाहिये :—

प्र ते यच्छामि मधुमन्मखाय वेदं प्रसूतं सवित्रा मघोना।
आयुष्मान् गुपितो देवताभिः शतं जीव शरदो लोके अस्मिन्॥[४२५]

धनवान् सविता के द्वारा उत्पादित वेद मैं तुम्हें मधु युक्त (अन्न के रूप में) यज्ञ के लिये देता हूँ। देवताओं द्वारा रक्षित होकर आयुष्मान् तुम इस संसार में सौ वर्ष तक जीवित रहो॥

यह शां० गृ० का पाठ है। आ० गृ० में उत्तरार्ध में गुपितः के स्थान पर गुप्तः पाठ है जिससे तृतीय पाद के अक्षर घट कर ९ हो जाते हैं और छन्द विकृत हो जाता है। आ० गृ० के अनुसार पूर्वार्ध का पाठ प्र ते ददामि मधुनो घृतस्य वेदं सवित्रा प्रसूतं मघोनाम् है। परन्तु इसमें अर्थ की कठिनाई उत्पन्न होती है। इसका मुख्य कारण षष्ठ्यन्त मघोनाम् शब्द है। हरदत्त इसकी व्याख्या बहुतों, मघवा आदि

देवताओं में से एक के निर्धारणार्थ प्रयुक्त षष्ठी के रूप में करता है। तदनुसार उनमें से निर्धारित एक देव सविता है।[1] जैसा कि प्रायः वैदिक भाषा में देखा जाता है, आप्टे इसे चतुर्थ्यर्थ षष्ठी मानकर यह अर्थ करता है—"धनवान् यजमानों के लिये मैं तुम्हें सविता द्वारा उत्पादित पवित्र ज्ञान (का प्रतीक) मधु और घृत (का मिश्रण) देता हूँ[2]।" किन्तु यदि शां० गृ० के अनुकरण पर स्टेंज्लर और ओल्डनबर्ग के अनुसार ही **मघोनाम्** को तृतीयान्त **मघोना** में परिवर्तित कर दिया जाये तो सारी कठिनाई दूर हो जाती है। इस स्थिति में **मघोना, सवित्रा** का विशेषण होगा।

मेधाजनन

कतिपय गृह्यसूत्रों में मेधाजनन कर्म के अन्तर्गत शिशु को मधु और घृत खिलाने के लिए निम्नलिखित वाक्यों का विनियोग किया गया[3] है :—

भूऋ्चस्त्वयि जुहोमि।
भुवर्यजूंषि त्वयि जुहोमि।
स्वः सामानि त्वयि जुहोमि।
भूर्भुवः स्वरथर्वाङ्गिरसस्त्वयि जुहोमि॥ [४२६-२९]

भूः, मैं तुम्हारे अन्दर ऋचाओं की आहुति देता हूं। भुवः, मैं तुम्हारे अन्दर यजुषों की आहुति देता हूँ। स्वः, मैं तुम्हारे अन्दर सामों की आहुति देता हूँ। भूः, भुवः, स्वः, मैं तुम्हारे अन्दर अथर्वाङ्गिरसों अर्थात् अथर्व-मन्त्रों की आहुति देता हूँ।

पा० गृ० में प्रथम तीन वाक्यों में क्रमशः **ऋचः, यजूंषि** और **सामानि** का अभाव है और चतुर्थ वाक्य में **अथर्वांगिरसः** के स्थान पर **सर्वम्** पाठ है। इसके अतिरिक्त सभी वाक्यों में **जुहोमि** के स्थान पर **दधामि** प्रयुक्त हुआ है। शां० गृ० (१।२४।७-८) में माण्डूकेय का मत उद्धृत किया गया है जिसके अनुसार घृत, मधु, दधि, उदक के मिश्रण में काले बैल के रोमों को घोलकर उपर्युक्त वाक्यों के समान ही निम्नलिखित वाक्यों का उच्चारण करते हुए शिशु को खिलाया जाना चाहिए।

भूऋ्ग्वेदं त्वयि दधामि॥
भुवर्यजुर्वेदं त्वयि दधामि॥

---

१. मघोनाम्। निर्धारण एषा षष्ठी। बहुवचननिर्देशाच्च मघवदादयो देवाः सर्वे लक्ष्यन्ते। मघवदादीनां मध्ये सवित्रेति सम्बन्धः॥
२. नॉन ऋग्० मन्त्रज् इन दि आ० गृ०, पृ० १९।
३. हि०गृ० २।३।६, भारद्वा०गृ० २।१।४, पा०गृ० १।१६।४

स्वः सामवेदं त्वयि दधामि ॥
भूर्भुवः स्वर्वाको वाक्यमितिहासपुराणमों
सर्वान् वेदांस्त्वयि दधाम्यसौ स्वाहा ॥ [४३०]

गृह्यसूत्रों के एक दूसरे वर्ग द्वारा इन वाक्यों का विनियोग नवजात शिशु के कानों में उच्चारणार्थ किया गया है।[1] इनमें भी पाठ पा० गृ० के समान ही है, अर्थात् भूस्त्वयि दधामि इत्यादि। हि० गृ० (२।५।२) में स्वयं अन्नप्राशन के प्रसङ्ग में इन वाक्यों का यही पाठ प्राप्त होता है। वहाँ षष्ठ मास में शिशु को प्रथम बार संस्काररूप में अन्न खिलाने के लिये प्रथम तीन वाक्यों का विनियोग किया गया है। विविध कर्मों में इन वाक्यों के विनियोग का समान आधार प्रायः शिशु को कुछ खिलाया जाना प्रतीत होता है। इन वाक्यों का स्रोत श० ब्रा० १४।६।४।२५ प्रतीत होता है क्योंकि सर्वप्रथम वहाँ शिशु को दधि, मधु और घृत खिलाने के लिये इनके उच्चारण का विधान किया गया है। और पा० गृ० और श० ब्रा० में वाक्यों के एक समान पाठ होने से यह सिद्ध होता है कि पा० गृ० में इन्हें सीधा श० ब्रा० से उद्धृत किया गया है।

आ० गृ (१।१५।२) में विधान है कि शिशु के कानों के पास एक स्वर्णशकल रखकर अधोलिखित मेधाजनन मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये :—

मेधां ते देवः सविता मेधां देवी सरस्वती।
मेधां ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ ॥ [४३१]

सविता देव, सरस्वती देवी और कमलों की मालाओं से युक्त अश्विन् देव तुम्हारे लिये मेधा का आधान करें ॥ ह० मि०

आप० गृ० और भा० गृ० में इसका विनियोग मेधाजनन के प्रसङ्ग में न होकर साधारण रूप में शिशु के कानों में उच्चारणार्थ हुआ है।[2] पा० गृ० (२।४।८) के अनुसार उपनयन के अन्तर्गत अग्नि में समिधाओं का आधान करके शिष्य को अपने हाथ तपाकर उनसे अपना मुख-स्पर्श करते हुए इस मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये। हि० गृ० में उपनयन के अन्तर्गत ही दो स्थलों पर इसका विनियोग किया गया है। एक स्थल (१।६।४) पर यह विधान है कि आचार्य को अपना मुख शिष्य के निकट ले जाते हुए इस मन्त्र का जाप करना चाहिये। दूसरे स्थल (१।८।४) पर इसे अग्नि में समिधाओं का आधान करते हुए उच्चारणार्थ उद्धृत किया गया है। प्रसङ्गा-

---

१. मा०गृ० १।१७।६, वा०गृ० २।४ (दधामि के स्थान पर दधानि) भा०गृ० १।२४
२. आप० गृ० ६।१५।१ (मं० पा० २।१२।२), भा० गृ० १।२४

नुसार यहाँ और पा० गृ० में ते के स्थान पर मे का प्रयोग किया गया है क्योंकि दोनों स्थलों पर क्रिया का कर्त्ता अपने लिये ही प्रार्थना करता है। हि० गृ० में पूर्वार्ध में देवः का अभाव है और सविता के स्थान पर इन्द्रः पाठ है। इस पाठभेद का न तो कोई स्पष्ट कारण दिखता है और न ही विशेष औचित्य, जबकि बुद्धि के साथ सविता का विशेष सम्बन्ध प्रख्यात है। सम्भवतया यह हि० गृ० पर तै० आ० १०।४०।१ का प्रभाव है। उसका प्रथम पाद मेधां मे इन्द्रो ददातु है। अस्तु, जातकर्म और उपनयन दोनों स्थलों पर इस मन्त्र के प्रयोग का समान आधार प्रज्ञा की प्रार्थना प्रतीत होता है।

जहाँ तक मन्त्र के स्रोत का सम्बन्ध है, यह ऋ० खि० (१०।१५१।२) का रूपान्तर प्रतीत होता है। उस मन्त्र का पाठ निम्नलिखित है :—

मेधां मह्यमंगिरसो मेधां देवी सरस्वती। मेधां मे अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ॥

यह मक्स म्युलर के संस्करण का पाठ है। सातवलेकर के संस्करण में मे के स्थान पर ते है और प्रथम पाद मेधां ते वरुणो राजा है। यह पाठ आ० गृ० में उद्धृत पाठ के अधिक निकट है। इस मन्त्र की तुलना ऋ० १०।१८४।२ से भी की जा सकती है जहाँ सभी स्थलों पर मेधाम् के स्थान पर गर्भम् पाठ है। मन्त्र में मेधा के साथ सरस्वती का सम्बन्ध ध्यान देने योग्य है, सम्भवतया इसी सम्बन्ध के आधार पर आगे चल कर सरस्वती का विकास विद्या की देवी के रूप में हुआ।

शां०गृ० (१।२४।६-१०) के अनुसार मेधाजनन कर्म का अनुष्ठान शिशु के कान में तीन बार वाक् शब्द के उच्चारण और फिर निम्नलिखित मन्त्र द्वारा उसके अभिमन्त्रण से किया जा सकता है :—

वाग्देवी मनसा संविदाना प्राणेन वत्सेन सहेन्द्रप्रोक्ता।
जुषतां त्वा सौमनसाय देवी मही मन्द्रा वाणी वाणीची सलिला स्वयम्भूः॥
[४३२]

इन्द्र द्वारा उपदिष्ट, मन से संयुक्त, प्राण रूपी बछड़े के साथ वाणी की देवी—वह महान् स्वयम्भू, सर्वत्र प्रसृत होने वाली, वाक्शक्ति का विस्तार करने वाली मधुर वाणी देवी शुभाशंसनार्थ तुम्हें स्वीकार करे।

यह मन्त्र अन्यत्र अप्राप्य है। वाणी की स्तुति यहाँ दर्शनीय है। स्वयम्भूः शब्द से यहाँ शब्द-ब्रह्म का संकेत भी प्राप्त होता है।

गो० गृ० और खा० गृ० में विधान है कि निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए पिता द्वारा शिशु को घृत-प्राशन कराया जाना चाहिये[1] :—

1. गो० गृ० २।७।२१ (मं० ब्रा० १।५।६), खा० गृ० २।२।३५।

मेधां ते मित्रावरुणौ मेधामग्निर्दधातु ते ।
मेधां ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ ॥ [४३३]

मित्र-वरुण और अग्नि तुम्हें मेधा प्रदान करें, कमलों की मालाओं से युक्त अश्विन् देव तुम्हें मेधा प्रदान करें ॥

इस मन्त्र की तुलना ऊपर उद्धृत ऋ० खि० १०।१५१।२ से की जा सकती है। इसके साथ ही **सदसस्पतिम्** इत्यादि (साम० १।१७१) मन्त्र के उच्चारण का भी विधान है। सम्भवतया साम० से उद्धृत होने के कारण ही इसे मं० ब्रा० में संकलित करने की आवश्यकता नहीं समझी गई। इस मन्त्र का विस्तृत विवेचन नवम अध्याय में उपाकर्म के अन्तर्गत किया गया है। (दे० मन्त्र सं० ६१५)

स्तनप्रदान

कृष्णयजुर्वेद से सम्बद्ध गृह्यसूत्रों में विधान है कि प्राशन कर्म के पश्चात् निम्नलिखित पाँच मन्त्रों का उच्चारण करते हुए शिशु को स्नान कराना चाहिये[1]:

क्षेत्रियै त्वा निर्ऋत्यै त्वा द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् ।
अनागसं ब्रह्मणे त्वा करोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे इमे ।[४३४]

शं ते अग्निः सहाद्भिरस्तु शं द्यावापृथिवी सहौषधीभिः ।
शमन्तरिक्षं सह वातेन ते शं ते चतस्रः प्रदिशो भवन्तु ॥ [४३५]

या दैवीश्चतस्रः प्रदिशो वातपत्नीरभि सूर्यो विचष्टे ।
तासां त्वा जरस आदधामि प्र यक्ष्म एतु निर्ऋतिं पराचैः ॥ [४३६]

अमोचि यक्ष्माद्दुरितादवर्त्यै द्रुहः पाशान्निर्ऋत्यै चोदमोचि ।
अहा अवर्तिमविदत्स्योनमप्यभूद् भद्रे सुकृतस्य लोके [४३७]

सूर्यमृतं तमसो ग्राह्या यद्देवा अमुञ्चन्नसृजन्व्येनसः ।
एवमहमिमं क्षेत्रियाज्जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् [४३८]

(मैं तुम्हें; स्थायी रोग से, विनाश से, शत्रुता से, वरुण के पाश से मुक्त करता हूँ। मैं तुम्हें ब्रह्मा के सम्मुख निर्दोष बनाता हूँ; पृथ्वी और आकाश दोनों तुम्हारे प्रति दयालु हों। जल सहित अग्नि तथा औषधियों सहित पृथ्वी और आकाश तुम्हें शान्ति प्रदान करें, वायु सहित अन्तरिक्ष तुम्हें शान्ति प्रदान करे, आकाश की चारों दिशायें तुम्हें शान्ति प्रदान करें। वायु-पत्नी रूप जिन आकाश की चार दिशाओं का सर्वेक्षण सूर्य करता है

---

१. आप० गृ०६।१५।४ (मं० पा० २।१२।६-१०), बौ० गृ० २।१।३, हि० गृ०, २।३।१०, भारि० गृ० २।१।४

उनके दीर्घायुष्य के प्रति मैं तुम्हें प्रेरित करता हूँ—रोग विनाश को प्राप्त हो जाये ॥ (यह शिशु) रोग से, दुःख से, उसकी (रोग की) अधोगति के लिये और शत्रुता के पाश से उस (पाश) के विनाश के लिये मुक्त कराया गया है। अहा, उसने अधोगति प्राप्त कर ली है और कल्याणकर सत्कर्मों के फल रूप इस लोक में (इस शिशु के लिये) सुख हुआ है ॥ देवों ने सूर्य को ठीक ही अन्धकार से और जकड़ने वाले राक्षस से मुक्त कराया है। उन्होंने उसे दोष से च्युत किया है। उसी प्रकार मैं इस शिशु को स्थायी रोगों, सम्बन्धियों के शाप, शत्रुता और वरुण के पाश से मुक्त करता हूँ ॥ ओ०व०

उपरिलिखित पाठ सहित ही ये मन्त्र तै० ब्रा० २।५।६।१-३ में प्राप्त होते हैं। बौ०गृ० (२।५।३०) में उपनयन संस्कार में भी इनका विनियोग किया गया है। हि०गृ० और आग्नि०गृ० में चतुर्थ मन्त्र का नितान्त अभाव है और तृतीय मन्त्र का विनियोग प्रथम बार स्तनप्रदान से पूर्व शिशु को माता की गोद में रखने के लिये किया गया है। इन मन्त्रों का मूल स्रोत अथर्व० २।१० है। इस सूक्त में तीन-तीन पंक्तियों के आठ मन्त्र हैं। प्रत्येक मन्त्र में उपरिलिखित मन्त्रों में से प्रथम और अन्तिम मन्त्रों के उत्तरार्ध ध्रुव के रूप में आते हैं। उपरिलिखित मन्त्रों की शेष पंक्तियाँ सम्पूर्ण अथर्व० सूक्त के मन्त्रों में प्रकीर्ण हैं। यहाँ गृह्यसूत्रों की यह विशेषता स्पष्ट है कि संहिता के इन आवृत्तिदोष से युक्त और विकीर्ण विचारों को एक संगठित रूप उनमें प्रदान किया गया है। तै०ब्रा०२।५।६।१ का भाष्य करते हुए सायण ने कहा है कि इस मन्त्र-समूह का विषय जातकर्म है। (एतस्य मन्त्रजातस्य जातकर्मविषयत्वात्)। मन्त्रों में अन्तर्निहित भाव से स्पष्ट है कि शिशु-स्नापन-क्रिया रोगों, शत्रुता, राक्षसों, वरुण के पाश और पापों को उससे दूर करने का प्रतीक है।

शिशु के स्नापन के पश्चात् अधोलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए उसे माता की गोद में लिटाया जाना चाहिये[1] :—

मा ते पुत्रं रक्षो वधीन्मा धेनुरतिसारिणी।
प्रिया धनस्य भूया एधमाना स्वे वशे ॥ [४३६]

कोई राक्षस तुम्हारे पुत्र का वध न करे और न ही अतिसारिणी गौ। स्वतन्त्र होकर समृद्ध होती हुई तुम धन को प्रिय हो जाओ ॥

१. आप०गृ०६।१५।५ (मं०पा०२।१३।१)—पुत्रम् के स्थान पर कुमारम् और वशे के स्थान पर गृहे, भा०गृ०१।२५, हि०गृ०२।४।२, आग्नि०गृ०२।१।४—वधीत् के स्थान पर हिंसीः और अतिसारिणी के स्थान पर प्रतिधारिणी।

हि० गृ० और आग्नि० गृ० के अनुसार शिशु के गोद में रखे जाने के पश्चात् इस मन्त्र का उच्चारण किया जाना चाहिये। मन्त्र माता के प्रति सम्बोधित है।

अतिसारिणी शब्द का अर्थ कुछ अस्पष्ट है। मं० पा० में यह **अत्यासारिणी** अथवा **अत्याचारिणी** के रूप में आया है। हि० गृ० के अनुवाद में ओल्डनबर्ग ने इसका अनुवाद **उसके प्रति आक्रमण करने वाली** किया है। और आगे प्रश्नचिह्न लगाया है। पाद टिप्पणी में इस अनुवाद के विषय में उसने अपना अनिश्चय व्यक्त करते हुए **अतिसारिणी** का अर्थ **अतिसार से पीड़ित** दिया है, परन्तु वह इस अर्थ को भी स्वीकार करने के पक्ष में नहीं है क्योंकि उसने एक वैकल्पिक पाठ **अभिसारिणी** सुझाया है[1]। ओल्डनबर्ग द्वारा दिये गये **अतिसारिणी** के अर्थ की पुष्टि मं० पा० में इसके पाठान्तरों **अत्यासारिणी** और **अत्याचारिणी** से भी होती है। यह मन्त्र प्राग्-गृह्यसूत्र साहित्य में अनुपलब्ध है, अतः यह शुद्ध गृह्य-मूल का लगता है।

का० गृ० (३४।५) के अनुसार स्तन-प्रदान से पूर्व माता के स्तनों को धोया जाना चाहिये और **मधुवाता ऋतायते** इत्यादि मन्त्र-समूह द्वारा उनका अभिमन्त्रण किया जाना चाहिये। ऐसा प्रतीत होता है कि इन मन्त्रों के माध्यम से दूध के मधु-तुल्य होने की कामना अभिव्यक्त की गई है। मधुपर्क कर्म में इन मन्त्रों का सामान्य प्रयोग हुआ है, अतः उस कर्म के अन्तर्गत द्वितीय अध्याय में इनका विस्तृत विवेचन किया गया है। (दे० मन्त्र सं० ६४-६६)

इसी गृह्यसूत्र में आगे चलकर (३४।६) विधान है कि हविश्शेष अथवा मधु-मिश्रित हविश्शेष का सुवर्ण से घर्षण करके और उसे शिशु के मुख में डालकर निम्न-लिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए पिता द्वारा शिशु को स्तन्य-पान के लिये माता का स्तन दिया जाना चाहिये :—

आयुर्धय जरां धय सत्यं धय श्रियं धयोर्जं धय
रायस्पोषं धय ब्रह्मवर्चसं धय ।। [४४०]

तुम आयु का पान करो, बुढ़ापे का पान करो, सत्य का पान करो, शोभा का पान करो, शक्ति का पान करो, धन-सम्पत्ति का पान करो, ब्रह्म-तेज का पान करो ।।

इस मन्त्र द्वारा मानो माता के दूध के माध्यम से उपर्युक्त तत्त्व ग्रहण करने की प्रेरणा दी गई है। अन्यत्र अनुपलब्ध होने के कारण यह मन्त्र काठक शाखा की असंकलित गृह्य- परम्परा का प्रतीत होता है।

---

१. से०बु०ई० खण्ड ३०, पृ० २१४।

कुछ अन्य गृह्यसूत्रों में स्तन्य-पान के लिये शिशु को माता का स्तन देने के लिये निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है[1]:—

अयं कुमारो जरां धयतु दीर्घमायुः ।
तस्मै त्वं स्तन प्रप्यायायुर्वर्चो यशो बलम् ॥ [४४१]

यह बालक बुढ़ापे और दीर्घायु का पान करे। हे स्तन, तू उसके लिये आयु, तेज, यश और बल की वृद्धि कर ॥

उपरिलिखित पाठ मं० पा० का है। हि० गृ० में पूर्वार्ध के अन्त में **दीर्घमायुः** के स्थान पर **सर्वमायुरेतु** पाठ है। उत्तरार्ध में **त्वम्** का अभाव है, **स्तन प्रप्याय** के स्थान पर **स्तनं प्रप्यायस्व** पाठ है और **आयुः** और **वर्चः** के मध्य **कीर्तिः** शब्द है। क्योंकि **स्तन** सम्बोधन में नहीं है, अतः इस पाठ से ऐसा लगता है कि यह स्तन को सम्बोधित न होकर माता को सम्बोधित है। आग्नि० गृ० में पूर्वार्ध हि० गृ० के समान है—केवल अन्तर यह है कि इसमें क्रियाएँ लोट् लकार में न होकर लट् लकार में हैं यथा **धयति** और **एति**। उत्तरार्ध मं० पा० और हि० गृ० के पाठ का सम्मिश्रण है। **त्वम्** तो रखा गया है, परन्तु हि० गृ० के समान ही **आयुः** और **वर्चः** के मध्य **कीर्तिः** आया है और **तस्मै** के स्थान पर **यस्मै** पाठ है। शेष मं० पा० के समान हैं अर्थात् **स्तन** सम्बोधन में है। मन्त्र प्रसङ्गानुकूल है, परन्तु किसी भी संहिता में उपलब्ध नहीं।

पा०गृ० (१।१६।२०-२१) में शिशु को दोनों स्तन पृथक्-पृथक् देने के लिये दो भिन्न मन्त्रों का प्रयोग किया गया है। दक्षिण स्तन के लिये निम्नलिखित मन्त्र है:—

इमं स्तनमूर्जस्वन्तं धयापां प्रपीनमग्ने सरिरस्य मध्ये ।
उत्सं जुषस्व मधुमन्तमर्वन्त्समुद्रियं सदनमाविशस्व ॥ [४४२]

हे अग्नि, जल के मध्य इस अति विशाल, बलशाली जल के स्तन का पान करो। हे गतिशील, इस मधुयुक्त निष्यन्द को ग्रहण करो और अपने समुद्र-सम्बन्धी घर में प्रविष्ट हो जाओ ॥

स्पष्ट ही यह मन्त्र अग्नि को सम्बोधित है। वा०गृ० (१।३१) में भी पाकयज्ञों के सामान्य नियमों का वर्णन करते हुए विधान किया गया है कि प्रायश्चित्ताहुति के पश्चात् यजमान को इस मन्त्र के द्वारा एक और आहुति अर्पित करनी चाहिये। अग्नि से सम्बद्ध क्रिया में इसकी उपयुक्तता असंदिग्ध है। यजुर्वेद के अन्य ग्रन्थों से भी

1. आप० गृ० ६।१५।५ (मं० पा० २।१३।२), भा० गृ० १।२५, हि० गृ० २।४।३, आग्नि० गृ० २।१।४।

इसी विनियोग की पुष्टि होती है[1]। गृह्य-परम्परा को छोड़कर वा०सं० से मन्त्र उद्धृत करने के आग्रह से पारस्कर ने सम्भवतया प्रमुख-रूप से मन्त्र में केवल **स्तन** शब्द की ओर ध्यान दिया। और वा०सं० के भाष्यकार उव्वट के अनुसार जिस स्रुक् (चम्मच) के द्वारा अग्नि में घृत अर्पित किया जाता है, उसे ही यहाँ आकृति-साम्य के कारण स्तन कहा गया है। (**वसोर्धारा स्रुचा हूयते, सात्र रूपकल्पनया स्तन उक्तः**)

वाम स्तन देने के लिये निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है :—

यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः।
येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवेऽकः॥ [४४३]

हे सरस्वती, तुम्हारा जो शब्दरूपी स्तन सोया हुआ (तुम्हारे शरीर में विद्यमान) है, जो सुखोत्पादक है, जो धन प्राप्त करने वाला, रत्न देने वाला, जो शोभन दाता है, जिससे तुम सब इष्ट पदार्थों का पोषण करती हो, उसे तुम इसके धारणार्थ (ठीक) करो॥ सा०

बौ०गृ० (२।१।१०) में भी इसका विनियोग इसी प्रसङ्ग में किया गया है। कौशिक० (३२।१) में राक्षस-मोचन सम्बन्धी कर्मों के अन्तर्गत यह कहा गया है कि यदि शिशु किसी राक्षस द्वारा गृहीत हो तो इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए उसे माता का स्तन दिया जाना चाहिये। उद्देश्य भिन्न होने पर भी कर्म की समानता द्रष्टव्य है। अधिकांश संहिताओं में यह मन्त्र प्राप्त होता है[2]। और उन सबमें इसके पाठों में विशेष अन्तर नहीं है। उपरिलिखित पाठ वा०सं० का है। अथर्व० पाठ भी इसके बहुत निकट है। ऋ० और मै०सं० में द्वितीय और तृतीय पाद परस्पर-विपर्यासित हैं। जहाँ तक विनियोग के स्रोत का सम्बन्ध है, इसके पीछे ब्राह्मणों और श्रौत-सूत्रों की सुदीर्घ परम्परा है[3]। वहाँ इसका विनियोग प्रवर्ग्य के अन्तर्गत घर्म-गौ के थनों के अभिमन्त्रण अथवा उनके स्पर्श के लिए किया गया है। इस विषय में श०ब्रा० में इस गौ की सरस्वती (वाणी की देवी) के प्रतीक के रूप में व्याख्या की गई है, जो वाणी रूपी दूध देती है—वही यज्ञ है[4]। यह ब्राह्मण (१४।६।४।२८) इस मन्त्र के गृह्य-विनियोग का सीधा स्रोत प्रतीत होता है। यहाँ भी गृह्यसूत्रों के समान यह

१. वा०सं० १७।८७, तै०सं० ५।५।१०।६, का०सं० ४०।६, आप०श्रौ० १६।१२।११; १७।२३।१०, मा० श्रौ० ६।२।६।
२. ऋ० १।१६४।४९, अथर्व० ७।१०।१, वा०सं०३८।५, मै० सं०४।९।७; १४।३।
३. ऐ० ब्रा० १।२२।२, श० ब्रा० १४।२।१।१५, तै० ब्रा० २।८।२।८, तै० आ० ५।८।२,५।७।३, आ० श्रौ० ३।७।६,४।७।४, शां० श्रौ० ५।१०।५, आप० श्रौ० १५।९।६, का० श्रौ० २६।५।७, मा० श्रौ० ४।३।३।
४. श० ब्रा० १४।२।१।१५—वाग्वै सरस्वती, सैषा घर्मदुघा, यज्ञो वै वाक्॥

विधान है कि शिशु को माता को देकर पिता को इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए उसे माता का स्तन देना चाहिये। वस्तुतः इस ब्राह्मण में जातकर्म नाम न देकर भी उसी संस्कार का वर्णन किया गया है।

का०गृ०(३४।७) में निर्देश है कि शिशु के स्तन्य-पान करने के पश्चात् पिता को निम्नलिखित वाक्य का उच्चारण करते हुएउसका शीर्ष-चुम्बन करना चाहिये :—

जीव शरदः शतं पश्य शरदः शतम् ।। [४४४]

तुम सौ वर्ष जीवित रहो, सौ वर्ष तक देखते रहो।

यह वाक्य ऋ० ७।६६।१६ **तच्चक्षुः** इत्यादि मन्त्र से प्रभावित लगता है।

अन्य गृह्यसूत्रों के अनुसार शिशु के स्तन्यपान कर लेने पर निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए पिता को स्तनों का स्पर्श करना चाहिये[1] :—

नामयति न रुदति। यत्र वयं वदामसि यत्र चाभिमृशामसि ।। [४४५]

जब हम उससे बोलते हैं, जब हम उसका स्पर्श करते हैं, तो वह न तो रुग्ण होता है और न ही रोता है।

पा० गृ० (१।१६।२५) में आरम्भ में एक और **न** के द्वारा **न नामयति** पाठ है और **रुदति** के पश्चात् **न हृष्यति न ग्लायति** भी जोड़ा गया है। इस प्रकार इस गृह्यसूत्र में यह मन्त्र पूर्ण अनुष्टुभ् छन्द में आया है। विनियोग की दृष्टि से भी यह अन्यों से भिन्न है क्योंकि इसके अनुसार पिता को शिशु की माता के स्तनों का स्पर्श न करके इस मन्त्र द्वारा शिशु का ही स्पर्श करना चाहिये। इसका आरम्भिक **न** अनावश्यक प्रतीत होता है क्योंकि **नामयति (न आमयति)** में पहले ही अभावात्मक अर्थ सन्निहित है। यह मन्त्र किसी प्राग्-गृह्यसूत्र ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं है।

यजुर्वेद से सम्बद्ध इन गृह्यसूत्रों में यह भी विधान किया गया है कि उपर्युक्त क्रिया के पश्चात् निम्नलिखित मन्त्र के उच्चारण के साथ माता के सिर की ओर जल से भरा एक घड़ा रखा जाना चाहिये[2] :—

आपो गृहेषु जाग्रत यथा देवेषु जाग्रत।
एवमस्यै सुपुत्रायै जाग्रत ।। [४४६]

---

१. हि० गृ० २।४।५, आग्नि गृ०२।१।४, आप०गृ० ६।१५।५ (मं० पा० २।१३।५), भा०गृ० १।२५, बौ० गृ० २।१।१२।

२. हि०गृ० २।४।५, बौ०गृ० २।१।१२, आग्नि०गृ० २।१।४, पा०गृ० १।१६।२२, भा० गृ० १।२५, आप० गृ० ६।१५।६ (मं०पा० २।१३।६)।

हे जल, जैसे तुम देवताओं के प्रति जागरूक हो, वैसे ही हमारे घर के प्रति जागरूक हो और वैसे ही इस शोभन पुत्र वाली के प्रति जागरूक हो ॥

हि० गृ०, बौ० गृ० और आग्नि० गृ० में यह पाठ है। पा० गृ० में **गृहेषु** के स्थान पर **देवेषु** तथा सभी स्थलों पर जाग्रत के स्थानपर जाग्रथ (लट्) पाठ है। इसमें **अस्यै सुपुत्रायै** के स्थान पर **अस्यां सपुत्रिकायाम्** पाठ है और इन दोनों शब्दों के बीच **सूतिकायाम्** भी डाला गया है। निस्सन्देह इन पाठान्तरों के द्वारा मन्त्र पूर्ण अनुष्टुभ् में परिणत हो जाता है, परन्तु मन्त्र के प्रार्थना-रूप होने के कारण **जाग्रत** (लोट्) अधिक उचित प्रतीत होता है। इसी प्रकार **देवेषु** की पुनरावृत्ति भी निरर्थक सी प्रतीत होती है, उधर **गृहेषु** रहने से देवताओं से तुलना सार्थक होती है। मं०पा० और भा० गृ० में मन्त्र का निम्नलिखित रूप दिया गया है:—

आपः सुप्तेषु जाग्रत रक्षांसि निरितो नुदध्वम् ॥ [४४७]

हे जल, सुप्तजनों के प्रति जागरूक रहो और यहाँ से राक्षसों को भगा दो।

मन्त्र से शिशु की प्रत्येक अवस्था में रक्षा के लिये प्रार्थना स्पष्ट है। का०सं० (३१।२) में भी जल द्वारा राक्षसों से रक्षा की भावना व्यक्त की गई है और उसी प्रसङ्ग में वहाँ भी **आपो जाग्रत** शब्द दिये गये हैं। गृह्य-मन्त्र का आधार सम्भवतया ये शब्द और का० सं० की उक्त भावना है[1] परन्तु **आपः** द्वारा रक्षा की भावना पर और विचार अपेक्षित है। कहीं ऐसा तो नहीं कि निशाचर राक्षसों को दूर करने वाले प्रकाश को ही **आपः** कहा गया हो ? **आपः** के **स्ववंतीः** (ज्योतिर्मय) विशेषण से यह अनुमान और भी सम्भव है।

सूतिकाग्नि से सम्बद्ध कर्म

यजुर्वेद से सम्बद्ध गृह्यसूत्रों में और जै० गृ० में यह विधान है कि शिशु के जन्म के अवसर पर नियमित औपासनाग्नि के स्थान पर आहित सूतिकाग्नि में उत्थान तक माता और शिशु की रक्षा के निमित्त प्रतिदिन सरसों और धान के छिलकों की आहुतियाँ दी जानी चाहियें।[2] इन आहुतियों के लिए इन गृह्यसूत्रों में मिलते जुलते मन्त्रों का विनियोग किया गया है। हि० गृ०, भा० गृ० और आग्नि० गृ० में निम्नलिखित मन्त्रों का निर्देश किया गया है :—

---

१. आपो रक्षोघ्नीः और आपो वै यज्ञस्य गोप्त्रीः दे० मै० सं० १।१।३, का० सं० १।३, मा० श्रौ० १।१।३।३७।

२. हि०गृ० २।३।७, भा०गृ० १।२३, आग्नि० गृ० २।१।३, आप०गृ० ६।१५।६ मं०पा० २।१३।७—१२; १४।१—२) पा० गृ० १।१६।२३, का०गृ० ३५-१, जै० गृ० १।८।

शण्डो मर्क उपवीरः शाण्डिकेर उलूखलः । च्यवनो नश्यतादितः स्वाहा ॥४४८
आलिखन् विलिखन्ननिमिषन् किंवदन्त उपश्रुतिः स्वाहा ॥ [४४९]
अर्यम्णः कुम्भी शत्रुः पात्रपाणिर्निपुणिः स्वाहा ॥ [४५०]
आन्त्रीमुखः सर्षपारुणो नश्यतादितः स्वाहा । [४५१]
केशिनी श्वलोमिनी बजाबोजोपकाशिनी । अपेत नश्यतादितः स्वाहा ॥ ४५२
कौबेरका विश्ववासो रक्षोराजेन प्रेषिताः ।
ग्रामान्सजातयो यन्तीप्सन्तः परिजाकृतान् ॥ [४५३]
एतान् हततान् बध्नीतेत्ययं ब्रह्मणो दूतः ।
तानग्निः पर्यसरत्तानिन्द्रस्तान् बृहस्पतिः ।
तानहं वेद ब्राह्मणः प्रमृशतः कूटदन्तान् विकेशान् लम्बनस्तनान् ॥ [४५४]
नक्तंचारिण उरस्पेशान् कपालपान् स्वाहा ॥ [४५५]
पूर्व एषां पितेत्युच्चैः श्राव्यकर्णकः ।
माता जघन्या गच्छन्ती ग्रामं विखुरमिच्छन्ती ॥ [४५६]
नक्तंचारिणी स्वसा सन्धिना प्रेक्षते कुलम् ।
या स्वपत्सु जागर्ति यस्यै विजातायां मनः स्वाहा ॥ [४५७]
तासां त्वं कृष्णवर्त्मने हृदयं यकृत् ।
अग्ने अक्षीणि निर्दह स्वाहा ॥ [४५८]

(शण्ड, मर्क, उपवीर, शाण्डिकेर, उलूखल और च्यवन का यहाँ से नाश हो, स्वाहा । आलिखन्, विलिखन्, अनिमिषन्, किंवदन्त और उपश्रुति (का नाश हो) स्वाहा, अर्यम्ण, कुम्भी, शत्रु, पात्रपाणि निपुणि (का नाश हो) स्वाहा, आन्त्रीमुख, सर्षपारुण (सरसों के समान रक्तवर्ण) का यहाँ से नाश हो, केशिनी (केशों से युक्त) श्वलोमिनी (कुत्ते के समान रोम वाली) बजाबोजा, उपकाशिनी यहां से हटें, उनका नाश हो। राक्षसराज द्वारा प्रेषित, कुबेरसम्बन्धी, विश्ववास (सर्वत्र वास करने वाले) सजातीय, सब ओर से समृद्ध जनों (को पराभूत करने) के इच्छुक, गांवों की ओर जाते हैं, ब्रह्मा का यह दूत कहता है कि इनको मारो, इन्हें बांधो। अग्नि, इन्द्र और बृहस्पति ने उन्हें घेर लिया। मैं ब्राह्मण उन घर्षण करने वाले, बड़े दांतों वाले, केशरहित और लटकते हुए स्तन वाले राक्षसों को जानता हूँ। (मैं) निशाचरों, वक्षःस्थलाभूषणधारी, भाले हाथ में लिये हुए, खोपड़ियों में पान करने वाले (राक्षसों को जानता हूँ) स्वाहा। उच्चैःश्राव्यकर्णक इनका पिता नामक पूर्वज है। विखुर (बिना खुरों का पशु) की इच्छा करती हुई गाँव में घूमती हुई इनकी माता हिंसा के योग्य है। इनकी निशाचरी भगिनी दरार

में से परिवार को देखती है, जो सोये हुओं में जागती है और जिसका मन प्रसूता के प्रति प्रेरित है, स्वाहा। हे अग्नि, कृष्ण मार्ग (धुएँ या भस्म) के लिये, तुम उनके क्लोम (तिल्ली ?), हृदय, यकृत् और आँखों को जला दो, स्वाहा।

भा० गृ० में इन मन्त्रों के स्वल्प पाठान्तर हैं। प्रथम मन्त्र में **शाण्डिकेर** के स्थान पर **तुण्डिकेर** है। तृतीय मन्त्र में **कुम्भी शत्रुः** के स्थान पर **कुम्भीपात्रः**, सप्तम मन्त्र में **हत** और **बध्नीत** के स्थान पर **घ्नत** और **गृह्णीत** पाठ हैं। नवम मन्त्र में **पिता** के पश्चात् **इति** के स्थान पर **एति** है जिससे अर्थ सम्बन्धी कठिनाई दूर हो जाती है, तदनुसार अर्थ होता है—**उनका पिता उच्चैःश्राव्यकर्णक चलता है**। दशम मन्त्र में **नक्तंचारिणी** के स्थान पर **प्रदेशचारिणी** पाठ है।

मं० पा० में प्रभूत पाठ-भेद हैं; इसमें द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ मन्त्रों का नितान्त अभाव है और आरम्भ में यह मन्त्र जोड़ा गया है :—

अयं कलिं पतयन्तं श्वानमिवोद्वृद्धम् ।
अजां वाशितामिव मरुतः पर्याध्वं स्वाहा ॥ [४५९]

हे मरुतो, उच्छृंखल कुत्ते और मिमियाती हुई बकरी के समान आक्रमण करने वाले इस कलि को तुम वेष्टित करलो।

उपर्युद्धृत मन्त्रों में से प्रथम मन्त्र को इसमें निम्नलिखित रूप में दो में विभाजित किया गया है :—

शण्डेरथश्शण्डिकेर उलूखलश्चयवनो नश्यतादितः स्वाहा ॥ [४६०]
अयश्शण्डो मर्क उपवीर उलूखलः................... ॥ [४६१]

पञ्चम मन्त्र में **बजाबोजा** के स्थान पर **खजापोजा** और षष्ठ में **विश्ववासः** के स्थान पर **मिश्रवाससः** पाठ है। इस मन्त्र का उत्तरार्ध मं०पा० में **ग्रामं सजानयो गच्छन्तीच्छन्ती परिदाकृतान्त्स्वाहा** है। इसके सप्तम मन्त्र का पाठ ठीक भा०गृ० जैसा है, केवल पूर्वार्ध के अन्त में **दूतः** के स्थान पर **पुत्रः** है। नवम मन्त्र में **गच्छन्ती** के स्थान पर **सर्पति** और **विखुरम्** के स्थान पर **विधुरम्** पाठ है—और निस्सन्देह यह अधिक सार्थक है क्योंकि इससे संकेत मिलता है कि राक्षस से पत्नी की मृत्यु का सन्देह था। दशम मन्त्र में **नक्तंचारिणी** के स्थान पर **निशीथचारिणी** और **स्वपत्सु जागर्ति** के स्थान पर **स्वपन्तं बोधयति** पाठ है। इसमें कोई संदेह नहीं कि मं०पा० के ये पाठान्तर मन्त्रों के स्पष्टीकरण में सहायक सिद्ध होते हैं।

पा०गृ० में केवल प्रथम चार मन्त्रों को उद्धृत किया गया है जिनमें से

अन्तिम तीन को मिलाकर एक बना दिया गया है। प्रथम मन्त्र के राक्षसों के नामों में **मलीम्लुच** और **द्रोणास** इन दो नामों की वृद्धि की गई है और **शण्ड** और **मर्क** को मिलाकर एक **शण्डामर्क** बना दिया गया है। **शौण्डिकेर** के स्थान पर **शौण्डिकेय** पाठ है। अगले तीन मन्त्रों में से पा०गृ० में **विलिखन्** का अभाव है, **अनिमिषन्** के स्थान पर **अनिमिषः**, **अर्यम्णः** के स्थान पर **हर्यक्षः**, **निपुणिः** के स्थान पर **नृमणिः** और **आन्त्रीमुखः** के स्थान पर **हन्त्रीमुखः** पाठ है। **सर्षपारुणः** के पश्चात् **च्यवनः** जोड़ा गया है। 'जै०गृ० में भी प्रायः पा०गृ० के समान ही मन्त्रों का क्रम है। प्रथम मन्त्र पा०गृ० के अधिक निकट है क्योंकि इसमें भी **मलीम्लुच** और **दुणाशि** जोड़े गये हैं, परन्तु **शण्डाय, मर्काय, उपवीराय** चतुर्थ्यन्त हैं– किन्तु अन्य सभी नामों के प्रथमान्त रहते हुए इनका चतुर्थ्यन्त होना अनावश्यक प्रतीत होता है। द्वितीय मन्त्र हि०गृ० के अगले तीन मन्त्रों का सम्मिश्रण है। और इसमें उनका पाठ भी वही है। एक मात्र अपवाद **निपुणिः** के स्थान **निपुणहा** है। का०गृ० में भी हि०गृ द्वारा उद्धृत मन्त्रों में से केवल पहले तीन और पाँचवां मन्त्र निम्नलिखित रूप में प्रयुक्त किये गये हैं :—

शण्डो मर्कोपवीतस्तौण्डुलेयः उलूखलश्चपलो नश्यतामितः स्वाहा ॥ [४६२]
अनालिखन्नवलिखन् किवदन्त उलूखलः...................... ॥ [४६३]
हर्यक्षणः कुम्भिः शक्तिर्हन्तो चुपणोमुखः...................... ॥ [४६४]
केशिनी श्वलोमिनी कवकेशावकाशिन्यपेतो नश्यतामितः स्वाहा ॥ [४६५]

देवपाल ने **कवकेशावकाशिनी** के स्थान पर **कचाकौचापकाशिनी** दिया है और कहा है कि यह तीन राक्षसियों के नामों **कचा कौचा अपकाशिनी** का द्योतक है। विभिन्न गृह्यसूत्रों में पाठान्तरों सहित इन मन्त्रों में अनेक राक्षसों और राक्षसियों के कर्णकटु नामों की लम्बी सूचियाँ दी गई हैं। उन सब के नाश की अभिलाषा व्यक्त की गई है। अन्त में अग्नि से उनके मर्मस्थलों यथा हृदय, यकृत् आदि को भस्मशेष करने की प्रार्थना की गई है। मन्त्र केवल गृह्य-परम्परा में उपलब्ध होते हैं।

यह उल्लेखनीय है कि भागवत पुराण ७।५।१–२ में शण्ड और मर्क का राक्षसों के आचार्यों के रूप में उल्लेख किया गया है :—

पौरोहित्याय भगवान् वृतः काव्यः किलासुरैः।
शण्डामर्कौ सुतौ तस्य दैत्यराजगृहान्तिके ॥
तौ राज्ञा प्रापितं बालं प्रह्लादं नयकोविदम्।
पाठयामासतुः पाठ्यानन्यांश्चासुरबालकान् ॥

सप्तम अध्याय

बालक-सम्बन्धी संस्कार

नामकरण

जन्म से दसवें या बारहवें दिन बालक का नामकरण संस्कार होता है। अधिकांश गृह्यसूत्रों में इस संस्कार के निमित्त विशेष कर्म अथवा मन्त्रों का विधान नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस संस्कार में विशेष कर्मों अथवा मन्त्रों का प्रयोग परवर्ती काल में ही आरम्भ हुआ। आग्नि०गृ० (२।२।५) के अनुसार बारहवें दिन बालक के माता-पिता उसका नाम रखने का निश्चय करते हैं। इस अवसर पर अग्नि में तेरह आहुतियाँ अर्पित की जाती हैं। उनके साथ जिन मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है उनसे तै०सं० के एक अनुवाक (३।३।११—सातवें मन्त्र से लेकर उपान्त्य मन्त्र तक) का बृहद् भाग बनता है। इनमें से धातृ-देवता वाले पहले चार मन्त्रों का विवेचन सीमन्तोन्नयन के अंन्तर्गत किया जा चुका है (दे० मन्त्र सं० ३८६-३८६)। इसी संस्कार के अन्तर्गत अन्य दो, राका को सम्बोधित, मन्त्रों का विवेचन भी हो चुका है (दे० मन्त्र सं० ३६३-३६४)। इन दोनों मन्त्रसमूहों के मध्य वर्तमान चार मन्त्रों में अनुमति देवी की स्तुति की गई है। राका सम्बन्धी मन्त्रों के पश्चात् दो मन्त्रों में सिनीवाली देवी की स्तुति की गई है। और अन्त में एक मन्त्र में कुहू देवी की स्तुति है। इन आहुतियों के पश्चात् पिता को बालक का विशेष गुणों से युक्त नाम रखना चाहिए। धाता देवता तथा अनुमति, राका, सिनीवाली और कुहू देवियों के विषय में तै०सं० के एक ब्राह्मण भाग (३।४।६।१) में कहा गया है कि सन्तान के इच्छुक व्यक्ति को इन गौण देवताओं के प्रति आहुतियां अर्पित करनी चाहियें। आगे चलकर यह व्याख्या की गई है कि यजमान धाता के द्वारा (पति-पत्नी का) संयोग उत्पन्न करता है, अनुमति उसे अनुमति देती है, राका उसे (सन्तान) प्रदान करती है, सिनीवाली उसे जन्म प्रदान करती है, और जन्म होने पर वह कुहू के द्वारा उसमें वाणी की स्थापना करता है।[1] इससे यह ज्ञात होता है क अति प्राचीन काल से इन मन्त्रों का सम्बन्ध सन्तान-विषयक कर्मों से रहा है और अंत में कुहू द्वारा बालक को वाणी प्रदान करने की बात तो नामकरण का ही रूपान्तर

---

१. देविका निर्वपेत् प्रजाकामः............प्रथमं धातारं करोति मिथुनी एव तेन करोत्यन्वेवास्मा अनुमतिर्मन्यते, राते राका, प्र सिनीवाली जनयति, प्रजास्वेव प्रजातासु कुह्वा वाचं दधाति ॥

है। नि०(११।३।११) की व्याख्या के अनुसार कुहू अमावास्या का नाम है क्योंकि पता नहीं चलता कि वह कहां है ? (क्व भूः)

गो० गृ० और खा०गृ० में विधान है कि प्रजापति, बालक की जन्म तिथि, बालक के जन्म-नक्षत्र तथा उस नक्षत्र के अधिष्ठातृ-देव के प्रति आहुतियां अर्पित करके पिता को बालक का नया नाम उच्चारित करने से पूर्व उसकी ज्ञानेन्द्रियों का स्पर्श करते हुए निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये:[1]—

को ऽसि कतमो ऽसि । एषो ऽस्यमृतो ऽसि ।
आहस्पत्यं मासं प्रविशासौ ॥ [४६६]

(तुम कौन हो, कौन से हो। तुम यह हो, तुम अमर हो। अमुक नाम वाले तुम दिनों के स्वामी से सम्बद्ध मास में प्रवेश करो।)

अंत में अमुक नाम वाले (असौ) के स्थानपर उसका नाम बोला जाना चाहिये।

इसका केवल **को ऽसि कतमो ऽसि** अंश वा० सं० प्रभृति पूर्ववर्ती ग्रंथों में उपलब्ध होता है।[2] परन्तु उन ग्रंथों में इन शब्दों द्वारा द्रोण-कलश को सम्बोधित किया गया है। अतः गृह्यकर्म से उस विनियोग का कोई सम्बंध नहीं प्रतीत होता।

वै०गृ० (३।१६) में नामकरण संस्कार का विस्तृत वर्णन किया गया है। तदनुसार यह विधान है कि यह संस्कार बालक-जन्म के चालीसवें या पचासवें दिन किया जाना चाहिये। उस दिन पिता को निम्नलिखित मन्त्रों का उच्चारण करके बालक का विशेष गुणों वाला नाम रखना चाहिये :—

मम नाम प्रथमं जातवेदः पिता माता च दधतुर्यदग्रे ।
तत्त्वं बिभृहि पुनरामदैतोस्तवाहं नाम बिभराण्यग्ने ॥ [४६७]
मम नाम तव च जातवेदो वाससी इव विवसानौ ये चरावः ।
आयुषे त्वं जीवसे वयं यथायथं वि परि दधावहै पुनस्ते ॥ [४६८]

(हे जातवेद अग्नि, मेरे माता पिता ने पहले जो मेरा पहला नाम रखा था, उसे तुम मेरे लौटने तक धारण करो, हे अग्नि मैं तुम्हारा नाम धारण कर लूं। हे जातवेदा, अपने और तुम्हारे नाम को वस्त्रों के समान धारण करके जो हम चलते हैं, ऐसे हम दोनों फिर से एक दूसरे का नाम

---

१. गो०गृ० २।८।१३ (मं०ब्रा०१।५।१४-१५), खा०गृ० २।३।६।
२. वा०सं०७।२६, वा०सं०का० ६।१।४, का०सं०३७।१३, १४, श० ब्रा०४।५।६।४ तै०ब्रा०२।६।५।३, मा०श्रौ०२।३।७।१, आप०श्रौ०१६।१०।१।

धारण करें—तुम उचित रूप में (हमारी) आयु के लिये और हम अपने जीवन के लिये।

श्रौत साहित्य में इन मन्त्रों का विनियोग एक या उससे अधिक रात्रि के लिये प्रवास को जाने वाले व्यक्ति के द्वारा आहवनीय अग्नि की उपासना के निमित्त किया गया है।[1] मन्त्र भी वस्तुतः अग्नि को ही सम्बोधित किये गये हैं। सम्भवतया गृह्यकर्म में भी यह संस्कार अग्नि के सम्मुख अनुष्ठित होने के कारण अग्नि को सम्बोधित किया गया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि दोनों मन्त्रों में आने वाले नाम शब्द से भी उनके उक्त गृह्य-विनियोग की प्रेरणा मिली होगी। ऐसा भी संदेह होता है कि सम्भवतया श्रौत-विनियोग में ही मन्त्र का बलात् अपकर्षण किया गया होगा।

का०गृ० के अनुसार बालक का नाम दो बार रखा जाना चाहिए—एक बार उसके जन्म के समय और दूसरी बार जन्म से दसवें दिन। प्रथम नामकरण के अवसर पर निम्नलिखित मन्त्र के उच्चारण के साथ बालक का मुख सुवर्ण से पवित्र किया जाना चाहिये (का०गृ०३४।५):—

अग्नेरायुरसि तस्य ते मनुष्या आयुष्कृतस्तेनास्मै आयुर्धेहि ॥ [४६६]

हे सुवर्ण ! तुम अग्नि की आयु हो अर्थात् उससे उत्पन्न हुए हो।[2] इस प्रकार के तुम्हारी आयु मनुष्य बनाते हैं (इन्धनादि के द्वारा अग्नि की आयु होती है और अग्नि के कारण सुवर्ण की)। मनुष्यों के इस उपकार के कारण तुम इस यजमान और उस बालक को आयु प्रदान करो। दे०पा०

द्वितीय नामकरण के अवसर पर भी यह विधान है कि इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए बालक के कण्ठ में पहनाये जाने वाले सुवर्ण को उस आज्य में रखना चाहिये जिससे आहुतियाँ अर्पित की जायेंगी (का० गृ० ३६।५)। दोनों स्थलों पर मन्त्र सुवर्ण के प्रति सम्बोधित है। यह मन्त्र दीर्घायुष्य की प्रार्थना है, अतः इसका उपयुक्ततम विनियोग-स्थल जातकर्म के अन्तर्गत आयुष्य होता। मा० गृ० (१।१७।४) में उसी कर्म के अन्तर्गत एक इससे मिलते जुलते मन्त्र का सुष्ठु प्रयोग किया गया है (दे० मन्त्र सं ४०७)। इस मन्त्र का सीधा स्रोत का० सं० ११।७ प्रतीत होता है क्योंकि वहाँ भी मन्त्र का ठीक यही रूप उपलब्ध होता है। अन्य श्रौत ग्रन्थों में भी इससे मिलते जुलते मन्त्रों का विनियोग आयुष्कामेष्टि में किया गया

---

१. तै०सं०१।५।१०।१, का०सं०७।३, आप०श्रौ०६।२४।७, २६।४, मा०श्रौ०१।६-३।६, १६, आ०श्रौ०२।५।३, १०, मा०श्रौ०६।४।११; ६।३

२. अग्नि से सुवर्णकी उत्पत्ति की पुष्टि में दे० पा० ने निम्नलिखित श्रुतिवाक्य उद्धृत किया है:—अग्नेर्यद् रेतः सिच्यते तद् हिरण्यमभवत् ॥

है[1]। इससे भी इसका आयुष्य-कर्म से सम्बन्ध होना अधिक उचित प्रतीत होता है।

आदित्यदर्शन तथा निष्क्रमणिका

मा०गृ० (१।१९।१—२) में यह निर्देश है कि पुत्र को सूर्य-दर्शन कराने का संस्कार जन्म से चौथे मास में सम्पादित करना चाहिये। अगले सूत्र में तीन मन्त्रों[2] का उच्चारण करते हुए सूर्य को तीन आहुतियाँ अर्पित करने का विधान है। मुख्य संस्कार में निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए सूर्योपासना की जाती है (मा० गृ० १।१९।४):—

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यम्॥ [४७०]

सारे संसार के दर्शन के लिये उस जातवेदा सूर्य देव को किरणें ऊपर को उठाती हैं, अर्थात् उदय करती हैं।

का० गृ० (३७।२) में इस मन्त्र का विनियोग इसी संस्कार के अन्तर्गत आज्याहुति अर्पित करने के लिये किया गया है। मा० गृ० (१।२।४) में सन्ध्योपासना के अन्तर्गत भी इसे उद्धृत किया गया है। शां० गृ० (४।६।४) और हि० गृ० (१।९।६) में इसका विनियोग भिन्न संस्कारों में हुआ है। शां० गृ० के अनुसार उत्सर्ग कर्म में बहुत से सूर्यदेवता वाले सूक्तों का पाठ छात्र को करना चाहिये। उन सूक्तों में से एक का यह आद्य मन्त्र है। हि० गृ० में समावर्तन के अन्तर्गत स्नातक द्वारा सूर्योपासना के लिये एक और मन्त्र के साथ साथ इसका प्रयोग किया गया है।

यह मन्त्र केवल सभी वैदिक संहिताओं में प्राप्त ही नहीं होता अपितु ऋ० और साम० को छोड़ कर सबमें एक से अधिक बार आया है।[3] परन्तु मन्त्र के गृह्य-विनियोग के आधार के रूप में तै० सं० (२।३।८।२) का महत्त्व सर्वाधिक है। इस स्थान पर चक्षुष्काम अर्थात् स्वस्थ दृष्टि की कामना वाले व्यक्ति द्वारा सूर्य को

---

१. तै० सं० २।३।१०।१; ११।३, मै० सं० २।३।४, आप० श्रौ० १९।२४।१०, मा० श्रौ० ५।२।२।४,५।

२. मै० सं० ४।१४।१४ (आदित्यः शुक्रः पुरस्तात् इत्यादि) ऋ० ४।४०।५ (हंसः शुचिषद् वसुरन्तरिक्षसद् इत्यादि), ऋ० १०।८८।११ (यदेदेनमदधुर्यज्ञियासः इत्यादि)

३. ऋ० १।५०।१, अथर्व० १३।२।१६, २०।४७।१३, साम० १।३१, वा० सं० ७।४१, ८।४१, ३३।३१, तै० सं० १।२।८।२; ४।४३।१, २।३।८।२; ४।१४; ६।१।११।४, मै० सं० १।३।३७, ४।९।११, १२, का० सं० ४।९, ३०।५।

आहुति अर्पित करने के लिये इस मन्त्र का प्रयोग याज्या और पुरोनुवाक्या दोनों रूपों में किया गया है। यद्यपि यह मन्त्र समस्त ब्राह्मण और श्रौत साहित्य में अनेक बार उद्धृत किया गया है[1] तथापि गृह्य-विनियोग से मिलता जुलता विनियोग केवल आप० श्रौ० १९।२३।४ में प्राप्त होता है। इस सम्बन्ध में शां० श्रौ० (६।२०।२१) के प्रति संकेत करना भी आवश्यक है क्योंकि वहाँ सन्धिस्तोत्र के वर्णन में सूर्य के उदय होने पर इसके उच्चारण का निर्देश है। तै० ब्रा० (३।१।३।३) में सूर्य के निमित्त चरु की याज्या के रूप में इसे उद्धृत किया गया है।

मा० गृ० (१।१९।४) में आगे चलकर यह विधान है कि सूर्य की उपासना करके पिता को निम्नलिखित मन्त्र का पाठ करते हुए शिशु को सूर्य-दर्शन कराना चाहिए :—

नमस्ते अस्तु भगवन् शतरश्मे तमोनुद।
जहि मे देव दौर्भाग्यं सौभाग्येन मां संयोजयस्व॥ [४७१]

हे शतों किरणों वाले, अंधकारविनाशक भगवान् सूर्य, आपको नमस्कार हो। हे देव, मेरे दुर्भाग्य को नष्ट कर दीजिये और सौभाग्य से मेरा संयोग कीजिये॥

उसी गृह्यसूत्र में अन्यत्र (२।१४।३१) विनायकोंद्वारा अभिभूत व्यक्तियों को उनसे मुक्त कराने के निमित्त कर्म में सूर्य के उदय होने पर पुरोहित द्वारा इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए उसकी उपासना का निर्देश किया गया है। यह मन्त्र अन्यत्र अप्राप्त है। सम्भवतया इस विशेष गृह्य-कर्म के निमित्त इसकी रचना की गई होगी।

का० गृ० (३७।२—३) में विशेष मन्त्रों के उच्चारण के साथ[2] चार आज्याहुतियों और दो स्थालीपाकाहुतियों का विधान किया गया है। अगले सूत्र में निर्देश है कि अधोनिर्दिष्ट मन्त्र का उच्चारण करते हुए शिशु के पिता अथवा ज्येष्ठ सम्बन्धी को उसे उठा कर लाना चाहिए :—

---

१. ऐ०ब्रा० ४।९।१०, ष० ब्रा० ५।१२, श० ब्रा० ४।३।४।९; ६।२।२, तै०ब्रा० ३।७।११।२, तै० आ० ४।११।८, २०।३; ५।९।११, श्रा० श्रौ० ६।५।१८, शां० श्रौ० १८।२।२; ३।५, आप० श्रौ० १०।२७।१०, १३।५।७, १५।१६।१०, २१।२१।७, का० श्रौ० १०।२।५, १३।२। १२, मा० श्रौ० २।४।५।४।

२. का० सं० १०।१३ (तरणिर्विश्वदर्शतः.........और दिवोरुक्म.........), का० सं० ४।९ (उदु त्यं जातवेदसं.........और चित्रं देवानाम्.........); का० सं० २३।१२(मित्रोजनान्......और प्र स मित्र......)

अभ्यावर्तस्व पृथिवि यज्ञेन पयसा सह। वपां ते अग्निरिषितो अरोहत् ॥[४७२]

हे पृथिवी, यज्ञ और दुग्ध के साथ मेरे सम्मुख आओ अर्थात् प्रसन्न होकर मुझे दुग्धवान् और याज्ञिक बनाओ। यह प्रेषित अग्नि तुम्हारी सारभूत वेदी पर आरोहण करे—दे० पा०

यह मन्त्र सभी यजुर्वेद संहिताओं में उपलब्ध होता है।[1] शिशु को उठाकर लाने की विशेष गृह्य-क्रिया में इसके विनियोग का आधार श०ब्रा० (७।३।१।२१) प्रतीत होता है। वहाँ आहवनीय अग्नि के वेदि-चयन वर्णन में इसका विनियोग लोगेष्टका (गीली मिट्टी की ईंट) उठा कर लाने के लिये किया गया है। परन्तु श्रौत सूत्रों में इसका विनियोग वेदि-स्थान पर गीली मिट्टी का लोष्ठ डालने के लिये हुआ है।[2]

का०गृ० (३७।५) में यह निर्देश है कि शिशु को गोद में ले कर पिता को निम्नलिखित मन्त्रों द्वारा सूर्योपासना करनी चाहिये :—

द्रष्ट्रे नम उपद्रष्ट्रे नमोऽनुद्रष्ट्रे नमः ख्यात्रे नम उपख्यात्रे नमोऽनुख्यात्रे नमः श्रृण्वते नम उपश्रृण्वते नमः सते नमोऽसते नमो जाताय नमो जनिष्यमाणाय नमो भूताय नमो भविष्यते नमश्चक्षुषे नमः श्रोत्राय नमो मनसे नमो वाचे नमो ब्रह्मणे नमः श्रान्ताय नमस्तपसे नमः ॥ [४७३]

अदृश्रन्नस्य केतवो वि रश्मयो जनाँ अनु। भ्राजन्तो अग्नयो यथा ॥ [४७४]

द्रष्टा अर्थात् जीवात्मा, उपद्रष्टा अर्थात् अन्तर्यामी आत्मा, अनुद्रष्टा अर्थात् योग्यात्मा, ख्याता अर्थात् सर्वलोकरूप, उपख्याता अर्थात् रूपादि धर्म, अनुख्याता अर्थात् धर्माधर्म रूपादि में विद्यमान सूर्य को, सुनने वाले अर्थात् आकाशरूप, तथा श्रोत्ररूप सूर्य को, सत् तथा असत्, उत्पन्न हुए तथा उत्पन्न होने वाले, अतीत तथा भविष्यत् को चक्षूरूप, श्रोत्ररूप, मनोरूप, वाणीरूप, ब्रह्मरूप, श्रमशील तथा तपःशील सूर्य को नमस्कार है॥ इस सूर्य की अग्नि के समान देदीप्यमान बंधनशून्य किरणें उत्पन्न होने वाले प्राणियों के प्रति दिखाई दे रही हैं। दे०पा०

प्रथम मन्त्र का मूल स्रोत का०सं० (२६।१२) है। वस्तुतः यह लघु वाक्यों का समूह है। इन वाक्यों का पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र विनियोग भी प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ आप०श्रौ० (१२।२०।६) में अग्निष्टोम के अंतर्गत प्रातःसवन में केवल

---

१. वा०सं० १२।१०३, तै०सं० ४।२।७।१, मै०सं० २।७।१४, का०सं० १६।१४

२. आप०श्रौ० १६।२०।५, बौ०श्रौ० १०।२६, मा०श्रौ० ६।१।५।४, का० श्रौ० ७।३।११।

प्रथम दो—द्रष्ट्रे नमः और उपद्रष्ट्रे नमः—का विनियोग हुआ है। और आप०श्रौ० २०।१।१७ में समस्त मन्त्र उद्धृत है। यहाँ इसका विनियोग अश्वमेध के अन्तर्गत उदित सूर्य की उपासनार्थ किया गया है। सम्भवतया का०गृ० के गृह्य-विनियोग का आधार यही विनियोग होगा।

द्वितीय मन्त्र तै०सं० को छोड़ कर अन्य सभी संहिताओं में उपलब्ध है।[1] ऋ० और वा०सं० में आद्य शब्द **अदृश्रम्** है। इस पाठ से अर्थ में कठिनाई उत्पन्न होती है। यह पाठ स्पष्टतया लुङ् उ०पु० एकवचन का रूप है। परन्तु इसे कर्मवाच्य लट् प्र०पु० बहुवचन का रूप सिद्ध करने के लिये उव्वट और महीधर को छान्दस का आश्रय लेना पड़ा है। सायण ने यद्यपि इसे कर्तृवाच्य माना है, परन्तु पुरुष की कठिनाई उसके सामने भी रही। अन्य संहिताओं का **अदृश्रन्** पाठ फिर भी लुङ् होते हुए भी प्र०पु० बहुवचन का रूप है। सम्भवतः **अदृश्रम्** अधिक प्राचीन आर्ष प्रयोग हो। श०ब्रा०, का०श्रौ० और मा०श्रौ० में इस मन्त्र का विनियोग सोम-त्याग के अंतर्गत अतिग्राह्य ग्रह ग्रहण करनेके लिये किया गया है।[2] इस ग्रह को इस मन्त्र द्वारा ग्रहण करने के समर्थन में श०ब्रा० (४।५।४।५) में एक आख्यानक में कहा गया है कि सूर्य में पहले यह दीप्ति (भ्राजः) नहीं थी। उसने कामना की कि यह दीप्ति मुझमें हो जाये। उसने इस ग्रह को देखा, इसे ग्रहण किया। तब उसमें यह दीप्ति हो गई। यह भी कहा गया है कि यज्ञ में जो भी व्यक्ति इस ग्रह को ग्रहण करेगा उसे सूर्य-तुल्य दीप्ति प्राप्त होगी। इस प्रकार श्रौत-प्रयोग में सूर्य के साथ सम्बन्ध होने के कारण इसे गृह्य-प्रयोग का भी आधार माना जा सकता है।

पा०गृ० (१।१७।६) में निष्क्रमणिका संस्कार अर्थात् शिशु को प्रथम बार प्रसूतिगृह से बाहर लाने के कर्म का विधान किया गया है। तदनुसार वा०सं० ३६।२४ का उच्चारण करता हुआ पिता शिशु को सूर्य-दर्शन कराता है। यद्यपि इस प्रसंग में यह मन्त्र उपयुक्ततम प्रार्थना प्रस्तुत करता है, तथापि इसका विस्तृत विवेचन उपनयन के अंतर्गत किया गया है क्योंकि स्वयं पा०गृ० और अन्य अधिकांश गृह्यसूत्रों में भी वहीं सूर्योपासना के निमित्त इसका विनियोग किया गया है। पा०गृ० (१।८।७) में विवाह के अंतर्गत भी सप्तपदी के पश्चात् वधू को सूर्यदर्शन कराने के लिये इस मन्त्र का विनियोग किया गया है। (दे० मन्त्र सं० ५४७)

---

१. ऋ० १।५०।३, वा०सं० ८।४०, अथर्व० १३।२।१८, २०।४७।१५, का०सं० ४।११, मै०सं० १।३।३३।

२. श०ब्रा० ४।५।४।११, का०श्रौ० १२।३।२, मा०श्रौ० ७।२।२।२५, दे० आप०श्रौ० १६।१२।१ (उत्तरवेदी-चयन)

इस प्रसंग में कौशिक० (५८।१८) द्वारा शिशु को प्रथम बार बाहर लाने के समय उच्चारणार्थं उद्धृत अधोलिखित दोनों मन्त्र अथर्व० ८।२।१४,१५ विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं क्योंकि इनमें प्रकृति की सभी शक्तियों से शिशु को कल्याण प्रदान करने की प्रार्थना की गई है :—

शिवे ते स्तां द्यावापृथिवी अभिश्रियौ ।
शं ते सूर्य आतपतु शं वातो वातु ते हृदे ।
शिवा अभिक्षरन्तु त्वापो दिव्याः पयस्वतीः ।। [४७५]
शिवास्ते सन्त्वोषधय उत्वाहार्षमधरस्या उत्तरां पृथिवीमभि ।
तत्र त्वादित्यौ रक्षतां सूर्यचन्द्रमसावुभा ।। [४७६]

संतापरहित तथा शोभायुक्त पृथ्वी और आकाश तुम्हारे लिये कल्याणकर हों। सूर्य तुम्हारे लिये कल्याणकर रूप में तपे, वायु तुम्हारे हृदय के लिये कल्याणकर होकर बहे। अमृततुल्य जल से भरी दिव्य नदियाँ तुम्हारे प्रति कल्याणदायिनी होकर प्रवाहित हों।। ओषधियाँ तुम्हारे लिये कल्याणप्रद हों। मैं तुम्हें नीचे पृथिवी पर लाया हूँ। वहाँ सूर्य और चन्द्रमा दोनों अदितिपुत्र तुम्हारी रक्षा करें।।

वस्तुतः शिशु को प्रथम बार बाहर लाने पर केवल सूर्य ही नहीं अपितु प्रकृति की सभी शक्तियाँ उस पर प्रभाव डालती हैं।

अन्नप्राशन

शिशु को प्रथम बार ठोस अन्न खिलाने का संस्कार जन्म के षष्ठ मास में किया जाता है। भा०गृ० (१।२७) और शां०गृ० (१।२७।१०) के अनुसार भूः भुवः स्वः इन तीन महाव्याहृतियों के साथ शिशु को अन्न खिलाना चाहिये। हि०गृ० (२।५।२) में प्रत्येक महाव्याहृति के पश्चात् **त्वयि दधामि** शब्द भी जोड़े गये हैं। कुछ अन्य गृह्यसूत्रों में उपर्युक्त कर्म के लिए अधोलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है[1]:—

अन्नपतेऽन्नस्य नो देह्यनमीवस्य शुष्मिणः ।
प्र प्रदातारं तारिष ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ।। [४७७]

हे अन्न के स्वामी अग्नि, हमें रोग रहित और बलप्रद अन्न दीजिये। मुझ अन्न-दान करने वाले की अभिवृद्धि कीजिये, हमारे पुत्रपौत्रादि दो

१. आ०गृ०१।१६।५, जै०गृ०१।१०, (द्विपदे के पश्चात् शम्), का०गृ०३९।२ (उत्तरार्ध में धेहि के स्थान पर देहि)

पाँवों वालों और गौ आदि चार पाँवों वालों को रसरूप अन्न दीजिये। ह० मि०

परन्तु शां०गृ० (१।२७।७) और मा०गृ० (१।२०।२) में इसी मन्त्र का विनियोग प्राशन से पहले अर्पित की जाने वाली आहुति के लिए किया गया है। पा०गृ० (३।१।५) में आग्रयण अथवा नवान्नप्राशन कर्म के अन्तर्गत वर्ष के अभिनव अन्न के भक्षण के लिए इस मन्त्र का वैकल्पिक विनियोग हुआ है। आप०गृ०७।१७।६ (मं०पा०२।१५।१५) में वास्तुकर्म या शालाकर्म के अन्तर्गत जलकलश रखने के निमित्त बने हुए स्थान पर आस्तृत घास पर चावल और जौ डालने के समय इसके उच्चारण का विधान है। इन विनियोगों में एक बात ध्यान देने योग्य है कि सभी स्थलों पर मन्त्र का सम्बन्ध अन्न के साथ किसी न किसी रूप में अवश्य है।

यह मन्त्र यजुर्वेद की सभी संहिताओं में विद्यमान है।[1] ब्राह्मण और श्रौत साहित्य में दीक्षा के अन्तर्गत यजमान द्वारा व्रत-दुग्ध में डुबो कर समिधा को अग्नि पर रखने के लिए इस मन्त्र के उच्चारण का विधान है।[2] परन्तु तै०ब्रा० (३।११। ४।१) में महाचयन के अन्तर्गत अन्नहोम में इसका विनियोग किया गया है। यहाँ प्रथम बार अन्न के साथ इस मन्त्र का सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है। सम्भव है कि मन्त्र के गृह्य-विनियोग का प्रमुख आधार यही हो। परन्तु अन्य स्थलों पर भी अग्नि के प्रसङ्ग में अन्नपति शब्द सार्थक है। अन्नपति को अग्नि सिद्ध करने के लिए हरदत्त मिश्र ने अपनी टीका में श्रुति का उद्धरण भी दिया है। "**अन्नादो वा एषोऽन्नपतिर्यदग्निः।**"[3]

शिशु को अन्नप्राशन कराने के लिये कुछ गृह्यसूत्रों में निम्नलिखित मन्त्र का प्रयोग किया गया है[4]:—

अपां त्वौषधीनां रसं प्राशयामि।
शिवास्त आप ओषधयः सन्तु।
अनमीवास्त आप ओषधयः सन्तु॥ [४७८]

मैं तुम्हें जल और ओषधियों का रस खिलाता हूँ। जल और ओष-

---

१. वा०सं०११।८३, तै०सं०४।२।३।१, ५।२।२।१, मै०सं०२।१०।१, ४।१४।१६, का०सं०१६।१०, १६।१२
२. श०ब्रा०६।६।४।७, का०श्रौ०१६।६।८, आप०श्रौ०१६।११।३।
३. दे०आ०गृ०मं०,पृ०४५—४६।
४. बौ०गृ०२।३।६, आप०गृ०६।१६।१ (मं०पा०२।१४।११-१४), वै०गृ०३।२२, हि०गृ०२।५।३, (तृतीय पंक्ति में सन्तु के स्थान पर भवन्तु), आग्नि०गृ० २।२।४ (द्वितीय, तृतीय पंक्तियों में सन्तु के स्थान पर भवन्तु),

धियाँ तुम्हारे लिये कल्याणकर हों, वे तुम्हारे लिये रोग-रहित हों।

अथर्व०८।२।१५ का प्रथम पाद इस मन्त्र की द्वितीय पंक्ति के समान है। इसी प्रकार तै०ब्रा० (२।५।३।३) और आ०श्रौ० (२।१०।१८) के एक मन्त्र का द्वितीय पाद इस मन्त्र की तृतीय पंक्ति के बहुत समान है। इसकी प्रथम पंक्ति आप० श्रौ० १।१०।१० में प्राप्त होती है। अतः यह प्रतीत होता है कि गृह्यसूत्र-रचयिताओं ने विभिन्न स्रोतों से उपर्युक्त वाक्यों को लेकर और उन्हें एकत्र जोड़कर इस मन्त्र को घड़ा होगा। गृह्यसूत्रों में इस प्रकार के मन्त्रों की संख्या कम नहीं है। इससे एक यह महत्त्वपूर्ण बात भी सिद्ध होती है कि गृह्यसूत्रकारों ने सर्वत्र ही अपनी शाखा की संहिता का अन्धानुसरण नहीं किया है, अपितु उचित मन्त्र बनाने के लिए उन्होंने अन्य शाखाओं की संहिताओं से सहायता लेने में भी संकोच नहीं किया। यहाँ इस सम्भावना से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि ऐसे मन्त्र पूर्णरूपेण किसी अन्य संहिता से ही उद्धृत हों जो अब अप्राप्य है।

कौशिक०(५८।१६) के अनुसार पिता को निम्नलिखित दो मन्त्रों का उच्चारण करते हुए शिशु को जौ और चावल खिलाने चाहियें:—

शिवौ ते स्तां व्रीहियवावबलासावदोमधौ।
एतौ यक्ष्मं वि बाधेते एतौ मुञ्चतो अंहसः॥ [४७९]
यदश्नासि यत्पिबसि धान्यं कृष्याः पयः।
यदाद्यं यदनाद्यं सर्वं ते अन्नमविषं कृणोमि॥ [४८०]

जौ और चावल दोनों तुम्हारे लिये खाने में मधुर बलरहित अर्थात् भारीपन से रहित और कल्याणकर हो जायें। ये दोनों क्षय रोग को बाधित करते हैं, और कष्टों से मुक्त करते हैं॥ धान, कृषि के अन्य पदार्थ तथा जल, जो कुछ तुम खाते पीते हो, और जो खाने योग्य अथवा न खाने योग्य है, उस सारे अन्न को तुम्हारे लिये विष-रहित करता हूँ।

ये मन्त्र अथर्व०(८।२।१८, १९) से उद्धृत हैं। इनका विनियोग पूर्णतया अर्थानुकूल है। वस्तुतः मूल रूप में इनकी रचना इसी गृह्य-कर्म के लिये की गई प्रतीत होती है।

पा०गृ० (१।१९।६) में अन्न-प्राशन के लिए किसी मन्त्र का विनियोग नहीं किया गया। इसके अनुसार शिशु को अन्न या तो मौनभाव से खिलाना चाहिये, और या केवल हन्त का उच्चारण करना चाहिये।

चूडाकरण

यह संस्कार प्रथम बार शिशु के बाल काटने के लिये किया जाता है। इसके

चूडाकर्म, चौलकर्म, चौल तथा चौड नाम भी हैं।[१] इसका अनुष्ठान प्रायः शिशु की एक अथवा तीन वर्ष की आयु में किया जाता है।

शीतल जल का उष्ण जल में सम्मिश्रण

सर्वप्रथम निम्नोक्त वाक्य का उच्चारण करते हुए शीतल जल का उष्ण जल में सम्मिश्रण करना चाहियेः[२]—

उष्णेन वायवुदकेनेहि ॥ [४८१]

हे वायु उष्ण जल के साथ आओ।

जै०गृ० (१।११) में, इससे पृथक्, इसका विनियोग जल-सम्मिश्रण के लिए न करके जल ग्रहण करने के लिए हुआ है। और गो०गृ० तथा खा०गृ० के अनुसार इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए पीतल के जल-पात्र को देखना चाहिये।[३] मं०पा० में इसके आगे **अदितिः केशान् वपतु** (अदिति केश काट दे) भी जोड़ा गया है। पा०गृ० में इस वाक्य में **अदिते** (सम्बोधन में) और **वप** (लोट् म०पु० में) है। कुछ गृह्यसूत्रों में इस वाक्य का विनियोग पृथक् रूप से शिशु के बाल गीले करने के लिए किया गया है।[४] यह अथर्व०६।६८।२ का प्रथम पाद है। इसमें अथर्व० के श्मश्रु के स्थान पर **केशान्** पाठ है। **उष्णेन** इत्यादि वाक्य वस्तुतः अथर्व० ६।६८।१ का द्वितीय पाद है। उस सम्पूर्ण मन्त्र का विनियोग का०गृ० (४०।६) में उष्ण जल को सम्बोधित करने के लिये किया गया हैः—

आयमगात् सविता क्षुरेणोष्णेन वाय उदकेन एहि।
आदित्या रुद्रा वसवः सचेतसः सोमस्य राज्ञो वपत प्रचेतसः ॥ [४८२]

यह सविता क्षुर के साथ आया है, हे वायु तुम उष्ण जल के साथ आओ। हे आदित्यो, रुद्रो, वसुओ, तुम सब एक-चित्त होकर सोम राजा के समान बुद्धिमान् इस बालक का मुण्डन करो। दे०पा०

कौशिक० ५३।१७ में इस मन्त्र द्वारा जल-पात्र को सम्बोधित किया गया है। गो० गृ० और खा० गृ० के अनुसार नापित की ओर देखने के लिये मन्त्र के प्रथम पाद का ही उच्चारण किया जाना चाहिये।[५]

---

१. इं०वै०कल्प०,पृ०२८०
२. आ०गृ०१।१७।६, पा०गृ०२।१।६, आप०गृ० ४।१०।५, (मं०पा०२।१।१), बौ०गृ०२।४।८, वा०गृ०४।८।
३. गो०गृ०२।६।११ (मं०ब्रा०१।६।२), खा०गृ०२।३।२१।
४. आ०गृ०१।१७।७, मा०गृ०१।२१।३, वा०गृ०४।८।
५. गो० गृ० २।६।१० (मं० ब्रा० १।६।१), खा० गृ० २।३।२०।

मा० गृ० (१।२१।२) में उष्णेन आदि वाक्य को लेकर एक पूर्णतया भिन्न मन्त्र की रचना की गई है। विनियोग यहाँ भी का० गृ० के समान ही है। मन्त्र इस प्रकार है :—

उष्णेन वायुरुदकेनेद्द यजमानस्यायुषा।
सविता वरुणो दधद् यजमानाय दाशुषे ॥ [४८३]

वायु, सविता और वरुण उष्ण जल के द्वारा ही दानशील यजमान को पूर्ण आयु प्रदान करें।

इस मन्त्र का उत्तरार्ध यजुर्वेदीय परम्परा के एक मन्त्र का पूर्वार्ध है।[1] परन्तु वहाँ उस मन्त्र का चूडाकरण से कोई सम्बन्ध नहीं। वहाँ यह इन्द्र के निमित्त पुरोडाश की याज्या है।

अथर्व० ६।६८।१ के प्रथम पाद से आरम्भ करके उसमें अन्य मन्त्रों के अंशों को जोड़ कर जै० गृ० (१।११) में एक नये मन्त्र का निर्माण किया गया है। उस गृह्य में उसका विनियोग क्षुर ग्रहण करने के लिये हुआ है :—

आयमगात् सविता क्षुरेण विश्वैर्देवैरनुमतो मरुद्भिः।
स नः शिवो भवतु विश्वकर्मा यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ [४८४]

सभी देवों तथा मरुतों से अनुमति प्राप्त करके यह सविता क्षुर-सहित आया है। वह विश्वकर्मा हमारे लिये कल्याणकर हो। आप सब सदा कल्याणों से हमारी रक्षा कीजिए॥

इस मन्त्र का द्वितीय पाद अथर्व० तथा सभी यजुर्वेद-संहिताओं के एक मन्त्र का द्वितीय पाद है।[2] केवल अंतर यह है कि उन संहिताओं में **अनुमता** (स्त्री०) है और जै० गृ० में **अनुमतः** (पुं०) है। प्रसंगानुसार यह स्वाभाविक ही है, क्योंकि वहाँ यह शब्द क्षेत्र की सीता (स्त्री०) का विशेषण है। इसका अंतिम पाद ऋग्वेद के सप्तम वसिष्ठ मण्डल के प्रायः सभी सूक्तों के अंतिम मन्त्र का अंतिम पाद है। इस प्रकार विभिन्न संहिताओं के मन्त्रांशों को जोड़ कर बनाये गये मन्त्र का यह भी एक उदाहरण है। अथवा यह भी किसी अन्य अप्राप्य संहिता का मन्त्र हो सकता है।

केशों का आर्द्रीकरण

उपर्युक्त विधि से शीतल और उष्ण जल के सम्मिश्रण के पश्चात् उस जल

१. वा० सं० २०।७१, मै० सं० ३।११।४, का० सं० ३८।९, तै० ब्रा० २।६।१३।२।
२. अथर्व० ३।१७।९, वा० सं० १२।७०, तै० सं० ४।२।५।६, मै० सं० २।७।१२, का० सं० १६।१२।

द्वारा निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए शिशु के केशों को गीला किया जाना चाहिए [1]:—

आप उन्दन्तु जीवसे दीर्घायुत्वाय वर्चसे ।। [४८५]

जीवन, दीर्घायु और तेज के लिए जल केशों को गीला करे।

हि० गृ० (१।९।१२) में यह मन्त्र समावर्तन के अन्तर्गत उपर्युक्त कर्म में ही विनियुक्त है। मं० पा० में इसके आगे **ज्योक् च सूर्यं** दृशे भी जोड़ा गया है। आ० गृ० (१।१७।७) में केवल **आप उन्दन्तु वर्चसे** शब्द दिये गये हैं। पा० गृ० (२।१।६)में **जीवसे** के स्थान पर **ते तनुम्** पाठ है और आरम्भ **सवित्रा प्रसूता दैव्याः** शब्दोंसे होता है। वा० गृ० (४।८) में **वर्चसे** के स्थान पर **स्वस्तये** पाठ है। गो० गृ० और खा० गृ० में केवल **आप उन्दन्तु जीवसे** दिया गया है।[2] इसी कर्म के लिये मा० गृ० (१।२१।३) में अधोलिखित मन्त्र प्रयुक्त हुआ है :—

अदितिः केशान् वपत्वाप उन्दन्तु स्वस्तये ।
धारयतु प्रजापतिः पुनः पुनः स्वस्तये ।।

इसके पूर्वार्ध का साम्य अथर्व० (६।६८।२) के पूर्वार्ध से द्रष्टव्य है। (दे० नीचे)**स्वस्तये** के स्थान पर **सुवप्तवै** पाठ के साथ मन्त्र के उत्तरार्ध का विनियोग जै० गृ० (१।११) में शिशु के केशों में तीन दर्भपत्र रखने के लिए किया गया है। अपनी संहिता (का० सं०) का अनुसरण करते हुए का० गृ० ४०।१० में उपर्युक्त मन्त्र (४८५) को इस कर्म के लिये प्रयुक्त मन्त्र के उत्तरार्ध के रूप में उद्धृत किया गया है। पूर्वार्ध यह है :—

आर्द्रदानवः स्थ जीवदानवः स्थोन्दतीरिहैनमवत । [४८६]

हे जल, तुम आर्द्रता देने वाले हो, तुम जीवन देने वाले हो, आर्द्र करते हुए यहाँ इस शिशु की रक्षा करो।[3] दे० पा०

उपर्युक्त सभी मन्त्रों अथवा मन्त्रांशों के सन्दर्भ में अथर्व० (६।६८।२) का निम्नलिखित मन्त्र विशेष रूप से द्रष्टव्य है क्योंकि सब उससे प्रभावित हुए हैं :—

---

१. आप० गृ० ४।१०।५ (मं० पा० २।१।२), बौ० गृ० २।४।९, हि० गृ० २।६।६, भा० गृ० १।२४, आग्नि० गृ० २।२।५, शां० गृ० १।२८।९, जै० गृ० १।११, वै० गृ० ३।२३।

२. गो० गृ० २।९।१२ (मं० ब्रा० १।६।३), खा० गृ० २।३।२२

३. आर्द्रदानवः आर्द्रभावस्य दात्र्यः—ददाति इति दानुः औणादिको दानुशब्दः।

अदितिः श्मश्रु वपत्वाप उन्दन्तु वर्चसा।
चिकित्सतु प्रजापतिर्दीर्घायुत्वाय चक्षसे ।। [४८७]

अदिति श्मश्रु अर्थात् मूँछ काटे, जल तेज से आर्द्र करे।
दीर्घायु तथा वाक् शक्ति के लिए प्रजापति चिकित्सा करे ।।

तै० सं० (१।२।१।१) और का० सं० (२।१) में भी मन्त्र का ठीक यही रूप प्राप्त होता है। आप० श्रौ० (१०।५।८) में विधान है कि अग्निष्टोम की दीक्षा के अवसर पर अध्वर्यु को यजमान का क्षौर-कर्म करने से पूर्व उसकी कनपटियों को गीला करते हुए इस मन्त्र का उच्चारण करना चाहिए। सम्भवतः मन्त्र के गृह्य-विनियोग का आधार यह श्रौत विनियोग ही है।

दर्भपत्र-स्थापन

निम्नलिखित में से प्रथम वाक्य का उच्चारण करते हुए शिशु के केशों में एक, तीन अथवा सात दर्भपत्र अथवा कुश-पत्र रखे जाने चाहियें। द्वितीय वाक्य बोलते हुए क्षुर द्वारा इन पत्रों को दबाना चाहिए[1] :—

ओषधे त्रायस्वैनम् ।। [४८८]
स्वधिते मैनं हिंसीः ।। [४८९]

हे ओषधि, इसकी रक्षा करो। हे कुठार, इसे न मारो ।।

हि०गृ०(१।६।१२-१४)में इन्हीं वाक्यों का प्रयोग उक्त कर्म के लिये समावर्तन में भी किया गया है। पा० गृ० में केवल प्रथम वाक्य का विनियोग हुआ है। शां० गृ० में द्वितीय वाक्य का निम्नलिखित रूप प्राप्त होता है :—

तेजोऽसि स्वधितिष्टे पिता मैनं हिंसीः ।। [४९०]

तुम तेज हो, कुठार तुम्हारा पिता है, इसे न मारो।

यहाँ इसका विनियोग क्षुर द्वारा घास दबाने के लिये न करके क्षुर ग्रहण करने के लिये किया गया है। अतः यह क्षुर को सम्बोधित है। कौशिक० में इन वाक्यों का प्रयोग चूडाकरण में नहीं हुआ। कौशिक० ४३।३० में बाँझ गौ के दोष-निवारण के लिए अनुष्ठित वशाशमन कर्म में यजमान को क्षुर देने के लिये इनका प्रयोग किया गया है। कौशिक० ९२।१८ में मधुपर्क के अन्तर्गत अतिथि को गौ भेंट करने के पश्चात् गृहपति द्वारा उसे क्षुर देने के समय केवल द्वितीय वाक्य के उच्चारण का

---

१. आ० गृ०१।१७।८,९, शां० गृ० १।२८।९,११, बौ०गृ० २।४।१०,१२,हि० गृ० २।६।६-८, आग्नि गृ० २।२।५, वा० गृ० ४।१०,११, पा०गृ० २।१।१०, का० गृ० ४०।११, मा० गृ० १।२१।४, गो० गृ० २।९।१४ (मं० ब्रा० १।६।५,६) खा० गृ० २।३।२३,२४, वै० गृ० ३।२३।

निर्देश किया गया है।

ये वाक्य यजुर्वेदीय ग्रन्थों की विस्तृत शृंखला में प्राप्त होते हैं।[1] इनके गृह्य-विनियोग का स्रोत श० ब्रा० ३।१।२।७ (दे० आप० श्रौ० ५।८।१०) प्रतीत होता है क्योंकि वहां दीक्षा के अन्तर्गत यह विधान है कि प्रथम वाक्य का उच्चारण करते हुए अध्वर्यु को यजमान की मूँछ पर एक दर्भपत्र रखना चाहिये और फिर द्वितीय वाक्य के साथ साथ क्षुर चलाना चाहिये। ऐसा प्रतीत होता है कि क्षुर से सम्भाव्य घाव की रक्षा के लिये ही इन दोनों वाक्यों का उच्चारण किया जाता है।

शिरोमुण्डन

सिर का मुण्डन तीन या चार भागों में किया जाता है। प्रत्येक भाग के मुण्डन के लिये पृथक् मन्त्र का विधान है।[2] सर्वप्रथम एक भाग का मुण्डन करने के लिये निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है :—

येनावपत्सविता क्षुरेण सोमस्य राज्ञो वरुणस्य विद्वान्।
तेन ब्रह्माणो वपतेदमस्यायुष्माञ्जरदष्टिर्यथासत् ॥ [४६१]

जिस क्षुर से विद्वान् सविता ने राजा सोम और वरुण का केश-वपन किया, हे ब्राह्मणो, उसी से इस बालक के सिर का मुण्डन करो जिससे यह आयुष्मान् हो और वृद्धावस्था को प्राप्त हो।

मन्त्र का उपर्युक्त पाठ आ० गृ० में दिया गया है। पा०गृ० में **आयुष्मान्** के स्थान पर **आयुष्यम्** पाठ है। हि० गृ० और आग्नि०गृ० में तृतीय पाद तक तो पाठ समान है, परन्तु चतुर्थ पाद के रूप में **ऊर्जं मे रय्या वर्चसा संसृजाथः** है। मा०गृ० में पूर्वार्ध के अन्त में विद्वान् के स्थान पर **केशान्** पाठ है, उत्तरार्ध **तेन ब्रह्मणो वपत्वायुष्मानयं जरदष्टिरस्तु** है। **ब्राह्मणः** भी एकवचन में है और तदनुसार **वपतु** भी एकवचन में। शां०गृ० में इस मन्त्र के अधिक पाठभेद हैं। पूर्वार्ध में **सोमस्य**

---

१. वा० सं० ४।१,५।४२,६।१५ वा० सं०का० ३।६।३, तै०सं० १।२।१।१; ३।५।१; ६।२; ६।३।३।२;६।१, मै० सं० १।२।१; १४।१६; ३।६।२; ६।३; १०।१, का०सं० २।१; ३।२,६; २५।३, श० ब्रा० ३।१।२।७; ६।४।१०; ८।२।१२, तै० आ० १।३०।१, का० श्रौ० ५।२।१४, आप० श्रौ० ७।२।४, मा० श्रौ० १।८।१।७।

२. आ० गृ० १।१७।१०, शां० गृ० १।२८।१५, पा० गृ० २।१।११, बौ० गृ० २।४।१२, आप० गृ० ४।१०।६ (मं० पा० २।१।३), हि० गृ० २।६।१०; आग्नि० गृ० २।२।५, मा० गृ० १।२१।६, का० गृ० ४०।११, वा० गृ० ४।१२, कौशिक० ५३।२०, वै० गृ० ३।२३।

गृ० वि १६]

निकालकर **क्षुरेण** से पहले **श्मश्रु वप्ने** डाल दिया गया है। उपरिलिखित मन्त्र का उत्तरार्ध शां० गृ० में तृतीय पंक्ति के रूप में आया है और उसमें **अस्य** के स्थान पर **अद्य** तथा **आयुष्मान्** के पश्चात् **दीर्घायुरयमस्तु वीरोऽसौ** पाठ है। इस गृह्यसूत्र में द्वितीय पंक्ति **येन धाता बृहस्पतिरिन्द्रस्य चावपच्छिरः** है। यह पंक्ति अधोनिर्दिष्ट मन्त्र के पूर्वार्ध के बहुत समान है। मन्त्र सं० ४९१ की रचना अथर्व० ६।६८।३ के प्रथम तीन पादों और अथर्व० ८।५।२१ के अंतिम पाद के संयोग से हुई प्रतीत होती है। हि० गृ० और आग्नि० गृ० का पाठ ठीक तै० ब्रा० २।७।१७।२ और आप० श्रौ० १२।२८।६ जैसा है। ये दोनों ग्रन्थ मन्त्र के गृह्य विनियोग के स्रोत भी प्रतीत होते हैं क्योंकि वहाँ राज्याभिषेक के अन्तर्गत रथ पर चढ़ने से पूर्व राजा का मुण्डन करने के लिये इसका विनियोग किया गया है।

केशों के दूसरे भाग के मुण्डन के लिये निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है :[1]—

येन पूषा बृहस्पतेरग्नेरिन्द्रस्य चायुषेऽवपत् ।
तेनास्यायुषे वप सौश्लोक्याय स्वस्तये ॥ [४९२]

जिस क्षुर से पूषा ने दीर्घायु के लिये बृहस्पति, अग्नि और इन्द्र का शिरोमुण्डन किया उसी से तुम इस शिशु की दीर्घायु, प्रसिद्धि और कल्याण के लिये इसका मुण्डन करो।

उपरिलिखित पाठ मं० पा० के अनुसार है। इसी प्रसंग में मं० पा० (२।१।६) में एक और मन्त्र दिया गया है जिसका पूर्वार्ध इसी मन्त्र वाला है और उत्तरार्ध निम्नलिखित है :—

तेन ते वपाम्यसावायुषा वर्चसा यथा ज्योक् सुमना असाः ॥ [४९३]

उस क्षुर से दीर्घायु और तेज के द्वारा तुम्हारा मुण्डन करता हूँ जिससे तुम दीर्घकाल तक शोभन मन वाले हो जाओ।

का०गृ० में भी दो समान मन्त्र उद्धृत किये गये हैं। उनमें से एक तो उपरिलिखित (४९२) ही है, और उसमें **पूषा** के स्थान पर **धाता** तथा **सौश्लोक्याय** के स्थान पर **सुश्लोक्याय** पाठ है। द्वितीय मन्त्र में **पूषा** तो है परन्तु **बृहस्पतेः** के स्थान पर **प्रजापतेः** और **इन्द्रस्य** के स्थान पर **सूर्यस्य** पाठ है।

---

1. आ० गृ० १।१७।१२, आप० गृ० ४।१०।६ (मं० पा० २।१।४), का० गृ० ४०।११, मा०गृ० १।२१।६, वा० गृ० ४।१६, भा० गृ० १।२८, हि० गृ० २।६।११, आग्नि०गृ० २।२।५, वै० गृ० ३।२३।

आ० गृ० में भी का० गृ० के प्रथम मन्त्र के समान ही **धाता** है। उत्तरार्ध में इसमें **अस्य** के स्थान पर **ते** और **वप** के स्थान पर **वनामि** पाठ है। वा० गृ० में उत्तरार्ध का पाठ **तेन ते वपाम्यायुषे दीर्घायुत्वाय स्वस्तये** है। केवल **स्वस्तये** के स्थान पर **वर्चसे** पाठ सहित मा० गृ० में भी यही पाठ है। भा० गृ० में भी यही पाठ है, केवल **आयुषे** निकाल दिया गया है। हि० गृ०, आग्नि० गृ० और वै० गृ० में उत्तरार्ध के रूप में केवल **तेन ते ऽहं वपाम्यसौ** शब्द दिये गये हैं।

सामवेद से सम्बद्ध गृह्यसूत्रों में इस मन्त्र का निम्नलिखित पाठ है[1] :—

येन पूषा बृहस्पतेर्वायोरिन्द्रस्य चावपत् ।
तेन ते वपामि ब्रह्मणा जीवातवे जीवनाय दीर्घायुष्ट्वाय वर्चसे । [४६४]

जिस क्षुर से पूषा ने बृहस्पति, वायु और इन्द्र का मुण्डन किया, उसी के द्वारा ब्रह्मतेज से जीवन-शक्ति के लिये, जीवन के लिये, दीर्घायु के लिये, तेजके लिये तुम्हारा मुण्डन करता हूँ।

कुल मिलाकर इस मन्त्र के विषय में यह ध्यानयोग्य बात है कि क्योंकि मुण्डन करने वाले को स्वयं इसका उच्चारण करना है, अतः उ०पु० का पाठ **वपामि** म० पु० के **वप** से अधिक उचित है। मन्त्र का स्रोत सम्भवतया वा० सं० का० ३।५ है। इसमें पूर्वार्ध में **धाता** पाठ है और उत्तरार्ध मं०ब्रा० के बहुत निकट है।

कुछ गृह्यसूत्रों में केशों के एक अन्य भाग के मुण्डन के लिये एक अन्य मन्त्र का विनियोग किया गया है।[2] इस मन्त्र का उत्तरार्ध पृथक् पृथक् गृह्यसूत्रों में दिये गये उपर्युक्त मन्त्र के उत्तरार्ध जैसा है। पा०गृ० का पाठ मं०ब्रा० के समान है। केवल **जीवातवे** के पश्चात् **सुश्लोक्याय स्वस्तये** शब्द हैं। मा० गृ० और वा० गृ० में भी किंचिद् भिन्न पाठ है। मा० गृ० में **दीर्घायुत्वाय** निकाल दिया गया है और **वर्चसे** के स्थान पर **स्वस्तये** पाठ है। वा० गृ० में **स्वस्तये** के स्थान पर **सुश्लोक्याय सुवर्चसे** पाठ है। पूर्वार्ध में भी विभिन्न गृह्यसूत्रों में पाठ भेद हैं। आ० गृ० में उसका निम्न पाठ दिया गया है :—

येन भूयश्च रात्र्यां ज्योक् च पश्याति सूर्यम् ॥ [४६५]

जिससे वह रात्रि को बहुत अधिक और सूर्य को अर्थात् दिन में चिरकाल तक देखे।

---

१. गो० गृ० २।६।१६ (मं० ब्रा० १।६।७), खा०गृ० २।३।२६, जै० गृ० १।११।
२. आ०गृ० १।१७।१२, पा० गृ० २।१।१६, आप० गृ० ४।१०।६, (मं० पा० २।१।५), का०गृ० ४०।११, मा० गृ० १।२१।६, वा० गृ० ४।१६, जै० गृ० १।१६।

यदि इसका केवल शाब्दिक अर्थ लिया जाये तो कुछ कठिनाई अनुभव होती है। तदनुसार अर्थ होगा "जिससे कि फिर रात्रि में, और चिरकाल तक सूर्य को देखे।" परन्तु **पश्याति** को पृथक् रूप से **रात्र्याम्** से सम्बद्ध करने पर अर्थ में स्पष्टता आ जाती है जैसा कि मन्त्र के नीचे दिये गये अर्थ से प्रकट है। यह व्याख्या हरदत्त की व्याख्या के बहुत निकट है। केवल अन्तर इतना है कि उसने **पश्याति** को लट् लकार का रूप माना है और व्याख्या की है **पश्यति** (देखता है)।[1] तथापि प्रार्थना होने के कारण यहाँ लेट् लकार मानना अधिक उपयुक्त होगा। स्तेंज्लर और उसका अनुसरण करता हुआ ओल्डनबर्ग इसे भ्रष्ट पाठ बता कर पारस्कर के अपेक्षाकृत शुद्ध पाठ की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं। आप्टे के अनुसार हमें पारस्कर की शरण लेने की आवश्यकता नहीं क्योंकि बिब्लिओथिका इण्डिका के (१८६६-६६ में प्रकाशित) संस्करण में प्रथम पाद का पाठ **येन भूयश्चरात्ययम्** दिया गया है। इस पाठ से अर्थसम्बन्धी कठिनाई दूर हो जाती है। इस स्थिति में अर्थ होगा-"जिससे यह अधिक जीवित रहे और चिरकाल तक सूर्य को देखे।" मं०पा० में भी यही पाठ है। मा०गृ० और वा०गृ० में भी यही पाठ है, केवल **चराति** के स्थान पर **चरति** भेद है। द्वितीय पाद में भी इनमें **पश्याति** के स्थान पर **पश्यति** पाठान्तर है। पा०गृ० में प्रथम पाद **येन भूरिश्चरा दिवम्** है और **पश्यति** के स्थान पर **पश्यामि** पाठ है। यद्यपि **दिवम्** का सम्बन्ध **सूर्यम्** से होगा, तथापि अवशिष्टांश अस्पष्ट ही रहता है। का०गृ० में पूर्वार्ध का पाठ **येन भूयश्च रात्री ज्योक् पश्या च सूर्यम्** है। देवपाल ने **रात्री** को कर्ता मानकर और **अवपत्** का पूर्व मन्त्र से अध्याहार करके इसकी व्याख्या इस प्रकार की है :— **येन क्षुरेण रात्रिः सूर्यमवपत् भूयः पुनः पुनः। ज्योक् चिरकालं पश्यतीति पश्या ज्योक्पश्या बहुदर्शना रात्रिः।**

का०गृ० का पाठ भी मं०पा०, मा०गृ० और वा०गृ० के पाठ का भ्रष्ट रूप ही प्रतीत होता है।

कुछ केश काटने के पश्चात् शिशु का पिता निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए क्षुर नापित को देता है :[2]—

---

१. येन क्षुरेणोप्यमानकेशो दीर्घकालं रात्र्यां नक्षत्रादीनि ज्योतींषि पश्यति अहनि च सूर्यम्।

२. मा०गृ० १।२१।७; का०गृ० ४०।१२, वा०गृ० ४।१७, जै०गृ० १।११ में पाठ निम्नलिखित है :—

यत्क्षुरेण मर्चयता सुपेशसा वप्त्रा वपसि नापितांगानि शुद्धानि कुर्वायुर्वर्चो मा हिंसीर्नापित ॥ [४६७]

यत्क्षुरेण वर्तयता सुपेशसा वप्तर्वपसि केशान् ।
शुन्धि शिरो मास्यायुः प्रमोषीः ॥ [४६६]

हे नापित, जिस सुरूप क्षुर से तुम केशों को काट रहे हो, उस सिर पर घूमने वाले क्षुर से इस की आयु न चुराना, अपितु इसके सिर को शुद्ध करना ।

यह तीन पादों वाला मन्त्र अनुष्टुभ् और त्रिष्टुभ् छन्दों का सम्मिश्रण प्रतीत होता है । प्रथम पाद (वर्तयता तक) अनुष्टुभ् है और शेष दोनों त्रिष्टुभ् । इनमें भी अन्तिम पाद का त्रिष्टुभ् से एक अक्षर कम है । वस्तुतः इस प्रकार का मिश्रण दुर्लभ है । यह मन्त्र अथर्व०(८।२।१७) के निम्नलिखित मन्त्र के बहुत समान है :—

यत्क्षुरेण मर्चयता सुतेजसा वप्ता वपसि केशश्मश्रु ।
शुभं मुखं मा न आयुः प्रमोषीः ॥ [४६८]

यहाँ यद्यपि द्वितीय पाद के त्रिष्टुभ् में दो अक्षर अधिक हैं, तथापि तृतीय पाद पूर्णतया त्रिष्टुभ् है । कौशिक० (५३।१६) में इस मन्त्र का विनियोग क्षुर को आर्द्र करने और मुण्डन से पूर्व उसे पोंछने के लिये किया गया है । आ०गृ० (१।१७।१५) के अनुसार इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए शिशु का पिता क्षुर की धार को पोंछता है । इस में भी पाठ अन्य गृह्यसूत्रों के समान ही है (दे० मन्त्र सं०४६६), केवल **वर्तयता** के स्थान पर **मर्चयता** और **वप्तः** के स्थान पर **वप्ता** पाठान्तर हैं । पा०गृ० (२।१।१८) में विधान है कि इस मन्त्र का उच्चारण मुण्डन के पश्चात् क्षुर द्वारा शिशु के सिर की प्रदक्षिणा के समय किया जाना चाहिये । इसमें दिया गया पूर्वार्ध का निम्नलिखित पाठ भ्रष्ट प्रतीत होता है :—

यत्क्षुरेण मज्जयता सुपेशसा वप्त्रा वाऽवपति केशाः । [४६६]

यहाँ प्रमुख कठिनाई **केशाः** (प्रथमा०) से उत्पन्न होती है । वस्तुतः यहाँ **केशान्** (द्वितीया०) होना चाहिये । उत्तरार्ध में यहाँ **शुन्धि** के स्थान पर **छिन्धि** पाठ है जिससे कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता । कुछ गृह्यसूत्रों में इस मन्त्र का प्रयोग समावर्तन के अन्तर्गत मुण्डन के प्रसङ्ग में किया गया है । उदाहरणार्थ भा०गृ० (२।१६) और आग्नि०गृ० (१।३।२) में जिस व्यक्ति का मुण्डन होना हो, उसके अभिमन्त्रणार्थ इस मन्त्र के उच्चारण का निर्देश है । भा०गृ० और आ०गृ० का पाठ समान है, केवल **वप्ता** के स्थान पर **वप्त्रा** पाठ है । आग्नि०गृ० में **वप्ता है, सुपेशसा** निकाल दिया गया है, **मर्चयता** के स्थान पर **वृश्चयसि** तथा **केशान्** के स्थान पर **केशश्मश्रु** (क्योंकि वहां श्मश्रु-मुण्डन का भी विधान है) पाठ है । उत्तरार्ध में **शुन्धि शिरः** के स्थान पर **वर्चय मे मुखम्** और **अस्य** के स्थान पर **मे**

पाठ है। इससे यह प्रकट है कि जिसका मुण्डन हो रहा हो, वह स्वयं मन्त्रोच्चारण करेगा। इससे गृह्यसूत्रके इस विधान का भी प्रतिषेध होता है कि स्नातक को सम्बोधित करते हुए आचार्य द्वारा इस मन्त्र का उच्चारण किया जाना चाहिये। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि गृह्यसूत्रकारों द्वारा मन्त्रों में किये गये परिवर्तनों का फल सर्वदा अधिक अच्छा नहीं होता। हि०गृ० (१।६।१०) के अनुसार इस मन्त्र का उच्चारण नापित की ओर देखते हुए किया जाना चाहिये। यहां पूर्वार्ध भा०गृ० के समान है— केवल दो पाठान्तर, वप्त्रा के स्थान पर वप्तः और केशान् के स्थान पर केशश्मश्रु हैं। उत्तरार्ध आग्नि०गृ० के सदृश है, केवल प्रथम मे निकाल दिया गया है और द्वितीय मे के स्थान पर नः पाठ है। यहां पाठ विनियोगानुकूल है क्योंकि स्नातक स्वयं अपने लिये मन्त्रोच्चारण कर रहा है। आप०गृ० ४।१०।७ (मं०पा०२।१।७) के अनुसार क्योंकि उपनयन के अन्तर्गत आचार्य स्वयं छात्र का केश-मुण्डन कर रहा है, अतः कोई अन्य व्यक्ति इस मन्त्र द्वारा उसे (आचार्य को) सम्बोधित करता है। मं०पा० का पाठ ठीक भा०गृ० के समान है। जीवन की सुरक्षा की प्रार्थना होने के कारण यह मन्त्र सभी प्रसंगों में उचित है।

कृष्णयजुर्वेद से सम्बद्ध कुछ गृह्यसूत्रों में विधान है कि मुण्डन की प्रक्रिया में भूमि पर गिरते हुए केशों का अभिमन्त्रण कर्त्ता को निम्नलिखित मन्त्र द्वारा करना चाहिये[1]:—

मा ते केशाननुगात्तेज एतत्तथा धाता'दधातु ते।
तुभ्यमिन्द्रो बृहस्पतिः सविता वर्च आदधुः॥ [५००]

तुम्हारा यह तेज केशों के पीछे पीछे न जाये। उसी प्रकार से प्रजापति तुम्हें तेज प्रदान करे। उसी प्रकार इन्द्र, बृहस्पति और सविता तुम्हें विशेष रूप प्रदान करें। दे० पा०:

यह मन्त्र त्रिष्टुभ् और गायत्री का संयोग है। प्रथम पाद (एतत् तक) त्रिष्टुभ् है और शेष मन्त्र पूर्ण गायत्री है। मैक्डॉनल ने भी इस प्रकार के संयोग का उल्लेख किया है।[2] इस मन्त्र के गृह्य-विनियोग का आधार श्रौतयाग प्रतीत होता है क्योंकि वहाँ राज्याभिषेक प्रसंग में राजा के केश उतारते समय गिरते हुए केशों को इस मन्त्र

---

१. बौ० गृ० २।४।१४, मा०गृ० १।२१।८, का० गृ० ४०।१३, वा० गृ० ४।१४— यहाँ पूर्वार्ध में तेजः के स्थान पर वर्चः और उत्तरार्ध में इन्द्रः के स्थान पर वरुणः पाठ है।

२. वै० ग्रा० स्टू०, परिशिष्ट, (पृ० ४५५)

द्वारा अभिमन्त्रित करने का विधान किया गया है।[1]

मुण्डन के पश्चात् शिरो-ग्रहण

सामवेद से सम्बद्ध गृह्य-सूत्रों में तथा वा० गृ० में यह निर्देश है कि मुण्डन-क्रिया के पश्चात् पिता को निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए शिशु के सिर को या तो अपने हाथों द्वारा पकड़ना चाहिए या उसका स्पर्श करना चाहिए :[2]—

त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम् ।
यद्देवानां त्र्यायुषं तत्ते अस्तु त्र्यायुषम् ।। [५०१]

जो जमदग्नि की त्रिगुणित आयु है, जो कश्यप की, तथा जो देवताओं की त्रिगुणित आयु है, वह त्रिगुणित आयु तुम्हें प्राप्त हो।

वा० गृ० में **तत्ते** के स्थान पर **तन्मे** तथा **त्र्यायुषम्** के स्थान पर **शतायुषम्** पाठ है और मन्त्र की दोनों पंक्तियों के मध्य **अगस्त्यस्य त्र्यायुषम्** का समावेश किया गया है। इन शब्दों का समावेश शां० गृ० (१।२८।९) में भी किया गया है। यहाँ मन्त्र का विनियोग जल द्वारा शिशु के केशों को गीला करने के लिये किया गया है। पा०गृ० २।१।१५ और भा० गृ० १।२८ में शिशु के केश काटने के समय इसके उच्चारण का निर्देश है। पा०गृ० १।१६।७ में इसे जातकर्म के अन्तर्गत एक आयुष्य मन्त्र के रूप में भी उद्धृत किया गया है। इन प्रयोगों के अतिरिक्त समावर्तन में भी मुण्डन-क्रिया के साथ साथ इसका उच्चारण होना चाहिए। आप० गृ० ५।१२।१३ (मं० पा० २।७।३) के अनुसार स्नातक के क्षौर कर्म के समय इसके द्वारा क्षुर का अभिमन्त्रण करना चाहिए। आग्नि० गृ० (१।३।२) में कहा गया है कि मुण्डन-क्रिया से पूर्व अग्नि के पश्चिम की ओर एरक घास पर बैठते हुए स्नातक को इस मन्त्र का पाठ करना चाहिए। हि० गृ० (१।९।६) में यद्यपि समावर्तन के अवसर पर ही एक आहुति के साथ इसके उच्चारण का विधान है, तथापि वहाँ मुण्डन क्रिया के साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं। मा० गृ० १।१।२४ और शां० गृ० २।१०।७ में इसे उपनयन के अन्तर्गत शिष्य द्वारा यज्ञाग्नि से गृहीत भस्म अपने शरीर पर लगाने के प्रसंग में उद्धृत किया गया है।

दीर्घायुष्य की प्रार्थना होने के कारण उपर्युक्त सभी प्रसंगों में इस मन्त्र के विनियोग का औचित्य सिद्ध ही है। जहाँ तक इसके स्रोत का प्रश्न है, इसका पूर्वार्ध अथर्व०(५।२८।७) में प्राप्त होता है। किंतु संपूर्ण मंत्र का तत्सदृश रूप वा०सं०(३।६२)

---

१. तै० ब्रा० २।७।१७।२, आप० श्रौ० २२।२८।७।

२. गो० गृ० २।९।२१ (मं० ब्रा० १।६।८), खा०गृ० २।३।२९, जै० गृ० १।११, वा० गृ० ४।२०।

में उपलब्ध है ।[1] इसके सामान्य गृह्य-विनियोग की तुलना का० श्रौ० (५।२।१६) के उस प्रयोग से की जा सकती है जहाँ दीक्षा के समय अपनी मुण्डन-क्रिया के प्रसंग में यजमान इसका उच्चारण करता है। अथर्व० में आंशिक रूप से भी इसके प्राप्त होने से इसका गृह्य-मूल सम्पुष्ट होता है।

केश-निधान

अन्त में कटे हुए केशों को एकत्र करके गोमय-पिण्ड में रखा जाता है। और इसके पश्चात् निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए गोमयसहित केशों का भूमि में निधान किया जाता है :[2]—

उप्त्वाय केशान् वरुणस्य राज्ञो बृहस्पतिः सविता सोमो अग्निः ।
तेभ्यो निधानं बहुधान्वविन्दन्नन्तरा द्यावापृथिवी अपः सुवः ।। [५०२]

बृहस्पति, सविता, सोम और अग्नि ने राजा वरुण के केशों का मुण्डन करके उनके लिये पृथ्वी और आकाश तथा जल और स्वर्ग के मध्य बहुत प्रकार का निधान-स्थान प्राप्त कर लिया है।

उपरिलिखित पाठ मं० पा० (२।१।८) का है। आप० गृ० (४।१०।८) में इसका विनियोग उपनयन के अन्तर्गत कटे हुए केशों का निधान करने के लिए किया गया है। वा० गृ० में **सोमो अग्निः** के स्थान पर **विष्णुरिन्द्रः** और **बहुधा** के स्थान पर **महद्** पाठान्तर है। हि०गृ० में उत्तरार्ध में **अन्वविन्दन्** के स्थान पर **व्यैच्छन्** पाठ है और पूर्वार्ध इस प्रकार है :—

यत्र पूषा बृहस्पतिः सविता सोमो अग्निः ।। [५०३]

इसका अनुवाद करते हुए ओल्डनबर्ग ने रहते हैं का अध्याहार किया है यथा "जहाँ पूषा आदि (रहते हैं), उन्होंने बहुत प्रकार से खोज लिया है।"[3] वस्तुतः कुछ अध्याहार किये बिना इस पाठ का भाव अपूर्ण रह जाता है। बौ० गृ० में केवल मन्त्र का तृतीय पाद उद्धृत किया गया है। मा०गृ० (१।२१।१०) और का० गृ० (४०।१५) में केशों को निधानार्थ ले जाते हुए इस मन्त्र के उच्चारण का निर्देश किया गया है। मा० गृ० में **सोमः** के स्थान पर **विष्णुः** पाठ है और उत्तरार्ध **तेभ्यो निधानं महतं न विन्दन्नन्तरा द्यावापृथिव्योरपस्युः** है। यह पाठ भ्रष्ट प्रतीत होता है।[4] **महतं न**

---

१. **त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम् ।**
यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम् ।। (दे० वा० सं० का० ३।६।४)

२. बौ० गृ० २।४।१५, हि० गृ० २।६।१३, वा० गृ० ४।२१।

३. से० बु० ई० खं ३०, पृ० २१८।

४. दे० ड्रेस्डन, मा० गृ०, अनु०, पृ० ६१ पा० टि० १४।

विंदन्, महदन्वविन्दन् का और अपस्युः, अपः सुवः का भ्रष्ट रूप लगता है। का० गृ० का पूर्वार्ध मा० गृ० के समान है—केवल बृहस्पतिः के स्थान पर धाता पाठान्तर है। उत्तरार्ध मं० पा० के समान है—केवल अपः सुवः के स्थान पर अवस्युः पाठान्तर है, और यह पाठान्तर भी अपः सुवः का भ्रष्ट रूप ही प्रतीत होता है। परन्तु अवस्युः (रक्षा का इच्छुक) स्वतंत्र रूप में भी पूर्ण है। जहाँ तक मन्त्र के स्रोत का प्रश्न है, इसका उत्तरार्ध तै० ब्रा० (२।७।१७।३) और आप० श्रौ० (२२।२८।८) में विद्यमान है। इन ग्रन्थों में भी इसका विनियोग राज्याभिषेक के अन्तर्गत राजा के कटे हुए केशों का दर्भ घास में निधान करने के लिये किया गया है। यही मन्त्र के गृह्यविनियोग का भी आधार प्रतीत होता है।

प्रवासागमन

प्रवास से लौटकर गृहपति को विशेष शास्त्रोक्त कर्मों का अनुष्ठान करके गृहप्रवेश करना चाहिए। कुछ विशेष मन्त्रों द्वारा वह घर को सम्बोधित करता है। उन मन्त्रों का विवेचन विवाह-संस्कार के अन्तर्गत गृहप्रवेश कर्म में हो चुका है। (दे० अध्याय ४, पृ० १४६-१५०)

पुत्राभिनंदन

गृहप्रवेश के पश्चात् गृहपति को अपने पुत्र के दक्षिण कर्ण में निम्नलिखित वाक्य धीरे से कहना चाहिये :[1]—

आयुष्टे विश्वतो दधत् ॥ [५०४]

ईश्वर तुम्हें सभी स्थान पर दीर्घायु प्रदान करे।

हि० गृ० (१।५।१५) में इस वाक्य का प्रयोग इसी कर्म में उपनयन के अन्तर्गत भी किया गया है। बौ० गृ० (३।७।१२)[2] में इसे आयुष्यचरु कर्म के प्रसंग में उद्धृत किया गया है। वै० गृ० (२।६) में इसका विनियोग उपनयन में आचार्य द्वारा शिष्य का हाथ पकड़कर उसे उठाने के प्रसंग में किया गया है। मूल रूप में यह तै० सं० तथा अन्य ग्रन्थों में भी उपलब्ध है।[2] इन ग्रंथों के अनुसार इसका उच्चारण दीर्घायु-प्राप्ति के निमित्त काम्येष्टि में एक आहुति के साथ किया जाना चाहिए। मन्त्र में निहित प्रार्थना और गृह्यकर्म का अभिप्राय इस श्रौत कर्म से सङ्गत है।

---

१. हि० गृ० २।४।१८, आग्नि० गृ० २।१।५, वै० गृ० ३।२२।

२. तै० सं० १।३।१४।४, तै०ब्रा० २।५।१; ७।१, भा०श्रौ० २।१०।४, आप०श्रौ० १६।२४।६।

हि० गृ० (२।४।१६) और आग्नि गृ० (२।१।५) में विधान है कि निम्न-लिखित वाक्य का पाठ करते हुए गृहपति को अपने पुत्र से गले मिलना चाहिये :—

सोमस्य त्वा द्युम्नेनाभिमृशाम्यग्नेस्तेजसा सूर्यस्य वर्चसा ॥ [५०५]

सोम की द्युति, अग्नि के तेज तथा सूर्य के प्रकाश के द्वारा मैं तुमसे गले मिलता हूँ।

पिता का अभिप्राय यह है कि मेरी इस क्रिया से तुम्हें उक्त देवताओं की उक्त विशेषतायें प्राप्त हों। वै० गृ० (३।२२) के अनुसार पिता के लौटने पर पुत्र द्वारा किसी देवालय में गुह की पूजा कर लेने पर उस (पुत्र) पर जलाभिषेक करते हुए इस वाक्य का पाठ किया जाना चाहिए। **वर्चसा** के स्थान पर यहाँ **रश्मिभिः** पाठ दिया गया है। किसी पूर्ववर्ती ग्रंथ में यह वाक्य प्राप्त नहीं होता।

तै० सं० २।३।१०।३ के मन्त्रों द्वारा इस अवसर पर शिशु के अभिमन्त्रण का विधान भी है। इन मन्त्रों का विवेचन जातकर्म के अन्तर्गत आयुष्य कर्म में किया जा चुका है। (दे० पृ० २०७-८)

गृहपति को विशेष मन्त्रों के उच्चारण के साथ पुत्र का सिर भी सूँघना चाहिए। इनमें से कुछ का विवेचन जातकर्म में हो चुका है। (दे० पृ० २१०) सामवेद-सम्बन्धी गृह्यसूत्रों तथा वा० गृ० में इस कर्म के लिये निम्नोक्त वाक्य का विनियोग किया गया है :[1]—

पशूनां त्वा हिङ्कारेणाभिजिघ्रामि ॥

मैं तुम्हें पशुओं के हिंकार से सूँघता हूँ ॥

पिता का अभिप्राय है कि मेरे सूँघने से तुम्हें हिंकार करने वाले बलिष्ठ पशुओं की शक्ति प्राप्त हो। हि० गृ० (२।४।१७) और आग्नि० गृ० (२।१।५) में भी इसी वाक्य का प्रयोग उक्त कर्म में किया गया है, परन्तु उसके आगे **असावायुषे वर्चसे हुम्** (हुतम्—आग्नि० गृ०) भी जोड़ा गया है। पा० गृ० (१।१८।३) में इसी कर्म के लिये विनियुक्त वाक्य किंचिद् भिन्न है। वह इस प्रकार है :—

प्रजापतेष्ट्वा हिङ्कारेणावजिघ्रामि सहस्रायुषासौ जीव शरदः शतम् ॥[५०६]

मैं तुम्हें सहस्र वर्ष की आयु प्रदान करने वाले प्रजापति के हिंकार से सूँघता हूँ, अमुक नाम के तुम सौ वर्ष-पर्यन्त जीवित रहो।

१. गो० गृ० २।८।२२ (मं० ब्रा० १।५।१६), खा० गृ० २।३।१४, जै० गृ० ७।१८, वा० गृ० ३।६।

ऐसा प्रतीत होता है कि भा० गृ० (१।२७) में मं० ब्रा० के वाक्य और पा० गृ० के वाक्यार्ध का संयोजन करके एक वाक्य बना दिया गया है। यद्यपि मं०ब्रा० के वाक्य में कोई परिवर्तन नहीं किया गया, परन्तु पा० गृ० के वाक्यार्ध में प्रजापते: के स्थान पर प्रजापतये और अवजिघ्रामि के स्थान पर अभिजिघ्रामि परिवर्तन किये गये हैं। तत्पश्चात् भा० गृ० में प्रजापतिस्त आयुर्दधातु स मे शतायुरेधि भूर्भुवः स्वः है।

उपर्युक्त विविध रूपों में सभी स्थलों पर इस वाक्य का उद्देश्य शिशु के लिये दीर्घायु की प्राप्ति प्रतीत होता है क्योंकि प्रजापति अथवा पशुओं का हिंकार आयुष्मान् बलवान् प्राण का प्रतीक है।

अष्टम अध्याय

उपनयन में विनियुक्त मन्त्र

गृह्यसूत्रों में वर्णित शिक्षा-सम्बन्धी संस्कारों से यह बात स्पष्ट है कि उस समय शिक्षा की सुनिश्चित पद्धति प्रचलित थी। विद्या में छात्र की दीक्षा से लेकर अवकाश, विद्या-समाप्ति इत्यादि सभी विषयों का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है।[1] इन संस्कारों में विनियुक्त मन्त्रों से तत्कालीन शिक्षा के आदर्शों पर प्रभूत प्रकाश पड़ता है। साथ ही इन मन्त्रों के अध्ययन से यह भी प्रकट होता है कि कर्म की समानता के आधार पर गृह्यसूत्रों में प्रायः विभिन्न संस्कारों के मन्त्रों का परस्पर स्थानांतरण होता था। वस्त्र-प्रदान, हृदय-देश-स्पर्श, अश्मारोहण इत्यादि कर्म विवाह और उपनयन दोनों संस्कारों में समान हैं। इसी आधार पर विवाह के मन्त्र उपनयन में अथवा उपनयन के विवाह में प्रविष्ट हो गये हैं। निस्सन्देह मन्त्र के पात्रभूत व्यक्ति के लिंग तथा वचन के परिवर्तन के अनुसार मन्त्र में भी अपेक्षित परिवर्तन करने की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। इन सभी स्थलों पर विवाह के मन्त्रों का अधिष्ठातृ-देव प्रजापति (सन्तति-पालक) है और शिक्षा सम्बन्धी संस्कारों के मन्त्रों का अधिष्ठातृ-देव बृहस्पति (बड़ों का पालक अथवा सामान्य विचारधारा के अनुसार,

---

१. इं० वै० कल्प०, अध्याय-१४।

विद्यादेव या वाणी-देव) है। शिक्षा-सम्बंधी सर्वप्रमुख संस्कार उपनयन है। इस अध्याय में उपनयन के विविध कर्मों में विनियुक्त मन्त्रों का विवेचन किया जा रहा है।

नववस्त्र-प्रदान

सभी स्थालीपाक यज्ञों की आधारभूत प्रारम्भिक आहुतियों के पश्चात् भावी छात्र को धारणार्थ अभिनव वस्त्र औपचारिक रूप से दिये जाते हैं। बालक को ये वस्त्र धारण करवाने के निमित्त अधिकांश गृह्यसूत्रों द्वारा अथर्व० २।१३।२-३, और अथर्व० १४।१।४५ का विनियोग किया गया है।[1] इन मन्त्रों का विस्तृत विवेचन द्वितीय अध्याय में किया जा चुका है। (दे० मन्त्र सं० १११-११६)

इस सम्बंध में आचार्य द्वारा नये वस्त्रों का अभिमन्त्रण करने के लिये प्रयुक्त निम्नलिखित मन्त्र का विशेष उल्लेख किया जाना चाहिए :[2]—

रेवतीस्त्वा व्यक्षणन् कृत्तिकाश्चाकृतंस्त्वा।
धियोऽवयन्नव ग्ना अवृञ्जन्त्सहस्रमन्ताँ अभितो अयच्छन्॥ [५०७]

रेवती देवताओं ने तुम्हें कूटा है—कपास के रूप में, कृत्तिकाओं (कातने वालियों) ने तुम्हें काता है। देवपत्नियों ने (मानो) बुद्धियों को बुना है; उन्होंने सूत्रों के सहस्र सिरों को पृथक् किया है और सब ओर से उन्हें थाम कर रखा है।

मन्त्र का उपर्युक्त पाठ मं० पा० से उद्धृत है। का० गृ० में **चाकृतन्** के स्थान पर **चक्रतुः**, **अवृञ्जन्** के स्थान पर **अमृजन्** और **अभितो अयच्छन्** के स्थान पर **अभितोदयच्छन्** पाठ है। इसमें प्रथम पंक्ति के अंत में **अपसस्त्वा व्यतन्वत** और दूसरी के अंत में **अशीतिमंध्यमवयन्न् नारी** जोड़ा गया है। मन्त्र के इस पाठ में छन्दोभङ्ग ही नहीं हुआ अपितु अर्थ भी किंचिद् अस्पष्ट हो गया है। कृत्तिकाः (बहु०) के साथ चक्रतुः (द्वि०) असङ्गत है।[3] भाष्यकार देवपाल की **नारीः** की **नागदेवताः** के रूप में व्याख्या से भ्रम बढ़ जाता है। किंतु उसके द्वारा दिया गया **ग्नाः** का अर्थ **देवताएँ** यास्क-प्रदत्त

१. बौ० गृ० २।५।११,१२, आप० गृ० ४।१०।१० (मं० पा० २।२।५-८), हि० गृ० १।४।२, भा० गृ० १।५, आग्नि० गृ० १।१।२, वा० गृ० ५।६, मा० गृ० १।२२।३, पा० गृ० १।४।१३, गो० गृ० २।१।१७,१८ (मं० ब्रा० १।१।५,६)।

२. का० गृ० ४१।५, आप० गृ० ४।१०।१० (मं० पा० २।२।३)।

३. यद्यपि का० गृ० के सभी भाष्यकारों ने इस मन्त्र का छन्द शक्वरी बताया है, तथापि मैक्डॉनल द्वारा निर्दिष्ट ५६ अक्षरों का नियम इस मन्त्र पर नहीं घटता। (वै० ग्रं० प्रा० स्टू०, पृ० ४४०)

अर्थ से परिपुष्ट है। यास्क ने इस शब्द के तीन अर्थ स्त्रियाँ, आपः और देवपत्नियाँ— दिये हैं।[1] कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि मं० पा० का पाठ अधिक अच्छा है। इस मन्त्र के स्रोत के विषय में का० गृ० के अपने संस्करण में कैलेण्ड ने कहा है कि प्रकट रूप में यह पैप्पलाद संहिता (काण्ड १५) है। वहाँ यह निम्न-लिखित रूप में प्राप्त होता है :—

रेवतीस्त्वा व्यक्षणं कृत्तिका चक्रतुस्त्वा अभिशस्त्वा पृतन्यतु।
धियोऽवयन्नवा ग्रा आयुर्वर्त्तम्।
सहस्रमन्त्ता अभितो रदन्ताशीतिर्मध्यमभयन्तु नारीः॥ [५०८]

इस प्रकार प्राचीनता की दृष्टि से का० गृ० का पाठ अधिक प्रामाणिक प्रतीत होता है। क्योंकि वह उपरिलिखित पाठ के अधिक निकट है। इस मन्त्र की तुलना ताण्ड्य ब्राह्मण (१।१।२) के निम्नलिखित मन्त्र से की जा सकती है :—

ग्नास्त्वा कृन्तन्नपसोऽतन्वत वयित्र्योऽवयन् वरुणस्त्वानयतु।
देवि दक्षिणे बृहस्पतये वासस्तेनामृतत्वमशीय वयो दात्रे भूयान्मयो
मह्यं प्रतिग्रहीत्रे॥ [५०९]

इस मन्त्र का विनियोग वस्त्र स्वीकार करने के लिये किया गया है। यास्क द्वारा ग्नाः के स्त्रियाँ अर्थ की पुष्टि में यह आंशिक रूप से उद्धृत किया गया है।

आप० गृ० ४।१०।१० (मं० पा० २।२।४) में वस्त्र के अभिमन्त्रण के लिये निम्नलिखित मन्त्र का भी विनियोग किया गया है :—

देवीर्देवाय परिधी सवित्रे महत्तदासामभवन्महित्त्वनम्॥ [५१०]

देवियों ने सवितृ-देवता के लिये परिधान बनाया, वह उनका बहुत अधिक महत्त्व था।

का० गृ० ४१।६ में बालक द्वारा वस्त्र-परिधान करवाने के लिये इससे मिलते जुलते निम्नलिखित मन्त्र का प्रयोग किया गया है:—

देवीर्देवाय परिधे सवित्रे
परिधत्त वर्चस इमं शतायुषं कृणुत जीवसे कम्॥

.........इसे तेजस्विता के लिये धारण करो, (हे वस्त्रो) इस बालक को सुख पूर्वक जीवित रहने के लिये शतायु बनाओ॥

---

१. नि० ३।३।२१—ग्नाः गच्छन्त्येनाः। नि० १०।४।४७—ग्नाः गमनादापो देव-पत्न्यो वा॥

यह पाठ कैलेंड के संस्करण के अनुसार है। देवपाल ने **वर्चसे** के स्थान पर **वर्चसा** पाठ स्वीकार किया है, उसके आगे **नय** जोड़ा है और **कृणुत** के स्थान पर **कृणुहि** दिया है। प्रथम पंक्ति में देवपाल के पाठानुसार **परिधे** के स्थान पर **सविता** पाठ है। इस पाठ के कारण देवपाल को **सविता** से पूर्व एक और **परिधत्त** की कल्पना करनी पड़ती है। स्वयं **सविता** (प्रथमा०) से व्याकरण-सम्बन्धी कठिनाईं उत्पन्न होती है क्योंकि इसे सम्बोधनरूप बताने के लिये देवपाल को व्यत्यय का 'आश्रय लेना पड़ा है। और एक बार फिर वह सविता की प्रथमा विभक्ति के अनुसार व्याख्या करता है। पूर्ण व्याख्या इस प्रकार है :—**हे देव्यो रेवत्याद्या इदं वासः परिधत्त परिधापयत। कस्मै। देवाय द्योतमानाय माणवकाय। त्वमपि हे माणवक परिधत्त परिधत्स्व। सविता व्यत्ययेन हे सवितः इदं वासः परिधापय सवित्रे देवतार्थाभिज्ञानस्य जनयित्रे माणवकाय। त्वमपि हे माणवक परिधत्त परिधत्स्व सविता भूत्वा॥** (हे रेवती इत्यादि देवियो इस द्युतिशील बालक को यह वस्त्र पहनाओ। हे बालक, तुम भी वस्त्र धारण करो। हे सविता, इस वस्त्र को सविता को अर्थात् देवताओं सम्बन्धी ज्ञान के जनक इस बालक को पहनाओ। हे बालक, तुम भी सविता के रूप में वस्त्र-धारण करो।) यह व्याख्या अत्यन्त दूराकृष्ट है। परन्तु कैलेण्ड द्वारा स्वीकृत पाठ में इस प्रकार की व्याख्या की आवश्यकता नहीं रहती। इस मन्त्र का स्रोत भी कैलेण्ड द्वारा पैप्पलाद संहिता (काण्ड १५) बताया गया है।

पा० गृ० (२।२।७) के अनुसार बालक को अभिनव वस्त्र पहनाते हुए आचार्य को निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये :—

येनेन्द्राय बृहस्पतिर्वासः पर्यदधादमृतम् तेन।
त्वा परिदधाम्यायुषे दीर्घायुत्वाय बलाय वर्चसे॥ [५११]

जिस कारण बृहस्पति ने इन्द्र को अमर वस्त्र पहनाया, उसी कारण मैं आयु के लिए, बल और तेजस्विता के लिए तुम्हें वस्त्र पहनाता हूँ।

गृह्यसूत्र में मन्त्र को उपर्युक्त रूप में दो भागों में विभाजित नहीं किया गया। यह विभाजन प्रत्येक भाग में अक्षरों की समान संख्या १९ के आधार पर किया गया है। इस प्रकार यह मन्त्र अनुष्टुभ् और त्रिष्टुभ् छन्दों का मिश्रण बन जाता है। प्रथम पाद (**बृहस्पतिः** तक) और तृतीय पाद (**त्वा** से **आयुषे** तक) अष्टाक्षर अनुष्टुभ् हैं तथा द्वितीय और चतुर्थ पाद एकादशाक्षर त्रिष्टुभ् हैं।

का०गृ० (४१।७) में विधान है कि बालक द्वारा वस्त्र-परिधान के पश्चात् आचार्य को कुछ विशिष्ट मन्त्रों द्वारा बालकका अभिमन्त्रण करना चाहिए। तदनुसार

जरां गच्छ इत्यादि मन्त्र (दे०मं०सं०१११) सभी वर्णों के छात्रों के लिए समान है। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य बालकों का अभिमन्त्रण क्रमशः निम्नलिखित प्रथम, द्वितीय और तृतीय मन्त्र द्वारा किया जाना चाहिये :[1]—

परीमं सोमं तेजसे महे श्रोत्राय दध्मसि ।
यथैनं जरसं नयज्ज्यो कृछ्रोत्राय जागरज्ज्योक्छ्रोत्रेऽधि जागरत् ॥ [५१२]
परीममिन्द्रमोजसे महे क्षत्राय दध्मसि ।
यथैनं जरसं नयज्ज्योक् क्षत्राय जागरज्ज्योक्क्षत्रेऽधि जागरत् ॥ [५१३]
परीमं मनुमायुषे महे पोषाय दध्मसि ।
यथैनं जरसं नयज्ज्योक् पोषाय जागरज्ज्योक् पोषेऽधि जागरत् ॥ [५१४]

हे बालक हम तुम्हें मानो सोम को तेज, पूजा और वेदज्ञान के लिये यह वस्त्र पहनाते हैं। हम यह इसलिये भी पहनाते हैं कि यह बालक को

---

१. इति परिहितवाससमनुमन्त्रयते योगे योगे युवा सुवासा इति चैताभ्याम् । सूत्र का अनुसरण करते हुए भाष्यकार ब्राह्मणबल और आदित्यदर्शन उक्त विधान करने में परस्पर सहमत हैं। परन्तु परम्परा का आपेक्षित सम्मान करते हुए देवपाल ने वस्त्र परिधान के पश्चात् बालक के अभिमन्त्रण के लिये इन मन्त्रों का विनियोग नहीं किया है। उसके अनुसार बालक को वस्त्रपरिधान के नियम का विस्तार इन तीन मन्त्रों तक है। **जरां गच्छ** इत्यादि मन्त्र सभी वर्णोंके बालकों के लिये समान हैं और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य बालकों को वस्त्र-परिधापन क्रमशः उपर्युक्त तीनों मन्त्रों से कराना चाहिए। वस्त्रपरिधान के पश्चात् बालक के अभिमन्त्रणार्थं **परीदम्** इत्यादि (मं०सं० ११६) मन्त्र है। **'योगे योगे'** इत्यादि शब्दों का सम्बन्ध अगले सूत्र से है :—

न त्वेवमाचार आचार्याणां, नापि मन्त्रलिंगमेवमिति योजनान्यथा कार्या। एकैकस्य असाधारण इत्येकैकस्य वाससः परिधापने मन्त्रत्रयम् । तत्र देवीर्देवायेत्येको वर्णत्रयसाधारणः, जरां गच्छेति द्वितीयः साधारणः परिधापने। परीममित्यादीनां त्रयाणामेकैको यथाक्रममेकैकस्यासाधारण इत्येकैकस्य त्रयः परिधापने मन्त्राः। त्रयाणामपि वर्णानां परिहितवाससामनेन (परीदमिति) अनुमन्त्रणं करोत्युपनेता। योगे योगे इत्यनेन युवा सुवासा इत्यनेन च मन्त्रेणाग्निं लक्षणीकृत्य प्रदक्षिणं यथा भवति तथा माणवकमानीय............।

निस्सन्देह देवपाल का क्रम सुविचारित है और इसलिये प्रशस्य भी, किन्तु सूत्र के पाठ को देखते हुए अन्य भाष्यकारों का मत उचित प्रतीत होता है। इस स्थिति में सूत्रकार ही दोषी हो सकता है।

वृद्धावस्था तक ले जाये। तुम चिरकाल तक वेदार्थज्ञान के लिये जागो अर्थात् उद्बुद्ध रहो। और चिरकाल तक तुम शिष्यों को वेदोपदेश दो॥ हम इन्द्र-रूप तुम्हें ओज, पूजा और सज्जनों की रक्षा के लिये यह वस्त्र पहनाते हैं।………तुम चिरकाल तक सज्जन-रक्षा के लिये जागो और चिरकाल तक सज्जन-रक्षा का उपदेश दो॥ हम मनुरूप तुम्हें आयु, पूजा और धनपुष्टि के लिये यह वस्त्र पहनाते हैं।……तुम चिरकाल तक धनपुष्टि के लिये जागो और चिरकाल तक धनपुष्टि का उपदेश दो॥ दे०पा०

ब्राह्मण और क्षत्रियों से सम्बद्ध प्रथम दो मन्त्र स्वल्प-भेद सहित अथर्व० (१९।२४।३,२) में विद्यमान हैं। अथर्व० में दोनों मन्त्रों में **तेजसे** और **ओजसे** के स्थान पर **आयुषे**, **दध्मसि** के स्थान पर **धत्तन** और **जरसं नयत्** के स्थान पर **जरसे नयाम्** पाठ है। का०गृ० के **ज्योक् श्रोत्राए (क्षत्राय) जागरत्** शब्द अथर्व० में विद्यमान नहीं हैं। इस प्रकार का०गृ० के मन्त्रों का छन्द तो पंक्ति है और अथर्व० के मन्त्रों का अनुष्टुभ्। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रथम दोनों मन्त्रों के अनुकरण पर ही तृतीय मन्त्र की भी रचना की गई। आग्नि०गृ० (१।१।२) में वस्त्र-परिधान के पश्चात् बालक को देवताओं को समर्पित करने के निमित्त भी ऐसे ही मन्त्रों का प्रयोग किया गया है। अथर्व०के समान यहाँ भी **ज्योक् श्रोत्राय जागरत्** शब्द नहीं लिये गये। जहाँ इन मन्त्रों में **सोमं तेजसे**, **इन्द्रमोजसे** इत्यादि शब्द हैं, वहाँ आग्नि०गृ० में सर्वत्र **इन्द्रं ब्रह्मणे** पाठ दिया गया है। इसके अतिरिक्त **जरसं नयत्** के स्थान पर **जरिमणे यः** पाठ है। हि०गृ० (१।४।८) और आग्नि०गृ० में इन मन्त्रों के विनियोग और पाठ के विषय में पूर्ण समानता है।

यज्ञोपवीत

यज्ञोपवीत और उपवीत दोनों समानार्थक हैं। प्राचीन साहित्य में उपवीत शब्द अधिक प्रचलित है। यह प्राय: कपास का सूत्र होता है और इस प्रकार पहना जाता है कि बायें कन्धे के ऊपर से होकर यह दाहिने पार्श्व में लटकता रहे। परन्तु पितरों से सम्बद्ध कर्मों में इसे विपरीत विधि से पहना जाता है, और उस समय इसे धारण करने वाले को प्राचीनावीती कहते हैं। यज्ञों के समय विशेष रूप से इस सूत्र का धारण करना अनिवार्य माना गया है।[1] बौधायन और पारस्कर के अनुसार यज्ञोपवीत धारण करते हुए बालक को निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये[2] :—

---

१. यज्ञोपवीत पर विस्तृत विवेचनार्थ, दे० इं० वै० कल्प०, पृ० ३१६ पर टि० २१।
२. बौ०गृ० २।५।७, पा०गृ० २।२।१० (यह पा०गृ० के मूल पाठ में नहीं, अपितु प्रक्षेप में दिया गया है।)

यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत् सहजं पुरस्तात् ।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः ।। [५१५]

जो परम पवित्र यज्ञोपवीत पहले प्रजापति का सहजात था, उस दीर्घायु प्रदान करने वाले, प्रमुख, शोभन यज्ञोपवीत को धारण करो। तुम्हें बल और तेज प्राप्त हो।

वै०गृ० (२।५) के अनुसार इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए आचार्य को शिष्य को यज्ञोपवीत प्रदान करना चाहिये। इस मन्त्र में यज्ञोपवीत से दीर्घायु, बल और तेज प्राप्त करने की प्रार्थना की गई है। इससे यह प्रतीत होता है कि तत्कालीन शिक्षा-पद्धति का उद्देश्य संतुलित था जिसमें शरीर और बुद्धि के समान विकास का प्रयत्न किया जाता था। कैलेण्ड के अनुसार इसका स्रोत काठक आरण्यक है।[1]

कुछ गृह्यसूत्रों में यज्ञोपवीत के लिये अधोलिखित वाक्य का विनियोग किया गया है[2] :—

यज्ञोपवीतमसि यज्ञस्य त्वोपवीतेनोपनह्यामि ।। [५१६]

तुम यज्ञोपवीत हो, तुम्हें यज्ञ के सूत्र से बाँधता हूँ।

गृह्यसूत्रों में इस वाक्य के पाठान्तर हैं। वा०गृ० में **यज्ञोपवीतम्** के स्थान पर **उपवीतम्** और **उपनह्यामि** के स्थान पर **उपव्ययामि** पाठ है। पा०गृ० में **उपवीतेन** के स्थान पर **यज्ञोपवीतेन** पाठ है। कौ०गृ० में यह वाक्य निम्नलिखित रूप में प्राप्त होता है :—

यज्ञस्योपवीतेनोपव्ययामि दीर्घायुत्वाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय ।
सर्वेषां वेदानामाधिपत्याय यशसे ब्रह्मवर्चसाय त्वा ।। [५१७]

मैं तुम्हें दीर्घायु, सत्सन्तति, वीरता, सब वेदों पर अधिकार, यश और ब्रह्मतेज के लिये यज्ञ के सूत्र से बाँधता हूँ।

कौ०गृ० के समान ऋग्वेद से सम्बन्ध न होने पर भी आग्नि०गृ० में इस वाक्य का लगभग ऐसा ही रूप प्राप्त होता है। उसमें **आधिपत्याय** और **यशसे** के मध्य **श्रिये** और **यशसे** तथा **ब्रह्मवर्चसाय** के मध्य **ब्रह्मणे** शब्द हैं। सम्भवतया दो विभिन्न संहिताओं से सम्बद्ध गृह्यसूत्रों में इस वाक्य के विषय में समानता का कारण यह है

---

१. दे०वै०स्मृ० (अनु०), पृ० ४५ पर टि० २०।

२. शां०गृ० २।२।३, वा०गृ० ५।८, कौ०गृ० २।१।३१, आग्नि०गृ० २।४।६, पा०गृ० २।२।१० (दे०पृ० २५६ पर टि० २)

कि यह वाक्य पूर्णतया गृह्य-परम्परा का अंग है। यह किसी संहिता में उपलब्ध नहीं। न ही ब्राह्मणों, आरण्यकों में इसकी उपस्थिति का संकेत मिलता है।

वै० गृ० (२।५) में बालक को यज्ञोपवीत प्रदान करने के लिये इससे मिलते-जुलते निम्नलिखित वाक्य का विनियोग भी किया गया है :—

त्वमस्मै प्रतिमुञ्चाम्यायुषा ब्रह्मवर्चसा
चैनद् यज्ञोपवीतं ददामि ते ॥ [५१८]

प्रथम दोनों शब्दों (त्वम् और अस्मै) की व्याख्या दुष्कर है। यदि इन दोनों को एक शब्द माना जाये तो यह युष्मद् शब्द से अन्य सर्वनाम शब्दों के चतुर्थी एक-वचन के अनुकरण पर बना रूप प्रतीत होता है। कैलेंड के अनुवाद से भी इस बात की पुष्टि होती है।[1]

मेखला — तगड़ी

यज्ञोपवीत के पश्चात् आचार्य शिष्य के कटिप्रदेश के चारों ओर तीन चक्कर देकर मेखला बाँधता है। केवल आ० गृ० को छोड़कर सभी गृह्यसूत्रों में इस कर्म के लिये स्वल्प पाठांतर सहित निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है[2]:—

इयं दुरुक्तात् परिबाधमाना शर्म वरूथं पुनती न आगात् ।
प्राणापानाभ्यां बलमाभरन्ती प्रिया देवानां सुभगा मेखलेयम् ॥ [५१९]

दुर्वचन अर्थात् निन्दा से बचाती हुई, शरण और संरक्षण को पवित्र करती हुई यह हमारे पास आई है। प्राण और अपान से बल स्थापित करती हुई यह सुन्दर मेखला देवों को प्रिय है।

मन्त्र का यह पाठ मं० पा० से उद्धृत है। और कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध अधिकांश गृह्यसूत्रों में मन्त्र का पाठ इससे मिलता जुलता है। हि० गृ०, मा० गृ० और आग्नि० गृ० में इयम् के स्थान पर या पाठ है। हि० गृ० और आग्नि० गृ० में दुरुक्तात् के स्थान पर दुरितात् (दुरिता हि० गृ०) आभरन्ती के स्थान पर आवहन्ती और प्रिया के स्थान पर स्वसा पाठान्तर हैं। हि० गृ० में शर्म और वरूथम् को

---

१. वै० स्मृ० (अनु०) पृ० ४५।

२. गो० गृ० २।१०।३३ (मं० ब्रा० १।६।२७), खा० गृ० २।४।२०, जै० गृ० १२।८, आप० गृ० ४।१०।११ (मं० पा० २।२।९), हि० गृ० १।४।४, आग्नि० गृ० १।१।२, मा० गृ० १।६, बौ० गृ० २।५।१३, वै० गृ० २।५, शां० गृ० २।२।१, पा० गृ० २।२।८, मा० गृ० १।२२।१०, का० गृ० ४१।११, वा० गृ० ५।७।

मिलाकर शर्मवरूथे (द्वंद्व समास) बना दिया गया है। भा०गृ० में मन्त्र का यह रूप है:—

या बृहती दुरिता रराणा शर्म वरूथं पुनती न आगात्।
प्राणापानाभ्यां बलमाभरन्ती स्वसा देवानां सुभगा मेखलेयम्॥ [५२०]

इस प्रकार यह पाठ कई गृह्यसूत्रों के पाठ का सम्मिश्रण है। मा०गृ०, वा०गृ० और का०गृ० में **शर्म वरूथम्** के स्थान पर **वर्णं पवित्रम्** (मा०गृ०—पुराणम्) आभरन्ती के स्थान पर **आभजन्ती**, **प्रिया देवानाम्** के स्थान पर **शिवा** (**सखा** का०गृ०) **देवी** पाठान्तर हैं। मा० गृ० में **देवी** के पश्चात् **सुभगे मेखले मा रिषाम** पाठ है। सम्भवतया मा० गृ० के रचयिता ने पूर्वमन्त्र (दे० नीचे) के साथ अन्त्यानुप्रास मिलाने का प्रयत्न किया। परन्तु इससे एक शब्द **रिषाम** के आधिक्य के कारण मन्त्र में छन्दोभङ्ग हो गया है। सामवेदीय गृह्यसूत्रों में से केवल जै० गृ० में मन्त्र का पाठ मं० पा० के समान है। मं० ब्रा० और खा० गृ० में **शर्म वरूथम्** के स्थान पर **वर्णं-पवित्रम्**, **आभरन्ती** के स्थान पर **आहरन्ती** और **प्रिया** के स्थान पर **स्वसा** पाठ हैं। वस्तुत: **आभरन्ती** और **आहरन्ती** एक ही शब्द के दो रूप हैं क्योंकि वेद में लौकिक संस्कृत के हृ का प्राय: भृ रूप प्राप्त होता है।[1] शां०गृ० में मन्त्र का पूर्वार्ध मं०ब्रा० के समान है। उत्तरार्ध में **आभरन्ती** के स्थान पर **आविशन्ती** और **प्रिया** के स्थान पर **सखा** पाठ है। पा०गृ० में भी मन्त्र का पूर्वार्ध इसके समान है, मात्र भेद **दुरुक्तात्** के स्थान पर **दुरुक्तम्** और **नः** के स्थान पर **मे** है। उत्तरार्ध में **आभरन्ती** और **प्रिया** के स्थान पर क्रमश: **आदधाना** और **स्वसा** पाठ है। परन्तु विविध गृह्यसूत्रों में मन्त्र के इन पाठान्तरों के होने पर भी सामान्यतया उसका भाव अपरिवर्तित रहता है। मन्त्र के इतने अधिक पाठान्तरों का कारण सम्भवतया यह है कि यह गृह्य परम्परा का ही मन्त्र है तथा अन्यत्र अनुपलब्ध है।

कुछ गृह्यसूत्र इसी प्रसङ्ग में निम्नलिखित मन्त्र भी उद्धृत करते हैं[2] :—

ऋतस्य गोप्त्री तपसस्तरुत्री घ्नती रक्षः सहमाना अरातीः।
सा नः समन्तमभिपर्येहि भद्रे धर्तारस्ते सुभगे मेखले मा रिषाम॥ [५२१]

नियम की रक्षक, तपस्या को सफल करने वाली, राक्षसों का संहार करने वाली, शत्रुओं को सहन करने वाली, वह तुम हमारे चारों ओर आ

---

१. हृग्रहोर्भश्छन्दसि—दे०वै०ग्रा०स्द्ध०, पृ०१३।
२. ग्रो०गृ०२।१०।३८ (मं०ब्रा० १।६।२८) खा०गृ०२।४।२०, जै०गृ०१२।८, बौ०गृ० २।५।१४, मा०गृ०१।२२।७, का०गृ०४१।११, वा०गृ०५।७, आप०गृ०४।१०।११ (मं०पा०२।२।१०), वै०गृ०२।५।

जाओ। हे! कल्याणमयी, सुन्दर मेखले! तुम्हें धारण करने वाले हम हिंसित न हों।

मा०गृ० में मन्त्र का यह पाठ दिया गया है। तदनुसार आचार्य से मेखला ग्रहण करते हुए शिष्य इसका उच्चारण करता है। वा०गृ० में केवल पाठभेद नः के स्थान पर **मा** और **अभिपर्येहि** के स्थान पर **अनुपर्येहि** है। का०गृ० में **अराती:** के स्थान पर **अरातिम्**, **अभिपर्येहि भद्रे धर्तार:** के स्थान पर **अनुपरेहि भद्राय भर्तार:** पाठ है और **सुभगे** अविद्यमान है। मं०पा० में भी मन्त्र का उत्तरार्ध (अनुपर्येहि के स्थान पर अनुपरीहि को छोड़कर) का०गृ० जैसा है। इसका पूर्वार्ध (तरुत्री के स्थान पर परस्पी पाठभेद के साथ) मा०गृ० के समान है। पूर्वार्ध का यह पाठ जै०गृ० में भी विद्यमान है। उत्तरार्ध में जै०गृ० में मा०गृ० का **अभिपर्येहि** पाठ रखा गया है, किन्तु **नः समन्तम्** के स्थान पर **मा समन्तात्** दिया गया है। मं०ब्रा० में भी पाठ (तरुत्री के स्थान पर परस्वी को छोड़कर) मा०गृ० के ही समरूप है। कुल मिलाकर इन पाठान्तरों से मन्त्र के भाव में कोई अन्तर नहीं आता। इस मन्त्र के भी इतने अधिक पाठान्तरों का कारण सम्भवतया इसका पूर्णतया गृह्य परम्परा पर आधारित होना है। प्राग्-गृह्यसूत्र साहित्य में यह अनुपलब्ध है। इस मन्त्र में मेखला को नियम-रक्षक और तपस्या को सफल करने वाली कहा गया है। इससे नियम-पालन और तपस्या ये दोनों शिक्षा के आदर्शों के रूप में हमारे सम्मुख आते हैं।

मा०गृ०, पा०गृ० और भा०गृ० में बालक के कटिप्रदेश पर मेखलाबन्धन के लिये निम्नलिखित मन्त्र (ऋ० ३।८।४) का विनियोग किया गया है :[१]—

युवा सुवासा परिवीत आगात् स उ श्रेयान् भवति जायमानः।
तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो मानसा देवयन्तः॥ [५२२]

शोभन वस्त्र धारण किये हुए, नित्यतरुण यह ब्रह्मचारी इस शरीर को प्राप्त हुआ है। वह बढ़ता हुआ उन्नत होता है। उसे बुद्धिमान् क्रान्तदर्शी विद्वान् अपनी शोभन बुद्धि के द्वारा एकाग्र मन से देवयोग्य कर्म करते हुए उन्नति(मोक्ष) प्राप्त करवाते हैं। दे०पा०

प्रस्तुत प्रसंग में इस मन्त्र के विनियोग का प्रमुख आधार **युवा** और **जायमानः** शब्द प्रतीत होते हैं, क्योंकि जहाँ उपनयन संस्कार युवा छात्र से सम्बद्ध है, वहाँ इससे ही बालक का एक नये जन्म में प्रवेश भी माना जाता है और इसी कारण उसे द्विज कहा जाता है। मेखला-बन्धन-प्रसंग में **परिवीतः** (चारों ओर से बद्ध) शब्द ने भी

१, मा०गृ० १।२२।८, पा०गृ० २।२।६, भा०गृ० १।८।

प्रमुख आधार का कार्य किया प्रतीत होता है। उपनयन संस्कार में ही अन्य कर्मों में भी इस मन्त्र का प्रयोग किया गया है। का०गृ० (४१।७) में आचार्य द्वारा उपहृत वस्त्र के परिधान के पश्चात् बालक के अभिमन्त्रणार्थ इसे उद्धृत किया गया है। इस प्रसंग में सम्भवतया सुवासाः शब्द ने विनियोग की प्रेरणा दी होगी। आ०गृ० (१।२०।६, १०) में इसके दोनों भागों का पृथक्-पृथक् विनियोग किया गया है। तदनुसार पूर्वार्ध के द्वारा आचार्य शिष्य को बायें से दायें मोड़ता है —यहाँ चारों ओर घूमने के भाव से युक्त परिवीतः शब्द का आधार रहा होगा। और उत्तरार्ध के द्वारा आचार्य अपने दोनों हाथों को शिष्य के कन्धों के ऊपर से ले जाकर उसके हृदय-देश का स्पर्श करता है। यहाँ कर्म के साथ मन्त्र का विशिष्ट सम्बंध स्पष्ट दृष्टिगोचर नहीं होता। सम्भवतया रचयिता के मस्तिष्क में मनसा शब्द रहा हो क्योंकि बहुधा मन से हृदय का अर्थ भी लिया जाता है। पा०गृ० (२।६।२५) में समावर्तन संस्कारमें भी इसे प्रयुक्त किया गया है। वहाँ अपने सिर पर उष्णीष बाँधे जाने के समय स्नातक द्वारा इसके उच्चारण का विधान है। यहाँ भी परिवीतः(चारों ओर बँधा हुआ) का भाव सर्वप्रमुख प्रतीत होता है।

पूर्ववर्ती साहित्य में भी बाँधने या लपेटने की क्रिया में इसका विनियोग किया जाता था। शोभनवस्त्रधारी युवक के रूप में वर्णित यूप(यज्ञस्तम्भ) से यह सम्बद्ध था। सर्वानुक्रमणी के अनुसार एतत्सम्बन्धी ऋग्वेदीय सूक्त का अधिष्ठातृ-देव यूप ही है। मैत्रायणी(४।१३।१)और काठक (१५।१२) संहिताओं में भी यज्ञस्तम्भ के शुद्धिकर्म के अन्तर्गत यह मन्त्र उद्धृत किया गया है। ब्राह्मणों और श्रौतसूत्रों के अनुसार यजमान को पशुयाग में यज्ञस्तम्भ के लपेटे जाने के समय इस मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये।[1] अतः गृह्यसूत्रों में (मेखला के) लपेटने या बाँधने की क्रिया से इसके सम्बन्ध की पुष्टि पूर्ववर्ती साहित्य से हो जाती है। सम्भवतः इसके श्रौत-विनियोग के आधार पर ही इसके विविध गृह्य-विनियोग हुए हैं। इस मन्त्र से शिक्षा द्वारा सर्वविध उन्नति का लक्ष्य प्रतीत होता है।

का० गृ० (४१।११) और कौशिक० (५६।१) द्वारा विनियुक्त निम्नलिखित मन्त्र मेखला-बन्धन प्रसङ्ग के लिये उपयुक्ततम प्रतीत होता है :—

श्रद्धाया दुहिता तपसोऽधि जाता स्वस ऋषीणां भूतकृतां बभूव।
सा नो मेखले मतिमाधेहि मेधामथो नो धेहि तप इन्द्रियं च ॥ [५२३]

---

1. ऐ०ब्रा० २।२।१६, तै०ब्रा० ३।६।१।३, आ०श्रौ० ३।१।६ तै०ब्रा०—स्वाध्यः के स्थान पर स्वाधियः—छन्दःसंशोधन, ऋग्वेद में भी जात्य-स्वरित का सुआधिअः उच्चारण करके छन्दःपूर्ति हो जाती है।

तपस्या से उत्पन्न हुई श्रद्धा की कन्या प्राणियों की सृष्टि करने वाले ऋषियों की भगिनी है । हे मेखले, वह तुम हम में बुद्धि, मेधा और हमारी तपस्या तथा शक्ति स्थापित करो ॥

मन्त्र का यह पाठ अथर्व० (६।१३३।४) में से उद्धृत है । इस मन्त्र वाले सूक्त का विषय मेखला-बन्धन-कर्म है । इस प्रकार शिक्षा सम्बन्धी उपनयन संस्कार के उपर्युक्त बुद्धि, मेधा, तपस्या और शक्ति की प्रार्थना के अतिरिक्त इस मन्त्र का गृह्य-विनियोग सुदृढ़ तथा प्राचीन परम्परा पर आधारित है । का० गृ० में इसके कुछेक पाठान्तर हैं । **स्वस ऋषीणाम्** के स्थान पर **स्वसर्षीणाम्** वस्तुतः सन्धि का ही दूसरा रूप है, **भूतकृताम्** के स्थान पर **मन्त्रकृताम्** पाठ है, और उत्तरार्ध में द्वितीय **धेहि** से पूर्व **सा मा मेखले परिरेरिहस्व मयि** पाठ है । इस परिवर्तन से उत्तरार्ध में जगती के स्थान पर त्रिष्टुभ् छन्द बन गया है । देवपाल के अनुसार **परिरेरिहस्व** में लिह् धातु है । ल और र की ध्वनि का प्रायः परस्पर-विनिमय हो जाता है (रलयोरभेदः) ।

अजिन अथवा पशु-त्वचा

विभिन्न वर्णों के शिष्यों के लिये विभिन्न पशुओं की त्वचा का विधान है । कुछ गृह्यसूत्रों में शिष्य को त्वचा के उपहरण के अवसर पर किसी मन्त्र का विनियोग नहीं किया गया । अधिकांश गृह्यसूत्रों में इस प्रसंग में निम्नलिखित मन्त्र उद्धृत किया गया है :[1]—

मित्रस्य चक्षुर्धरुणं बलीयस्तेजो यशस्वि स्थविरं समिद्धम् ।
अनाहनस्यं वसनं जरिष्णु परीदं वाज्यजिनं दधेऽहम् ॥ [५२४]

मित्र के चक्षुरूप, धारणशील, बलिष्ठ, तेजस्वी, यशस्वी, स्थायी, दीप्ति-युक्त, अविनाशी, चिरकाल पश्चात् जीर्ण होने वाले वस्त्ररूप शक्तिशाली अजिन (मृग-त्वचा) को मैं अपने चारों ओर धारण करता हूँ ।

मन्त्र का यह पाठ पा० गृ० से उद्धृत है । आग्नि० गृ० में **दधेऽहम्** के स्थान पर **दधत्स्व** पाठ है । इसी प्रकार हि० गृ० में इस स्थान पर **धत्स्व** है और **बलीयः** के स्थान पर **धरीयः** पाठ है । आर० सामशास्त्री द्वारा सम्पादित वा० गृ० में मन्त्र का पाठ पा० गृ० के समान है । किन्तु डॉ० रघुवीर द्वारा सम्पादित वा० गृ० में **धरुणम्** के स्थान पर **धरणम्**, **समिद्धम्** के स्थान पर **च धृष्णु**, **जरिष्णु** के स्थान पर

---

१. पा०गृ० २।२।१०, बौ०गृ० २।५।१६, आप०गृ० ४।१०।११, (मं०पा०२।२।११), हि०गृ० १।४।६, मा०गृ० १।६, आग्नि०गृ० १।१।२, का०गृ० ४१।१३, वा०गृ० ५।१९, वै०गृ० २।५, शां०गृ० २।१।३०।

चरिष्णु पाठान्तर हैं और **वाज्यजिनम्** को **वाज्यम् वाजिनम्**- दो पृथक् शब्दों के रूप में दिया गया है। यह वाजिनम् भ्रष्ट पाठ प्रतीत होता है क्योंकि इसके कारण मन्त्र में से अजिन शब्द का पूर्ण लोप हो जाता है। शां० गृ० और का० गृ० में **समिद्धम्** और जरिष्णु के स्थान पर क्रमशः **समृद्धम्** और **चरिष्णु** पाठ हैं। किर्स्ते के अनुसार समिद्धम् समृद्धम् का ही प्राकृतिक रूप है (हि० गृ० १।४।६ पर टि०)। परन्तु यह कल्पना करना अनावश्यक है क्योंकि समिद्ध शब्द की व्युत्पत्ति एक स्वतंत्र धातु (इन्ध्) से मानी जाती है। और प्रसंग के अनुसार भी इस धातु से इसकी व्युत्पत्ति अधिक संगत है क्योंकि अजिन का उल्लेख मित्र-सूर्य के (दीप्तियुक्त) नेत्र के रूप में किया गया है। का० गृ० में **बलीयः** के स्थान पर **बलाय** और **अहम्** के स्थान पर **अयम्** पाठान्तर भी हैं।

इस मन्त्र का पूर्ववर्ती स्रोत उपलब्ध नहीं होता। शां० गृ० में इसके विनियोग के विषय में कोई विधान नहीं हैं। इससे पूर्ववर्ती सूत्र में कहा गया है कि 'आचार्य को खड़े होकर खड़े हुए शिष्य का उपनयन करना चाहिये।' परन्तु आगामी सूत्र (२।२।१) में शिष्य की कमर पर मेखला-बन्धन का निर्देश है। अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि यह मन्त्र अजिन-प्रदानार्थ ही रखा गया है। इस अनुमान की पुष्टि इस बात से भी होती है कि मन्त्र के पश्चात् **इति** के अभाव में इसका सम्बन्ध पूर्ववर्ती सूत्र से नहीं जोड़ा जा सकता।

एक मात्र कौ० गृ० (२।१।३५) में शिष्य को पशु-त्वचा उपहृत करने के प्रसंग में निम्नलिखित मन्त्र (ऋ० १।२८।९) उद्धृत किया गया है :—

उच्छिष्टं चम्वोर्भर सोमं पवित्र आ सृज।
नि धेहि गोरधि त्वचि॥ [५२५]

हे विशेष ऋत्विग् (अथवा हरिश्चन्द्र) सोम के दोनों अधिषवण फलकों में से पिसने से बचे हुए सोम को शकट के ऊपर ले आओ। पिसे हुए सोम को दशा-पवित्र (छलनीरूप वस्त्र के छोर) में लाकर डालो और बचे हुए सोम को ऋषभ-चर्म पर रख दो॥ सा०

सर्वानुक्रमणी में चर्म (त्वचा) को इस मन्त्र का देवता बताया गया है। या तो इसके कारण या मन्त्र में आये **त्वचि** शब्द के कारण सम्भवतया कौ० गृ० में उक्त प्रसंग में इसका विनियोग किया गया है। सर्वानुक्रमणी के **चर्म** से वस्तुतः अधिषवण चर्म का अभिप्राय है। यह चर्म सोम पीसने के काम आने वाले पत्थर पर चिपकाया जाता था।[1] विनियोग के प्रसंग से इस मन्त्र का कोई स्पष्ट सम्बन्ध

1. वै० इं०, खं० १, पृ० २० **अधिषवण** पर टिप्पणी।

प्रतीत नहीं होता।

दण्ड

हि० गृ० (१।७।१४) और आग्नि० गृ० (१।१।४) में विधान है कि आचार्य को निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए शिष्य को एक दण्ड प्रदान करना चाहिए :—

अग्निष्ट आयुः प्रतरां कृणोतु अग्निष्टे पुष्टिं प्रतरां दधातु।
इन्द्रो मरुद्भिरिह ते दधात्वादित्यस्ते वसुभिरा दधातु॥ [५२६]

अग्नि तुम्हारी आयु बहुत अधिक करे, अग्नि तुम्हें बहुत अधिक पोषण प्रदान करे। मरुतों के साथ इन्द्र, तथा वसुओं के साथ आदित्य इस अवसर पर तुम्हें आयु और पोषण प्रदान करें॥

वै० गृ० (२।८) में मन्त्र के दोनों भागों का पृथक् विनियोग किया गया है। पूर्वार्ध का उच्चारण करते हुए आचार्य शिष्य को एक दण्ड और उत्तरार्ध के साथ एक भिक्षा-पात्र प्रदान करता है। उत्तरार्ध के विनियोग में वै० गृ० का रचयिता सम्भवतया हि० गृ० के विधान से भ्रान्त हो गया क्योंकि वहाँ इस सम्पूर्ण मन्त्र द्वारा दण्ड के पश्चात् शिष्य को भिक्षा-पात्र देने को कहा गया है। हि० गृ० में भिक्षापात्र-प्रदान के अवसर पर किसी मन्त्र का विनियोग नहीं किया गया। वै० गृ० में उत्तरार्ध का पाठ मं० पा० (२।४।४) के मन्त्र के निम्नलिखित उत्तरार्ध के समान है :—

इन्द्रो मरुद्भिर्ऋतुधा कृणोत्वादित्यैस्ते वसुभिरा दधातु॥

मं०पा०के मन्त्र का पूर्वार्ध हि०गृ०के मन्त्र के पूर्वार्ध के ठीक समान है। केवल कृणोतु और दधातु का परस्पर स्थानपरिवर्तन हो गया है। आप० गृ० (४।११।६) में इस मन्त्र का विनियोग उपनयन की एक सामान्य आहुति के लिए किया गया है। वस्तुतः यह सामान्य प्रयोग अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है क्योंकि मन्त्र में दण्ड का कोई विशेष उल्लेख नहीं है।

शां० गृ० (२।६।२) में विधान है कि आचार्य को ऋ० ५।५१।११-१५, पाँच मन्त्रों का उच्चारण करते हुए शिष्य को दण्ड-प्रदान करना चाहिए। इस मन्त्र-समूह के प्रारम्भिक शब्द ये हैं :—

स्वस्ति नो मिमीतामश्विना भगः॥ [५२७]

अश्विन् और भग हमारे लिए कल्याण का विस्तार करें॥

ये पाँचों मन्त्र **स्वस्तिवाचन मन्त्रों** के नाम से प्रसिद्ध मन्त्रों का अंग हैं। इन सभी में विभिन्न देवताओं से सामान्य कल्याण की प्रार्थना की गई है। परन्तु इसमें

कोई संदेह नहीं कि केवल दण्ड-दान-कर्म के साथ इनका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। किसी भी कर्म में इनका विनियोग निस्संकोच किया जा सकता था।

आचार्य द्वारा दण्ड-दान के पश्चात् शिष्य निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए उसे स्वीकार करता है[1]:—

सुश्रवः सुश्रवसं मा कुरु यथा त्वं सुश्रावः सुश्रवा अस्येवमहं सुश्रवः सुश्रवा भूया संयथा त्वं सुश्रवो देवानां निधिगोपोऽस्येवमहं ब्राह्मणानां ब्रह्मणो निधिगोपो भूयासम् ॥ [५२८]

हे शोभन कीर्तियुक्त (दण्ड), मुझे शोभन कीर्तियुक्त बना दो, हे शोभनकीर्ति! जिस प्रकार तुम शोभनकीर्ति हो, उसी प्रकार हे शोभनकीर्ति! मैं भी शोभनकीर्ति हो जाऊँ, हे शोभनकीर्ति! जिस प्रकार तुम देवों के कोष-रक्षक हो, उसी प्रकार मैं भी ब्राह्मणों और वेद का कोष-रक्षक हो जाऊँ॥

मन्त्र का यह पाठ मं०पा० में से उद्धृत है। अन्य गृह्यसूत्रों में इसके पाठान्तर हैं। वा०गृ० ने इसमें तीन विराम दिये हैं—प्रथम **कुरु** के पश्चात्, द्वितीय **सुश्रवा भूयासम्** के पश्चात् और तृतीय अन्त में। इसके अतिरिक्त **देवानाम्** से पूर्व **सुश्रवः** का इसमें अभाव है, इसके आगे **वेदस्य** जोड़ा गया है और **ब्राह्मणानाम्** के स्थान पर **मनुष्याणाम्** पाठ है। **मनुष्याणाम्** पाठ से भाव में औदार्य आ गया है। मं०ब्रा० में यह छन्दोबद्ध रूप में दिया गया है। पद्य का पूर्वार्ध ऊपर के **त्वं सुश्रवः सुश्रवाः** तक तत्समान है। उत्तरार्ध **देवेष्वेवमहं सुश्रवः सुश्रवा ब्राह्मणेषु भूयासम्** है। गो०गृ० के अनुसार शिष्य को दण्ड-प्रदान करने के पश्चात् आचार्य उससे इस मन्त्र का उच्चारण करवाता है। कौशिक० में मन्त्र का निम्नलिखित रूप प्राप्त होता है:—

सुश्रवः सुश्रवसं मा कुर्ववक्रो ऽ विथुरो ऽ हं भूयासम् ॥ [५२९]

.........मैं अकुटिल, और अयाचक हो जाऊं।

का०गृ (४१।२२) में विधान है कि दण्ड को अपने हाथ में लेकर आचार्य को उसकी छाया में शिष्य द्वारा इस मन्त्र का उच्चारण करवाना चाहिये। द्वितीय **यथा** से आरम्भ होने वाला मन्त्रांश मं०पा० के पाठ के बहुत समान है। केवल **देवानाम्** और **ब्रह्मणः** के पश्चात् **वेदस्य** जोड़ा गया है। द्वितीय **यथा** से पूर्व का मन्त्रांश इस प्रकार है:—

सुश्रवः सुश्रवा असि यथा त्वं सुश्रवा अस्येवं मा सुश्रवः सौश्रवसं कुरु ॥

---

१. आप०गृ० ४।११।१५ (मं०पा० २।५।१), वा० गृ० ५।२७, गो० गृ० २।१०।३७ (मं० ब्रा० १।६।३१), खा० गृ० २।४।२६, कौशिक० ५६।३।

मन्त्र के उपरिलिखित सभी रूपों में कीर्ति और वेदों की रक्षा के सामर्थ्य की प्रार्थना सर्वसामान्य है। सम्भवतया (वेदों की) रक्षा के इस विचार से ही प्रस्तुत प्रसंग में इसके विनियोग की प्रेरणा मिली होगी क्योंकि शारीरिक रक्षा करने के कारण दण्ड को रक्षा का प्रतीक माना जा सकता है।

कुछ गृह्यसूत्रों में इस मन्त्र का विनियोग मेधाजनन कर्म में भी किया गया है। तदनुसार शिष्य द्वारा नवनीत से पलाश वृक्ष के लेप के(आ०गृ० के अनुसार वृक्ष-सेचन के) अवसर पर आचार्य को उससे इसका उच्चारण करवाना चाहिये।[1] यहाँ भी वृक्ष के अंशभूत दण्ड का भाव विद्यमान है। बौ०गृ० को छोड़कर ये गृह्यसूत्र इस मन्त्र के पाठ में का०गृ० के सन्निकट हैं। बौ०गृ० का साम्य मं०पा० से है। मा०गृ० में केवल पाठभेद **वेदस्य** के स्थान पर **वेदानाम्** और **ब्राह्मणानाम्** के स्थान पर **मनुष्याणाम्** है। इसके अतिरिक्त इसमें सम्पूर्ण मन्त्र को दो मन्त्रों में विभाजित किया गया है। एक तो का०गृ० के समान **कुरु** तक और दूसरा शिष्टांश। आ०गृ० में **त्वम्** और **सुश्रवाः** के मध्य **सुश्रवः** है और प्रथम **वेदस्य** के स्थान पर **यज्ञस्य** पाठ है। मा०गृ० के समान ही यहाँ भी **मनुष्याणाम्** पाठ दिया गया है। भा०गृ० का पाठ प्रथम **यथा** तक मं०पा० के समान है और तत्पश्चात् आ०गृ० के समान। मात्र भेद यह है कि दोनों स्थानों पर का०गृ० के **वेदस्य** के स्थान पर **वेदेषु** पाठ है और **ब्रह्मणः** का अभाव है। परन्तु ये पाठान्तर नगण्य हैं क्योंकि अर्थ अपरिवर्तित ही रहता है। निस्सन्देह मेधाजनन के साथ **वेद-रक्षक** की बात अधिक सङ्गत है।

पा० गृ० (२।४।२) में इस मन्त्र का विनियोग समिदाधान में किया गया है। तदनुसार समिधाओं के आधान से पूर्व शिष्य को इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए ईंधन रख कर अग्नि प्रज्वलित करनी चाहिए। गृह्यसूत्रकार ने इस बात का विशेष ध्यान रखा है कि मन्त्र का सम्बन्ध अग्नि के साथ है, और तदनुसार आरम्भ में और प्रत्येक **त्वम्** के पश्चात् **अग्ने** रखा गया है.- द्वितीय **कुरु** तक का मन्त्र का पूर्वार्ध भा०गृ० के समान है और अवशिष्ट आ० गृ० के समान। इस गृह्यसूत्र के प्रायः सभी भाष्यकार इस मन्त्र को पाँच मन्त्र मानने पर सहमत हैं—प्रथम **कुरु** तक एक, **यथा** से **असि** तक दूसरा, **एवम्** से **कुरु** तक तीसरा, द्वितीय **यथा** से द्वितीय **असि** तक चौथा और **एवम्** से **भूयासम्** तक पाँचवाँ। हरिहर ने उन विद्वानों का मत भी उद्-धृत किया है जो इसे तीन मन्त्र मानते हैं—प्रथम **कुरु** तक एक, द्वितीय **कुरु** तक दूसरा और अवशिष्ट तीसरा।[2] इसी प्रकार अपने पांच मन्त्रों वाले मत के अतिरिक्त

१. आ०गृ० १।२२।१६, मा०गृ० १।२२।१७, बौ०गृ० २।५।६४, भा०गृ० १।१०।
२. पाणिना अग्निं परिसमूहति संधुक्षयति इन्धनप्रक्षेपेण वक्ष्यमाणैः पंचभिर्मन्त्रैः। केचित्परिसमूहने त्रीन्मन्त्रान् मन्यन्ते।

गदाधर ने तीन मन्त्र वाले मत की पोषक एक कारिका उद्धृत की है।[1] स्पष्टतया तीन मन्त्र अधिक तर्कसंगत प्रतीत होते हैं क्योंकि उनसे तीन स्वतन्त्र वाक्य बनते हैं। पाँच मन्त्रों की गणना पाँच क्रियाओं के आधार पर की जा सकती है, परन्तु उनमें से दूसरा और चौथा वस्तुतः सहायक वाक्यांश हैं। इस मन्त्र के विनियोग में वै० गृ० (२।८) अद्वितीय है क्योंकि तदनुसार शिष्य से भिक्षा लेकर आचार्य इसका उच्चारण करता हुआ उसका अभिषिंचन करता है। मन्त्र में किसी कर्ता का उल्लेख न होने के कारण इसकी संगति किसी भी पदार्थ के साथ बैठाई जा सकती है।

पा० गृ० (२।२।१२) में विधान है कि आचार्य से दण्ड स्वीकार करते हुए शिष्य को निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिए :—

यो मे दण्डः परापतद्वैहायसोऽधिभूम्यां तमहं पुनरादद आयुषे ब्रह्मणे ब्रह्मवर्चसाय। [५३०]

मेरा जो आकाशीय दण्ड भूमि पर आ पड़ा, उसे मैं दीर्घायु, विद्या और ब्रह्मतेज के लिए पुनः ग्रहण करता हूँ॥

हि० गृ० (१।११।११) में समावर्तन के अन्तर्गत यह विधान है कि अपने गिरे हुए दण्ड को उठाने के लिए छात्र को इस मन्त्र का उच्चारण करना चाहिए। **परापतत्** (गिरा हुआ) और **पुनः** शब्दों के महत्त्व को विशेषतया प्रदर्शित करने वाले इस विनियोग की मन्त्रार्थ के साथ पूर्ण सङ्गति है। इस गृह्यसूत्र में कुछ पाठांतर हैं। **वैहायसः** के स्थान पर **विहायसः** (आकाश से) और **तमहम्** के स्थान पर **इमं तम्** पाठ हैं, **आददे** के आगे **अयम्** जोड़ा गया है और **आयुषे** के आगे सारा अंश निकालकर **च बलाय च** पाठ दिया गया है। परन्तु शिक्षासम्बन्धी उपनयन संस्कार में मन्त्र में से **ब्रह्मणे** और **ब्रह्मवर्चसे** निकालकर केवल **बलाय** डाल देना उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। किन्तु सम्भव है कि रचयिता ने दण्ड के साथ विशेष रूप से बल का सम्बन्ध जोड़ना उचित समझा हो।

बौ० गृ० (२।५।१८-२३) में शिष्य द्वारा आचार्य से दण्ड स्वीकार किये जाने पर निम्नलिखित छः वाक्यों के उच्चारण का विधान है :—

सोमोऽसि सोमपं मा कुरु॥
ब्रह्मवर्चसमसि ब्रह्मवर्चसाय त्वा॥

---

१. प्रतिमन्त्रं त्रिभिः काष्ठैरग्ने सुश्रव आदिभिः।
अग्ने सुश्रव इत्येकं यथा त्वं स्याद् द्वितीयकम्।
यथा त्वमग्ने देवानां मन्त्रेणापि तृतीयकम्।

ओजोऽस्योजो मयि धेहि ॥
बलमसि बलं मयि धेहि ॥
पुष्टिरसि पुष्टिं मयि धेहि ॥
ऊर्गस्यूर्जं मयि धेहि ॥ [५३१-५३६]

तुम सोम हो, मुझे सोम-रक्षक बनाओ ! तुम ब्रह्मतेज हो, तुम्हें ब्रह्म-तेजके लिए (ग्रहण करता हूँ) ! तुम ओज हो, मुझमें ओज स्थापित करो ! तुम बल हो, मुझमें बल स्थापित करो ! तुम पोषण हो, मुझमें पोषण स्थापित करो ! तुम जीवन-रस हो, मुझमें जीवनरस स्थापित करो ॥

प्रथम वाक्य को छोड़कर शेष सभी विभिन्न प्राग्-गृह्यसूत्र यजुर्वेदीय ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। प्रथम वाक्य आग्नि० गृ० (२।६।६) में भी मधुपर्क के अन्तर्गत दूसरी बार मधुपर्क-भक्षण के समय अतिथि द्वारा उच्चारणार्थ विनियुक्त किया गया है। यहाँ शब्दांतर से मधुभक्षण ही सोमपान हो जायेगा। दण्डग्रहण-प्रसंग में रक्षा का प्रतीक होने के कारण सोमप का अर्थ सोमरक्षक ही संगत प्रतीत होता है। द्वितीय वाक्य तै० सं० (५।६।१।५, २।६) और आप० श्रौ० (१६।३३।३) में वेदी-चयनके अन्तर्गत बृहस्पतिके निमित्त कुम्भेष्टकाओं के मध्य श्यामाक (समे के चावल) की आहुति अर्पित करते हुए उच्चारणार्थ विनियुक्त है। यद्यपि इस श्रौतकर्म का दण्ड के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, तथापि इस वाक्य का अर्थ इसके गृह्यविनियोग से संगत है क्योंकि ब्रह्मतेज की प्राप्ति शिक्षा के प्रमुख उद्देश्यों में से है। तृतीय और चतुर्थ वाक्यों का विनियोग वा० सं०, तै० ब्रा० और का० श्रौ० में सौत्रामणी याग के अन्तर्गत किया गया है।[1] तै० ब्रा० के अनुसार तो इन वाक्यों द्वारा यजमान को विभिन्न ग्रहों की उपासना करनी चाहिए, का० श्रौ० में विधान है कि इनका उच्चारण करते हुए विभिन्न पदार्थों का विभिन्न ग्रहों के साथ मिश्रण किया जाना चाहिए। यहाँ भी श्रौत-विनियोग गृह्य विनियोग का सूचक या पोषक नहीं है क्योंकि दण्ड को ओज और बल का प्रतीक माना ही जाता है। पंचम वाक्य के शब्द **पुष्टिरसि** तै०सं० (१।७।६।२) और आप० श्रौ० (१८।६।२) में उपलब्ध होते हैं। अवशिष्ट वाक्य का सम-रूप मै० सं० (४।२।७) में प्राप्त होता है। मा० श्रौ० (१।२।६।४) में दर्श-पौर्णमास याग के अन्तर्गत इससे मिलते जुलते निम्नलिखित वाक्य का विनियोग प्रस्तर (यज्ञासन) ग्रहण करने के लिए किया गया है :—

पुष्टिरसि पोषाय त्वा रयिमन्तं त्वा पुष्टिमन्तं गृह्णामि ॥ [५३७]

तुम पोषण हो, धनयुक्त पोषणयुक्त तुम्हें पोषण के लिए ग्रहण करता हूँ।

---

१. वा० सं० १९।९, तै० ब्रा० २।६।१।४,५, का० श्रौ० १९।२।२०,२२।

कौशिक० (१०६।६) में भी ऐसे ही वाक्य का विनियोग हल में बैल की पूँछ उलझ जाने पर प्रायश्चित्त के निमित्त किया गया है। उसका पाठ इस प्रकार है :—

वित्तिरसि पुष्टिरसि श्रीरसि प्राजापत्यानां तां त्वामहं मयि पुष्टिकामो जुहोमि ।। [५३८]

तुम प्रजापति के पुत्रों का धन, पोषण और शोभा हो, अपने पोषण का अभिलाषी मैं उस प्रकार की तुम्हारी आहुति अर्पित करता हूँ।

क्योंकि मा० श्रौ० में भी वाक्य का सम्बन्ध (प्रस्तर) ग्रहण करने की क्रिया से है, अतः यह गृह्यविनियोग (दण्डग्रहण) के वहुत निकट है। अन्तिम वाक्य प्रायः सभी प्राग्-गृह्यसूत्र यजुर्वेदीय ग्रन्थों में है। उनमें इसके विनियोग के आधार पर उन्हें दो मुख्य वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। इन दोनों वर्गों की प्रमुख समानता यह है कि दोनों में यह वाक्य राजसूय यज्ञ में उद्धृत किया गया है। शुक्लयजुर्वेद-सम्बन्धी एक वर्ग में इस वाक्य का उच्चारण यजमान द्वारा रथविमोचन कर्म में चक्रमार्ग में उदुम्बर शाखा रखते हुए और उसका स्पर्श करते हुए किया जाता है।[१] कृष्ण-यजुर्वेदीय ग्रन्थों के दूसरे वर्ग के अनुसार रथविमोचन कर्म से पूर्व ब्रह्मा पुरोहित को देने के लिये अपने उदुम्बर-अलंकरणों को उतारते हुए यजमान को इसका उच्चारण करना चाहिए।[२] सम्भव है कि इन दोनों वर्गों में उदुम्बर की लकड़ी के साथ इस वाक्य के सम्बन्ध से गृह्यसूत्रों में दण्ड (जो उदुम्बर निर्मित भी हो सकता था) को ग्रहण करने के लिये इसके विनियोग की प्रेरणा प्राप्त हुई हो, किन्तु इसके विपरीत भा० गृ० (२।२१) में समावर्तन के अन्तर्गत स्नातक की मणि उपहृत करने के प्रसङ्ग में इसके उच्चारण का विधान है।

अश्मारोहण

कृष्णयजुर्वेदीय गृह्यसूत्रों में आचार्य द्वारा शिष्य से अश्मारोहण करवाने का विधान है। इस अवसर पर आचार्य को निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये[३] :—

---

१. वा० सं० १०।२५, वा० सं० का० ११।७।५, श०ब्रा० ५।४।३।२६, का० श्रौ० १५।६।३३।

२. तै० सं० १।८।१५।२, मै०सं० २।६।१२, ४।४।६, का० सं० १५।८, तै० ब्रा० १।७।९।५, आप० श्रौ० १८।१७।१२, मा० श्रौ० ९।१।४।१

३. आप० गृ० ४।१०।९ (मं०पा० २।२।२), हि० गृ० १।४।१, बौ० गृ० २।५।१०, भा०गृ० १।८, आग्नि०गृ० १।१।२, मा०गृ० १।२२।१२, का० गृ० ४१।८, वै० गृ० २।५।

आ तिष्ठेममश्मानमश्मेव त्वं स्थिरो भव।
अभि तिष्ठ पृतन्यतस्सहस्व पृतनायतः॥ [५३६]

इस शिला पर खड़े हो जाओ, तुम शिला के समान स्थिर हो जाओ। शत्रुओं का प्रतिरोध करो और अपकारियों को नष्ट करदो।

इस मन्त्र का विनियोग विवाह संस्कार में भी अश्मारोहण के लिये ही किया गया है।[1] इस मन्त्र का स्रोत अथर्व० २।१३।४ प्रतीत होता है। जै० गृ० (२।८) में इसी कर्म में इससे मिलते जुलते निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है :—

इममश्मानमारोहाश्मेव त्वं स्थिरो भव।
द्विषन्तमपबाधस्व मा च त्वा द्विषतो वधीत्॥[५४०]

इस शिला पर आरोहण करो, तुम शिला के समान स्थिर हो जाओ। शत्रु को रोक दो, तुम्हें शत्रु नष्ट न करे।

इस मन्त्र के मूल विनियोग के विषय में निश्चय पूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अथर्व० में भी मन्त्र में कर्ता का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। परन्तु सूक्त में इसके पूर्ववर्ती और परवर्ती मन्त्रों का कर्ता पुंलिंग होने के कारण इसके साथ-साथ वे मन्त्र भी मूलरूप में उपनयन के निमित्त रहे होंगे। इस मन्त्र से स्पष्ट है कि तात्कालिक शिक्षा का उद्देश्य केवल बौद्धिक विकास ही नहीं, अपितु शारीरिक शक्ति का विकास करना भी था।

हस्तग्रहण

अधिकांश गृह्यसूत्रों में उपनयन के समय आचार्य द्वारा शिष्य के हस्तग्रहण के लिये निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है:[2]—

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामुपनयामि॥[५४१]

दानादिगुणयुक्त आदित्य की अनुमति पर मैं अश्विनों की भुजाओं से और पूषा के हाथों से तुम्हारा उपनयन करता हूँ॥ हि०मि०

उपरिलिखित पाठ शां०गृ०, हि०गृ०, आग्नि०गृ० और वै०गृ० में दिया गया है। मं०पा० में केवल देवस्य त्वा सवितुः प्रसव उपनये ऽसौ अंश उपलब्ध होता है। यहाँ उचित रूप से ही हस्ताभ्याम् या बाहुभ्याम् शब्द का प्रयोग नहीं किया

१. विस्तृत-विवेचनार्थ दे० अध्याय ३, मं० सं० १४६-१५२।
२. शां०गृ०२।२।१२, आ०गृ०१।२०।४, बौ०गृ०२।५।२८, आप०गृ०४।१०।१२ (मं०पा०२।३।२४), हि०गृ०१।५।८, भा०गृ०१।७, आग्नि०गृ०१।१।३, वा०गृ० ५।१२, वै०गृ०२।६।

गया क्योंकि आप०गृ० में इसका विनियोग हस्तग्रहणके स्थान पर उपनयन के लिए ही किया गया है। आ०गृ० और वा०गृ० में **उपनयामि** के स्थान पर **हस्तं गृह्णामि** पाठ है। भा०गृ० में भी मन्त्र का पाठ इन गृह्यसूत्रों के समान है, किन्तु **हस्ताभ्याम्** के आगे **हस्तेन ते** जोड़ा गया है।

जिस प्रकार विवाह और उपनयन में एकसे कर्मों में बहुत से मन्त्र समान हैं, उसी प्रकार यह आशा होनी स्वाभाविक है कि यह मन्त्र भी विवाह में इस कर्म के लिए विनियुक्त हुआ होगा। परन्तु केवल एक मा०गृ० (१।१०।१५) में विवाह के अन्तर्गत इसका विनियोग किया गया है। दोनों संस्कारों में इस मन्त्र का समान प्रयोग न होने का कारण सम्भवतया यह है कि इसका देवता सविता है, और सावित्री ऋचा का अनुवाचन उपनयन संस्कार का प्रमुख अंग होने के कारण सविता देवता का प्रमुख सम्बन्ध शिक्षा-सम्बन्धी संस्कारों से ही है। उपनयन में इस मन्त्र के उपर्युक्त प्रयोग के अतिरिक्त गृह्यसूत्रों में इसका प्रयोग अन्य संस्कारों में भी किया गया है। आ०गृ०, बौ०गृ०, पा०गृ० और कौशिक० में विधान है कि मधुपर्क कर्म में गृहस्थ से मधुपर्क ग्रहण करते हुए अतिथि को इसका उच्चारण करना चाहिये।[1] इस स्थिति में मन्त्र के अन्तिम शब्द के स्थान पर **प्रतिगृह्णामि** पाठ है। आप०गृ० (५।१२।११) के अनुसार समावर्तन के अन्तर्गत आचार्य से दण्ड ग्रहण करते हुए स्नातक को भी इसका उच्चारण करना चाहिये। इस कर्म की संगति के अनुसार मं०पा० (२।६।५) में **हस्ताभ्याम्** के पश्चात् निम्नलिखित जोड़ा गया है:—

आददे द्विषतो वधायेन्द्रस्य वज्रोऽसि वार्त्रघ्नश्शर्म मे भव यत् पापं तन्निवारय॥

(शत्रुओंके वधके लिये मैं ग्रहण करता हूँ। तुम इन्द्रके वज्र हो, इन्द्रसम्बन्धी तुम मेरे लिये शरण बन जाओ, जो पाप है उसे दूर रखो॥)

वै० गृ० (५।५) में इसका इससे भी भिन्न प्रयोग प्राप्त होता है। तदनुसार अन्त्येष्टि कर्म के अन्तर्गत अध्वर्यु को दक्षिणा देते समय इसका उच्चारण किया जाना चाहिये। कौशिक० (१३७।१८) में विधान है कि आज्यतन्त्र अर्थात् अग्न्याधान के अन्तर्गत यजमान को इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए कुरेदने का एक यन्त्र 'लेखन' ग्रहण करना चाहिये। उपरिलिखित विविध प्रयोगों में सर्वसामान्य बात यह है कि सभी स्थानों पर किसी न किसी पदार्थ को ग्रहण करने की क्रिया से मन्त्र का सम्बन्ध है। और इसी क्रिया-समानता के आधार पर विविध कर्मों में इस मन्त्र का प्रयोग हुआ होगा।

यह मन्त्र प्राग्-गृह्यसूत्र साहित्य के सर्वाधिक लोक-प्रिय मन्त्रों में से एक

---

१. आ०गृ०१।२४।१४,१५,बौ०गृ०१।२।३५,पा०गृ०१।३।१६-१७,कौशिक०६१।२।

रहा होगा क्योंकि अधिकांश ग्रन्थों में कम से कम दस बार यह आया है।[१] परन्तु गृह्य-विनियोग के दृष्टिकोण से केवल वे ही स्थल महत्त्वपूर्ण हैं जहाँ इसका सम्बन्ध कोई पदार्थ ग्रहण करने अथवा स्वीकार करने की क्रिया से है। सर्वप्रथम दर्श-पौर्णमास के अन्तर्गत सदो-निर्माण प्रसङ्ग में इस मन्त्र का विनियोग भूमि खोदने के लिये फावड़ा हाथ में लेने की क्रिया में किया गया है।[२] उसी याग में पुनः यह विधान है कि यजमान को प्राशित्र (यज्ञान्न) स्वीकार करते हुए इसका उच्चारण करना चाहिये।[३] उखासम्भरण कर्म में भी यजमान द्वारा उखा (एक-पात्र) के लिये मिट्टी खोदने के निमित्त अपने हाथ में फावड़ा ग्रहण करते हुए इसके उच्चारण का विधान है।[४] एक अन्य स्थान पर सोमाभिषवकर्म के अन्तर्गत सोम पीसने के लिये उपांशुसवन पाषाण ग्रहण करते हुए इसका उच्चारण किया जाता है।[५] अश्वमेधयज्ञ में भी अश्व को बाँधने के लिये रस्सा लेते हुए इसके उच्चारण का निर्देश किया गया है।[६] यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इन श्रौत विनियोगों के आधार पर ही मन्त्र के गृह्य-विनियोग की प्रेरणा प्राप्त हुई होगी। यह मन्त्र अथर्व० (१९।५१।२) में भी उपलब्ध होता है। वहाँ हस्ताभ्याम् के आगे प्रसूत आरभे पाठ है।

कुछ गृह्यसूत्रों में आचार्य द्वारा अपने दक्षिण हाथ में शिष्य के दक्षिण हाथ

---

१. दे० वै० कान्कॉर्डेंस, पृ० ४९३-४९४।

२. तै० सं० १।३।१।१, २।६।४।१, वा० सं० १।२४, का० सं० २।१२, २५।४, कपि० सं० २।६, मै० सं० १।२।११, श० ब्रा० १।२।४।४, तै० ब्रा० ३।२।६।१ का० श्रौ० २।६।१२, बौ० श्रौ० ६।२६, आप० श्रौ० ११।९, मा० श्रौ० २।२।३।१।

३. वा०सं० २।११, वा०सं०का० २।३।४, तै०सं० २।६।८।६, श०ब्रा० १।७।४।१३, का० श्रौ० २।२।१६।

४. वा० सं० ११।९, तै० सं० ४।१।१।३, ५।१।१।४, का० सं० १६।१, मै० सं० २।७।१, आप०श्रौ० १६।१।७, बौ०श्रौ०१०।१, मा०श्रौ०६।१।१।२३, का०श्रौ० १६।२।८।

५. वा० सं० ६।३०, त० सं० ६।४।४।१, मै० सं० ४।५।४, श० ब्रा० ३।९।४।३, आप० श्रौ० १२।९।२, मा० श्रौ० २।३।३।१, का० श्रौ० ९।४।५।

६. वा० सं० २२।१, तै० सं० ७।१।११।१, का० सं० अ० १।२, तै० ब्रा० ३।८।३।२, आप०श्रौ० २०।३।३, बौ० श्रौ० १५।५, का० श्रौ० २०।१।२७।

के ग्रहण के अवसर पर निम्नलिखित वाक्यसमूह के उच्चारण का विधान है :[1]—

भगस्ते हस्तमग्रभीत् सविता हस्तमग्रभीत् ॥
पूषा ते हस्तमग्रभीदर्यमा ते हस्तमग्रभीत् ॥
मित्रस्त्वमसि धर्मणाग्निराचार्यस्तव ॥ [५४२–५४४]

भग ने तुम्हारा हस्तग्रहण किया, सविता ने हस्तग्रहण किया। पूषा ने तुम्हारा हस्तग्रहण किया, अर्यमा ने तुम्हारा हस्तग्रहण किया। तुम मित्र हो, धर्मानुसार अग्नि तुम्हारा आचार्य है।

उपरिलिखित पाठ शां०गृ० से उद्धृत है। आ०गृ० में इसमें से केवल **सविता हस्तमग्रभीत्** और **अग्निराचार्यस्तव** पृथक् रूप से दिये गये हैं। जै०गृ० में **भगः** के स्थान पर **इन्द्रः** है तथा **धाता** भी जोड़ दिया गया है। आप०गृ० में शां०गृ० के देवताओं की सूची में अग्नि, सोम, सरस्वती, अंश और मित्र के नाम भी जोड़ दिये गये हैं। और इन सब नामों में से हि०गृ० और वै०गृ० में भग, अंश और अर्यमा के नाम निकाल कर बृहस्पति, वरुण, त्वष्टा, धाता, विष्णु और प्रजापति के नाम जोड़ दिये गये हैं। इन सभी गृह्यसूत्रों में तृतीय वाक्य यथावत् है। विशेषतया उपनयन के प्रसंग में मं० पा० द्वारा सूची में सरस्वती का नाम सम्मिलित किया जाना इस बात का द्योतक है कि मं० पा० के समयमें सरस्वती का विद्या के साथ सुदृढ़ सम्बन्ध स्थापित हो चुका था—वह केवल एक नदी नहीं रह गई थी। परन्तु कुल मिलाकर यह नहीं कहा जा सकता कि देवताओं के चयन में किसी विशेष बातकी ओर ध्यान दिया गया होगा। हाँ इन देव-नामों में बारह आदित्यों के नामों का आधिक्य अवश्य दृष्टिगोचर होता है। आदित्य नामोंके आधिक्य का कारण सम्भवतया उपनयन का सावित्री ऋचा के साथ अनिवार्य सम्बन्ध है। सविता भी एक आदित्य है और बुद्धि-प्रेरणा के लिये इसकी प्रार्थना की गई है। और विभिन्न गृह्यसूत्रों में दिये गये देव-नामों को यदि एक साथ मिलाकर देखा जाये तो बारहों आदित्यों के नाम आ जाते हैं।

इन वाक्यों का स्रोत सम्भवतया अथर्व० (१४।१।५१) का यह मन्त्र है :—

भगस्तेहस्तमग्रहीत्सविता हस्तमग्रहीत् ।
पत्नी त्वमसि धर्मणाहं गृहपतिस्तव ॥ [५४५]

भग ने तुम्हारा हस्तग्रहण किया है, सविता ने हस्तग्रहण किया है। तुम पत्नी हो, धर्मानुसार मैं तुम्हारा गृहपति हूँ॥

---

१. आ० गृ० १।२०।५, शां० गृ० २।३।१, जै० गृ० १।१९, आप० गृ० ४।१०।१२ (मं० पा० २।३।३-१२), हि० गृ० १।५।६-१०, वै० गृ० २।६।

विवाहसूक्त के मध्य आने के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि मूल रूप में यह मन्त्र विवाह के अन्तर्गत वर द्वारा वधू को सम्बोधित करने के लिए था। कौशिक० (७६।१०) द्वारा इसकी पुष्टि भी होती है क्योंकि तदनुसार आचार्य द्वारा इसका उच्चारण विवाह में वधू का दक्षिण हाथ पकड़ कर यज्ञशाला से बाहर ले जाते हुए किया जाना चाहिये।[1]

बौ०गृ० (२।५।२६) और आप०गृ० ४।११।१६ (मं०पा०२।५।२२) में विधान है कि यदि आचार्य यह चाहे कि उसका शिष्य उससे विमुख न हो तो उसे शिष्य का हाथ अपने हाथ में लेकर निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये:—

यस्मिन् भूतं च भव्यं च सर्वे लोकाः समाहिताः।
तेन गृह्णामि त्वामहं मह्यं गृह्णामि त्वामहं
प्रजापतिना त्वा मया गृह्णाम्यसौ ॥ [५४६]

जिसमें भूत, भविष्य और सभी लोक समाहित हैं, उस प्रजापति के द्वारा मैं तुम्हें ग्रहण करता हूँ, मैं तुम्हें अपने लिये ग्रहण करता हूँ, मैं तुम्हें अपने द्वारा अर्थात् स्वयं ग्रहण करता हूं।

हि०गृ० (१।१३।१६) और भा०गृ० (२।२७) में इसे मधुपर्क के अन्त में गृहपति द्वारा उस स्थिति में उच्चारणार्थ उद्धृत किया गया है जब वह चाहे कि कोई भी मुझसे विमुख न हो। उक्त दोनों स्थलों पर इस मन्त्र के विनियोग का समान आधार विमुख न होने की अभिलाषा है। प्रथम पंक्ति में हि०गृ० में **समाहिताः** के स्थान पर **इह श्रिताः** पाठ है। द्वितीय पंक्ति का पाठ **तेन त्वाहं प्रतिगृह्णामि त्वामहं ब्रह्मणा त्वा मह्यं प्रतिगृह्णाम्यसौ** है। यह मन्त्र किसी प्राग्-गृह्यसूत्र ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होता।

सूर्यवेक्षण-सूर्यदर्शन

यजुर्वेदीय गृह्यसूत्रों के अनुसार शिष्य को निम्नलिखित मन्त्र (वा०सं० ३६।२४)

---

१. पद्धतियों में यह व्याख्या की गई है:—आचार्यः कुमारीं दक्षिणे हस्ते गृहीत्वा कौतुकगृहाद् बहिः निष्क्रामयति। परन्तु द्वितीय पंक्ति का वर को छोड़कर किसी अन्य द्वारा उच्चारित किया जाना अनुचित प्रतीत होता है। यहां सूत्र **भगस्त्वेत इति हस्ते गृह्य निर्णयति** की ओर ध्यान देना आवश्यक है। सूत्रस्थ प्रतीक का संकेत अथर्व०१४।१।२० की ओर है। अथर्व०प०ने इसे स्वीकार किया है और यह पूर्णतः प्रसंगानुकूल है। (दे० कौशिक० सम्पादित, ब्लूमफ़ील्ड, पृ०२०३, पा०टि०९-११)

का उच्चारण करते हुए सूर्यदर्शन करना चाहिये:[1]—

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् ।
पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥ [५४७]

देवताओं द्वारा प्रेषित वह द्युतिशील नेत्र (सूर्य) पूर्व दिशा में उदय हो रहा है। हम सौ वर्ष तक देखें, सौ वर्ष तक जीवित रहें, सौ वर्ष तक सुनें, सौ वर्ष तक बोलें, सौ वर्ष तक दैन्यरहित रहें और इससे भी अधिक सौ वर्ष तक हम पुनः जीवित रहें।

पा० गृ०, का० गृ० और मा० गृ० में मन्त्र का उपरिलिखित पाठ दिया गया है। मै० सं० (४।६।२०) में केवल **प्रब्रवाम शरदः शतम्** तक ही मन्त्र है। मन्त्र का प्राचीन रूप ऋ० ७।६६।१६ में है जहाँ प्रथम पंक्ति में **पुरस्तात्** नहीं है और द्वितीय पंक्ति केवल **जीवेम शरदः शतम्** तक है। वस्तुतः ऋग्वेद का मन्त्र पद्यमय है—इसका छन्द पुर-उष्णिक् है—तदनुसार पूर्वार्ध में बारह अक्षर और शेष दोनों पादों में से प्रत्येक में आठ अक्षर हैं। परन्तु वा० सं० और मै० सं० में छन्दोभङ्ग हो गया है और सम्पूर्ण मन्त्र गद्यमय हो गया है। कौ० गृ० (२।३।१३) में पाठ ऋग्वेदानुसार है। इससे प्रतीत होता है कि प्रायः गृह्यसूत्र मन्त्रों के पाठ में अपनी संहिता की परम्परा का अनुसरण करते हैं। मन्त्र के पाठ के सम्बन्ध में आप० गृ०, हि०गृ०, भा० गृ० और आग्नि० गृ० की अपनी विशेष परम्परा है। तदनुसार वा० सं० के अनुसार **जीवेम शरदः शतम्** तक पाठ के पश्चात् निम्नलिखित पाठ है :—

नन्दाम शरदः शतं भवाम शरदः शतं शृणवाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमजीताः स्याम शरदः शतं ज्योक् च सूर्यं दृशे ॥ [५४८]

हम सौ वर्ष तक प्रसन्न रहें, सौ वर्ष तक हों, सौ वर्ष तक सुनें, सौ वर्ष तक बोलें, सौ वर्ष तक अविजित रहें और चिरकाल तक सूर्य के दर्शन के लिये (जीवित रहें)।

यहाँ द्वितीय पंक्ति का **अजीताः** शब्द **अजिताः** का भ्रष्ट रूप प्रतीत होता है। **ज्योक् च सूर्यं दृशे** सम्भवतया सूर्यदर्शन के साथ विशेष सम्बन्ध प्रदर्शित करने को रखा गया है। इस मन्त्र का विनियोग अन्य प्रसङ्गों में भी हुआ है। पा० गृ० (१।८।७) और का० गृ० (२५।४३) में विवाह के अन्तर्गत भी वर द्वारा वधू को सूर्यदर्शन

१. पा०गृ०२।५।१५, का०गृ०४१।१४, मा०गृ०१।२२।११, आप०गृ०४।११।१८ (मं०पा०२।५।१२), हि०गृ०१।७।१०, भा०गृ०१।६, आग्नि०गृ०१।१।४।दे० मन्त्र सं०४७५ से पूर्व।

कराने के समय इसके उच्चारण का विधान है। बौ० गृ० (२।४।११) में विधान है कि चूडाकरण के अन्तर्गत बालक को सूर्यदर्शन कराने के समय इसका उच्चारण किया जाना चाहिये। शां० गृ० (३।८।७) में इसे आग्रयण के अन्त में सूर्योपासना के निमित्त उद्धृत किया गया है। इस गृह्यसूत्र में एक अन्य स्थल (६।६।१) पर शान्तिप्रकरण के अन्तर्गत उसी क्रिया के लिये इसे दिया गया है। इन सभी स्थलों पर मन्त्र का सम्बन्ध अपने अधिष्ठातृ-देव सूर्य से अवश्य विद्यमान है। श्रौतयज्ञों में पहले ही सूर्योपासना के समय इस मन्त्र का उच्चारण किया जाता था।[1]

गो० गृ० (३।८।५) और खा० गृ० (३।३।५) में विधान है कि पृषातक कर्म में ब्राह्मणों तथा पुरोहित द्वारा इस मन्त्र के उच्चारण किये जाने के समय गृहस्थ को पृषातकों का अवलोकन करना चाहिये। मन्त्र ब्राह्मण में यह मन्त्र उद्धृत नहीं किया गया। का० गृ० (२४।११) के अनुसार अर्घ्य (मधुपर्क) कर्म के अन्तर्गत अतिथि को इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए मधुपर्क का अवलोकन करना चाहिये। ऐसा प्रतीत होता है कि इन दोनों विनियोगों का आधार मन्त्र के **चक्षुः** तथा **पश्येम** (हम देखें) शब्द रहे होंगे। का० गृ० में मन्त्र की प्रतीकेन उद्धृति की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिये क्योंकि वह का० सं० में उपलब्ध नहीं होता। इसी प्रकार की प्रतीकेन उद्धृतियों के आधार पर कैलेंड को यह कल्पना करनी पड़ी कि अन्य गृह्यसूत्रों के समान ही इस गृह्यसूत्र का भी सम्भवतया गृह्यकर्मों से सम्बद्ध मन्त्राध्याय नामक मन्त्रों का संग्रह रहा होगा।[2]

हृदयालम्भन अर्थात् शिष्य के हृदय-देश का स्पर्श

कुछेक गृह्यसूत्रों में आचार्य द्वारा शिष्य के हृदय-देश के स्पर्श के लिये निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है[3] :—

मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनु चित्तं ते अस्तु।
मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्॥ [५४९]

अपने नियम में तुम्हारा हृदय स्थापित करता हूँ, तुम्हारा मन मेरे मन का अनुगामी हो। एकाग्र मन वाले तुम मेरे वचन का पालन करो, बृहस्पति तुम्हें मेरे लिये नियुक्त कर दे॥

का० गृ० (४१।९) के अनुसार इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए आचार्य को

१. तै० ब्रा० ४।४२।५, शां० श्रौ० ३।१७।६, ४।१३।१; १५।४।
२. का० गृ०-भूमिका, पृष्ठ ६।
३ भा०गृ० १।२१।७, (एकमनाः के स्थान पर एकव्रतः), शां०गृ० २।४।१, पा०गृ० २।२।१६, जै० गृ० ११।१५।

अपने हाथ से शिष्य के नाभि से ऊपर के शरीर का स्पर्श करना चाहिए। शरीर के इस भाग में हृदय भी आ जाता है। मा० गृ० (१।२२।१०) में हृदय-देश के स्पर्श के लिए इसका विशिष्ट विनियोग नहीं किया गया। तदनुसार शिष्य के मेखला-बन्धनके पश्चात् इसका केवल उच्चारण किया जाना चाहिये। हि०गृ० (१।५।११), आग्नि०गृ० (१।१।३) और वै० गृ० (२।६) में मन्त्र का उत्तरार्ध तो उपरिलिखित मन्त्र के उत्तरार्ध के ठीक समान है, परन्तु पूर्वार्ध का पाठ **मम हृदये हृदयं ते अस्तु मम चित्तं चित्तेनान्वेहि** है।

इस मन्त्र का विनियोग विवाह के अन्तर्गत भी किया गया है। इसके स्रोतों का विस्तृत विवेचन तृतीय अध्याय में हुआ है (दे० मं०सं० १६०)। दोनों स्थलों पर मन्त्र के पाठ में विशेष अन्तर है। जहाँ उपनयन में बृहस्पति से प्रार्थना की गई है, वहाँ विवाह में प्रजापति से प्रार्थना की गई है। परन्तु सम्भवतया प्रमादवश मं० ब्रा० (१।२।२१) में विवाह में भी बृहस्पति को ही रखा गया है।

इन गृह्यसूत्रों (हि०गृ०, आग्नि०गृ०, वै०गृ०) में इसी प्रसंग में एक अन्य मन्त्र के उच्चारण का विधान भी है:—

मामेवानुसंरभस्व मयि चित्तानि सन्तु ते।
मयि सामीच्यमस्तु ते मह्यं वाचं नियच्छतात्॥ [५५०]

मेरे प्रति ही आसक्त रहो, तुम्हारे विचार मुझमें केन्द्रित हों। मेरे प्रति तुम्हारा सम्मान हो, मेरे लिए तुम अपनी वाणी नियन्त्रित करो॥

उपरिलिखि पाठ हि०गृ० में से उद्धृत है। आग्नि०गृ०में **संरभस्व** के स्थान पर **संगृहस्व** और वै०गृ०में **सामीच्यम्** के स्थान पर **सामीप्यम्** तथा **नियच्छतात्** के स्थान पर **नियच्छताम्** पाठ है। हृदयालम्भन से सम्बद्ध प्रस्तुत दोनों मन्त्रों में वस्तुतः गुरु-शिष्य सम्बन्ध के ऊँचे आदर्श प्रस्तुत किये गये हैं। यदि शिष्य हृदय से गुरु से संयुक्त हो, तभी उनमें परस्पर सामंजस्य उत्पन्न होता है। और आदर्श शिक्षा के लिये यह अनिवार्य है।

नाभिस्पर्श

हि०गृ०, वा०गृ० और आग्नि०गृ०में आचार्य द्वारा शिष्य के नाभिस्पर्श के लिये निम्नलिखित वाक्य का विनियोग किया गया है[1]:—

प्राणानां ग्रन्थिरसि स मा विस्रसः॥ [दे०१६१]
तुम प्राणों की ग्रन्थि हो, तुम शिथिल न होना।

---

१. हि०गृ०१।५।१२, आग्नि०गृ० १।१।३, वा०गृ०५।२१,(**प्राणानाम्**)के स्थान पर **ब्रह्मणः,सः** पर वाक्य समाप्त।

सामवेदीय गृह्यसूत्रों में भी इसी प्रसंग में यह वाक्य उद्धृत किया गया है, परन्तु **सः** का अभाव है और **अन्तक इदं ते परिददाम्यमुम्**. जोड़ा गया है।[1] किन्तु जै०गृ० में **अमृत मृत्योरन्तरं कुरु** जोड़ा गया है । इस वाक्य का विनियोग विभिन्न गृह्यसूत्रों में विभिन्न कर्मों के अन्तर्गत किया गया है। अधिकांशतः पाठ हि०गृ० के समान है। बौ०गृ० २।५।१५ और भा०गृ०१।६ में विधान है कि शिष्य के मेखला-बंधन के पश्चात् आचार्य को मेखला की गाँठ बाँधते हुए इस वाक्य का उच्चारण करना चाहिये। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ पर **ग्रन्थि** (गाँठ) शब्द पर अधिक बल दिया गया है। का०गृ० (४१।१३) में इसी (गाँठ बाँधने की) क्रिया के लिये उपरिलिखित वाक्य से आंशिक समानता वाले निम्नलिखित वाक्य के उच्चारण का विधान है:—

चित्तस्य समो ऽसि दैव्यो ग्रन्थिरसि मा विस्रंसः ॥ [५५१]

तुम मेरे सम-विचार हो, दिव्य ग्रन्थि हो, शिथिल न होना।

मा०गृ० (१।२२।६), वा०गृ० (५।२१) और वै०गृ० (२।६) में इस मन्त्र का विनियोग शिष्य के हृदयालम्भन के लिए किया गया है। प्रथम दो गृह्यों में **विस्रसः** के स्थान पर **विस्रसत्** पाठ है। मा० गृ० में **प्राणानाम्** के स्थान पर **ब्रह्मणः** पाठ है और **सः** तथा **मा** के मध्य **ते** है। एक अन्य स्थान पर **प्राणानाम्** पाठ सहित इस गृह्यसूत्र में इस वाक्य का विनियोग श्वास-स्थान अर्थात् नासिका के स्पर्श के लिए किया गया है। केवल हि०गृ० (१।२१।४) में इसका विनियोग विवाह के अन्तर्गत वधू के नाभिस्पर्श के लिए किया गया है। शां०गृ० (३।८।५) के अनुसार आग्रयण कर्म में गृहस्थ को वर्ष के नव अन्न का प्राशन करने के पश्चात् इस वाक्य का उच्चारण करते हुए अपना नाभिस्पर्श करना चाहिये। इस गृह्यसूत्र में भी '**सः**' का अभाव है और वाक्य से पूर्व **नाभिरसि मा बिभीथाः** जोड़ा गया है।

यद्यपि विभिन्न गृह्य-विनियोगों में इस वाक्य का अधिकतम सम्बन्ध नाभि से है, तथापि प्राचीनतम स्थल तै०आ० (१०।३७।१) में भोजनोपरान्त हृदयालम्भन के लिए इसके उच्चारण का विधान है। शां०गृ० का विनियोग इसके बहुत निकट है। इस वाक्य का प्रमुख उद्देश्य शारीरिक स्वास्थ्य की प्रार्थना है। परन्तु कुछ स्थलों पर सम्भवतया शिक्षा के साथ इसका विशेष सम्बन्ध स्थापित करने के लिए प्राणानाम् के स्थान पर ब्रह्मणः (वेद की) पाठ रखा गया है। यह ध्यान देने की बात है कि नाभि सारे शरीर का केन्द्र-बिन्दु है। कहा जाता है कि यदि नाभि अपने स्थान से हिल जाये तो उदर-विकार हो जाते हैं।

देवताओं को शिष्य-समर्पण

विभिन्न देवताओं को सम्बोधित करता हुआ आचार्य उन्हें शिष्य को समर्पित

१. गो०गृ०२।१०।२४, (मं०ब्रा०१।६।२०), खा०गृ०२।४।१४, जै०गृ०१।१।१३।

करता है। कुछ कृष्णयजुर्वेदीय गृह्यसूत्रों में इन देवताओं की सूची के विषय में परस्पर पर्याप्त समानता है।[1] मं०पा० में निम्नलिखित सूची दी गई है:—

अग्नये त्वा परिददाम्यसौ ॥ सोमाय त्वा......॥ सवित्रे त्वा......॥ सरस्वत्यै त्वा......॥ मृत्यवे त्वा......॥ यमाय त्वा......॥ गदाय त्वा...॥ अन्तकाय त्वा......॥ अद्भ्यस्त्वा......॥ ओषधीभ्यस्त्वा......॥ पृथिव्यै त्वा सवैश्वानरायै परिददाम्यसौ ॥ [५५२-५६२]

अमुक नाम का मैं तुम्हें अग्नि को सौंपता हूँ ॥ सोम को......॥ सविता को......॥ सरस्वती को......॥ मृत्यु को......॥ यम को......॥ गद को......॥ अन्तक को......॥ जल को......॥ औषधियों को......॥ अमुक नाम का मैं तुम्हें वैश्वानर सहित पृथिवी को सौंपता हूँ ॥

हि०गृ० और आग्नि०गृ० में प्रथम पाँच देवता नहीं हैं और सूची का आरम्भ निम्नलिखित से होता है:—

कशकाय त्वा.........॥ [५६३]

इसके अतिरिक्त अघोर, मख, वशिनी, वनस्पतयः, सर्वभूतानि, विश्वे देवाः, विश्वाः देव्यः को भी सूची में सम्मिलित किया गया है। वै०गृ० में **सर्वभूतानि** का अभाव है और वनस्पतयः के पश्चात् द्यावापृथिव्यौ, सुभूत और ब्रह्मवर्चस जोड़ा गया है—अन्यथा यह सूची हि०गृ० वाली सूची के समान है। एक भेद और है कि इसका आरम्भ **कशकाय** के स्थान पर शकाय से होता है। यह कहना कठिन है कि यहाँ शक से क्या अभिप्राय है। यद्यपि लौकिक संस्कृत में यह एक जाति तथा देश का नाम है, किन्तु वेद में यह अर्थ नहीं रहा होगा। प्रायः ऋग्वेद में इसका अर्थ **गोमय** (गाय का गोबर) किया जाता है। यजुर्वेद के शक से भी इसकी तुलना की जा सकती है। वहाँ अश्वमेध यज्ञ में यह मेध्य-पशु के नाम के रूप में आता है।[2] जहाँ तक **कशक** का सम्बन्ध है, ओल्डनबर्ग ने इसकी तुलना कृशन (मं०ब्रा० १।६।२२) और कर्शन (अथर्व० ४।१०।७) से की है।[3] यह कश नामक विशेष पशु का कुत्सितार्थ रूप भी हो सकता है।[4]

---

१. आप०गृ०४।१०।१२ (मं०पा०२।३।१३-२३), हि०गृ०१।६।५, अग्नि०गृ०१।१।३, वै०गृ०२।६।
२. वै०इं०खं०२, पृ०३४६ दे० शकपूत और शक।
३. से०बु०ई०खं०३०, हि०गृ०१।६।५ पर पा०टि०।
४. वै०इं०खं०१, पृ०१४४।

बौ०गृ० २।५।२७ में देवताओं की निम्नलिखित सूची प्राप्त होती है:—

देवेभ्यस्त्वा परिददामि ॥ विश्वेदेवेभ्यस्त्वा......॥ विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः......॥ सर्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः......॥ सर्वाभ्यस्त्वा देवताभ्यः......॥ [५६४-५६८]

तुम्हें देवों को सौंपता हूँ ॥ विश्वेदेवों को......। विश्वे देवों को...॥ सभी देवों को......॥ सभी देवताओं को......॥

इस सूची की तुलना तै०सं० ३।२।१०।१ से की जा सकती है जहाँ यद्यपि क्रिया का अभाव है, तथापि प्रसंगानुसार सौंपने का भाव निहित है।[1]

भा०गृ० (१।८) की सूची सर्वथा भिन्न है:—

प्राणाय त्वाचार्याय परिददामि ॥ कुबेराय त्वा महाराजाय......॥ तक्षकाय त्वा वैशालेयाय......॥ अग्नये त्वा...... (दे०५५२) ॥ वायवे त्वा......॥ सूर्याय त्वा......॥ प्रजापतये त्वा......॥ प्रजापत इमं गोपायामुम्......॥ [५६९-५७५]

तुम्हें प्राण आचार्य को सौंपता हूँ ॥ कुबेर महाराज को......॥, तक्षक वैशालेय को......॥ अग्नि को......॥ वायु को......॥ सूर्य को...॥ प्रजापति को...॥ हे प्रजापति अमुक नामवाले इस शिष्य की रक्षा कीजिये।

वा०गृ० (७।१२) में इनमें से केवल चतुर्थ से सप्तम वाक्य लिए गये हैं, परन्तु उनका विनियोग चतुर्होतृकी दीक्षा के अन्तर्गत देवताओं को शिष्यसमर्पणार्थ किया गया है। मा०गृ० (१।२२।५) में केवल सविता, सरस्वती और विश्वेदेवाः मं०पा० और हि०गृ० के अनुरूप हैं। तदतिरिक्त यहाँ अधोनिर्दिष्ट सूची दी गई है:-

कस्य ब्रह्मचार्यसि ॥ प्राणस्य ब्रह्मचार्यसि ॥ कस्त्वा कमुपनयते ॥ काय त्वा परिददामि ॥ कस्मै त्वा......॥ तस्मै त्वा......॥ भगाय त्वा......॥ अर्यम्णे त्वा......॥ इन्द्राग्नीभ्यां त्वा......॥ [५७६-५८४]

तुम किसके ब्रह्मचारी हो ॥ तुम प्राण के ब्रह्मचारी हो ॥ कौन तुम्हें किसके पास उपनयनार्थ ले जाता है ॥ तुम्हें सुखको सौंपता हूँ ॥ किसको···॥ उसे···॥ भगको···॥ अर्यमा को···॥इन्द्राग्नी को···॥

प्रथम चार वाक्य आ०गृ०, (१।२०।७) में ज्यों के त्यों हैं। विनियोग भी वही है। का०गृ० (४१।१७) में इस प्रसंग में निम्नलिखित तीन वाक्य उद्धृत किये गये हैं:—

---

१. वे०मं०सं०१।३।६, आप०श्रौ०१२।२१।४, २०।५।६, मा०श्रौ०२।३।८।११।

प्रजापतये त्वा परिददामि। देवाय त्वा सवित्रे परिददामि। बृहस्पतये त्वा......॥ [५८५-५८६]

तुम्हें प्रजापति को सौंपता हूँ। तुम्हें सविता देव को...॥ बृहस्पति को...॥

प्रथम दो वाक्य गो०गृ०, खा०गृ० और पा०गृ० में भी विद्यमान हैं।[1] पा०गृ० में उनमें निम्नलिखित जोड़े गये हैं:—

अद्भ्यस्त्वौषधीभ्यः परिददामि॥ द्यावापृथिवीभ्यां त्वा॥ विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः.....॥ (दे०५६५) सर्वेभ्यस्त्वा भूतेभ्यः परिददाम्यरिष्ट्यै॥
[५८७-५८९, ३ रा छोड़कर]

तुम्हें जल और औषधियों को सौंपता हूँ॥ द्यावापृथिवी को......॥ वश्वेदेवों को...॥ मैं तुम्हें नीरोगता के लिये सभी प्राणियों को सौंपता हूँ॥

पा०गृ० की इस सूची का स्रोत श०ब्रा०११।५।४।३-४ है। इस ब्राह्मण में इस सूची का विनियोग भी वही है। जै०गृ०(११।१७) में भी लगभग यही सूची दी गई है। इसमें प्रथम और चतुर्थ वाक्यों का अभाव है और सूची भा०गृ० के उपरिलिखित चतुर्थ और पंचम वाक्यों से आरम्भ होती है। शां०गृ० (२।३।१) में ऐसे ही वाक्यों को भिन्न रूप में उद्धृत किया गया है:—

असावहं चोभावग्न एतं ते ब्रह्मचारिणं परिददामि। इन्द्रैतं ते...। आदित्यैतं ते...। विश्वेदेवा एतं वो ब्रह्मचारिणं परिददामि दीर्घायुत्वाय सुप्रजास्त्वाय, सुवीर्याय, रायस्पोषाय, सर्वेषां वेदानामाधिपत्याय सुश्लोक्याय स्वस्तये॥ [५९०-५९३]

यह (शिष्य का पिता) और मैं, दोनों, हे अग्नि, तुम्हें यह ब्रह्मचारी सौंपते हैं॥ हे इन्द्र, तुम्हें...॥ हे आदित्य, तुम्हें...॥ हे विश्वेदेवो, दीर्घायु के लिये, शुभसन्तति, शुभवीरता, धनके पोषण, सभी वेदों पर अधिकार, शुभख्याति तथा कल्याण के लिये तुम्हें यह ब्रह्मचारी सौंपता हूँ॥

कौशिक०(५६।१३) की सूची में अन्य गृह्यसूत्रों के समान भूत, अग्नि, अघोर, तक्षक, वैशालेय, विश्वेदेवाः और सर्वभूतानि देवताओं के नाम तो आये ही हैं, इनके अतिरिक्त ब्रह्मा, उदङ्क्य, शुल्वाण, शत्रुञ्जय क्षात्राण, मार्त्युञ्जय मार्त्यव हाहाहूहू, गन्धर्वौ, योगक्षेमौ, भय और अभय नाम भी सम्मिलित किये गये हैं।[2]

---

१. गो०गृ०२।१०।२७,२८ (मं०ब्रा०१।६।२३,२४), खा०गृ०२।४।१७,१८, पा०गृ० २।२।२१

२. दे० अथर्व०८।१०।२३।

उपरिलिखित वाक्यों के अतिरिक्त का०गृ० में इसी प्रसङ्ग में निम्नलिखित दो वाक्य भी दिये गये हैं। इनमें (ब्रह्मचारी को) सौंपने का भाव स्पष्टतया अभिव्यक्त नहीं किया गया:—

देव सवितरेष ते ब्रह्मचारी तं गोपायस्व दीर्घायुः स मा मृत ॥[५९४] **अग्निपुत्रैष ते। वायुपुत्रैष ते। सूर्यपुत्रैष ते। ब्रह्मपुत्रैष ते ब्रह्मचारी तं गोपायस्व दीर्घायुः स मा मृत॥** [५९५]

हे सविता देव, यह तुम्हारा ब्रह्मचारी है, इसकी रक्षा करो। वह दीर्घायु हो, मरे नहीं॥ हे अग्निपुत्र, यह तुम्हारा (ब्रह्मचारी है), हे वायु पुत्र...॥ हे सूर्यपुत्र...॥हे ब्रह्मपुत्र, यह तुम्हारा ब्रह्मचारी है, इसकीरक्षा करो, वह दीर्घायु हो, मरे नहीं ॥

मा०गृ० में केवल प्रथम वाक्य है, और उसमें **दीर्घायु** नहीं है। तत्पश्चात् **गोपायस्व स मा मृत** के स्थान पर **गोपाय समावृतत्** पाठ है। अन्य गृह्यसूत्रों के पाठों से तुलना करने पर पता चलता है कि **समावृतत्, स मा मृत** का भ्रष्ट रूप है। किन्तु ड्रेस्डन का सुझाव है कि **वृतत्** अट्-रहित लुङ् का रूप होना चाहिये।[1] **स,** और **मा** को पृथक्-पृथक् लेकर वह इसका अनुवाद 'वह मृत्यु को प्राप्त हो' करता है। आ०गृ०(१।२०।६) में **स मा मृत** पाठ सहित मा०गृ० के समान पाठ है। यहाँ इसका विनियोग आचार्य द्वारा शिष्य को सूर्यदर्शन कराने के प्रसंग में किया गया है। मं०पा० (२।३।३१) में इस वाक्य का आरम्भ **असौ** से होता है, **सवितः** नहीं है, **ते** और **ब्रह्मचारी** के मध्य **देव सूर्य** शब्द हैं और **ब्रह्मचारी** के पश्चात् आ०गृ० के समान पाठ है। मं०पा० में द्वितीय वाक्य का भी निम्नलिखित अंश विद्यमान है:—

एष ते सूर्य पुत्रः स दीर्घायुः स मा मृत ॥ [५९६]

हे सूर्य, यह तुम्हारा पुत्र है, वह दीर्घायु हो, वह मरे नहीं।

का०गृ० का **सूर्य पुत्रैष ते** इत्यादि पाठ इसी का भ्रष्ट रूप प्रतीत होता है। आप०गृ० (४।११।३) में विधान है कि शिष्य से औपचारिक साक्षात्कार के पश्चात् आचार्य को इस वाक्य का उच्चारण करना चाहिये। गृह्यसूत्रों में इस प्रसंग में दी गई विविध देव-भूतादि-सूचियों से यह स्पष्ट है कि शिष्य को उन्हें सौंपने का अभिप्राय यह था कि अध्ययन- काल में वह किसी प्रकार के मानुष, अतिमानुष अथवा दैवी प्रकोप से सुरक्षित रहे। यहाँ तक कि यम और मृत्यु को भी उसे सौंपा गया है क्योंकि यम ही मृत्यु से रक्षा कर सकता है। मं०पा० में तो ब्रह्मचारी को सूर्य का पुत्र ही कहा गया है। पुत्ररूप में की गई रक्षा से बढ़कर और कोई रक्षा नहीं हो सकती।

---

१. मा०गृ०अनु०पृ०९६, पा०टि०८।

इन सूचियों में तक्षक, गद, अघोर, मख इत्यादि अद्‌भुत नामों से उस काल में जादू-टोने के अस्तित्व का स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि कौशिक० की सूची में ऐसे नामों का बाहुल्य है।

समिदाधान

अधिकांश गृह्यसूत्रों में अग्नि में समिधाएँ डालने के लिये निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है[1] :—

अग्नये समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे।
यथा त्वमग्ने समिधा समिध्यस एवं मामायुषा वर्चसा सन्या मेधया प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा॥ [५९७]

महान् जातवेदा अग्नि के लिये मैं समिधा लाया हूँ। हे अग्नि, जिस प्रकार तुम समिधा से प्रज्वलित होते हो, उसी प्रकार मुझे आयु, तेज, धन, मेधा, सन्तान, पशुओं, ब्रह्मतेज, अन्न खाने के सामर्थ्य से प्रदीप्त करो॥

मन्त्र का यह पाठ मं०पा० में से उद्धृत है। भा०गृ० और वै०गृ० में भी यही पाठ है। हि०गृ० और आग्नि०गृ० में भी इससे बहुत मिलता-जुलता पाठ है। केवल **आयुषा, वर्चसा, सन्या** का अभाव है और उनके स्थान पर **प्रज्ञया** पाठ है। जै०गृ० में **माम्** के स्थान पर **अहम्** है और तदनुसार **समेधय** के स्थान पर **समेधिषीय** पाठ है, इससे पूर्व **धनेन** का समावेश किया गया है। इसके अतिरिक्त **सन्या** से पूर्व **तेजसा** और **प्रजया** से पूर्व **प्रज्ञया** समाविष्ट है। जै०गृ० के समान मं०ब्रा० में भी **अहम्** और **समेधिषीय** है, परन्तु अवशिष्ट मन्त्र में यह मं०पा० के अधिक निकट है—केवल **सन्या** छोड़ा गया है और **ब्रह्मवर्चसेन** के पश्चात् **धनेन** डाला गया है। पा०गृ० में मन्त्र का विस्तार और भी अधिक है। **ब्रह्मवर्चसेन** तक तो पाठ मं०ब्रा० के समान है। तत्पश्चात् निम्नलिखित दिया गया है :—

समिन्धे जीवपुत्रो ममाचार्यो मेधाव्यहमसान्यनिराकरिष्णुर्यशस्वी तेजस्वी ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भूयासम् स्वाहा॥

मैं (अग्नि) प्रज्वलित करता हूँ। मेरा आचार्य जीवित पुत्रों वाला हो, मैं

---

१. आ०गृ० १।२१।१, शां०गृ० २।१०।४, आप०गृ० ४।११।२२ (मं०पा० २।६।२), भा०गृ० १।८, हि०गृ० १।७।२, आ०गृ० १।१।४, वै०गृ० २।७, पा०गृ० २।४।३, गो०गृ० २।१०।४२, (मं०ब्रा० १।६।३२), खा०गृ० २।४।२७, जै०गृ० ११।२१, का०गृ० २।१, वा०गृ० ५।३४, कौशिक० ५७।२६।

मेधावी हो जाऊँ तथा विरोध न करने वाला, यशस्वी, तेजस्वी, ब्रह्मतेज से युक्त, अन्न खाने की सामर्थ्य वाला हो जाऊँ ॥

इस प्रकार इस गृह्यसूत्र में सुविस्तृत प्रार्थना दी गई है। आ०गृ०, शां०गृ०, वा०गृ० और का०गृ० में अथर्व० १९।६४।१ के तुल्य मन्त्र का अतिलघु रूप दिया गया है। प्रथम तीन गृह्यसूत्रों में मन्त्र का पूर्वार्ध मं०पा० के समान ही है। अथर्व० में भी यह अंश बहुत भिन्न नहीं है। का०गृ० में मन्त्र का प्रारम्भ **इदमहम्** से होता है और उसके पश्चात् अथर्व० के **अग्ने** (मं०पा० 'अग्नये') के स्थान पर **अग्नौ** पाठ है। शां०गृ० और वा०गृ० में अथर्व० के समान उत्तरार्ध है **स मे श्रद्धां च मेधां च जातवेदाः प्रयच्छतु** (वह जातवेदा मुझे श्रद्धा और मेधा प्रदान करे)।

का०गृ० में **जातवेदाः** से पूर्व **दीर्घं चायुः** का समावेश किया गया है। आ०गृ० में मन्त्र का उत्तरार्ध **तथा त्वमग्ने वर्धस्व समिधा ब्रह्मणा वयं स्वाहा** है। (हे अग्नि, तुम उस समिधा से वृद्धि प्राप्त करो और हम वेद से वृद्धि प्राप्त करें।) कौशिक० में अथर्व० मन्त्र का उद्धरण प्रतीक द्वारा इस प्रकार किया गया है :—

अग्ने समिधम् इत्यादि ॥ [५९८]

निस्सन्देह अथर्व० मन्त्र के उत्तरार्ध की प्रार्थना (दे० ऊपर) एक शिक्षार्थी के लिये आदर्श प्रार्थना है। सभी प्रकार की शारीरिक और भौतिक समृद्धि के अतिरिक्त उसके लिये श्रद्धा और मेधा परम आवश्यक है। **श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्** उक्ति अत्यन्त प्रसिद्ध है। श्रद्धा से गुरु-शिष्य सम्बन्ध में एक अटूट सौहार्द उत्पन्न होता है। उसके संयोग से ही मेधा ज्ञान-सामग्री को ग्रहण करने में समर्थ होती है। समिदाधान ज्ञान की ज्योति जलाने का प्रतीक प्रतीत होता है।

बौ०गृ०, आ०गृ० और भा०गृ० में अग्नि में पलाश की समिधा डालने के लिये निम्नलिखित मन्त्र के उच्चारण का विधान है[1] :—

आयुर्दा देव जरसं गृणानो घृतप्रतीको घृतपृष्ठो अग्ने।
घृतं पिबन्नमृतं चारु गव्यं पितेव पुत्रं जरसे नयेमं स्वाहा ॥ [५९९]

हे अग्नि देव, आप आयु देने वाले, वृद्धावस्था की स्तुति करने वाले, घृतरूपी मुख वाले तथा घृतरूपी पृष्ठ वाले हैं। जिस प्रकार पिता (पोषण करके) अपने पुत्र को वृद्धावस्था प्राप्त कराता है, उसी प्रकार अमृततुल्य, सुन्दर, गौ के घृत का पान करते हुए आप इस ब्रह्मचारी को वृद्धावस्था प्राप्त कराइये अर्थात् आयुष्मान् कीजिये ॥

---

१. बौ० गृ० २।५।६, आप० गृ० ४।१०।९ (मं०पा० २।२।१), भा० गृ० १।८।

विभिन्न गृह्यसूत्रों में विभिन्न कर्मों के अन्तर्गत पाठान्तर सहित इस मन्त्र का विनियोग हुआ है। अधिकांश स्थलों पर इसका सम्बन्ध शिशुसम्बन्धी कर्मों से है। हि० गृ० १।३।५ और आग्नि० गृ० १।१।२ में विधान है कि अग्न्याधान के अवसर पर एक आहुति इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए अर्पित करनी चाहिए। वा० गृ० ३।१२ के अनुसार अन्नप्राशन संस्कार में शिशु को अन्न खिलाने के समय इसका उच्चारण करना चाहिये। एक अन्य स्थल (४।५) पर चूडाकर्म के अन्तर्गत आहुति के लिये भी इसका विधान है। इन दोनों स्थलों पर **गृणानः** के स्थान पर **वृणानः** पाठान्तर है। यह पाठ संहिताओं द्वारा प्रपुष्ट है।[1] सम्भवतया ओल्डनबर्ग ने इसी आधार पर इस पाठ का अधिमान किया है।[2] का० गृ० ३९।२ के अनुसार अन्नप्राशन में शिशु को अन्न खिलाने से पूर्व आहुति के साथ इसका उच्चारण करना चाहिए। उपर्युक्त पाठान्तर के अतिरिक्त इस गृह्यसूत्र में अपनी संहिता (का० सं०) के अनुसार **घृतप्रतीकः** के स्थान पर **घृतं वसानः** पाठान्तर भी है। हि० गृ० १।६।२ और वै० गृ० २।६ में विधान है कि उपनयन में आचार्य को शिष्य के वामकर्ण में इस मन्त्र का जप करना चाहिए। इन गृह्यसूत्रों में मन्त्र का पाठ तै० सं० १।३।१४।४ तथा कुछ अन्य ग्रन्थों के समान है।[3] तदनुसार **देव** के स्थान पर **अग्ने, जरसं गृणानः** के स्थान पर **हविषे जुषाणः, पिबन्नमृतम्** के स्थान पर **पीत्वा मधु** और **जरसे नयेमम्** के स्थान पर **अभिरक्षतादिमम्** पाठान्तर हैं। बौ०गृ०३।७।१२ में जातकर्म संस्कार में आयुष्यकर्म के निमित्त केवल '**आयुर्दा अग्ने हविषो जुषाणः** अंश उद्धृत किया गया है। शां० गृ० १।२५।७ में नामकरण के अन्तर्गत एक आहुति के साथ इसके उच्चारण का निर्देश है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि ऋग्वेद से सम्बद्ध होने पर भी इस गृह्य में औचित्य और सौष्ठव की दृष्टि से इस यजुर्वेदीय मन्त्र का विनियोग किया गया है। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जहाँ औचित्य को ध्यान में रखकर गृह्यसूत्रों द्वारा अपनी शाखा का आग्रह त्याग दिया गया है। इस गृह्यसूत्र में भी तै० सं० के पाठ का ही अनुसरण किया गया है—केवल **हविषो जुषाणः** के स्थान पर **हविषा वृधानः** और **अभि** के स्थान पर **इह** पाठान्तर हैं। मन्त्र के पूर्व इसमें निम्नलिखित भी दिया गया है :—

आयुष्टे अद्य गीर्भिरयमग्निर्वरेण्यः आयुर्नो देहि जीवसे ॥ [६००]

---

१. मै० सं० ४।१२।४, का० सं० ११।१३।

२. से० बु० ई० खं० ३०, पृ० १४४, सूत्र ५ पर पा० टि०।

३. वा० सं० ३५।१७, तै० सं० ३।३।८।१, श० ब्रा० १३।८।४।६, का० श्रौ० २१।४।२६, तै०आ०२।५।१,७।१, आप०श्रौ० १३।१६।१०,१४।१७।१, मा०श्रौ० २।५।४।२०।

प्रशंसा वचनों द्वारा पूजनीय यह अग्नि आज तुम्हें आयु प्रदान करे। हे अग्नि, हमें दीर्घजीवनार्थ आयु दीजिये ॥

कौशिक० (५३।१) में कहा गया है कि इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए गृहस्थ को चूडाकर्म के निमित्त सामग्री एकत्र करनी चाहिए। उसी कर्म के अन्तर्गत एक अन्य स्थान (५३।१३) पर आज्याहुति के साथ इसके उच्चारण का विधान है। कौशिक० में मन्त्र का पाठ अपने वेद (अथर्व० २।१३।१) के अनुसार दिया गया है। यह पाठ भी तै० सं० जैसा है—केवल भेद **हविषो जुषाणः** के स्थान पर **जरसं वृणानः** है। इस मन्त्र के विविध शिशुसम्बन्धी गृह्य-विनियोगों का समान आधार सम्भवतया अग्नि से दीर्घ जीवन और पिता के समान बालक की रक्षा की प्रार्थना है। इसके अतिरिक्त मन्त्र में दीर्घ जीवन का रहस्य अमृततुल्य गोघृत का सेवन भी बताया गया है। जहाँ तक समिदाधान के लिये मन्त्र के विनियोग का सम्बन्ध है, ऐसा प्रतीत होता है कि गृह्यसूत्रकारों ने तै० ब्रा० (१।२।१।११) और आप० श्रौ० (५।६।३) का अनुसरण किया है। वहाँ अग्न्याधान के अन्तर्गत समिदाधान करते हुए क्षत्रिय द्वारा इसके उच्चारण का विधान है। अन्य सभी गृह्य-विनियोगों का आधार तै०सं (२।२।३।२) और आ० श्रौ० (२।१०।४) में आयुष्कामेष्टि में इसका विनियोग प्रतीत होता है।

शां० गृ० (२।१०।४,) हि० गृ० (१।८।४) और आग्नि० गृ० (१।१।४) में समिदाधान के लिये निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है :—

एषा ते अग्ने समित्तया वर्धस्व चा च प्यायस्व वर्धिषीमहि च वयमा च प्यासिषीमहि ॥ [६०१]

हे अग्नि, यह तुम्हारी समिधा है, उससे तुम वृद्धि को प्राप्त हो और विस्तार को प्राप्त हो। इसी प्रकार हम भी अभिवृद्ध हों और विस्तार अर्थात् प्रसिद्धि प्राप्त करें॥

उपर्युक्त मन्त्र का पाठ वा० सं० (२।१४) में से उद्धृत है। पा० गृ० (२।४।५) में इसे प्रतीकेन (एष ते) दिया गया है। आप० गृ० और वै० गृ० में इसके पाठान्तर हैं।[1] मं० पा० में **प्यायस्व** के पश्चात् **च तयाहं वर्धमानो भूयासमाप्यायमानश्च** है। वै० गृ० में **वर्धस्व** के स्थान पर **समिध्यस्व** है और **प्यायस्व** तथा **वर्धिषीमहि** के मध्य **वर्धतां च यज्ञपतिरा च प्यायताम्** है। इन पाठान्तरों के होने पर भी कुल मिलाकर मन्त्र का भाव अपरिवर्तित रहता है। मन्त्र के गृह्य-विनियोग की पुष्टि पूर्व-

१. आप० गृ० ४।११।२२ (मं० पा० २।६।११), वै० गृ० २।७।

वर्ती साहित्य से होती है क्योंकि वहाँ भी इसका विनियोग दर्शपौर्णमास याग में समिदाधान के लिये किया गया है।[1] कुछ ग्रन्थों में इसी क्रिया के लिये इसका विनियोग अग्निहोत्र के अन्तर्गत किया गया है।[2] मन्त्र में अभिव्यक्त सर्वतोमुखी वृद्धि का भाव शिक्षा में संगत है। शा० गृ० में एक अन्य स्थल (२।४।६) पर उपनयन के अन्तर्गत ही आचार्य से औपचारिक उपदेश ग्रहण करने के पश्चात् समिदाधान करते हुए शिष्य द्वारा **समित्** शब्द पर्यन्त मन्त्र के उच्चारण का विधान है।

कुछ गृह्यसूत्रों द्वारा एक एक करके शिष्य द्वारा तीन समिधाओं के आधान के लिये क्रमशः निम्नलिखित तीन वाक्यों का विनियोग किया गया है[3]:—

एधोऽस्येधिषीमहि ॥
समिदसि समेधिषीमहि ॥
तेजोऽसि तेजो मयि धेहि ॥ [६०२-६०४]

तुम ईंधन हो, हम तुम्हारे समान प्रदीप्त हों ॥ तुम समिधा हो, हम तुम्हारे समान प्रज्वलित हों ॥ तुम तेज हो, मुझमें तेज स्थापित करो ॥

मा० गृ० और वा० गृ० में इनमें से तृतीय वाक्य नहीं है। केवल मा० गृ० में प्रथम दो वाक्यों का विनियोग एकाधिक कर्मों में किया गया है। इसका विनियोग विवाह के अन्तर्गत (१।११।२४) भी है और पाक यज्ञों के सामान्य वर्णन के अन्तर्गत भी (२।२।२५)। परन्तु दोनों स्थलों पर क्रिया समिदाधान की ही है। ये वाक्य प्राचीनतम रूप में अथर्व० (७।८९।४) में विद्यमान हैं। वहाँ **एधिषीमहि** और **समेधिषीमहि** के स्थान पर क्रमशः **एधिषीय** और **समेधिषीय** (एकवचनान्त) पाठ हैं। कौशिक० (६।१२) में दर्शपौर्णमास याग के अन्तर्गत समिदाधान के लिए इस अथर्व० मन्त्र का विनियोग किया गया है। अन्य स्थल (५७।२७) पर यह भी विधान है कि उपनयन में समिदाधान के पश्चात् शिष्य को इसका उच्चारण करते हुए ऊष्मा अर्थात् धूम का भक्षण करना चाहिए। वाक्यों का सीधा स्रोत यजुर्वेद संहिताएँ प्रतीत होती हैं क्योंकि गृह्यसूत्रों का पाठ उनके पाठ के बहुत निकट है।[4] इनके गृह्यविनियोग का आधार भी ब्राह्मण और श्रौत साहित्य प्रतीत होता है क्योंकि वहाँ भी अग्निष्टोम

१. श० ब्रा० १।८।२।४, शां० श्रौ० ११२।१२, का० श्रौ० ३।५।२।
२. तै० आ० ४।११।४, आप० श्रौ० ३।४।६, मा० श्रौ० १।६।१।३४।
३. आ० गृ० ४।११।२२ (मं० पा० २।६।३-५), का० गृ० २।१,२, मा० गृ० १।१।१६, वा० गृ० ५।३१, शां० गृ० २।१०।४।
४. वा० सं० २०।२३,३८।२५, तै० सं० १।४।४६।३,६।६।३।५, मै० सं० १।३।३९, १०।१३,४।८।५, का० सं० ४।१३,९।७,२९।३,३५।७,१४;३८।५।

याग के अन्तर्गत अन्तिम स्नान अवभृथ में समिदाधान के लिये ही इनका विनियोग किया गया है।[1] वाक्यों में अभिव्यक्त तेज और दीप्ति की कामना शिक्षा के आदर्शों के पूर्णतया अनुकूल है।

हि० गृ०, आग्नि० गृ० और वै० गृ० में **एष ते** इत्यादि मन्त्र के अतिरिक्त एक एक करके तीन समिधाओं का आधान करने के लिए क्रमशः निम्नलिखित तीन मन्त्रों का विनियोग किया गया है[2] :—

मेधां म इन्द्रो दधातु मेधां देवी सरस्वती ।
मेधां मे अश्विनावुभावाधत्तां पुष्करस्रजौ स्वाहा ।। [६०५]
अप्सरासु च या मेधा गन्धर्वेषु च यन्मनः ।
दैवी मेधा मनुष्यजा सा मां मेधा सुरभिर्जुषतां स्वाहा ।। [६०६]
आ मां मेधा सुरभिर्विश्वरूपा हिरण्यवर्णा जगती जगम्या ।
ऊर्जस्वती पयसा पिन्वमाना सा मां मेधा सुप्रतीका जुषतां स्वाहा ।। [६०७]

इन्द्र मुझे बुद्धि प्रदान करे, देवी सरस्वती बुद्धि प्रदान करे। सुन्दर मालाओं वाले दोनों अश्विन् मुझे बुद्धि प्रदान करें ।। जो बुद्धि अप्सराओं में है, और जो मन गंधर्वों में है, जो मनुष्यों में दिव्य बुद्धि है, वह सुरभित बुद्धि मेरे पास आये ।। वह शोभन मुख वाली, सुरभित, विश्वरूपा, सुवर्ण-सम वर्ण वाली, गतिशील, पुनः पुनः प्राप्तियोग्य, ऊर्जा से युक्त, दूध से अभिवृद्ध होने वाली मेधा सब ओर से मेरे पास आये ।।

इनमें से केवल द्वितीय मन्त्र का विनियोग जै० गृ० (१२।३) द्वारा इस कर्म में किया गया है। प्रथम दो मन्त्र ऋ० खि० १०।१५१।२,३ हैं। प्रथम मन्त्र का विस्तृत विवेचन जातकर्म के अन्तर्गत किया गया है (दे० मं०सं० ४३०)। सभी मन्त्रों में अभिव्यक्त मेधा की कामना शिक्षा-सम्बन्धी संस्कार में अत्यन्त सङ्गत है।

ऊपद्र के प्रथम मन्त्र से मिलते-जुलते दो मन्त्रों का विनियोग का० गृ० (४१।१८) में शिष्य को औपचारिक उपदेश देने के पश्चात् आचार्य द्वारा उससे उच्चारण करवाये जाने के लिए किया गया है। उन मन्त्रों का पाठ इस प्रकार है :—

मेधां मह्यमङ्गिरसो मेधां सप्तर्षयो ददुः ।
मेधामग्निश्च वायुश्च मेधां धाता ददातु मे ।। [६०८]

---

१. ऐ० ब्रा० २।६७, श०ब्रा० १२।९।२।१०, तै०ब्रा० २।६।६।४, आ०श्रौ०३।६।२६, ला० श्रौ० २।१२।११, आप० श्रौ० १३।२२।६, का० श्रौ० १९।५।१९।

२. हि० गृ० १।८।४, आग्नि० गृ० १।१।४, वै०गृ० २।७।

मेधां मे वरुणो राजा मेधामग्निर्ददातु मे ।
मेधामिन्द्रश्च सूर्यश्च मेधां देवी सरस्वती ॥ [६०९]

मुझे अंगिरसों ने मेधा प्रदान की है, सप्तर्षियों ने मेधा प्रदान की है। उसी प्रकार अग्नि, वायु, और धाता मुझे मेधा प्रदान करें। राजा वरुण तथा अग्नि मुझे मेधा प्रदान करें, इन्द्र, सूर्य और सरस्वती देवी मुझे मेधा प्रदान करें ॥

अन्य देवताओं के नामों के साथ यहाँ सरस्वती के उल्लेख की ओर ध्यान आकृष्ट होना स्वाभाविक है। इससे विद्यादेवी के रूप में उसकी प्रतिष्ठा अभिपुष्ट होती है। द्वितीय मन्त्र का स्रोत वा० सं० ३२।१५ प्रतीत होता है। वहाँ **राजा** के स्थान पर **ददातु** और **ददातु मे** के स्थान पर **प्रजापतिः** पाठ है और उत्तरार्ध में **इन्द्रश्च** के पश्चात् प्रथम मन्त्र के **वायुश्च** इत्यादि शब्द हैं। का० गृ० में इसी प्रसंग में हि० गृ० के द्वितीय मन्त्र (सं० ६०६) के समान एक और मन्त्र उद्धृत किया गया है। उत्तरार्ध में **मनुष्यजा** के स्थान पर **मनुष्ये च** और **मेधा सुरभिर्जुषतां स्वाहा** के स्थान पर **आविशतादिह** पाठान्तर हैं। परन्तु इससे मन्त्र का भाव अपरिवर्तित रहता है।

आप० गृ० (४।११।२२) में बारह में से तीन समिधाओं का आधान करने के लिये शिष्य द्वारा निम्नलिखित तीन मन्त्रों (मं० पा० २।६।६-८) के उच्चारण का विधान है :—

अपो अद्यान्वचारिषं रसेन समसृक्ष्महि ।
पयस्वाँ अग्न आगमं तं मा संसृज वर्चसा स्वाहा ॥[६१०]
सं माग्ने वर्चसा सृज प्रजया च धनेन च स्वाहा ॥[६११]
विद्युन्मे अस्य देवा इन्द्रो विद्यात्सह ऋषिभिः स्वाहा ॥ [६१२]

आज मैंने जल का अनुसरण किया है, हम रस से संयुक्त हुए हैं। हे अग्नि, मैं आहुति के लिये दूध से युक्त आया हूँ। उस प्रकार के मेरा तुम तेज से संयोग करो ॥ हे अग्नि, मेरा संयोग तेज, सन्तति और धन से कीजिये ॥ इस प्रकार के मेरे विषय में देवता जान लें, ऋषियों सहित इन्द्र मेरे विषय में जान ले ॥

मन्त्रों में तेज की कामना की गई है। वस्तुतः विद्या से मनुष्य तेजस्विता प्राप्त करता है—यदि शिक्षा सन्तुलित हो। अधिकांश संहिताओं में अन्तिम दो मन्त्र एक मन्त्र के रूप में आये हैं और सभी में इन मन्त्रों का क्रम भी यही है।[1] प्राचीन

१. ऋ० १।२३।२३,२४, अथर्व० ७।८६।१,२;१०।५।४६,४७, वा० सं० २०।२२, का० सं० ४।१३। गृ० वि० १६]

वैदिक ग्रन्थों में प्रथम मन्त्र के अधिक स्थलों में विद्यमान होने के कारण इसकी अधिक लोकप्रियता सिद्ध होती है। उपर्युक्त संहिताओं के अतिरिक्त अन्य संहिताओं में भी यह एकाधिक बार उपलब्ध होता है।[1] मा०गृ० १।१।१७ और वा०गृ० ५।३२ में समिदाधान के ठीक पश्चात् शिष्य द्वारा अग्नि की उपासना के लिये इसका विनियोग किया गया है। मा०गृ० में इसी कर्म के लिये इसका विनियोग विवाह तथा (१।११।२५) पाक यज्ञों के साधारण नियमों (२।२।२६) के अन्तर्गत भी किया गया है।

गृह्यसूत्रों में उद्धृत इन मन्त्रों का पाठ कृष्णयजुर्वेदीय ग्रन्थों के पाठ के बहुत समान है। मं०पा० के तृतीय मन्त्र (सं०६१२) का पाठ विद्युत् अन्य सभी स्थलों पर विद्युः है। यही शुद्ध भी है। विन्तरनित्ज़ ने भी विद्युत् को भ्रष्ट-पाठ माना है।[2] जहाँ तक प्रथम मन्त्र के गृह्य-विनियोग का प्रश्न है, इसकी पुष्टि प्राग्-गुह्यसूत्र प्रयोग से भी होती है क्योंकि वहाँ भी अग्निष्टोम याग के अन्तर्गत इसका विनियोग अन्तिम कर्म अवभृथ स्नान के अवसर पर आहवनीय अग्नि की उपासना में किया गया है।[3] किन्तु इन सभी गृह्य तथा श्रौत परम्पराओं के विपरीत, कौशिक० ४२।१३ में शिक्षा की अवधि पूर्ण करके लौटते हुए स्नातक द्वारा जल का अभिमन्त्रण करने के लिए इसके उच्चारण का विधान किया गया है। प्रकटरूप में यहां विनियोग का मुख्य प्रेरणास्रोत आपः (जल) शब्द रहा होगा।

सावित्री मन्त्र का अनुवाचन

सावित्री-अनुवाचन उपनयन संस्कार का सर्वप्रमुख कर्म है। इस मन्त्र की शिक्षा न प्राप्त करने वाले को समाज का उत्तरदायित्वपूर्ण सभ्य सदस्य नहीं माना जाता था। इन व्यक्तियों को **पतितसावित्रीक** कहा जाता है। इसका अभिप्राय वे व्यक्ति हैं जिनका सावित्री-शिक्षण का अधिकार समाप्त हो गया है।[4] परम पूज्य मन्त्र (ऋ०३।६२।१०) को ही सावित्री अथवा गायत्री कहा जाता है :—

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥ [६१३]

---

१. ऋ० १०।६।६, तै०सं० १।४।४५।३, ४६।२, मै०सं० १।३।३६, का०सं०२६।३; ३८।५।

२. मं०पा० सू०, पृ० २४।

३. श०ब्रा०१२।६।२६ तै०ब्रा०२।६।६।५ ला०श्रौ० २।१२।१३, श्रा०श्रौ०३।६।२७, आप०श्रौ० १३।२२।६, का०श्रौ० १६।५।१८, दे०मं०सं० ६०२-६०४।

४. वे०इं०वै०कल्प०, पृ० ३२२-३२३।

हम सर्वप्रेरक सविता देवता के उस पूजनीय प्रसिद्ध तेज का ध्यान करें जो (सविता) हमारी बुद्धियों को प्रेरित करे ॥

बुद्धि के लिए उपनयन संस्कार में यह सर्वोत्कृष्ट प्रार्थना है। इसके अतिरिक्त परम्पराकी दृष्टि से भी यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। सभी हिन्दु सम्प्रदायों की यह मुख्य प्रार्थना है। इतना कहना पर्याप्त होगा कि अन्य किसी मन्त्रादि का उच्चारण न करके केवल इसका उच्चारण भी स्वत:सम्पूर्ण प्रार्थना मानी जाती है। इसके अनुकरण पर अन्य सम्प्रदायों में मन्त्र रचना भी की गई। उदाहरणार्थ निम्नलिखित भैरवी की गायत्री देखिये :—

त्रिपुरायै विद्महे भैरव्यै धीमहि। तन्नो देवी प्रचोदयात् ॥

सभी गृह्यसूत्रों में शिष्य द्वारा इसका अनुवाचन कराने का विधान किया गया है।[1] और उनमें इसके अनुवाचन की एक विशेष पद्धति दी गई है। तदनुसार पहले पादश:, फिर अर्धर्चश: और अन्त में सकलेन शिष्य द्वारा इसका उच्चारण कराया जाना चाहिए। बुद्धि की प्रार्थना होने के कारण इस मन्त्र की सर्व-सामान्य विनियोगार्हता के आधार पर कुछेक गृह्यसूत्रों में इसका विनियोग अन्यत्र भी किया गया है। वै०गृ० (१।१२) में आघाराहुति के साथ इसके उच्चारण का विधान है। इसी गृह्यसूत्र में अन्यत्र (४।४) इसे गायत्री मन्त्र अभिहित करके अष्टका के अन्तर्गत गृहस्थ द्वारा पिण्डों के निमित्त निर्धारित स्थान पर जलाभिषेक के अवसर पर विनियुक्त किया गया है। कौशिक० (९१।६) में मधुपर्क ग्रहण करने के समय भी इसके उच्चारण का विधान किया गया है। मा०गृ० १।४।८ में उत्सर्जन अर्थात् शिक्षासत्रावसान पर और मा०गृ० १।५।२-३ में तर्पण पर इसके उच्चारण का निर्देश दिया गया है। अन्य अनेक गृह्यसूत्रों में सन्ध्योपासना के समय शिष्य द्वारा इसके उच्चारण का विधान है।[2]

अथर्व० और का०सं० को छोड़कर अन्य सभी संहिताओं में यह विद्यमान है। वा०सं० और तै०सं० में तो यह अनेक बार आयी है।[3] परन्तु अथर्व० तथा का०सं०

---

१. शां०गृ० २।५।१२; ७।१९, आ०गृ० १।२१।४,५, गो०गृ० २।१०।३५ (मं०ब्रा० १।६।२९,३०) खा०गृ० २।४।२१, जै०गृ० १२।३, बौ०गृ० २।५।४०, आप०गृ० ४।११।९ (मं०पा० २।४।१३), हि०गृ० १।६।६,११, भा०गृ० १।९, आग्नि०गृ० १।१।३, वै०गृ० २।४, पा०गृ० २।३।३,५, मा०गृ० १।२२।१३, का०गृ० ४१।२०, वा०गृ० ५।२५,२६, कौशिक० ५६।८-११

२. आ०गृ० ३।४।७, शां०गृ० २।९।२, जै०गृ० १।१३, मा०गृ० १।२।३, का०गृ० १।२८, वा०गृ० ५।३० ।

३. वा०सं० ३।३५; २२।९; ३०।२; ३६।३, तै०सं० १।५।६।४; ४।१।११।१, मै०सं० ४।१०।३ ।

में इतने महत्त्वपूर्ण मन्त्र की अनुपस्थिति आश्चर्यजनक है।[1] इस अनुपस्थिति तथा अन्य संहिताओं में इसके प्रति साधारण से दृष्टिकोण से यह निष्कर्ष निकालने को विवश होना पड़ता है कि संहिता-काल तक इस मन्त्र को **परम-पूज्य** सावित्री का पद नहीं प्राप्त हुआ था। ऐ०ब्रा० और कौ०ब्रा० में भी सवितृ-सम्बन्धी अनेक मन्त्रों में से कोई एक के रूप में यह अभिज्ञात था। उदाहरणार्थ ऐ०ब्रा० में द्वादशाह याग के अन्तर्गत द्वितीय, चतुर्थ, षष्ठ और अष्टम दिवसों पर उच्चारणीय वैश्वदेव शस्त्र की प्रतिपद् ऋचा के रूप में इसे उद्धृत किया गया है।[2]

तै० आ० (१०।२७।१) में प्राणायाम में इसका विनियोग किया गया है। कुछ श्रौतसूत्रों में यह अग्निहोत्र यज्ञ में आहवनीय अग्नि की उपासना के लिये विनियुक्त है।[3] परन्तु इसके गृह्यविनियोग का सीधा स्रोत श०ब्रा० (११।५।४।६) है क्योंकि यहाँ प्रथम बार गृह्यसूत्रों के समान उसी कर्म में उसी पद्धति से इसके उच्चारण का विधान किया गया है। सम्भवतया इसी ग्रन्थ में सर्वप्रथम इस मन्त्र को परमपूज्या सावित्री का पद प्राप्त हुआ। श० ब्रा० में तीन अन्य स्थलों पर भी यह मन्त्र उद्धृत किया गया है। श० ब्रा० २।३।४।३९ में अग्नि-उपासना के प्रसंग में इसका महत्त्व बताते हुए कहा गया है कि 'सविता देवताओं का जनक है, अतः सविता द्वारा उत्पादित सभी कामनाएं इसमें (मनुष्य में) समृद्ध हो जाती हैं।' (**सविता वै देवानां प्रसविता, तथा हास्मा एते सवितृप्रसूता एव सर्वे कामाः समृध्यन्ते।**) एक और स्थान (१३।६।२।९) पर पुरुषमेध के संक्षिप्त वर्णन के पश्चात् उल्लेख है कि पशु की परीक्षा करते हुए **देव सवितः** इत्यादि तीन सावित्री ऋचाओं का उच्चारण करना चाहिए। उनमें दूसरी ऋचा विवेच्य गायत्री मन्त्र है। इससे यह सिद्ध होता है कि इस काल तक (अन्य दो ऋचाओं के साथ साथ) इसे सावित्री नाम से अभिहित किया जाने लगा था। गृह्यविनियोग की दृष्टि से श० ब्रा० १४।९।३।११-१३ पुनः महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यहाँ श्रीमन्थ[4] के प्रथम, द्वितीय और तृतीय कवल के साथ क्रमशः सावित्री के

१. अपने लेख 'गायत्री' में (रिसर्च बुलेटिन पंजाब वि०वि० १३,१९५४) पृ०४ पर विश्व बन्धु ने लिखा है—"यद्यपि गायत्री इसी रूपमें अथर्व० में विद्यमान नहीं है तथापि सम्भवतया अनुक्रमणी में अथर्व० १९।७१।१ (स्तुता मया वरदा वेदमाता इत्यादि [६१४] को ठीक ही इसका नाम दिया गया प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त वेदमाता नामक पृथक् देवता मानकर गो०ब्रा० १।३८ में इस गायत्री को ही वेदमाता कहा भी गया है (वेदानां मातरं सावित्रीम्)।" किन्तु अनुक्रमणी और गो० ब्रा० दोनों ही संहिताओं के बहुत परवर्ती हैं।

२. ऐ०ब्रा० ४।३२।२, ५।५।६; १३।८; १९।८।

३. शां० श्रौ० २।१२।७, आप० श्रौ० ६।१८।१, वै० श्रौ० २।८।

४. सभी औषधियों और फलों को पीसकर तैयार किया गया मिश्रण।

प्रथम, द्वितीय और तृतीय पादों के उच्चारण का विधान है। यहाँ न केवल पादों में विभाजन की पद्धति गृह्यसूत्रों के निकट है अपितु श्रीमन्थ-भक्षण की तुलना कौशिक० के मधुपर्क-भक्षण से भी की जा सकती है। सावित्री ऋचा के महत्त्व का वर्णन गो०ब्रा० १।१।३४-३६ में भी किया गया है। तदनुसार गायत्री के तीन पाद प्राप्त करने के लिये सविता ने पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ का संयोग क्रमशः ऋग्, यजुः और साम से किया।[1] इसके पश्चात् यह भी बताया गया है कि किस प्रकार प्रजा, कर्म, तप, सत्य, ब्रह्म और ब्राह्मण की सृष्टि की गई इत्यादि। संक्षेप में यहाँ इस ऋचा को आध्यात्मिक महत्त्व प्राप्त हो गया था। जै० उप० ब्रा० ४।२८।२ में भी गृह्य-पद्धति के समान ही पहले इसका अर्थ पादशः, फिर अर्धर्चशः और अन्त में सकलेन दिया गया है। यहाँ इसका महत्त्व और भी बढ़ गया है। इसे मृत्यु से मुक्ति दिलाने वाली कहा गया है—"यो वा एनां सावित्रीमेवं वेदाप पुनर्मृत्युं तरति, सावित्र्या एव सलोकतां जयति।" इस प्रकार आश्चर्य नहीं है कि गृह्यसूत्रों में और आज भी इस परम-पूज्या सावित्री का हिन्दु-धर्म में इतना महत्त्व हो।

परन्तु जहाँ सब गृह्यसूत्रों में इस कर्म में इतने संगतार्थ मन्त्र का विनियोग हुआ है, वहाँ कुछ गृह्यसूत्रों में विभिन्न वर्णों के बालकों की उपनयन की आयु और मन्त्र के पाद में अक्षरों की समानता के आधार पर ब्राह्मण शिष्य के लिये गायत्री छन्द वाले, क्षत्रिय शिष्य के लिये त्रिष्टुभ् छन्द वाले और वैश्य शिष्य के लिये जगती छन्द वाले सवितृ-देवता वाले मन्त्र के उच्चारण का विधान किया गया है।[2] इन तीनों वर्णों के उपनयन की आयु क्रमशः आठ, ग्यारह और बारह वर्ष है और उक्त छन्दों के पादों में अक्षरों की संख्या भी क्रमशः उतनी ही है। वा० गृ० को छोड़कर इन गृह्यसूत्रों में इन छन्दों (त्रिष्टुभ् और जगती) के लिये विशिष्ट मन्त्र उद्धृत नहीं किये गए। इसका अभिप्राय यह हुआ कि मन्त्र के भाव की ओर ध्यान दिये बिना सवितृ-देवता वाले किसी भी मन्त्र का उच्चारण किया जा सकता है। इससे गृह्यसूत्रों के रचयिताओं की मन्त्रार्थ के प्रति उपेक्षा-दृष्टि का संकेत भी मिलता है। उनके लिये मन्त्र की यज्ञ-परक स्थिति का अधिक महत्त्व था। वा० गृ० में त्रिष्टुभ् और जगती छन्द वाले क्रमशः ऋ० ७।४५।१ और ५।८१।१ मन्त्र उद्धृत किये गये हैं। परन्तु इन में सवितृ-देव से सम्बन्ध को छोड़ उपनयन से विशेषसम्बद्ध और कोई बात नहीं है।

१. यह ध्यान देने योग्य है कि अथर्ववेदीय ब्राह्मण होते हुए भी इस स्थल पर अथर्व० का उल्लेख नहीं है। या तो रचयिता को उस वेद में इस मन्त्र की अनुपस्थिति का ध्यान था, और या फिर तीन पादों के क्रम में तीन ही वेद उद्धृत किये जा सकते थे, और त्रयी का अर्थ 'तीन वेदों में पृथक् पृथक् वर्णित तीन प्रकार की विद्याएं' हैं।

२. शां० गृ० २।५।४-६, पा० गृ० २।३।७-१०, मा० गृ० १।२२।१३, वा० गृ० ५।२६।

नवम अध्याय

शिक्षा-सम्बन्धी अन्य कर्म

उपाकर्म

कुछ गृह्यसूत्रों में इसे अध्यायोपाकरण भी कहा गया है। इस कर्म का अनुष्ठान शिक्षासत्र के आरम्भ के उपलक्ष्य में किया जाता है।

आहुतियाँ

आ० गृ० (३।५।६-६) और शां० गृ० (४।५।७-६) में विधान है कि विशिष्ट देवताओं को आज्यभाग और आज्याहुतियाँ अर्पित करने के पश्चात् ऋग्वेद के प्रत्येक मण्डल के प्रथम और अन्तिम मन्त्रों का उच्चारण करते हुए दधिमिश्रित खीलों अथवा धान की आहुतियाँ अर्पित की जानी चाहियें। कुछ यजुर्वेदीय गृह्यसूत्रों के अनुसार निम्नलिखित मन्त्र (ऋ० १।१८।६) का उच्चारण करते हुए सदसस्पति को एक आहुति अर्पित करनी चाहिए :[1]—

सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम्। सनिं मेधामयासिषम्॥ [६१५]

इन्द्र के प्रिय, सभी यज्ञों में प्रार्थनीय, महान् धनरूप और मेधारूप सदसस्पति की मैं याचना करता हूँ॥

आ० गृ० (१।२२।१३) और शां० गृ० (२।८।१) में इसका विनियोग उपनयन के अन्तर्गत ब्रह्मचारी द्वारा आचार्य को भिक्षा देने के पश्चात् और समिदाधान आदि के पश्चात् उसके द्वारा अनुस्पृष्ट आचार्य द्वारा आहुति देने के लिये किया गया है। भा० गृ० (१।५) में भी उपनयन के अन्तर्गत ही शिष्य द्वारा वस्त्र-परिधान से पूर्व, आहुति के लिये इसका विनियोग किया गया है। गो० गृ० और खा० गृ० द्वारा इसका विनियोग जातकर्म के अन्तर्गत मेधाजनन के प्रसंग में किया गया है (दे० मं० सं० ४३३)। ऋ० के अतिरिक्त अन्य कुछेक प्राग्-गृह्यसूत्र ग्रन्थों में भी यह मन्त्र विद्यमान है।[2] उपाकर्म का सम्बन्ध वेदाध्ययन के आरम्भ से होने के कारण मन्त्र

---

१. बौ० गृ० ३।१।६, पा० गृ० २।१०।११; आप० गृ० ३।८।२, (मं० पा० १।६।८), हि० गृ० १।८।१६, वै० गृ० २।१०।

२. ऋ० खि० १०।१५१।७, साम० १।१७१, वा० सं० ३२।१३, तै० आ० १०।१।४, शां० श्रौ० ६।१३।३।

में मेधा की प्रार्थना विशेष रूप से संगत है।

मा० गृ० (१।४।२), वा० गृ० (८।२।३) और का० गृ० (९।२) में आहुति के निमित्त निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है :—

अप्वा नामासि तस्यास्ते जोष्ट्रीं गमेयम्। [६१६ क]

अहमिद्धि पितुः परिमेधामृतस्य जग्रभ अहं सूर्य इवाजनि ॥ [६१६ ख]

तुम निश्चय ही व्याधि (?) हो, उस प्रकार की तुम्हारी प्रसन्नता को मैं प्राप्त करूँ। मैंने पिता ऋत की मेधा को सब ओर से ग्रहण किया है, मैं सूर्य के समान तेजस्वी हो गया हूँ ॥

मन्त्र के उत्तरार्ध में अभिव्यक्त ऋत द्वारा तेजस्वी होने की बात ब्रह्मचारी के लिये अभीष्ट आदर्श है। ब्रह्मचारी के जीवन में नियमों का अत्यधिक मूल्य है, नियम-पालन द्वारा ही ब्रह्मचारी विद्या में निपुणता और उसके फलस्वरूप तेज प्राप्त करता है।

मा० गृ० और वा० गृ० में मन्त्र का उपरिलिखित पाठ दिया गया है। इन गृह्यसूत्रों में **अप्वा** (स्त्री०) को **अप्वः** (पुं०) में और तदनुसार **तस्यास्ते जोष्ट्रीम्** को **तस्य ते जोष्ट्रम्** में परिवर्तित करके एक और मन्त्र बनाया गया है। इसके पश्चात् **अप्वा** के स्थान पर **सरस्वती, युक्तिः** और **मतिः** रखकर तथा **अप्वः** के स्थान पर **सरस्वान्, योगः** और **मनः** रखकर ६ बार इस मन्त्र की आवृत्ति की गई है। वा० गृ० में **मनः** के स्थान पर **सुमतिः** पाठ है। मन्त्र के उत्तरार्ध में कहीं भी कोई परिवर्तन नहीं है। का० गृ० में इसकी आवृत्ति तीन बार की गई है। **योगः** और **युक्तिः** सहित दो आवृत्तियाँ तो मा० गृ० की दो आवृत्तियों जैसी हैं। तीसरी आवृत्ति में **अप्वा** के स्थान पर **रन्तिः** पाठ है। कैलेंड ने का० गृ० के अपने संस्करण में विभिन्न पाण्डुलिपियों में **अप्वा** शब्द के अनेक पाठान्तरों का उल्लेख किया है। देवपाल द्वारा पठित **अपवा** भी उनमें से एक है। उसने **अपवा** की निम्नलिखित व्युत्पत्ति दी है :— **पवते स्वरूपाच्च्यवते इति पवा अध्रुवा, तत्प्रतिषेधेन अपवा ध्रुवा विद्या ॥** उसने **अप्वा** पाठ भी स्वीकृत किया है और उसकी भी उपर्युक्त व्याख्या ही की है। परन्तु इसकी पुष्टि न तो प्राचीन परम्परा से होती है और न आधुनिक से। प्राचीन परम्परानुसार इसका अर्थ व्याधि अथवा भय है क्योंकि इससे आक्रान्त होकर मनुष्य क्षीण हो जाता है।[1] अधिक विशद होने के उद्देश्य से अभिनव परम्परा में इसे उदर सम्बन्धी

१. नि० ९।१२ और वा० सं० १७।४४ पर उव्वट और महीधर :— **व्याधिर्वा भयं वा ! यस्मादेतया विद्धोऽपचीयते। अप शब्दान्त्याकारलोपस्ततष्टाप्।**

रोग बताया गया है।[1] इस अर्थ में **अप्वा** का प्रयोग अथर्व० ६।८।६ में हुआ है। परन्तु यदि गृह्यविनियोग के प्रसंग में इनमें से कोई अर्थ लिया जाये तो यह प्रश्न होता है कि मन्त्र की पुनरावृत्ति करते हुए जहाँ इस शब्द का स्थानांतरण **सरस्वती, युक्ति** इत्यादि नामों से किया गया है, वहाँ इसके स्थान पर अन्य रोगों के नाम क्यों न रखे जायें। रोग के नाम के स्थान पर वैसे ही नाम अधिक संगत प्रतीत होते हैं। इस बात को ध्यान में रखते हुए **अप्वा** (या अपवा) की देवपाल की व्याख्या गृह्य-प्रसंग में सबसे अधिक अनुकूल है। का० गृ० में **जोष्ट्रीम्** के स्थान पर **जुष्टीयम्** और **जग्रभ** के स्थान पर **जगृभ** पाठ है। कैलेंड ने इन दो शब्दों के भी अनेक पाठान्तरों का उल्लेख किया है। देवपाल ने **जोष्ट्रीम्** के स्थान पर **जोष्ट्रीयम्** तथा **जग्रभ** के स्थान पर **जगृहुः** पाठ दिये हैं। उसने **अहमिद्धि पितुः** के स्थान पर **अहमिद्धमेधः** भी पाठान्तर दिया है। देवपाल द्वारा प्रदत्त पाठान्तरों में लौकिक संस्कृत के निकट आने की और सरलीकरण की प्रवृत्ति स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। सम्भव है कि इन पाठान्तरों सहित कोई मन्त्र कृष्णयजुर्वेद की किसी लुप्त संहिता में से उद्धृत हो। इस मन्त्र का उत्तरार्ध (६१६ख) ऋ०, साम० और अथर्व० में से उद्धृत पूर्ण गायत्री छन्द है।[2] यहाँ यह स्पष्ट है कि गृह्य-विनियोग की आवश्यकतानुसार एक नये मन्त्र की रचना के लिये गृह्यपरम्परागत वाक्य का संयोजन संहिता-मन्त्र के साथ किया गया है।

कुछेक गृह्यसूत्रों द्वारा दधि-भक्षण के निमित्त ऋ० ४।३६।६ का विनियोग इस कर्म में भी किया गया है।[3] इस मन्त्र के विवेचनार्थ देखिये मन्त्र सं० २८६।

मन्त्रोच्चारण

शां० गृ०, मा० गृ० और वा० गृ० में शिष्य द्वारा निम्नलिखित मन्त्र के उच्चारण का विधान है[4] :—

ऋतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि तन्मामवतु तद्वक्तारमवतु अवतु माम-वतु वक्तारम् ॥ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरा-युर्मयि धेहि ॥ वेदस्य वाणीः स्थ ॥ उपाकुर्महेऽध्यायानुपतिष्ठन्तु छन्दांसि ॥

[६१७]

मैं शाश्वत सत्य कहूँगा, सत्य कहूँगा, वह (सत्य) मेरी रक्षा करे,

---

१. वै० इं० खं० १, पृ० २७।

२. ऋ० ८।६।१०, साम० ११५२, अथर्व० २०।११५।१।

३. शां० गृ० ४।५।१०, जै० गृ० १४।१३, गो० गृ० ३।३।७, का० गृ० ६।४।

४. शां० गृ० ६।४।७, मा० गृ० १।४।४-५, वा० गृ० ८।४, शां० गृ० में प्रतीकन— ऋतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि।

वह सत्यवादी की रक्षा करे। (जिस प्रकार) मेरी रक्षा करे उसी प्रकार अन्य सत्य-वक्ता की रक्षा करे। मेरे मन में वाणी प्रतिष्ठित हो, मेरा मन वाणी में प्रतिष्ठित हो। हे सत्य, मुझमें सम्पूर्ण आयु प्रकट कर दीजिये। (हे मन्त्रो !) आप वेद की वाणियाँ हो। हम अध्ययन प्रारम्भ कर रहे हैं। सभी छन्द यहाँ उपस्थित हों ॥

किसी भी विद्यार्थी द्वारा सत्र के प्रारम्भ मे या दैनिक अध्ययन के प्रारम्भ में इससे बढ़कर और कोई आदर्श प्रार्थना नहीं हो सकती। केवल सत्य नहीं अपितु शाश्वत अर्थात् ईश्वरीय नियमों के पालन की प्रतिज्ञा और उसके साथ साथ 'जैसी कथनी वैसी करनी' की भावना के लिये प्रार्थना शिक्षा के उच्चतम आदर्शों की ओर इङ्गित करती है। हमें यह देखना है कि आज की शिक्षा कहाँ तक इन आदर्शों की प्राप्ति में सहायक है ?

उपर्युक्त मन्त्र-पाठ मा० गृ० में से उद्धृत है। वा० गृ० में **सत्यं वदिष्यामि** के आगे **ब्रह्म वदिष्यामि** भी जोड़ा गया है। त० आ० ७।१।१ में प्रथम पंक्ति ब्रह्म-प्रार्थना के रूप में आई है। यही पंक्ति तैत्तिरीय उपनिषद् के आदि में भी आई है।

इस प्रसङ्ग में गुरु-शिष्य की एकात्मता और सुखसमृद्धि के लिये पा० गृ० (२।१०।२२) की निम्नलिखित प्रार्थना भी विशेषतया उल्लेखनीय है :—

सह नोऽस्तु सह नोऽवतु सह न इदं वीर्यवदस्तु ब्रह्म।
इन्द्रस्तद्वेद येन यथा न विद्विषामहे ॥ [६१८]

यह ब्रह्म अर्थात् वेद-विद्या हमारे (गुरु और शिष्यों के) लिये साथ साथ हो ; यह साथ साथ हमारी रक्षा करे और यह हमारे लिये साथ साथ बलशाली हो। इन्द्र अर्थात् सर्वप्रकाशक परमात्मा वह (उपाय) जानता है जिससे और जिस प्रकार हम परस्पर विद्वेष न करें ॥

जै० गृ० (१४।५) में भी कुछ पाठान्तरों सहित यह मन्त्र उद्धृत किया गया है। इसमें **अवतु** के स्थान पर **भुनक्तु** है, **इदम्** और **ब्रह्म** का अभाव है और **वीर्य-वदस्तु** के पश्चात् **मा विद्विषामहे सर्वेषां नो वीर्यवदस्तु** पाठ है। इस मन्त्र की तुलना उपनिषदों की प्रसिद्ध प्रार्थना **सह नाववतु** इत्यादि से की जा सकती है। उपनिषदों के '**नौ, विद्विषावहै**' इत्यादि द्विवचनान्त रूपों से भिन्न गृह्यसूत्रों के **नः, विद्विषामहे** इत्यादि बहुवचनान्त रूप विशेष ध्यान देने योग्य हैं। इसका कारण कहीं यह तो नहीं कि उपनिषदों में एक गुरु और एक शिष्य के लिये यह प्रार्थना हो और गृह्यसूत्रों के अनुसार शिष्यों की संख्या या गुरु-शिष्य दोनों की संख्या अधिक हो गई हो ? दूसरे शब्दों में कहीं ऐसा तो नहीं कि गृह्यसूत्रों में प्रार्थना का सामूहिक रूप रहा हो ?

उत्सर्ग अथवा उत्सर्जन

यह कर्म शिक्षा के वार्षिक सत्र की समाप्ति का द्योतक है। इसका अनुष्ठान जलाशय के निकट होता है। सर्वप्रथम ब्रह्मचारी जलावगाहन करते हैं और तत्पश्चात् **आपोहिष्ठीय** ऋ० (१०।९।१-३) तथा **हिरण्यवर्णाः शुचयः** इत्यादि चार मन्त्रों का उच्चारण करते हैं।[1] इन दोनों मन्त्र-समूहों के विस्तृत विवेचन के लिये देखिये मन्त्र सं० १८६-१८८ और २५-२८। उसी समय

पवमानः सुवर्जनः इत्यादि (तै० ब्रा० १।४।८) [६१९]

सम्पूर्ण अनुवाक के उच्चारण का भी विधान है।[2] उक्त ब्राह्मण में स्वयं इस अनुवाक का विनियोग शुद्धीकरणार्थ किया गया है।[3] सम्भवतया इसके गृह्य-विनियोग का आधार यही विनियोग है क्योंकि स्नान का अभिप्राय भी शुद्धीकरण ही है।

इन मन्त्रों के उच्चारण के पश्चात् यह विधान है कि अघमर्षण सूक्त के नाम से प्रसिद्ध ऋ० १०।१९० के निम्नलिखित तीन मन्त्रों के उच्चारण के साथ ब्रह्मचारियों को तीन प्राणायाम करने चाहियें :[4]—

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः॥ [६२०]
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी॥ [६२१]
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥ [६२२]

ऋत और सत्य सम्यक् प्रज्वलित तप से उत्पन्न हुए। फिर रात्रि उत्पन्न हुई, फिर मेघरूप जलयुक्त समुद्र उत्पन्न हुआ। उस मेघरूप जलयुक्त समुद्र से संवत्सर उत्पन्न हुआ, उस सारे संसार के द्रष्टा सर्वनियन्ता संवत्सर ने दिन रात का विधान किया। विधाता ने पहले के समान सूर्य और चन्द्रमा की सृष्टि की तथा उसने आकाश, पृथ्वी, अन्तरिक्ष और सूर्य-लोक की भी सृष्टि की॥

शां० गृ० (१।४।२) में दैनिक स्वाध्याय के अनेक सूक्तों में इसका परिगणन

---

१. हि० गृ० २।१८।९, भा० गृ० ३।८, आग्नि० गृ० १।२।२।
२. हि० गृ० वही, भा० गृ० वही, आग्नि० गृ० वही।
३. दे० मै० सं० ३।११।१०, का० सं० ३८।२, आप श्रौ० १०।७।१३, १४।३०।१।
४. हि०गृ० २।१।८-९, भा०गृ० ३।८, आग्नि० गृ० १।२।२।

किया गया है। प्राणायाम के लिये इस सूक्त का विनियोग तै०आ० (१०।१।१३,१४) में भी प्राप्त होता है। जैसा कि **अघमर्षण** (पापशमन) नाम से ही ध्वनि निकलती है, शौचस्नानसम्बन्धी कर्मों में इसका विनियोग नामानुकूल है। परन्तु इस सूक्त के मन्त्रों में अभिव्यक्त भावों से इसका सृष्टि-सम्बन्धी सूक्त होना स्पष्ट है। पापशमन से उनका कोई सम्बन्ध दृष्टिगोचर नहीं होता।

कुछ गृह्यसूत्रों में विधान है कि अन्त में निम्नलिखित दो मन्त्रों का उच्चारण करते हुए ब्रह्मचारियों को दूर्वा-घास का रोपण करना चाहिये :[1]—

काण्डात् काण्डात् प्ररोहन्ती परुषः परुषस्परि।
एवा नो दूर्वे प्रतनु सहस्रेण शतेन च॥ [६२३]
या शतेन प्रतनोषि सहस्रेण विरोहसि।
तस्यास्ते देवीष्टके विधेम हविषा वयम्॥ [६२४]

हे दूर्वे प्रत्येक कठोर डंठल से अंकुरित होती हुई, इस प्रकार तुम सहस्रों और सैंकड़ों (शाखाओं) में फैल जाओ। जो तुम सैंकड़ों में फैलती हो और सहस्रों में अंकुरित होती हो, हे देवी इष्टके, इस प्रकार की तुम्हें हम आहुति प्रदान करें।

सम्भवतया यहाँ दूर्वाघास के रोपण और उसके साथ उपर्युक्त मन्त्रों के उच्चारण में यह भाव निहित है कि जिस प्रकार दूर्वा की शाखाओं प्रशाखाओं का विस्तार होता है उसी प्रकार ब्रह्मचारी के प्रत्येक वेद और उसकी शाखाओं के ज्ञान का विस्तार हो।

शां० गृ० में केवल प्रथम मन्त्र उद्धृत किया गया है। इस गृह्यसूत्र के विषय में यह विशेष ध्यान देने योग्य है ऋग्वेदीय मन्त्र न होने पर भी इसे **काण्डात् काण्डात् प्ररोहसि** प्रतीकेन दिया गया है। ये दोनों मन्त्र पाठान्तर के बिना सभी यजुर्वेदीय संहिताओं में विद्यमान हैं।[2] ब्राह्मण और श्रौत ग्रन्थों में वेदी-निर्माण कर्म में दूर्वा-इष्टकाओं की स्थापना में इनका विनियोग किया गया है।[3] सम्भवतया इनके गृह्य-विनियोग का आधार भी यही श्रौत विनियोग है।

---

१. शां० गृ० ६।६।६, बौ० गृ० ३।६।१०, हि० गृ० २।२०।१०, भा० गृ० ३।११, आग्नि० गृ० १।२।२।

२. वा० सं० १३।२०,२१ तै० सं० ४।२।६।२; ५।२।८।३, मै० सं० २।७।१५, का० सं० १६।१६।

३ शं०ब्रा० ७।४।२।१४, १५, आप० श्रौ० १६।२४।१, मा० श्रौ० ६।१।७।१४, तै० आ० १०।१।७,८।

जै०गृ० (१५।१) का निम्नलिखित वाक्य विशेषरूप से उल्लेखनीय है क्योंकि इसमें वेदाध्ययन की समाप्ति का स्पष्ट संकेत है :—

वेदेषु यथास्वं विश्रमन्तां छन्दांसि चतुरुत्तराणि शिवेन नो ध्यायन्तु। [६२५]

चार से अधिक सभी छन्द वेदों में स्वेच्छानुसार विश्राम करें और शुभ दृष्टि से हमारा ध्यान करें॥

यह वाक्य अन्यत्र अनुपलब्ध है।

समावर्तन

यह संस्कार ब्रह्मचारी के शिक्षाकाल की समाप्ति का द्योतक है। इसके पश्चात् उसे स्नातक कहा जाता है। अभिप्राय यह कि इस संस्कार में वह एक विशेष स्नान करता है और फिर उसे घर जाने की अनुमति मिल जाती है।

ब्रह्मचारी द्वारा अग्नि में पलाश-समिधा का आधान—

समिदाधान से लेकर आज्याहुतियों तक के कर्मों के अनुष्ठान के पश्चात् ब्रह्मचारी को निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए अग्नि में पलाश-समिधा का आधान करना चाहिये[1] :—

इमं स्तोममर्हते जातवेदसे रथमिव सं महेमा मनीषया।
भद्रा हि नः प्रमतिरस्य संसद्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव॥ [६२६]

योग्य जातवेदा के लिये हम अपनी मनन शक्ति से रथ के समान यह स्तुति तैयार करें। क्योंकि सभा में इसकी हमारे प्रति बुद्धि कल्याणकारक है, इसलिये हे अग्नि, हम तुम्हारी मित्रता में कष्ट न प्राप्त करें।

अन्य गृह्यसूत्रों में इस मन्त्र का विनियोग अन्य कर्मों में भी किया गया है। मा०गृ० और वा०गृ० में उपनयन तथा विवाह संस्कारों के अन्तर्गत अग्नि-समूहन के समय इसके उच्चारण का विधान है।[2] मा०गृ० में एक अन्य स्थल (२।२।५) पर भी पाकयज्ञों के सामान्य वर्णन में अग्नि-परिसमूहन के लिये इसका विनियोग किया गया है। गो०गृ० ४।५।५ (मं०ब्रा० २।४।२) में विशेष कामनाओं की प्राप्ति के लिये यह विनियुक्त हुआ है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि उपर्युक्त विविध विनियोगों में मन्त्र का सम्बन्ध अधिष्ठातृ-देव अग्नि से है। यह मन्त्र कुछ संहिताओं में भी विद्यमान

---

१. आप० गृ० ५।१२।३ (मं० पा० २।७।१), हि० गृ० १।९।४, मा० गृ० २।१८, आग्नि०गृ० १।३।२।

२. मा०गृ० १।१।१६, १०।२, वा०गृ० ५।३१, १४।४।

है।[1] गृह्यसूत्रों के समान ही ब्राह्मणों और श्रौतसूत्रों में भी यह मन्त्र अग्नि से सम्बद्ध है। कुछेक ग्रन्थों में इसका उल्लेख अग्नीध्र के लिये याज्या के रूप में किया गया है।[2] पञ्चविंश ब्राह्मण (१३।८।१) के अनुसार द्वादशाह याग के षष्ठ दिवस की आज्यस्तुति में इसे अग्नि के प्रति सम्बोधित करना चाहिये।

स्नान

गो०गृ० और खा०गृ० में विधान है कि स्नान के लिये उद्यत ब्रह्मचारी को पहले निम्नलिखित वाक्य का उच्चारण करते हुए अपनी अंजलि में से भूमि पर जल की धारा प्रवाहित करनी चाहिये[3] :—

ये अप्स्वन्तरग्नयः प्रविष्टा गोह्य उपगोह्यो मयूषो (मरूकः—छां०ब्रा०) मनोहाः खलो विरुजस्तनूदूषिरिन्द्रियहा अति तान् सृजामि ॥ [६२७]

जो गोह्य, उपगोह्य, मयूष (?) मन की नाशक, खल, रोगरहित, शरीर को दूषित करने वाली, इन्द्रिय-विनाशक अग्नियाँ जल के मध्य प्रविष्ट हैं, मैं उन्हें छोड़ता हूँ ॥

जल की धारा प्रवाहित करने की क्रिया उसमें से दूषित तत्त्व निकालने की प्रतीक प्रतीत होती है। इस वाक्य की तुलना शां०गृ० (५।२।५) द्वारा उत्सर्ग के अन्तर्गत आहुति के लिये प्रयुक्त निम्नलिखित वाक्य से की जा सकती है :—

गृह्योऽपगृह्यो मयोभूः आखरो निखरो निःसरो निकामः सपत्नदूषणः ॥ [६२८]

ग्रहण करने योग्य, उपग्रहण करने योग्य, समृद्धि प्रदान करने वाला, बहुत भयानक, निःसरण करने वाला, कामना सहित और शत्रुओं को दूषित करने वाला (जो अग्नि है उसे यह आहुति अर्पित है)।

यह वाक्य किसी कर्ता या क्रिया के अभाव के कारण अस्पष्ट है।

धारा प्रवाहित करने के पश्चात् गो०गृ० और खा०गृ० में ब्रह्मचारी द्वारा निम्नलिखित वाक्य का उच्चारण करते हुए अपने अभिषेक का विधान किया गया है[4] :—

यो रोचनस्तमिह गृह्णामि तेनाहं मामभिषिञ्चामि ॥ [६२९]

(जल में) जो कुछ द्युतिशील है, उसे मैं ग्रहण करता हूँ और उसके द्वारा अपने आपको अभिषिक्त करता हूँ ॥

---

१. ऋ० १।६४।१, अथर्व० २०।१३।३, साम० १।६६; २।४१४, मै०सं० २।७।३।
२. ऐ०ब्रा० ६।१२।१२, कौ०ब्रा० २३।८, आ०श्रौ० ४।१३।७; ५।५।१९।
३. गो०गृ० ३।४।१३, १४ (मं०ब्रा० १।७।१, २), खा०गृ० ३।१।११, १२।
४. गो०गृ० ३।४।१५ (मं०ब्रा० १।७।३), खा०गृ० ३।१।१३।

स्पष्ट ही यहाँ पर गुरुकुल के अन्तिम स्नान के अवसर पर उस वातावरण की समस्त तेजस्विता को समेट लेने की भावना व्यक्त की गई है। इसी क्रिया के साथ उच्चारणार्थ अधोलिखित मन्त्र भी उद्धृत किया गया है[1] :—

यशसे तेजसे ब्रह्मवर्चसाय बलायेन्द्रियाय।
वीर्यायान्नाद्याय त्विष्या अपचित्यै॥ [६३०]

यश, तेज, ब्रह्मतेज; बल, ऐन्द्रिय शक्ति, वीरता, अन्न-भक्षण के सामर्थ्य, दीप्ति तथा पतलेपन के लिये (मैं अपना अभिषेक करता हूँ)।

उपर्युक्त मन्त्र में भी कर्ता और क्रिया का अभाव है। यदि यहाँ ऊपर के मन्त्र (६२९) के **अहं मामभिषिञ्चामि** की अनुवृत्ति करली जाये तो अर्थ पूर्ण हो जाता है। पा०गृ० (२।६।१०-११) में इन वाक्यों को एक भिन्न प्रकार से रखा गया है। तदनुसार तृतीय वाक्य (६३०) में से **ब्रह्मवर्चसाय** तक का अंश लेकर तीनों वाक्यों को मिलाकर दो बना दिये गये हैं। अब प्रथम वाक्य गो०गृ० के द्वितीय वाक्य के **गृह्णामि** तक चलता है, और इसका विनियोग ब्रह्मचारी द्वारा स्नानार्थ पूरित घटों में से किसी एक से जल ग्रहण करने की क्रिया के लिये किया गया है। **गृह्णामि** शब्द इस विनियोग के पूर्णतया अनुकूल है। द्वितीय वाक्य का प्रारम्भ **तेनाहम्** से होता है और यह गो०गृ० के तृतीय वाक्य के **ब्रह्मवर्चसाय** तक चलता है। इसका विनियोग पा०गृ० में उन आठ घटों में से गृहीत जल द्वारा ब्रह्मचारी के अपने अभिषेक के लिये किया गया है। पा०गृ० द्वारा किया गया वाक्यों का यह नया गठन एक संशोधन प्रतीत होता है, क्योंकि इसके द्वारा प्रत्येक वाक्य में कर्ता और क्रिया आ जाते हैं और उनके विनियोग में भी अधिक स्पष्टता आ जाती है।

इन गृह्यसूत्रों में अभिषेक-क्रिया के लिये अधोलिखित मन्त्र का विनियोग भी किया गया है[2] :—

येन स्त्रियमकृणुतं येनापामृशतं सुराम्।
येनाक्षानभ्यषिञ्चतं येनेमां पृथिवीं महीम्।
यद्वां तदश्विना यशस्तेन मामभिषिञ्चतम्॥ [६३१]

जिसके द्वारा आप दोनों ने स्त्री को (युवती) बनाया, जिसके द्वारा मदिरा का अपमान किया, जिसके द्वारा अक्ष-वृक्षों को तथा इस विशाल

---

१. गो०गृ० ३।४।१६ (मं०ब्रा० १।७।४), खा०गृ० ३।१।१४।
२. गो०गृ० ३।४।१७ (मं०ब्रा० १।७।५), खा०गृ० ३।१।१५, पा०गृ० २।६।१२।

पृथ्वी को सींचा, हे अश्विनो, वह जो आपका यश है उससे मेरा अभिषेक कीजिये।

उपरिलिखित मं०ब्रा० के पाठ से भिन्न पा०गृ० में निम्नलिखित पाठ है:—

येन श्रियमकृणुतां येनावमृशतां सुराम्।
येनाक्ष्यावभ्यषिञ्चतां यद्वां तदश्विना यशः॥ [६३२]

जिसके द्वारा आप दोनों ने शोभा की सृष्टि की, जिसके द्वारा मदिरा का अपमान किया, जिसके द्वारा आँख का (ज्योति के लिये) अभिषेक किया, हे अश्विनो, इस प्रकार का जो आपका यश है (वह मुझे प्राप्त हो)।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि पा० गृ० का मन्त्र अपूर्ण है और दूसरी ओर मं०ब्रा० का पाठ शां०श्रौ० (८।११।१३) द्वारा भी पुष्ट है, तथापि गृह्य प्रसंग में पा०गृ० का पाठ (दे० **स्त्रियम्** के स्थान पर **श्रियम्** और **अक्षान्** के स्थान पर **अक्षि**) अधिक संगत प्रतीत होता है। सर्वांगीण शोभा, मदिरा से विरक्ति और दृष्टि में ज्योति एक ब्रह्मचारी की वास्तविक उपलब्धि है। शां०श्रौ० में अवभृथ के अवसर पर स्नान के पश्चात् जल में से निकलते हुए होता द्वारा अपने ऊपर जल छिड़कने के लिये इसके उच्चारण का विधान है।

अधिकांश गृह्यसूत्रों में समावर्तन-स्नान के निमित्त आपोहिष्ठीय (ऋ० १०।९।१-३) मन्त्रों तथा हिरण्यवर्णाः शुचयः इत्यादि मन्त्रसमूह का विनियोग किया गया है।[1] इन दोनों मन्त्रसमूहों के विस्तृत विवेचन के लिए देखिये मं०सं० १८६-१८८ और २५-२८। केवल हि०गृ० (१।१०।२) में **पवमानः सुवर्जनः** इत्यादि सम्पूर्ण अनुवाक (तै०ब्रा० १।४।८) का विनियोग किया गया है। इसका विवेचन भी उत्सर्ग कर्म के अन्तर्गत हो चुका है।

का०गृ० (३।५) में अन्य मन्त्रों के साथ साथ स्नान के अवसर पर निम्नलिखित दो मन्त्रों (का०सं०२।१) के उच्चारण का भी विधान है :—

शन्न आपो धन्वन्याः शन्नः सन्त्वनूप्या।
शन्नः समुद्रिया आपः शमु नः सन्तु कूप्याः॥ [६३३]
आपो अस्मान् मातरः सूदयन्तु घृतेन मा घृतप्वः पुनन्तु।
विश्वं हि रिप्रं प्रवहन्ति देवीरुदिदाभ्यः शुचिरापूत एमि॥ [६३४]

---

१. शां०गृ० ३।१।४ और पा०गृ० २।६।१३ (केवल आपोहिष्ठीय), हि०गृ० १।१०।२ (केवल हिरण्यवर्णाः), मा०गृ० १।२।११, का०गृ० ३।५, वा०गृ० ९।९, आप०गृ० ५।१२।६ (मं०पा० २।७।१३-१८), भा०गृ० २।१९, आग्नि०गृ० १।३।३।

मरु-भूमि का जल, जलबहुल प्रदेश का जल, समुद्र का जल तथा कुएँ का जल हमारे लिये शान्तिप्रद हो। संसार-निर्माता जल हमारे पाप अपने सार से नष्ट कर दें, घृत से पवित्र करने वाला जल घृत से मुझे पवित्र करे, क्योंकि यह जलदेव समस्त पाप को प्रवाहित कर देता है, अतः इस जल से पवित्र हुआ शुद्ध रूप वाला मैं स्वर्ग और मोक्ष को प्राप्त करूँ॥ दे०पा०

द्वितीय मन्त्र में अभिव्यक्त पाप-नाशन तथा पवित्रता की प्रार्थना से शिक्षा के उद्देश्य द्योतित होते हैं। प्रथम मन्त्र का विनियोग एक अन्य स्थल (२७।१) पर भी नदी पार करने के लिए किया गया है। वा०गृ० (४।३) द्वारा भी चौल के अन्तर्गत बालक के केशों को गीला करने के लिए इसका विनियोग किया गया है। प्राग्-गृह्यसूत्र साहित्य में भी यह मन्त्र उपलब्ध होता है।[1] मा०श्रौ० में भी गृह्यसूत्रों के समान ही इसका सम्बन्ध जल के साथ है। वहाँ वेदी-निर्माण के अन्तर्गत गोष्ठ के स्वच्छीकरण के लिए इसके उच्चारण का विधान है। द्वितीय मन्त्र प्रायः सभी संहिताओं में विद्यमान है।[2] इसके गृह्य विनियोग का मूल स्रोत श०ब्रा० (३।१।२।११) और आप० श्रौ० (१०।६।१) प्रतीत होता है क्योंकि वहाँ सोमयाग के अन्तर्गत यजमान के स्नानार्थ इसका विनियोग किया गया है।

सूर्योपासना

गो०गृ०, खा०गृ० और पा०गृ० में सूर्योपासना के लिए निम्नलिखित तीन मन्त्रों के उच्चारण का विधान किया गया है[3] :—

उद्यन् भ्राजभृष्टिभिरिन्द्रो मरुद्भिरस्थात् प्रातर्यावभिरस्थात्।
दशसनिरसि दशसनिं मा कुर्वा त्वा विशाम्या मा विश॥ [६३५]
.........सान्तपनेभिरस्थात्। शतसनिरसि शतसनिं मा...... ॥ [६३६]
......सायंयावभिरस्थात्। सहस्रसनिरसि सहस्रसनिं मा......॥ [६३७]

उदय होता हुआ सूर्यरूप इन्द्र प्रकाशमान दीप्ति वाले, प्रातःकाल संसार को मिश्रित करने वाले मरुतों के साथ स्थित हुआ है। हे सूर्य तुम दस प्रकार के दान वाले अथवा दस दिशाओं में विभक्त हो मुझे भी दशसनि बना दो। मैं तुममें प्रविष्ट होता हूँ, तुम मुझमें प्रविष्ट हो जाओ॥ ......

१. अथर्व० १६।२।२, तै०आ० ६।४।१, मा०श्रौ० ६।१।५।२२।
२. ऋ० १०।१७।१०, अथर्व० ६।५१।२, वा०सं० ४।२, तै०सं० १।२।१।१, मै०सं० १।२।१; ३।६।२।
३. गो०गृ० ३।४।१६(मं०ब्रा०१।७,६-८), खा०गृ० ३।१।१७-१६, पा०गृ० २।६।१६;

मध्याह्नसूर्य सम्बन्धी तपने वाले मरुतों के साथ.........सौ प्रकार के दान वाले अथवा सौ दिशाओं में विभक्त हो.........।। सायंकाल संसार को मिश्रित करने वालों के साथ ......सहस्रसनि हो ...... ।। सा०

मन्त्रों का यह पाठ मं० ब्रा० में से उद्धृत है। पा०गृ० में भ्राजभृष्टिभिः के स्थान पर भ्राजभृष्णुः, आ त्वा विशाम्या मा विश के स्थान पर आविदन् मा गमय तथा द्वितीय मन्त्र में सान्तपनेभिः के स्थान पर दिवायावभिः पाठान्तर हैं। यहाँ सूर्यरूप में इन्द्र की ही स्तुति की गई है। ये मन्त्र केवल गृह्यसूत्रों में ही विद्यमान हैं, अतः सम्भव है कि मौखिक गृह्य परम्परा से ही ये गृह्यसूत्रों में आये हों।

गो०गृ० और खा० गृ० में सूर्योपासना के लिये यह मन्त्र भी उद्धृत किया गया है[1] :—

चक्षुरसि चक्षुष्ट्वमस्यव मे पाप्मानं जहि।
सोमस्त्वा राजावतु नमस्तेऽस्तु मा मा हिंसीः ।। [६३८]

तुम नेत्र हो, तुम नेत्रत्व हो, मेरे पाप नष्ट करो। राजा सोम तुम्हारी रक्षा करे, तुम्हें नमस्कार हो, मुझ पर आघात मत करो।

मन्त्र में यद्यपि सूर्य का स्पष्ट उल्लेख नहीं है, तथापि 'चक्षुः' (नेत्र) से उसका संकेत अवश्य होता है क्योंकि वैदिक साहित्य में प्रायः सूर्य की स्तुति देवताओं और संसार के नेत्र के रूप में की गई है। यहाँ ब्रह्मचारी की शिक्षा की समाप्ति पर सूर्य के माध्यम से न केवल बाह्यदृष्टि अपितु अन्तर्दृष्टि की भी प्रार्थना की गई प्रतीत होती है।

हि०गृ० (१।६।६) में सूर्योपासना के निमित्त ऋ०१।५०।१ तथा १।११५।१ मन्त्रों का विनियोग किया गया है। प्रथम मन्त्र का विस्तृत विवेचन सप्तम अध्याय में आदित्यदर्शन के अन्तर्गत किया जा चुका है (द्र०मं०सं०४७०)। द्वितीय मन्त्र अधोलिखित है :—

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आ प्रा द्यावपृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ।। [६३९]

देवताओं का पूजनीय मुख, मित्र, वरुण और अग्नि का नेत्र उदय हो गया है। पृथ्वी, आकाश, और अन्तरिक्ष को उसने माप लिया है। सूर्य स्थावर और जंगम, समस्त संसार का आत्मा है।

---

१. गो०गृ० ३।४।१६ (मं०ब्रा० १।७।६), खा०गृ० ३।१।१६।

क्योंकि सभी प्राग्-गृह्यसूत्र ग्रन्थों में यह मन्त्र प्रथम मन्त्र के साथ साथ आया है, अतः उसका विवेचन इसके विषय में भी संगत है। संहिताओं में भी ये दोनों मन्त्र साथ-साथ आये हैं।[१] निरुक्त (१२।१५।१६) में भी इन्हें एक साथ उद्धृत किया गया है। श० ब्रा० के अतिरिक्त कुछेक श्रौतसूत्रों में भी ये साथ-साथ दिये गये हैं।[२]

मेखला-विमोचन

सामवेदीय गृह्यसूत्रों तथा पा० गृ० में विधान है कि निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए ब्रह्मचारी को अपनी मेखला का विमोचन करना चाहिये[३]:—

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।
अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम॥ [६४०]

हे वरुण हमसे ऊपर का पाश, नीचे का पाश और मध्यम पाश शिथिल कर दीजिये। हे आदित्य, हम पापरहित होकर पूर्णता के लिये आपके नियम में स्थिर रहें।

मा० गृ० (१।२३।२७) में भी इस मन्त्र का विनियोग मेखला-विमोचन के लिये किया गया है, परन्तु वहाँ संस्कार का उल्लेख नहीं। विभिन्न दीक्षाओं के वर्णन के पश्चात् केवल मात्र इस क्रिया को भी निर्दिष्ट कर दिया गया है। ड्रेस्डन ने इस सम्बन्ध में टिप्पणी की है कि यह सूत्र स्थान-भ्रष्ट है क्योंकि इससे पूर्व के सूत्र की पुनरावृत्ति से अध्यायान्त का संकेत प्राप्त होता है।[४] हि० गृ० (१।६।१०) में इसका विनियोग हुआ तो समावर्तन के अन्तर्गत ही है, किन्तु केवल एक ही क्रिया के साथ इसका सम्बन्ध नहीं। विभिन्न क्रियाओं से सम्बन्ध के अनुसार उसे खण्डित किया गया है। तदनुसार उत्तरीय-विमोचन के लिये **अस्मत्** तक प्रथम पाद का, अधोवसन-विमोचनार्थ **अवाधमम्** का, मेखला-विमोचनार्थ **वि मध्यमं श्रथाय** का और दण्ड-विमोचनार्थ मन्त्र के सम्पूर्ण-उत्तरार्ध का उच्चारण किया जाना चाहिए। स्पष्टतया यहाँ शरीर के ऊर्ध्व, मध्यम तथा अधर अंशों से सम्बन्ध के आधार पर क्रमशः

---

१. अथर्व० १३।२।१६।३५, वा०सं० ७।४१, ४२, तै० सं० १।४।४३।१, मै० सं० १।३।३७, का० सं० ४।९।

२. श०ब्रा० ४।३।४।९, १०, आ०श्रौ० ६।५।१८, शां०श्रौ० ९।२०।२१, का० श्रौ० १०।२।५।

३. गो० गृ० ३।४।२२ (मं० ब्रा० १।७।१०), खा० गृ० ३।१।२२, जै० गृ० १७।८, पा० गृ० २।६।१५।

४. मा० गृ० (अनु०), पृ० १०७।

इन तीनों स्थानों के परिधानों के विमोचन के लिये पूर्वार्ध के तीन खण्ड किये गये। उत्तरार्ध के विनियोग का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि ब्रह्मचर्य के मध्य जो दण्ड नियमों की स्थिरता का प्रतीक था, अब उसकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि अब शिक्षा की समाप्ति पर स्नातक को नियम-पालन के विषय में पूर्ण आत्म-विश्वास हो गया है। वै० गृ० (२।१३) में विधान है कि ब्रह्मचारी को उत्तरीय-विमोचन पूर्वार्ध द्वारा और यज्ञोपवीत-विमोचन उत्तरार्ध द्वारा करना चाहिये। इस विभाजन में कोई विशेष तर्क नहीं प्रतीत होता। इन विमोचन-सम्बन्धी विनियोगों के अतिरिक्त भी कुछ स्थलों पर इसका विनियोग किया गया है। शां० गृ० (५।२।४) में उत्सर्ग के अन्तर्गत एक आहुति के साथ इसके उच्चारण का निर्देश है। कौशिक० (८२।८) के अनुसार मृतक-संस्कार के अन्तर्गत शव के श्मशान पहुँच जाने पर किसी प्रौढ़ व्यक्ति को इस मन्त्र का जाप करना चाहिये। यहाँ स्पष्ट ही शरीर से मुक्ति की भावना के प्रति संकेत होता है।

यह मन्त्र सभी संहिताओं में अनेक बार आया है।[1] उत्तरार्ध में अथर्व० के अथा के स्थान पर अधा पाठ को छोड़कर सभी संहिताओं में मन्त्र का यही पाठ है। ब्राह्मणों तथा श्रौतसूत्रों में विभिन्न कर्मों के अन्तर्गत अधिकतर वरुण को आहुति देने के लिये इसके विविध विनियोग हुए हैं।[2] किन्तु मेखला-विमोचन-सम्बन्धी गृह्य विनियोग का आधार श० ब्रा० और का० श्रौ० प्रतीत होते हैं क्योंकि वहाँ अग्नि-चयन के अन्तर्गत विष्णुक्रमों में पाशोन्मोचनार्थ इसका प्रयोग किया गया है।[3] गृह्य-विनियोग का मूल-स्रोत आप० श्रौ० (१६।१०।१४) भी हो सकता है क्योंकि वहाँ सिंहासन पर अग्न्याधान कर्म में अग्नि-पात्र को थामने वाले पाश के ग्रन्थि-विमोचनार्थ इसके उच्चारण का विधान है। इन दोनों कर्मों में खोलने की क्रिया ही प्रधान है। यह मेखला-विमोचन के समकक्ष है।

आग्नि० गृ० (१।३।३) में मेखला-विमोचनार्थ तै० सं० (१।१।१०।२) के निम्नलिखित समान मन्त्र का विनियोग किया गया है :—

---

१. ऋ० १।२४।१५, अथर्व० ७।८।३३; १८।४।६९, वा०सं० १२।१२, तै० सं० १।५।११।३; २।५।१२।१; ४।२।१।३; ११।२, का०सं० ३।८; १६।८; १६।११; २।१।१३, मै० सं० १।२।१८; २।७।८; ३।२।१; ४।१०।४।

२. तै०ब्रा०२।८।१।६, तै०आ०२।४।१, शां०श्रौ०६।१०।११; ८।११।१५, का० श्रौ० २५।१।११, आप० श्रौ० ३।१३।१; ७।२७।१६; ९।८।७; १७।२२।३, मा० श्रौ० ५।१।३।२६।

३. श०ब्रा० ६।७।३।८ (शिक्यपाशं च रुक्मपाशं चोन्मुञ्चते) का०श्रौ० १६।५।१७।

इमं वि ष्यामि वरुणस्य पाशं यमबध्नीत सविता सुकेतः।
धातुश्च योनौ सुकृतस्य लोके स्योनं मे सह पत्या करोमि ॥ [६४१]

मैं वरुण के इस पाश को काट डालता हूँ जिसे शोभन मुख वाले सविता ने बाँधा था । विधाता की योनि अर्थात् आदिस्रोत-रूप, सत्कार्यों के फलरूप लोक में मैं उसे पति के साथ सुखप्रद बनाती हूँ ॥

इसके गृह्य-विनियोग का आधार श्रौत-विनियोग प्रतीत होता है, क्योंकि तदनुसार दीक्षा के अन्तर्गत यजमान-पत्नी को अपनी मेखला शिथिल करते हुए इसका उच्चारण करना चाहिये।[1] परन्तु इस प्रसंग में 'पत्या' शब्द का विशेष महत्त्व है। सम्भवतया समावर्तन में ब्रह्मचारी द्वारा उच्चारणार्थ इसका विनियोग करते हुए आग्नि० गृ० के रचयिता का ध्यान इस शब्द की ओर नहीं गया । कुछ गृह्यसूत्रों में इस मन्त्र के साथ साथ एक अन्य मन्त्र **प्र त्वा मुञ्चामि** इत्यादि का विनियोग विवाह के अन्तर्गत वधू के शिखा-विमोचन कर्म में किया गया है (दे०मं०सं० १६०) । वहाँ **पत्या** सम्बन्धी कठिनाई उत्पन्न नहीं होती। वैसे यदि पति का अर्थ जगती-पति परमेश्वर किया जाये तो यह कठिनाई भी नहीं रहती । इसके अतिरिक्त मन्त्र में (मेखलारूप) पाश के सविता द्वारा बाँधे जाने का उल्लेख भी है। और उपनयन में सविता का विशेष महत्त्व हम देख ही चुके हैं।

दन्तपरिकर्म

अधिकांश यजुर्वेदीय गृह्यसूत्रों में पाठान्तरों सहित निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग दन्तपरिकर्म के लिये किया गया है[2] :—

अन्नाद्याय व्यूहध्वं सोमो राजायमागमत् ।
स मे मुखं प्रमार्क्ष्यते यशसा च भगेन च ॥ [६४२]

हे दाँतो, तुम अन्नभक्षण की सामर्थ्य के लिये व्यूहरचना करो, यह राजा सोम आया है—वह यश, और तेज द्वारा मेरा मुख अलंकृत कर देगा।

इससे प्रकट होता है कि शारीरिक स्वास्थ्य की रक्षा शिक्षा का प्रमुख अंग था और अन्न-भक्षण का उद्देश्य केवल जिह्वा की तृप्ति नहीं, अपितु तेज प्राप्त करना था। उपरिलिखित परिपूर्ण अनुष्टुभ् मन्त्र पा० गृ० में से उद्धृत है ।

१. आप० श्रौ० १३।२०।१३, दे० तै० सं० ३।५।६।१-२, तु० ऋ० १०।८५।२४, अथर्व० १४।१।१९, ५८ ।

२. आप० गृ० ५।१२।६ (मं०पा० २।७।१९), पा०गृ० २।६।१७, हि०गृ० १।१०।१, मा० गृ० २।२०, आग्नि० गृ० १।३।३, बै० गृ० २।१३ ।

भा० गृ० और आग्नि० गृ० का पूर्वार्ध इसके पूर्वार्ध के लगभग समान है। भा०गृ० का एक मात्र पाठान्तर **अयम्** के स्थान पर **इदम्** और आग्नि० गृ० का **सोमः** के स्थान पर **भगः** है। भा० गृ० में उत्तरार्ध अधोलिखित है :—

स मा प्रविशत्वन्नाद्येन भगेन च दीर्घायुरहमन्नादो भूयासम् ॥

(वह मुझमें अन्नभक्षण की सामर्थ्य और तेज के साथ प्रवेश करे। दीर्घायु मैं अन्नभक्षण में समर्थ हो जाऊँ।)

यहाँ छन्दोभङ्ग हो गया है, किन्तु आग्नि० गृ० में उत्तरार्ध भिन्न अर्थात् **स मे मुखं प्रसर्पतु आयुषे च भगाय च** होने पर भी अनुष्टुभ् छन्द सुरक्षित है :-

पा० गृ० के पाठ के बहुत समान होने पर भी मं० पा० में पाठ निम्नलिखित रूप में उससे अधिक लम्बा है :—

अन्नाद्याय व्यूहध्वं दीर्घायुरहमन्नादो भूयासम् ।
सोमो राजायमागमत् स मे मुखं प्रवेक्ष्यति भगेन सह वर्चसा ॥[६४३]

हे दाँतो, तुम अन्न-भक्षण-सामर्थ्य के लिये व्यूहरचना करो। दीर्घायु मैं अन्नभक्षण में समर्थ हो जाऊँ। यह राजा सोम आया है, वह भाग्य और तेज के साथ मेरे मुख में प्रवेश करेगा।

जहाँ तक छन्द का प्रश्न है यह अनुष्टुभ् और त्रिष्टुभ् का संयोग प्रतीत होता है। **व्यूहध्वम्** तक प्रथम पाद अनुष्टुभ् है, इसके आगे **भूयासम्** तक का अंश त्रिष्टुभ् है उत्तरार्ध में क्रमशः **आगमत्** तक, **प्रवेक्ष्यति** तक, और फिर अन्तिम—ये तीनों पाद अनुष्टुभ् हैं। इसकी तुलना मैक्डॉनल द्वारा उल्लिखित गायत्री के साथ त्रिष्टुभ् के संयोग से की जा सकती है।[1] हि० गृ० में निम्नलिखित रूप में पूर्ण छन्दोभङ्ग के पश्चात् गद्यात्मक पाठ दिया गया है :—

अन्नाद्याय व्यूहध्वं दीर्घायुत्वाय व्यूहध्वं ब्रह्मवर्चसाय व्यूहध्वम्
दीर्घायुरहमन्नादो ब्रह्मवर्चसी भूयासम् ॥ [६४४]

यह मन्त्र केवल गृह्यसूत्रों में उपलब्ध होता है।

नेत्राभ्यञ्जन

अधिकांश कृष्णयजुर्वेदीय गृह्यसूत्रों में विधान है कि भावी स्नातक को निम्न-

---

१. वै०ग्रा० स्ट्र० परिशिष्ट II. १०. b. २ (पृष्ठ ४४५)। ऋ०१०।२२ में सर्वानुक्रमणी द्वारा इसे पुरस्ताद्बृहती की संज्ञा दी गई है।

लिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए अपनी आँखों में अञ्जन डालना चाहिये :[1]—

यदाञ्जनं त्रैककुदं जातं हिमवत उपरि ।
तेन वामाञ्जे तेजसे वर्चसे भगाय च ॥
मयि पर्वतपूरुषं मयि पर्वतवर्चसं मयि पर्वतभेषजं मयि पर्वतायुषम् ॥ [६४५]

तीन शिखरों से सम्बद्ध जो अंजन हिमालय के ऊपर उत्पन्न हुआ, हे आँखो, मैं तेज, वर्चस्व और भाग्य के लिये उससे तुम्हारा अभ्यञ्जन करता हूँ । मुझमें पर्वताकार पौरुष हो, मुझमें पर्वताकार वर्चस्व हो, मुझमें पर्वताकार औषध हो, मुझमें पर्वताकार आयु हो ॥

मन्त्र का उपरिलिखित पाठ मं० पा० में से उद्धृत है । इन सभी गृह्यसूत्रों में प्रथम पंक्ति यथावत् है । द्वितीय पंक्ति में हि० गृ० **आञ्जे** तक मं० पा० के समान है, और उसके पश्चात् **अहं भगेन सह वर्चसा** पाठ है । तृतीय पंक्ति में से इसमें केवल **मयि पर्वतपूरुषम्** लिया गया है । भा० गृ० की द्वितीय पंक्ति में केवल **मयि पर्वत-वर्चसम्** शब्द हैं । आग्नि० गृ० की यह पंक्ति **तेन मां चायुष्यं वर्चस्यं मे अस्तु** है । परन्तु इन सभी पाठान्तरों में भाव एक समान ही है । दीर्घायु, वर्चस्व और तेज की प्रार्थना सर्वत्र प्रमुख है । किसी भी गृह्यसूत्र में प्रथम पंक्ति के पाठान्तर न होने का कारण सम्भवतया इसका अथर्व० (४।९।९) से उद्धृत होना है । अथर्व० का यह मन्त्र तै० आ० (६।१०।२) में भी उद्धृत है—और वहाँ भी इसका प्रयोग नेत्राभ्यञ्जन के लिये किया गया है । त्रैककुद का अर्थ **त्रिककुद् पर्वत पर उत्पन्न होने वाला** भी किया जाता है । इसी को आगे चलकर त्रिकूट पर्वत कहा जाने लगा ।[2] मं०पा० के मन्त्र की द्वितीय और तृतीय पंक्तियाँ गृह्य-परम्परागत ही प्रतीत होती हैं और सम्भवतया इसी कारण गृह्यसूत्रों में इनके पाठभेद दृष्टिगोचर होते हैं ।

मा० गृ० १।२।१३ में नेत्राभ्यञ्जनार्थ निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है :—

यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवं मे प्राण मा बिभ एवं मे प्राण मा रिष ॥ [६४६]

जिस प्रकार आकाश और पृथ्वी न तो भयभीत होते हैं और न ही नष्ट होते हैं, उसी प्रकार हे मेरे प्राण, तुम न डरो, उसी प्रकार हे मेरे

1. आप० गृ० ५।१२।११ (मं० पा० २।८।११-९।१), हि गृ० १।११।५, भा० गृ० २।२२, आग्नि० गृ० १।३।५, वै० गृ० २।१५ ।
2. दे० अमरकोष २।४।६३६ ।

प्राण, तुम नष्ट न हो।

अन्तिम पाद छोड़कर यह मन्त्र लगभग अथर्व० (२।१५।१) के गायत्री पद्य जैसा है। अथर्व० में तृतीय पाद के प्रारम्भ में एवा है और बिभ के स्थान पर बिभेः पाठ है। मन्त्र प्राण को सम्बोधित किया गया है, अतः नेत्रों के साथ उसका सम्बन्ध पूर्णतया स्पष्ट नहीं है। सम्भतवया प्राण से यहाँ अभिप्राय सामान्य ज्ञानेन्द्रियों का है। कौशिक० (५४।११) में अथर्व० मन्त्र का विनियोग गोदान के अन्तर्गत बालक को स्थालीपाक खिलाने के लिये किया गया है।

पा०गृ० (२।६।२७) में नेत्राभ्यञ्जनार्थ निम्नलिखित वाक्य का प्रयोग किया गया है :—

वृत्रस्यासि कनीनकश्चक्षुर्दा असि चक्षुर्मे देहि ॥ [६४७]

तुम वृत्र की आँख की पुतली हो, तुम दृष्टि-प्रद हो, मुझे दृष्टि प्रदान करो।

मा०गृ० (१।११।८) में इसे विवाह के अन्तर्गत वधू के नेत्राभ्यञ्जनार्थ उद्धृत किया गया है। यह वाक्य वा०सं० (४।३), तै०सं० (६।१।१।५) और मै०सं० (१।२।१) के एक मन्त्र का अंश है।

इसके गृह्य-विनियोग का स्रोत ब्राह्मण और श्रौत साहित्य प्रतीत होता है। श०ब्रा० और कुछ श्रौतसूत्रों में विधान है कि अग्निष्टोम के अन्तर्गत दीक्षा के अवसर पर यजमान को इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए अपनी आँखों में अञ्जन लगाना चाहिए।[1] वृत्र की आँख की पुतली के अञ्जन कहे जाने के सम्बन्ध में तै०सं० ६।१।१।५ में यह आख्यानक दिया गया है:—"जब इन्द्र ने वृत्र को पराजित किया तो उस (वृत्र) की आँख की पुतली गिर कर अञ्जन बन गई।" कहीं इसका यह अभिप्राय तो नहीं कि वृत्ररूपी मेघ में से वर्षा की बूंद के किसी विशेष स्थान पर गिरने से अच्छा अञ्जन बनता हो?

आ०गृ० ३।८।९ में इस कर्म के लिए निम्नलिखित वाक्य दिया गया है :—

अश्मनस्तेजोऽसि चक्षुर्मे पाहि ॥ [६४८]

तुम शिला के तेज हो, मेरी दृष्टि की रक्षा करो।

केवल चक्षुर्मे पाहि शब्द पूर्ववर्ती साहित्य में एक बड़े वाक्य के अंश के रूप में

---

१. श०ब्रा० ३।१।३।१५, आप० श्रौ० १०।७।१, मा०श्रौ० २।१।१।३८, का०श्रौ० ७।२।३४।

उपलब्ध होते हैं।[1] गृह्य विनियोग का मूलाधार तै०सं० १।२।१।२ प्रतीत होता है क्योंकि वहाँ भी सोमयाग के अन्तर्गत यजमान द्वारा **चक्षुष्पा असि चक्षुर्मे पाहि** वाक्य का उच्चारण करते हुए अपने नेत्राभ्यञ्जन का विधान है। शां०श्रौ० (८।४।६) के अनुसार भी सोमचरु के अवसर पर यजमान को अपनी उंगली पर चर्बी लगा कर उससे अपनी आँखें आँजनी चाहियें। **शिला के तेज** विशेषण से ऐसा प्रतीत होता है कि अंजन बनाने के लिए अवश्य ही किसी विशेष पत्थर का प्रयोग होता था।

अङ्गलेप द्वारा शरीर के अन्य अङ्गों का अनुलेपन

पा०गृ० (२।६।१८) में निर्देश है कि भावी स्नातक को अपने नासा-रन्ध्रों और मुख पर अंगलेपन करते हुए निम्नलिखित वाक्य का उच्चारण करना चाहिए:—

प्राणापानौ मे तर्पय चक्षुर्मे तर्पय श्रोत्रं मे तर्पय। [६४९]

मेरे प्राण और अपान को तृप्त करो, मेरी दृष्टि तथा कानों को तृप्त करो।

स्वल्प पाठान्तर सहित इस वाक्य का स्रोत यजुर्वेद-संहितायें हैं।[2] श०ब्रा० (३।९।४।७) में सोमाभिषवण प्रसंग में निग्राभ्य जल के प्रति यजमान द्वारा इससे मिलते जुलते वाक्य के उच्चारण का विधान है। गृह्य विनियोग में भी उक्त वाक्य अङ्गानुलेप को ही सम्बोधित किया गया है। यहाँ **प्राणापानौ** का अर्थ दोनों नासा-रन्ध्र तथा **चक्षुः** और **श्रोत्रम्** का अर्थ मुख के अन्य अंग हैं।

निम्नलिखित वाक्य का विनियोग पा०गृ० (२।६।१९) द्वारा एक बार और शरीर के विविध अंगों के अनुलेपनार्थ किया गया है:—

सुचक्षा अहमक्षिभ्यां भूयासं सुवर्चा मुखेन सुश्रुत्कर्णाभ्यां भूयासम्। [६५०]

मैं आंखों से शुभ दृष्टि वाला, मुख से तेजस्वी तथा कानों से शोभन श्रवण वाला हो जाऊँ।

इस वाक्य में भी मुखाङ्गों का ही परिगणन किया गया है। इन विविध अंगों को पृथक् पृथक् लेकर आ०गृ० द्वारा उस समय इसके उच्चारण का विधान किया गया है जब किसी व्यक्ति ने कोई अनिष्ट देखा, सुना या सूँघा हो।[3] पा०गृ०

---

१. वा०सं० २।१६, १४।१७, वा०सं०का० २।४।४, तै०सं० १।१।१३।२; ३।२।१०।२; ४।३।६।२; मै०सं० १।२।१; ५।२९; २।८।३; ३।६।३; ४।१।१४, का०सं० १।१२; १७।३; ३१।११; ३५।७, कौ०ब्रा० १६।५, श०ब्रा० १।८।३।१९, ९।२।१७, तै०ब्रा० ३।३।९।५, शां०श्रौ० ४।७।१२; ७।१०।१५; ८।४।६।

२. वा०सं० ६।३१, तै०सं० ३।१।८।१, मै०सं० १।३।२, का०सं० ३।१०।

३. आ०गृ० ३।६।७,—अन्त्य भूयासम् निकालकर मयि दक्षक्रतु जोड़ा गया है।

(२।६।१८-१९) के दोनों वाक्यों को एक साथ लेकर मा०गृ० (१।६।२५) और वा०गृ० (१२।२) का पूर्ण मन्त्र बनता है जिसका विनियोग उनमें विवाह के अन्तर्गत वधू द्वारा अपने विविध अंगों के स्पर्श के प्रसंग में किया गया है। मा०गृ० में मन्त्र का पूर्वार्ध यह है :—

प्राणापानौ मे तर्पय समानव्यानौ मे तर्पय उदानरूपे मे तर्पय ।

पा०गृ० में जहाँ दोनों वाक्यों में आँखों और कानों की पुनरावृत्ति होती है, वहाँ सम्भवतया उससे बचने के लिए प्राण और अपान के साथ साथ अन्य तीन प्राणों का भी परिगणन कर दिया गया है। वा०गृ० में सभी स्थलों पर **तर्पय** के स्थान पर **तर्पयामि** रूप है। मा०गृ० और वा०गृ० के मन्त्र का उत्तरार्ध यथावत् पा०गृ० का दूसरा वाक्य (६५०) ही है—केवल यहाँ अन्तिम **भूयासम्** का अभाव है।

कुछ अन्य गृह्यसूत्रों में अंगानुलेपनार्थ अधोलिखित मन्त्र रखा गया है[1] :—

अप्सरस्सु यो गन्धो गन्धर्वेषु च यद्यशः ।
दैवो यो मानुषो गन्धः स मा गन्धः सुरभिर्जुषताम् ॥ [६५१]

जो सुगन्ध अप्सराओं में है, और जो यश गन्धर्वों में है, जो दिव्य और मानुष सुगन्ध है, वह यशोरूप सुगन्ध मुझे प्राप्त हो।

उपरिलिखित पाठ मं० पा० में से उद्धृत है। गृह्यसूत्रों में कुछ पाठभेद हैं। भा०गृ० में प्रथम पाद **यद्वर्चः अप्सरासु च** है। **दैवः** के स्थान पर **दिव्यः** पाठ है और चतुर्थ पाद **स मा विशतादिह** है। हि०गृ० का पूर्वार्ध मं०पा० के समान है, उत्तरार्ध में **दैवः** के स्थान पर **दैव्यः** पाठ है और चतुर्थ पाद भा०गृ० के समान है। केवल **मा** के स्थान पर **माम्** भेद है। इन गृह्यसूत्रों में इसके समान एक अन्य मन्त्र उपनयन के अन्तर्गत समिदाधान प्रसंग में उद्धृत किया गया है (दे०मं०सं० ६०६)।

नव-वस्त्रपरिधान

कुछ गृह्यसूत्रों के अनुसार भावी स्नातक को नव-वस्त्र परिधान के समय निम्नलिखित वाक्य का उच्चारण करना चाहिए[2] :—

सोमस्य तनूरसि तनुवं मे पाहि स्वा मा तनूराविश ॥ [६५२]

---

१. आप०गृ० ५।१२।८ (मं०पा० २।७।२४), हि०गृ० १।१०।४, मा०गृ० २।२०, वै०गृ० २।१४।

२. आप०गृ० ५।१२।८ (मं०पा० २।७।२०), हि०गृ० १।१०।५, आग्नि०गृ० १।३।३, वै०गृ० २।१४।

तुम सोम का शरीर हो, मेरे शरीर की रक्षा करो, मेरे अपने शरीर में प्रवेश करो।

मं०पा० में उपरिलिखित पाठ दिया गया है। हि०गृ० में इसके आगे **शिवा मा तनूराविश** जोड़ा गया है। गृह्य-विनियोग की पुष्टि तै०सं० और आप० श्रौ० द्वारा होती है क्योंकि वहाँ भी अग्निष्टोम की दीक्षा में यजमान द्वारा नव-वस्त्र-परिधान के समय इसके उच्चारण का विधान है।[1] वहाँ यह केवल **पाहि** तक है।

मा०गृ० (१।२।१२) और वा०गृ० (९।९) में इस क्रिया के लिए एक अन्य वाक्य दिया गया है —

वस्वसि वसुमन्तं मा कुरु सौवर्चसाय मा तेजसे ब्रह्मवर्चसाय परिदधामि ॥
[६५३]

तुम धन हो, मुझे धनवान् बनाओ। अपने अन्दर सुवर्चस्व, तेज तथा ब्रह्मतेज के लिए मैं तुम्हें धारण करता हूँ।

वा०गृ० में **मा तेजसे** के स्थान पर **वाम् तेजसे** तथा **परिदधामि** (लट्) के स्थान पर **परिदधानि** (लोट्) पाठ है। ड्रेस्डन ने **वाम्** को दोनों वस्त्रों का वाचक मानकर तदनुसार अनुवाद किया है। यदि यहाँ **मा** ही रखा जाये तो इसे **मयि** के अर्थ में ही मानना पड़ेगा, अन्यथा **परिदधामि** के साथ इसका सम्बन्ध स्थापित नहीं होता। दूसरी सम्भावना यह भी है कि इस **मा** को भी **कुरु** से सम्बद्ध किया जाये। तदनुसार अनुवाद होगा—'......सुवर्चस्व के लिए तुम मुझे धनवान् बनाओ।'

शां०गृ० (३।१।६) और आ०गृ० (३।८।९) में वस्त्र-परिधान के निमित्त ऋ० १।१५२।१ का विनियोग किया गया है। इसके विस्तृत विवेचन के लिए देखिये विवाह में मं०सं० ११७।

पा०गृ० (२।६।२०, २१) द्वारा क्रमशः मुख्य वस्त्र और उत्तरीय धारण करने के लिए ब्रह्मचारी द्वारा निम्नलिखित दो मन्त्रों के उच्चारण का विधान किया गया है :—

परिधास्यै यशोधास्यै दीर्घायुत्वाय जरदष्टिरस्मि ।
शतं च जीवामि शरदः पुरूची रायस्पोषमभिसंव्ययिष्ये ॥ [६५४]

यशसा मा द्यावापृथिवी यशसेन्द्राबृहस्पती ।
यशो भगश्च मा विन्दद्यशो मा प्रतिपद्यताम् ॥ [६५५]

---

1. तै०सं० १।२।१।१, ६।१।१।३, आप०श्रौ० १०।६।६।

मैं सब ओर से आवृत होने के लिए, यश धारण करने के लिए, दीर्घायु के लिए (तुम्हें धारण करता हूँ) जिससे मैं वृद्धावस्था को सुखपूर्वक प्राप्त करूँ। धन की पुष्टि का सब ओर से मैं आवरण करूँगा और बहुत समृद्ध सौ वर्ष तक जीवित रहूँगा। मुझे आकाश और पृथ्वी तथा इन्द्र और बृहस्पति ने यश से आवृत किया है, यश और भग मुझे प्राप्त करें, मुझे यश प्राप्त हो।

प्रथम मन्त्र की तुलना मा०गृ० (१।६।२७) और वा०गृ० (१२।३) में विवाह के अन्तर्गत वधू द्वारा नव-वस्त्र-परिधान के अवसर पर विनियुक्त मन्त्र से की जा सकती है। वहाँ कुछ पाठान्तर हैं। **परिधास्यै यशोधास्यै** के स्थान पर **परिधास्ये यशोधास्ये**, **अस्मि** के स्थान पर **अस्तु** तथा **जीवामि** के स्थान पर **जीवेम** पाठ हैं। **च** का अभाव है। मा०गृ० में उसी प्रसंग में उत्तरीय धारण करने के लिए द्वितीय मन्त्र का विनियोग भी किया गया है। इसमें **भगश्च** के पश्चात् **मा रिषद् यशो मा प्रतिमुच्यताम्** पाठ है। ये दोनों मन्त्र गृह्य-परम्परागत प्रतीत होते हैं क्योंकि किसी प्राग्-गृह्य-सूत्र ग्रन्थ में ये उपलब्ध नहीं। दीर्घायु, यश और ऐश्वर्य की कामना भावी गृहस्थ के लिए पूर्णतया आदर्श कामना है। इससे यह सिद्ध होता है कि तत्कालीन शिक्षा कितनी व्यावहारिक थी क्योंकि उसी के बल पर स्नातक इन कामनाओं की पूर्ति की अभिलाषा कर सकता है।

आभूषण

कुछ कृष्णयजुर्वेदीय गृह्यसूत्रों में विधान है कि स्नातक को दो कुण्डल और सुवर्ण अथवा बदर-वृक्ष की मणि लेकर उन्हें एक सूत्र में बांध देना चाहिए। तत्पश्चात् इन्हें दर्वी में लेकर उसे निम्नलिखित छः मन्त्रों का उच्चारण करते हुए उन पर घृत की आहुतियां डालनी चाहियें[1] :—

आयुष्यं वर्चस्यं सुवीर्यं रायस्पोषम द्भिद्यम् ।
इदं हिरण्यं वर्चस्वज्ज्यैत्र्याया विशतान्माम् ॥ [६५६]
उच्चैर्वाजि पृतनाजित्सत्रासाहं धनञ्जयम् ।
सर्वाः समृद्धीर्ऋद्धयो हिरण्येऽस्मिन् समाहिताः ॥ [६५७]
शुनमहं हिरण्यस्य पितुरिव नामाग्रभैषम् ।
तं मा हिरण्यवर्चसं पुरुषु प्रियं कुरु ॥ [६५८]

---

१. आप०गृ० ५।१२।६, ८ (मं०पा० २।८।१-४, ८; ७।२५), हि०गृ० १।१०।६; ११।१, मा०गृ० २।२१, आग्नि०गृ० १।३।४, वै०गृ० २।१५।

प्रियं मा देवेषु कुरु प्रियं मा ब्राह्मणे कुरु ।
प्रियं विश्येषु शूद्रेषु प्रियं राजसु मा कुरु ॥ [६५९]
सम्राजं च विराजं चाभिश्रीर्या च नो गृहे ।
लक्ष्मी राष्ट्रस्य या मुखे तया मा सं सृजामसि ॥ [६६०]
इयमोषधे त्रायमाणा सहमाना सहस्वती ।
सा मा हिरण्यवर्चसं ब्रह्मवर्चसिनं मा करोतु ॥ [६६१]

आयुप्रद, वर्चःप्रद, वीरतायुक्त, धन का पोषक, उत्पादक यह वर्चो-युक्त सुवर्ण विजय के लिए मुझमें प्रवेश करे ॥ (यह सुवर्ण) अत्यधिक बलशाली, शत्रुसैन्य-विजेता, युद्ध-समर्थ तथा धन-विजेता है, इसी सुवर्ण में सब समृद्धियाँ और ऋद्धियाँ समाहित हैं ॥ मैंने पिता के नाम के तुल्य स्वर्ण का सुन्दर नाम ग्रहण किया है, उस प्रकार के मुझे तुम स्वर्ण-सम तेजस्वी और सब जनों में प्रिय बना दो ॥ तुम मुझे देवताओं में प्रिय बना दो, ब्राह्मण वर्ग में प्रिय बना दो, वैश्यों और शूद्रों में तथा क्षत्रियों में मुझे प्रिय बना दो ॥ सम्राट् और विराट् तथा उनकी जो शोभा हमारे घर में है, तथा राष्ट्र में जिस लक्ष्मी की प्रधानता है, उससे मैं स्वयं को संयुक्त करता हूँ ॥ हे ओषधि, जो यह तुम रक्षा करने वाली, सहिष्णुता तथा शक्ति से युक्त हो, उस प्रकार की तुम मुझे स्वर्ण-सम-तेजस्वी और ब्रह्मतेज से युक्त बना दो ॥

इन मन्त्रों में वहुत सुन्दर ढंग से व्यावहारिक गृहस्थ जीवन में सुवर्ण का महत्त्व समझाया गया है। सामाजिक प्रतिष्ठा ही नहीं, अपितु स्थूल सुख-समृद्धि के लिए भी धन अनिवार्य है। परन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि धन से प्रभुता की उतनी कामना न करके सब जनों में प्रिय होने की कामना अधिक व्यक्त की गई है। अभी तक ब्रह्मचारी इस भौतिक जीवन से नितान्त अस्पृष्ट था, परन्तु अब उस जीवन में प्रवेश करने से पूर्व उसे धन का महत्त्व बताया जा रहा है, जिससे वह जीविकोपार्जन के लिए प्रेरित हो और सुख पूर्वक अपना तथा परिवार का पालन-पोषण करे। साथ ही साथ स्वाध्याय-जन्य ब्रह्मतेज को भी भुलाया नहीं गया। इस प्रकार का भौतिक और आध्यात्मिक सामञ्जस्य ही समाज की उन्नति के लिए आदर्श है।

द्वितीय मन्त्र के प्रथम दो शब्दों को छोड़ कर मन्त्रों का उपरिलिखित पाठ मं०पा० के अनुसार है। वहाँ प्रथम शब्द **उच्चैर्वादि** है, परन्तु विन्तरनित्ज़ ने **उच्चैर्वाजि** पाठ भी दिया है। यह पाठ अधिकांश गृह्यसूत्रों में स्वीकार किया गया है, इसके अतिरिक्त सुवर्ण के लिए **अत्यधिक बोलने वाला** (उच्चैर्वादि) की अपेक्षा अत्यधिक बलशाली (उच्चैर्वाजि) अधिक अच्छा विशेषण है। द्वितीय शब्द अन्त्य तकार रहित

पृतनाजि है—इसका कोई स्पष्ट अर्थ नहीं निकलता, दूसरी ओर **पृतनाजित्** का स्पष्ट अर्थ शत्रुसैन्य-विजेता है। भा०गृ० में प्रथम मन्त्र में **हिरण्यम्** के पश्चात् **आयुषे** रखा गया है और **वर्चस्वंज्ज्यैत्र्याय** के स्थान पर **वर्चसे जैत्रियाय** पाठ है। **आयुषे** के समावेश से छन्दोभङ्ग ही गया है। चतुर्थ मन्त्र में इस गृह्य में **विश्येषु** के स्थान पर **विश्वेषु** पाठ है। परन्तु **विश्येषु** पाठ इसलिए रखा गया है क्योंकि जहाँ अन्य तीन वर्णों की गणना है वहाँ इस शब्द से एक वर्ण (**वैश्य**) का बोध होता है। पञ्चम मन्त्र में **विराजम्** के स्थान पर **स्वराजम्** तथा **अभिश्रीः** के स्थान पर **अभिष्टिः** पाठ है। हि०गृ० में प्रथम मन्त्र में **सुवीर्यम्** का अभाव है। द्वितीय मन्त्र में **पृतनाजित् सत्रा-साहम्** के स्थान पर **पृतनाषाट् सभासाहम्** और **समाहिताः** के स्थान पर **समाभृताः** पाठ है। तृतीय मन्त्र के अन्त में षष्ठ मन्त्र के चतुर्थपाद-भूत शब्दों **ब्रह्मवर्चसिनं मा कृणोतु** को जोड़ा गया है। चतुर्थ मन्त्र में यहाँ भी **विश्येषु** के स्थान पर **विश्वेषु** पाठ है। इसका पञ्चम मन्त्र भा०गृ० के पञ्चम मन्त्र से एकरूप है। आग्नि०गृ० में मुख्य रूप से हि०गृ० का अनुसरण किया गया है। चतुर्थ मन्त्र में यहाँ सभी स्थलों पर **प्रियम्** के स्थान पर **यशः** पाठ दिया गया है और मं०पा० का **विश्येषु** ही रखा गया है।

जहाँ तक विनियोग का प्रश्न है, केवल अन्तिम दो मन्त्रों के विषय में ही मतभेद है। तदनुसार हि०गृ० और वै०गृ० में पञ्चम मन्त्र का विनियोग आहुतियों के लिये नहीं किया गया। हि०गृ० में तो यह कुण्डल पहनने के लिए विनियुक्त है और वै०गृ० के अनुसार किसी जल से पूर्ण पात्र में आभूषण धोते हुए इसका उच्चारण किया जाना चाहिए। आप०गृ० ८।२३।६ (मं०पा० २।२२।२०) में रोगादि-निवारण के निमित्त कर्म में भी इसका विनियोग किया गया है। दूसरी ओर आप०गृ० और भा०गृ० में इन आहुतियों के लिए षष्ठ मन्त्र नहीं प्रयुक्त हुआ। उनके अनुसार इसका उच्चारण करते हुए स्नातक को सुवर्ण-मणि को उदपात्र में घुमाना चाहिये। हि०गृ० (१।११।३) में कण्ठ पर बदर-वृक्ष की मणि बाँधने के लिये भी इस मन्त्र के उच्चारण का विधान है। इस विनियोग का प्रमुख आधार **ओषधे** शब्द है क्योंकि यह किसी भी काष्ठ-निर्मित पदार्थ का द्योतक है। पा०गृ० (१।१३।१) के अनुसार चतुर्थी कर्म के अन्तर्गत पत्नी के नासारन्ध्रों में सिंही नामक ओषधि का रस डालते हुए पति को इसका उच्चारण करना चाहिए। इस गृह्यसूत्र में **सहस्वती** के स्थान पर **सरस्वती** पाठ है और उत्तरार्ध निम्नलिखित है :—

अस्या अहं बृहत्याः पुत्रः पितुरिव नाम अग्रभम् ॥

(विशाल 'पृथ्वी' के पुत्र मैंने पिता के नाम के समान इस (ओषधि) का नाम लिया है।) शां०गृ० (३।१।७) में ब्रह्मचारी की ग्रीवा पर मणि बांधने के लिये केवल

प्रथम मन्त्र का विनियोग किया गया है।

अन्तिम मन्त्र को छोड़ कर शेष सभी मन्त्र ऋ० १०।१२८ के अन्त में दिये गये खिल सूक्त में उपलब्ध हैं। प्रथम तीन मन्त्र उस सूक्त के प्रथम तीन मन्त्रों के अनुरूप हैं, चौथा और पाँचवाँ मन्त्र क्रमशः उस सूक्त के ग्यारहवें और चौथे मन्त्र के अनुरूप हैं। आ०गृ० (३।८।२१) में इस समस्त सूक्त का विनियोग ब्रह्मचारी की ग्रीवा पर सुवर्ण मणि बाँधने के लिए किया गया है। केवल प्रथम मन्त्र वा०सं० (३४।५०) में भी उपलब्ध होता है। षष्ठ मन्त्र के स्रोत के सम्बन्ध में उसके पूर्वार्ध की तुलना निम्नलिखित अथर्व०(८।२।६) मन्त्र के उत्तरार्ध से की जा सकती है :—

जीवलां नघारिषां जीवन्तीमोषधीमहम्।

त्रायमाणां सहमानां सहस्वतीमिह हुवेऽस्या अरिष्टतातये ॥ [६६२]

आप०गृ० ५।१२।८ (मं०पा० २।७।२६) के अनुसार ग्रीवा पर मणि बाँधने के लिए निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिए :—

अपाशोऽस्युरो मे मा सं शारीः।
शिवो मोप तिष्ठस्व दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥
शतं शरद्भ्य आयुषे वर्चसे जीवात्वै पुण्याय ॥ [६६३]

तुम पाश नहीं हो, मेरे वक्षस्थल को शीर्ण न करना। दीर्घायु तथा शतवर्षपर्यन्त जीवन के लिये कल्याणकर होकर मेरी सेवा करना। सौ वर्षों के लिये, दीर्घायु के लिये, वर्चस्विता के लिये, जीवन के लिये और पुण्य के लिये (मेरे पास रहना)।

यहाँ दीर्घायु के साथ साथ पुण्यकर्म की कामना विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। इससे प्रकट होता है कि तत्कालीन शिक्षा के द्वारा स्वार्थपूर्ण दृष्टिकोण न होकर परोपकारी दृष्टिकोण बनता था। हि० गृ० (१।११।३), भा० गृ० (२।२१) और आग्नि० गृ० (१।३।४) में मन्त्र में से केवल अपाशोऽसि शब्द लिये गये हैं, किन्तु उसका विनियोग उपर्युक्त ही है। हाँ, भा० गृ० में पाठान्तर सहित अवशिष्टांश का प्रयोग मणि को वक्षस्थल के मध्य टिकाने के लिये किया गया है। वहाँ मन्त्र निम्नलिखित वाक्य में परिणत हो गया है :—

उरो मे मा संशारीः शिवो मोपशेष्व मह्यं दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥

(मेरे वक्षस्थल को शीर्ण न करना, मुझे दीर्घायु अर्थात् सौ वर्षपर्यन्त आयु प्रदान करने के लिये कल्याणकर होकर मेरे पास रहना।)

इस गृह्यसूत्र में सम्भवतया उरः शब्द के कारण इसका विशेष सम्बन्ध उर

(वक्ष) से जोड़ा गया है। तै० ब्रा० (१।२।१।१९-२०) और आप० श्रौ० (५।११।५) इस मन्त्र का मूल स्रोत प्रतीत होते हैं क्योंकि वहाँ दर्घायुत्वाय से आगे का अंश ठीक समान है। परन्तु जहाँ तक विनियोग का प्रश्न है, इन्हें स्रोत नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनमें विधान है कि अग्न्याधान के अवसर पर अग्नि-समिन्धन के पश्चात् यजमान को इसका उच्चारण करते हुए अग्नि में श्वास लेना चाहिये। वस्तुतः मन्त्र के इस अंश की प्रार्थना सामान्य प्रकार की है।

कुण्डल पहनने के लिये हि० गृ० (१।११।२) और वै० गृ० (२।१५) में निम्नलिखित मन्त्र के उच्चारण का विधान किया गया है :—

ऋतुभिष्ट्वार्तवैरायुषे वर्चसे।
संवत्सरस्य धायसा तेन सन्ननुगृह्णासि॥ [६६४]

आयु तथा वर्चस्विता के लिये ऋतुओं तथा ऋतु-सम्बन्धी पदार्थों के द्वारा और वर्ष की धारण शक्ति के द्वारा तुम मुझे अनुगृहीत करो॥

मन्त्र के अन्तिम शब्द का पाठ भ्रष्ट प्रतीत होता है। किर्स्ते के सुझाव का अनुसरण करते हुए ओल्डनबर्ग ने अथर्व० (५।२८।१३) के पाठ सं हनु कृण्मसि के अनुसार 'हम उनसे जबड़ों का स्पर्श कराते हैं' (वी मेक दैम टच द जॉज़) अनुवाद किया है। अथर्व० के उक्त मन्त्र से इसमें अन्य पाठभेद भी हैं। अथर्व० मन्त्र के पूर्वार्ध का अन्त्य शब्द त्वा है और उत्तरार्ध के धायसा के स्थान पर वहाँ तेजसा है। अथर्व० मन्त्र का विनियोग कौशिक० (५८।११) द्वारा आयुष्काम कर्म में किया गया है। गृह्य-पाठ के अनुसार मन्त्र शुद्ध पुर-उष्णिक् छन्द में है जिसके प्रथम पाद में बारह और अन्तिम दोनों पादों में आठ आठ अक्षर होते हैं।[1]

पा० गृ० (२।६।२६) में कुण्डल पहनने के लिये निम्नलिखित वाक्य दिया गया है :—

अलंकरणमसि भूयोऽलंकरणं भूयात्॥ [६६५]

तुम आभूषण हो, तुमसे मेरा बहुत अधिक अलंकरण हो जाये॥

मा० गृ० (१।९।२४) और वा० गृ० (१२।१) के अनुसार विवाह-संस्कार में वधू को आभूषण धारण करते हुए इस वाक्य का उच्चारण करना चाहिये। इन गृह्यसूत्रों में इसका पाठ **अलंकरणमसि सर्वस्मा अलं मे भूयासम्** है। यहाँ मे अतिरिक्त प्रतीत होता है और सम्भवतया इसीलिये वा० गृ० में इसका अभाव है।

---

१. वै० ग्रा० स्टू० परि० II ९ a २ (पृ० ४४४)

ऐसा प्रतीत होता है कि इस पाठ में **अलंकरण** का श्लिष्टार्थं (आभूषण और समर्थ बनाने वाला) लिया गया है। वधू-मुख से उच्चारित इस वाक्य में ऐसी गन्ध आती है मानो विवाह के पश्चात् श्वसुरालय में सबसे उसकी प्रतिद्वन्द्विता होने वाली हो।

माला-धारण

कुछेक कृष्णयजुर्वेदीय गृह्यसूत्रों में विधान है कि स्नातक को माला धारण करते हुए निम्नलिखित दो मन्त्रों का उच्चारण करना चाहिये :[1]—

शुभिके शिर आरोह शोभयन्ती मुखं मम।
मुखं हि मम शोभय भूयांसं च भगं कुरु॥ [६६६]
यामाहरज्जमदग्निः श्रद्धायै कामायान्यै।
इमां तामपि नह्येऽहं भगेन सह वर्चसा॥ [६६७]

हे शुभ माला, मेरे मुख को शोभित करती हुई तुम मेरे सिर पर आरोहण करो। तुम मेरे मुख को सुशोभित करो, और बहुत अधिक ऐश्वर्य उत्पन्न करो॥ जिसे जमदग्नि काम की पुत्री श्रद्धा के लिये लाया था, उस प्रकार की इस माला को मैं ऐश्वर्य और वर्चस्विता के साथ धारण करता हूँ॥

माला को यहाँ ऐश्वर्य और शोभा का प्रतीक माना गया है। द्वितीय मन्त्र में कामायनी श्रद्धा का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है। सम्भवतया इसके माध्यम से गृहस्थाश्रम में काम के महत्त्व के प्रति संकेत किया गया है। मन्त्रों का उपरिलिखित पाठ मं० पा० में से उद्धृत है। प्रथम मन्त्र में हि० गृ० में **शिरः** और **हि** के स्थान पर क्रमशः **शुभम्** और **च** पाठ है, और द्वितीय मन्त्र के पूर्वार्ध में **कामायान्यै** के स्थान पर **कामायास्यै** पाठ है। यहाँ **कामाय** तथा **अन्यै** (**अस्यै**) का विच्छेद करके दो शब्द माने गये हैं परन्तु यह **कामायन्यै** का भ्रष्ट पाठ भी हो सकता है। द्वितीय मन्त्र के उत्तरार्ध में **अपि नह्ये** के स्थान पर सभी गृह्यसूत्रों में **प्रतिमुञ्चे** पाठ दिया गया है। आग्नि०गृ० में द्वितीय मन्त्र के पूर्वार्ध में **आहरत्** के स्थान पर **मे अहार** पाठ है और भ्रष्ट रूप से **कामाय** तथा **अन्यै** को पृथक् करके **कामाय** के स्थान पर **रागाय** दिया गया है। यहाँ इस मन्त्र का अन्तिम पाद **आयुषे च भगाय च** है।

वै० गृ० (२।१५) में स्नातक की ग्रीवा पर मणि बाँधने के लिये केवल प्रथम

---

१. आप० गृ० ५।१२।११ (मं० पा० २।८।६-१०), हि० गृ० १।११।४, भा० गृ० २।२२, आग्नि० गृ० १।३।५।

मन्त्र का विनियोग किया गया है। दूसरी ओर पा० गृ० (२।६।२३) में निम्नलिखित पाठ सहित द्वितीय मन्त्र का विनियोग स्नातक द्वारा (माला रूप में) पुष्प ग्रहण करने के लिये किया गया है :—

या आहरज्जमदग्निः श्रद्धायै मेधायै कामायेन्द्रियाय।
ता अहं प्रतिगृह्णामि यशसा च भगेन च॥ [६६८]

जिन (सुमनों) को जमदग्नि श्रद्धा, मेधा, काम और इन्द्रिय के लिये लाया था, उन्हें मैं यश और ऐश्वर्य के साथ ग्रहण करता हूँ॥

गो०गृ० और खा०गृ० के अनुसार माला ग्रहण करते हुए निम्नलिखित वाक्य उसे सम्बोधित किया जाना चाहिये :[१]—

श्रीरसि मयि रमस्व॥ [६६९]
तुम लक्ष्मी हो, मुझमें रमण करो॥

आग्नि०गृ० (२।६।६) में वाक्य का रूप **श्रीरस्येहि मयि श्रयस्व** है। इस गृह्यसूत्र में इसका विनियोग अर्घ्य के अन्तर्गत मधुपर्क ग्रहण करने के लिए किया गया है। केवल आद्य शब्द **श्रीरसि** पूर्ववर्ती ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं।[२]

दर्पण-दर्शन

कुछेक गृह्यसूत्रों में स्नातक द्वारा दर्पण-दर्शन के लिए पाठान्तर सहित निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है[३] :—

यन्मे वर्चः परागतमात्मानमुपतिष्ठति।
इदं तत्पुनराददे दीर्घायुत्वाय वर्चसे॥ [६७०]

लौटकर आई हुई मेरी जो वर्चस्विता अपने आप में स्थिर है, उसे मैं दीर्घायु और वर्चस्विता के लिए पुनः ग्रहण करता हूँ॥

वास्तव में दर्पण से वर्चस्विता की प्रेरणा लेना अत्यन्त स्वस्थ परम्परा है। दर्पण यदि दर्प-हीन भावना से देखा जाये तो वह आयुवर्धक भी हो सकता है। और दूसरी ओर यदि मनुष्य उससे दृप्त हो तो वह विनाशक सिद्ध होता है।

उपरिलिखित पाठ मं०पा० में से लिया गया है। भा०गृ० में पूर्वार्ध में परागतम् के स्थान पर परापतितम् और उपतिष्ठति के स्थान पर परिपश्यतः पाठ है।

---

१. गो०गृ० ३।४।२४ (मं०ब्रा० १।७।११), खा०गृ० ३।१।२२।
२. तै०सं० १।३।१०।१, आप०श्रौ० ७।२५।४, कौशिक० १०।६।६।
३. आप०गृ० ५।१२।११ (मं०पा० २।६।२), भा०गृ० २।२२, आग्नि०गृ० १।३।५।

अन्तिम पाद यहाँ **भगेन सह वर्चसा** है। ऐसा प्रतीत होता है कि आग्नि०गृ० में मं०पा० और भा०गृ० के पाठों का समन्वय करने का प्रयत्न किया गया है। इसमें मं०पा० का **परागतम्** और भा०गृ० का **परिपश्यति** (इसके पूर्व **आदर्शे** का समावेश करके) रखा गया है। सम्भवतः यह समावेश दर्पण के साथ मन्त्र का स्पष्ट सम्बन्ध अभिव्यक्त करने के लिए किया गया होगा। इसमें अन्तिम पाद **आयुषे च भगाय च** है: यहाँ भी आयुष्य का भाव मं०पा० से और भग का भाव भा०गृ० से लिया गया प्रतीत होता है।

इसी प्रसंग में हि०गृ० (१।११।६) में निम्नलिखित तै०सं० (६।६।७।२) मन्त्र प्रतीकेन उद्धृत किया गया है :—

यन्मे मनः परागतं यद्वा मे अपरागतम्।
राज्ञा सोमेन तद्वयमस्मासु धारयामसि ॥ [६७१]

मेरा जो मन लौटकर आया है, या जो लौटकर नहीं आया, राजा सोम राहित उसे हम अपने में धारण करते हैं।

यह मन्त्र उपर्युक्त मन्त्र (६७०) का मूल स्रोत प्रतीत होता है। मै०सं० (४।७।२) और का०सं० (२६।२) में यह मन्त्र **परागतम्** के स्थान पर **यमं गतम्** पाठान्तर सहित आया है। इस मन्त्र का गृह्य विनियोग ब्राह्मण और श्रौत साहित्य पर आधारित प्रतीत होता है, क्योंकि वहाँ अग्निष्टोम में यह विधान है कि उद्गाता को इसका उच्चारण करते हुए सोम के लिये उद्दिष्ट ओदनपिण्ड का अवलोकन करना चाहिए।[1] अतः श्रौत और गृह्य दोनों विनियोगों में किसी पदार्थ के अवलोकन की क्रिया समान है।

पा०गृ० (२।६।२८) में दर्पण-दर्शनार्थं निम्नलिखित वाक्य दिया गया है :—

रोचिष्णुरसि ॥ [६७२]

हे दर्पण, तुम दीप्त करने वाले हो।

यहाँ भी अप्रत्यक्ष रूप में रुच् अर्थात् तेज की कामना की गई है। यह वाक्य प्राग्-गृह्यसूत्र साहित्य में अनुपलब्ध है।

छत्र और उपानह

आप०गृ० (५।१२।११) और वै०गृ० (२।१५) में विधान है कि स्नातक को

---

१. पं०ब्रा० १।५।१७, आ०श्रौ० ५।१६।५, आप० श्रौ० १३।१४।४, मा०श्रौ० २।५।२।७।

हाथ में छत्र लेते हुए निम्नलिखित वाक्य (मं०पा० २।६।४) का उच्चारण करना चाहिए :—

प्रजापतेश्शरणमसि ब्रह्मणश्छदिर्विश्वजनस्य
छायाऽसि सर्वतो मा पाहि ॥ [६७३]

हे छत्र, तुम प्रजापति की शरण हो, ब्रह्मा की छत हो, सब जनों की छाया हो, तुम सब ओर से मेरी रक्षा करो ॥

अन्य गृह्यसूत्रों में इसी कर्म में इससे मिलते जुलते वाक्यों का, या इसी वाक्य के पाठान्तरों का विनियोग किया गया है। हि०गृ० (१।११।१०) और भा०गृ० (२।२२) में इस वाक्य को केवल **ब्रह्मणश्छदिः** तक उद्धृत किया गया है। वा०गृ० (६।१०) में केवल **विश्वजनस्य छायासि** शब्द दिये गये हैं। आ०गृ० (३।८।१५) में **दिवश्छद्मासि** वाक्य रखा गया है। पा०गृ० (२।६।२६) में निम्नलिखित दीर्घतर वाक्य प्रयुक्त किया गया है :—

बृहस्पतेश्छदिरसि पाप्मनो मामन्तर्धेहि तेजसो यशसो मान्तर्धेहि ॥ [६७४]

तुम बृहस्पति की छत हो, मुझे पाप से छिपाकर रखो, मुझे तेज और यश से न छिपाकर रखो।

यहाँ बृहस्पति शब्द विशेष उल्लेखनीय है क्योंकि शिक्षा सम्बन्धी कर्मों के साथ बृहस्पति का विशेष सम्बन्ध है। छत्र को यहाँ पापादि दुराचारों से आवरण का प्रतीक माना गया है। यह मन्त्र (६७३) आंशिक रूप में वा०सं० (५।२८) में उपलब्ध है। वा०सं० में **इन्द्रस्य छदिर्विश्वजनस्य छाया** पाठ है। श०ब्रा० (३।६।१।२०) के अनुसार सोमयाग के अन्तर्गत सदस् पर छत डालने के अवसर पर इस वाक्य का पाठ किया जाना चाहिए। छत और छत्र का उद्देश्य प्रायः समान होने के कारण यह अनुमान निराधार नहीं कि गृह्य विनियोग का प्रेरणास्रोत यह श्रौत-विनियोग ही है।

छत्र ग्रहण करने के लिये शां०गृ० (३।१।६) में निम्नलिखित मन्त्र (ऋ० १।१२३।४) का विनियोग किया गया है :—

गृहं गृहमहना यात्यच्छा दिवे दिवे अधि नामा दधाना।
सिषासन्ती द्योतना शश्वदागादग्रमग्रमिद् भजते वसूनाम् ॥ [६७५]

प्रतिदिन नये नाम धारण करती हुई, दिन होते ही प्रत्येक घर की ओर जाती है, द्युतिशीला यह (उषा) बार बार सोकर जागती हुई निरन्तर ही आगे-आगे आती है और धन प्राप्त करती है।

यह उषा की स्तुति है और प्रकट रूप में छत्र के साथ इसका कोई सम्बन्ध लक्षित नहीं होता। तथापि सम्भवतया मन्त्र के **गृहम्** शब्द से गृह्यसूत्रकार को शरण अथवा रक्षार्थ आवरण—छत्र का संकेत प्राप्त हुआ होगा।

लगभग सभी गृह्यसूत्रों में उपानह-धारण के लिए मिलते जुलते वाक्यों का विनियोग किया गया है।[१] भा०गृ०, हि०गृ० और वा०गृ० में निम्नलिखित वाक्य है:—

प्रतिष्ठे स्थो देवते मा मा सन्ताप्तम् ।। [६७६]

आप दोनों प्रतिष्ठाभूत देवता हो, मुझे सन्तप्त न करना।

का०गृ० में **सन्ताप्तम्** के स्थान पर **हिंसिष्टम्** पाठ है। मं०पा० में **देवते** के स्थान पर **देवतानाम्** पाठ है। मा०गृ० में इस शब्द के स्थान पर **दैवते** पाठ है और तदनन्तर **द्यावापृथिवी** का समावेश किया गया है। आ०गृ० में पाठ इस प्रकार है :—

देवनां प्रतिष्ठे स्थः सर्वतो मा पातम् । [६७७]

आप दोनों देवताओं की प्रतिष्ठा हो, मेरी सब ओर से रक्षा करो।

पा०गृ० में आद्य शब्द नहीं है और **सर्वतः** के स्थान पर **विश्वतः** पाठ है। इस पाठ से अर्थ अपरिवर्तित रहता है।

केवल **मा मा सन्ताप्तम्** शब्द वा०सं० (५।३३) और कुछ अन्य ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं।[२]

सामवेदीय गृह्यसूत्रों में इस कर्म के निमित्त निम्नलिखित वाक्य दिया गया है[३] :—

नेत्र्यौ स्थो नयतं माम् ।। [६७८]

हे जूतियो, तुम नेतृत्व करने वाली हो, मेरा नेतृत्व करो।

जै०गृ० में आद्य शब्द **नेत्रे** (आँखें) हैं। एक प्रकार से मार्ग रक्षक होने के कारण जूते नेतृत्व करने वाले और आँखें भी कहे जा सकते हैं।

शां०गृ० (३।१।१०) में उपानह-धारण करने के लिये निम्नलिखित मन्त्र (ऋ० १०।१८।६) का विनियोग किया गया है :—

---

१. आ०गृ० ३।८।१४, मा०गृ० १।२।१६, का०गृ०३।८, वा०गृ० ६।१३, आप०गृ० ५।१२।११(मं०पा० २।६।३), हि०गृ० १।११।६, भा०गृ० २।२२।

२. मै०सं० १।२।१२, का०सं० २।१३, पं०ब्रा० १।४।१०, शां०श्रौ० ६।१२।२४, आप०श्रौ० २२।१७।१०।

३. गो०गृ० ३।४।२५ (मं०ब्रा० १।७।१२), खा०गृ० ३।१।२३, जै०गृ० १।१६।

आरोहतायुर्जरसं वृणाना अनुपूर्वं यतमाना यतिष्ठ ।
इह त्वष्टा सुजनिमा सजोषा दीर्घमायुः करति जीवसे वः ।। [६७९]

हे पितरो, दीर्घायु और वृद्धावस्था का वरण करते हुए (स्वर्ग को) आरोहण करो । ज्येष्ठक्रम से प्रयत्न करते हुए चलो । यहाँ पापनाशक, शोभनजन्मा, सबके प्रति समान प्रीति वाला त्वष्टा आपके चिरजीवन के लिए दीर्घ आयु करे ।।

यह मन्त्र ऋग्वेद के एक पितृ-सूक्त में पितरों को सम्बोधित है । ऐसा प्रतीत होता है कि शां०गृ० का रचयिता उपानह-धारण में इसके विनियोग के लिए **आरोहत** शब्द से प्रेरित हुआ, क्योंकि जूते पहनता हुआ मनुष्य मानो उन पर आरोहण करता है । यह मन्त्र अथर्व० (१२।२।२४) में भी है । आ०गृ० (४।६।८) में इसका विनियोग शान्ति कर्म के अन्तर्गत कुटुम्ब के सदस्यों को ऋषभ-चर्म पर चढ़ाने के लिए किया गया है । उस कर्म के अन्त्येष्टि से सम्बद्ध होने के कारण यह प्रयोग अनुचित नहीं प्रतीत होता । शां०गृ० के इस विनियोग के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि कई बार अपनी शाखा की संहिता के प्रति विशेष आग्रह के कारण गृह्यसूत्रों में गृह्यपरम्परागत संगत मन्त्रों के स्थान पर असंगत मन्त्रों का चयन किया गया है ।

दण्ड-धारण

आप०गृ०, हि०गृ० और वै०गृ० में विधान है कि स्नातक को अभिनव दण्ड धारण करते हुए निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिए[1] :—

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामाददे ।
द्विषतो वधायेन्द्रस्य वज्रोऽसि वार्त्रघ्नश्शर्म मे भव यत् पापं तन्निवारय ॥

हि०गृ० में इसे प्रतीकेन उद्धृत किया गया है । उसी स्थल पर दण्ड को तीन बार पोंछने के लिए निम्नलिखित वाक्य का प्रयोग किया गया है :—

इन्द्रस्य वज्रोऽस्यश्विनौ मा पातम् । [६८०]

हे दण्ड, तुम इन्द्र के वज्र हो । हे अश्विनो, (इसके द्वारा) मेरी रक्षा करो ।

इससे प्रतीत होता है कि हि०गृ० में मं०पा० के मन्त्र को द्विधा विभक्त किया गया है । परन्तु दोनों भाग दण्ड से सम्बद्ध हैं । **हस्ताभ्याम्** पर्यन्त मन्त्र तै०सं० २।६।४।१ में विद्यमान है और **इन्द्रस्य वज्रोऽसि** शब्द तै०सं० (५।७।३।१) के एक बड़े मन्त्र का अंश हैं । मन्त्र का अवशिष्टांश प्राग्-गृह्यसूत्र साहित्य में अनुपलब्ध है । इस मन्त्र के विस्तृत विवेचनार्थ देखिये मन्त्र संख्या ५४१ ।

---

१. आप०गृ० ५।१२।११। (मं०पा० २।९।५), हि०गृ० १।११।७, वै०गृ० २।१५ ।

सामवेदीय गृह्यसूत्रों में दण्ड ग्रहण करने के लिये निम्नलिखित वाक्य के उच्चारण का विधान है[1] :—

गन्धर्वोऽस्युपाव उप मामव। [६८१]

तुम गन्धर्व हो, निकट से रक्षा करो, मेरी निकट से रक्षा करो।

जै०गृ० में इसका पाठ इस प्रकार है :—

गन्धर्वोऽसि विश्वावसुः स मा पाहि स मा गोपाय ॥ [६८२]

तुम विश्वावसु गन्धर्व हो। वह तुम मेरी रक्षा करो, मेरा गोपन करो।

आ०गृ० (२।८।१५) का वाक्य इससे मिलता जुलता है :—

वेणुरसि वानस्पत्योऽसि सर्वतो मा पाहि ॥ [६८३]

तुम बाँस हो, वनस्पति से उत्पन्न हो, सब ओर से मेरी रक्षा करो।

यहाँ वेणु शब्द महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इस गृह्यसूत्र में वैणव अर्थात् वेणु निर्मित दण्ड का विधान है।

भा०गृ० (२।२२) के अनुसार दण्डग्रहण के अवसर पर अधोलिखित वाक्य का उच्चारण किया जाना चाहिए :—

लोके वेदायास्मि द्विषतो वधाय सपत्नान् श्वापदान् सरीसृपान् हस्तिनश्च ।। [६८४]

संसार में मैं वेद के लिए हूँ, शत्रु के वध के लिए हूँ। शत्रुओं, हिंस्र पशुओं, सरीसृपों और हाथियों को (वश में करूँगा)।

वधाय तक तो यह वाक्य पूर्णतया स्पष्ट है, परन्तु तत्पश्चात् क्रिया के अभाव में यह अपूर्ण रह जाता है।

इस प्रसंग में आग्नि०गृ० (१।३।५) का निम्नलिखित वाक्य बहुत छोटा है —

सखा मे गोपाय ।। [६८५]

हे मेरे मित्र, मेरी रक्षा करो।

शां०गृ० (३।१।११) में इस कार्य के लिये निम्नलिखित मन्त्र (ऋ० ८।१७।१०) का विनियोग किया गया है :—

दीर्घस्ते अस्त्वंकुशो येना वसु प्रयच्छसि। यजमानाय सुन्वते ॥ [६८६]

तुम्हारा वह अंकुश दीर्घ हो जिससे तुम सोम-सवन करने वाले यजमान

१. गो०गृ० ३।४।२० (मं०ब्रा० १।७।१३), खा०गृ० ३।१।२४, जै०गृ० १८।१।

को धन प्रदान करते हो।

यह मन्त्र कुछ अन्य संहिताओं में भी उपलब्ध है।[1] संहिताओं में यह इन्द्र के प्रति सम्बोधित है और दण्डधारण कर्म के साथ इसका स्पष्ट सम्बन्ध नहीं। आ०श्रौ० (३।१३।१४) में भी इसे आहुतियों के साथ दिया गया है। अतः यह प्रतीत होता है कि इसके गृह्य-विनियोग का आधार अंकुश शब्द है। अंकुश दण्ड जैसा ही होता है और उसका उद्देश्य भी रक्षा करना है।

पा०गृ० (२।६।३१) में इस प्रसङ्ग में निम्नलिखित वाक्य उद्धृत किया गया है :—

विश्वाभ्यो मा नाष्ट्राभ्यस्परिपाहि सर्वतः ॥ [६८७]

मेरी सभी ओर से सभी विपत्तियों से रक्षा करो।

इसके समान शब्द यजुर्वेदीय संहिताओं के एक मन्त्र के अंशरूप में विद्यमान हैं।[2] इस वाक्य के गृह्य-विनियोग का आधार तै०ब्रा० (१।७।६।८) प्रतीत होता है क्योंकि वहाँ राजसूय के अन्तर्गत राज्याभिषेक के अवसर पर इसका उच्चारण करते हुए राजा को बाण प्रदान किये जाते हैं। यह वाक्य कुछ अन्य पूर्ववर्ती ग्रन्थों में भी विद्यमान है परन्तु गृह्य-विनियोग की दृष्टि से उनका महत्त्व नहीं है।[3]

रथारोहण

शां०गृ०, गो०गृ० और खा०गृ० में विधान है कि गृहप्रस्थान के लिए रथारोहण के समय स्नातक को ऋ० ६।४७।२६ (वनस्पते इत्यादि) मन्त्र का उच्चारण करना चाहिए।[4] इस विनियोग की पुष्टि श्रौत विनियोग से होती है क्योंकि मा०श्रौ० ६।२।३।१६ और बौ०श्रौ० १०।२४ में अश्वमेध याग में रथ को सम्बोधित करने के लिये इसके उच्चारण का विधान है। इसका विस्तृत विवेचन विवाह के अन्तर्गत (मं०सं० २०६) किया जा चुका है। वहाँ भी गृह-प्रस्थान के अवसर पर वधू द्वारा रथारोहण के प्रसंग में इसका विनियोग किया गया है।

हि०गृ०(१।१२।२) और वै०गृ०(२।१५) में तै०सं० १।७।७।२(अङ्कौ न्यङ्कौ

---

१. अथर्व० २०।५।४, मै०सं० ४।१२।३, का०सं० ६।१०।
२. वा०सं० ३७।१२ (विश्वाभ्यो मा नाष्ट्राभ्यस्पाहि), तै०सं० १।८।१२।३, मै०सं० ४।६।३।
३. श०ब्रा० १४।१।३।२४, तै०आ० ४।५।४, का०श्रौ० २६।३।७।
४. शां०गृ० ३।१।१३, गो०गृ० ३।४।३०-३१ (मं० ब्रा० १।७।१६), खा०गृ० ३।१।२७।

इत्यादि) का विनियोग किया गया है। भा०गृ० (२।२९) के अनुसार इसका उच्चारण रथ-चक्रों का स्पर्श करते हुए किया जाना चाहिए। इस मन्त्र का विस्तृत विवेचन भी विवाह के अन्तर्गत (मं०सं० २०१) किया जा चुका है।

हि०गृ० (१।१२।२) और वै०गृ० (३।१५) के अनुसार रथारोहण के अवसर पर अधोलिखित मन्त्र का उच्चारण भी किया जाना चाहिए :—

अयं वामश्विना रथो मा दुःखे मा सुखे रिषत्।
अरिष्टः स्वस्ति गच्छतु विविघ्नन्नभिदासतः ॥ [६८८]

हे अश्विनो, आपका यह रथ न तो दुःख में भग्न हो और न सुख में। भग्न हुए बिना यह हम पर आक्रमण करने वालों को नष्ट करता हुआ कल्याणपूर्वक चले।

आग्नि०गृ० (१।४।१) में केवल पूर्वार्ध का विनियोग रथ के चलना आरम्भ करने पर उच्चारणार्थ किया गया है। आप०गृ० ८।२२।१५ (मं०पा० २।२१।१९) में **अभिदासतः** के स्थान पर **पृतनायतः** पाठ सहित यद्यपि सम्पूर्ण मन्त्र रखा गया है, परन्तु उसका विनियोग किसी से प्राप्त रथ को चलाने के लिए किया गया है। पा०गृ० (३।१४।१२-१३) में भी पृथक् वर्णित रथारोहण कर्म में केवल पूर्वार्ध के उच्चारण का विधान रथ के विकल स्थिति में होने पर किया गया है। यहाँ द्वितीय पाद का पाठ **मा दुर्गो मा स्तरो रिषत्** है। प्राग्-गृह्यसूत्र साहित्य में उपलब्ध न होने के कारण शुद्ध गृह्य परम्परा ही इसका स्रोत प्रतीत होती है।

इसी अवसर पर गजारोहण का विकल्प भी है। हि०गृ० (१।१२।४) में तदर्थ निम्नलिखिति मन्त्र विनियुक्त है :—

इन्द्रस्य त्वा वज्रेणाभ्युपविशामि वह कालं वह श्रियं माभि वह हस्त्यसि हस्तियशसमसि हस्तिवर्चसमसि हस्तियशसि हस्तिवर्चसी भूयासम् ॥ [६८९]

मैं तुम पर इन्द्र के वज्र (अंकुश) के साथ बैठता हूँ। तुम काल का वहन करो, लक्ष्मी का वहन करो और मेरा वहन करो। तुम हाथी हो, हाथी के यश हो, हाथी का वर्चस्व हो, मैं हाथी के यश में स्थित हाथी के समान वर्चस्वी हो जाऊँ ॥

अभिप्राय यह है कि जैसे पशुओं में हाथी को श्रेष्ठ तथा समृद्धि का चिह्न माना जाता है, उसी प्रकार मुझे भी मनुष्यों में श्रेष्ठ तथा समृद्धिप्रद माना जाये। भा०गृ० (२।२९) में पाठ-भेद सहित यह आया है। हस्त्यसि आदि का इसमें नितान्त अभाव है और तत्पूर्वांश द्विधा विभक्त है। तदनुसार प्रथम भाग का पाठ **इदमहममुमामुष्या-**

यणम् इन्द्रस्य त्वा वज्रेणाभिविशामि है। द्वितीय भाग वह कालं वह श्रियं माभिवह हि०गृ० के अनुरूप है। इस भाग का उच्चारण करते हुए स्नातक को हाथी को हाँकना चाहिए।

आप०गृ०८।२२।१७ (मं०पा० २।२१।३१) में पृथक् रूप से वर्णित गजारोहण कर्म में शब्दों का क्रम परिवर्तित करके इसके अनुरूप ही एक वाक्य का विनियोग किया गया है :—

हस्तियशसमसि हस्तियशसी भूयासं वह कालं वह श्रियं माभिवह। इन्द्रस्य त्वा वज्रेणाभि निदधाम्यसौ ॥ [६९०]

पा०गृ० (३।१५।२, ३) में भी पृथक् वर्णित गजारोहण कर्म के अन्तर्गत इस वाक्य के आधार पर दो वाक्य बनाकर उन्हें उद्धृत किया गया है। पहले हाथी के स्पर्श के लिये निम्नलिखित वाक्य का विनियोग किया गया है :—

हस्तियशसमसि हस्तिवर्चसमसि। [६९१]

और हाथी पर चढ़ने के लिए यह वाक्य दिया गया है :—

इन्द्रस्य त्वा वज्रेणाभितिष्ठामि स्वस्ति मा संपारय ॥ [६९२]

मैं इन्द्र के वज्र के साथ तुम पर बैठता हूँ। मुझे कल्याणपूर्वक पार कर दो।

इनमें से कोई भी वाक्य प्राग्-गृह्यसूत्र साहित्य में उपलब्ध नहीं है।

दशम अध्याय

अन्त्येष्टिकर्म

गृह्यसूत्रों और श्रौतसूत्रों में वर्णित अन्त्येष्टि कर्म में बहुत समानता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि इस कर्म के लिये गृह्यसूत्र श्रौतसूत्रों के बहुत ऋणी हैं क्योंकि उनमें भी श्रौताग्नि स्थापित करने वाले आहिताग्नि का अन्त्येष्टि कर्म वर्णित है। आगामी विवेचन से यह स्पष्ट होगा कि इस कर्म की अधिकांश क्रियाओं में मन्त्रों का विनियोग श्रौत विनियोग पर आधारित है। क्योंकि इस कर्म में विनियुक्त अधिकांश मन्त्र ऋ० (१०।१४-१८) तथा अथर्व० (१८।१-४) के पितृ-सूक्तों में से उद्धृत हैं, अतः यह निष्कर्ष निरापद है कि श्रौत-साहित्य के बहुत पूर्व संहिता काल में भी इन मन्त्रों का प्रयोग अन्त्येष्टि में होता था। होरेस आई० पोलमॅन ने, ऋग्वेदीय पितृ-सूक्तों तथा उनके मन्त्रों की अन्त्येष्टि कर्म से सम्बद्ध क्रम-बद्धता सिद्ध करने का प्रयास किया है।[1]

दाह-क्रिया-पूर्व-कर्म

अन्त्येष्टि का विस्तृत विवेचन केवल आ० गृ०, कौशिक०, आग्नि० गृ० और वै० गृ० में किया गया है। पा० गृ० में भी इसका संक्षिप्त वर्णन है। कौशिक० (८०।३) में विधान है कि किसी व्यक्ति की मृत्यु के उपरान्त उसके शव को दर्भाच्छादित भूमि पर उतारते समय निम्नलिखित मन्त्र (अथर्व० १८।२।१९) का उच्चारण किया जाना चाहिये :—

स्योनास्मै भव पृथिव्यनृक्षरा निवेशनी। यच्छास्मै शर्म सप्रथाः ॥ [६९३]

हे पृथिवी; अति विस्तृत तुम इसके लिये सुखकारक, कण्टकरहित तथा निवासयोग्य हो जाओ, इसे तुम शरण प्रदान करो ॥

अधिकांश गृह्यसूत्रों में इसका विनियोग प्रत्यवरोहण कर्म में भूमि-स्पर्श अथवा भूमि पर शयन के लिये किया गया है।[2] अतः इसका विस्तृत विवेचन उस

१. ज० अ० ओ० सो०, ५४, १९३४, पृ० २७६ से—द रिचुअलिस्टिक कॉंटीन्यूटी ऑफ़ ऋग्वेद १०।१४-१८।

२. आ० गृ० २।३।७, शां० गृ० ४।१८।५, गो० गृ० ३।९।१८, (मं०ब्रा० २।२।७), खा० गृ० ३।३।२४, पा०गृ० ३।२।१३, आप०गृ०७।१९।११(मं०पा०२।१८।८), हि० गृ० २।१७।९, मा० गृ० २।७।२, ३।

कर्म के अन्तर्गत करना अधिक उपयुक्त होगा (दे० मं० सं० १०२३ के पश्चात्)।

आग्नि० गृ० (३।४।१) के अनुसार शव को भूमि पर रखते समय निम्न-लिखित वाक्य (का० सं० ३९।७) का पाठ करना चाहिये :—

आयुषः प्राणं सन्तनु ॥ [६९४]

आयु के प्राण का विस्तार करो।

यद्यपि व्यक्ति मर चुका है, तथापि इस प्रार्थना से प्रतीत होता है कि पुनर्जन्म के पश्चात् दीर्घायुष्य की कामना की जा रही है। तै० ब्रा० (१।५।७।१) और आप० श्रौ० (१६।३२।३) में निर्देश है कि वेदी-निर्माण के अन्तर्गत अपानभृत् इष्टकाओं की स्थापना के पश्चात् बारह सन्तति इष्टकाओं में से प्रथम के आधान के समय इस वाक्य का उच्चारण करना चाहिये। श्रौत और गृह्य विनियोगों का एक मात्र सम्बन्धसूत्र भूमि पर किसी पदार्थ को रखने की क्रिया है।

इसके पश्चात् आग्नि० गृ० (३।४।१) में निम्नलिखित वाक्य का उच्चारण करते हुए आहवनीय अग्नि में आहुति अर्पित करने का विधान है :—

मृत्योरधिष्ठानाय स्वाहा ॥ [६९५]

यह आहुति मृत्यु के अधिष्ठान के लिये है—स्वाहा।

ऐसा प्रतीत होता है कि आहवनीय अग्नि को यहाँ मृत्यु का अधिष्ठान माना है। यह वाक्य किसी प्राग्-गृह्यसूत्र ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं है।

वै० गृ० (५।२) में विधान है कि शव के पाँव तक कोरे वस्त्र का किनारा रखकर उसे उससे आवृत करने के लिये निम्नलिखित वाक्य का उच्चारण करना चाहिये :—

यस्यो भेत्ता (यस्याभोक्ता) शकले सन्निधायेद्द्रो दोर्भ्यां प्रातरन् प्रजापतिः ॥ [६९६]

इस वाक्य का अर्थ अस्पष्ट है। जैसा कि वै० गृ० के अनुवाद में कैलेण्ड ने कहा है इसका पाठ भ्रष्ट प्रतीत होता है। यह वाक्य अन्यत्र अनुपलब्ध है।

कौशिक० (८०।१७) में इसी क्रिया के लिये निम्नलिखित दो मन्त्रों (अथर्व० १८।४।३१; २।५७) का विनियोग किया गया है :—

एतत्ते देवः सविता वासो ददाति भर्तवे।
तत्त्वं यमस्य राज्ये वसानस्तार्प्यं चर ॥ [६९७]
एतत्त्वा वासः प्रथमं न्वागन्नपैतदूह यदिहाबिभः पुरा।
इष्टापूर्तमनुसंक्राम विद्वान्यत्र ते दत्तं बहुधा विबन्धुषु ॥ [६९८]

सविता देव तुम्हें धारण करने के लिये यह वस्त्र देता है। यम के राज्य में उसे धारण किये हुए तुम सुख (तृप्ति) का अनुभव करो ॥ तुम्हें यह वस्त्र पहले प्राप्त हुआ था, जिस वस्त्र को तुमने पहले धारण किया था उसे उतार दो। जहाँ पराये जनों के प्रति बहुधा जो कुछ तुमने दिया हो, उस इष्टापूर्त को अपना मानते हुए वहाँ तुम आगे जन्मों को प्राप्त हो ॥

स्पष्ट ही यहाँ पुनर्जन्म का संकेत है। इसकी पुष्टि श० ब्रा० (४।३।४।२६) से भी होती हैं क्योंकि वहाँ त्वचा या शरीर को ही वस्त्र कहा गया है--त्वग्घि वासः। प्रथम मन्त्र में **यम के राज्य** का अर्थ **यमनशील काल** का राज्य सम्भव है।[1] द्वितीय मन्त्र में स्पष्ट ही पहले वाले वस्त्र (शरीर) को त्यागने की बात कही गयी है। परवर्ती साहित्य यथा श्रीमद्भगवद्गीता (२।२२) में भी शरीर त्याग की तुलना जीर्ण वस्त्रों के त्याग से की गई है। आग्नि० गृ० (३।५।२) में उपर्युक्त प्रसङ्ग में ही केवल द्वितीय मन्त्र का विनियोग किया गया है। इन अथर्ववेदीय मन्त्रों से सूचित होता है कि सम्भवतया अथर्व० के काल में भी इनका विनियोग वस्त्र को शरीर का प्रतीक मानकर इसी प्रसंग में किया जाता होगा।

इसके पश्चात् शयन अथवा अर्थी को जल द्वारा अभिषिक्त किया जाता है। वै० गृ० (५।२) में विधान है कि इस क्रिया के पश्चात् अर्थी पर शव रखते हुए निम्नलिखित वाक्य का उच्चारण किया जाना चाहिये :—

गाङ्गेयाशिर वा पूतं भवत्वायाहृतं भवेत्॥ [६९९]

हे गङ्गाजल, (इसका) सिर पवित्र हो जाये, (पाप) दूर हो जायें।

इस वाक्य का पाठ भी भ्रष्ट है। मुख्य कठिनाई **आयाहृतम्** शब्द से उत्पन्न होती है। परन्तु इसके स्थान पर **आपाहृतम्** पाठ रखने से यह कठिनाई समाप्त हो जाती है। लिखने में **प** और **य** की भ्रान्ति की बहुत सम्भावना है। अतः इस प्रकार का पाठ-संशोधन अनुचित नहीं प्रतीत होता।

वै० गृ० में ही आगे विधान है कि शव-वाहकों को अर्थी उठाते हुए अधोलिखित वाक्य का उच्चारण करना चाहिये :—

मेरोरंहः प्रसीदतु स इमान् परितो हरतु ॥ [७००]

मेरु का क्रोध शान्त हो जाये, वह इन्हें सब ओर ले जाये।

वह वाक्य अनुष्टुभ् पद्य का अर्धांश प्रतीत होता है। परन्तु यह किसी अन्य ग्रन्थ

---

१. यमपितृ परिचय, पृ० २०२।

में उपलब्ध नहीं। ऊपर उठाने की क्रिया के प्रसंग में मेरु का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है। इसी गृह्यसूत्र में यह भी कहा गया है कि श्मशान के मार्ग में भी जहाँ-जहाँ अर्थी को उतार कर पुनः उठाया जाये वहाँ भी इस वाक्य का पाठ किया जाना चाहिये।

शव-यात्रा

कौशिकसूत्र के अनुसार शव को ठेले में श्मशान ले जाया जाना चाहिये। इस में (८०।३४) और आग्नि० गृ० (३।५।३) में विधान है कि ठेले में दो बैलों अथवा पुरुषों को जोतते हुए निम्नलिखित मन्त्र (अथर्व० १८।२।५६) का उच्चारण करना चाहिए :—

इमौ युनज्मि ते वह्नी असुनीताय वोढवे।
ताभ्यां यमस्य सादनं समितीश्चाव गच्छतात् ॥ [७०१]

इन दोनों अश्वों (वाहकों) को मैं तुम्हारे प्राण-हरण और वाहन के लिये जोतता हूँ। उनके द्वारा तुम यम के निवास अर्थात् श्मशान और पितृ-समूह के पास जाओ।

तै० आ० ६।१।१, अन्त्येष्टि (इस कर्म से सम्बद्ध एक पद्धति), और आथर्वण पद्धति में इसका विनियोग शव-वाहक चटाई को कपड़े से बाँधने के लिये किया गया है। परन्तु उस स्थिति में द्विवचनान्त इमौ निरर्थक हो जायेगा। इस मन्त्र से संकेत प्राप्त होता है कि शव को ठेले में ले जाने की प्रथा अथर्व० जितनी प्राचीन है।[1]

कौ० गृ० (५।२।४) और आग्नि० गृ० (३।५।४) के अनुसार, शव-यात्रा में सम्मिलित व्यक्तियों को अर्थी को कन्धों पर रखते समय निम्नलिखित तीन मन्त्रों (ऋ० १०।१७।३-५) का उच्चारण करना चाहिये :—

पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्र विद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः।
स त्वैतेभ्यः परि ददत् पितृभ्योऽग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः ॥ [७०२]
आयुर्विश्वायुः परि पासति त्वा पूषा त्वा पातु प्रपथे पुरस्तात्।
यत्रासते सुकृतो यत्र ते ययुस्तत्र त्वा देवः सविता दधातु ॥ [७०३]
पूषेमा आशा अनु वेद सर्वाः सो अस्माँ अभयतमेन नेषत्।
स्वस्तिदा आघृणिः सर्ववीरोऽप्रयुच्छन् पुर एतु प्रजानन् ॥ [७०४]

मार्गों का ज्ञाता विद्वान्, अविनाशी रश्मियों वाला, संसार का रक्षक, पूषा तुम्हें इस लोक से ले जाये, वह तुम्हें इन पितरों को समर्पित कर दे। और अग्नि शुभ-ज्ञानवान् देवों को तुम्हें समर्पित कर दे ॥ गमनशील,

---

१. विस्तृत विवेचनार्थ, दे० इं० वैं० कल्प०, पृ० ३५५।

सर्वतोगामी वायु तुम्हारी रक्षा करे, प्रकृष्ट मार्ग पर आगे आगे चलता हुआ पूषा तुम्हारी रक्षा करे। जिस स्थान पर सत्कर्म करने वाले रहते हैं, या जहाँ वे जाते हैं, सवितृ–देव तुम्हें वहीं पहुँचा दें ॥ पूषा इन सभी दिशाओं को क्रमानुसार जानता है, वह हमें भयरहित मार्ग से ले जाये। कल्याणप्रद, दीप्तियुक्त, सब वीर पुरुषों सहित वह गन्तव्य को जानने वाला तथा प्रमाद रहित होकर हमारे सम्मुख चले ॥ ह० मि०

ये मन्त्र अथर्व० तथा तै० आ० में भी उपलब्ध होते हैं।[1] तै० आ० का विनियोग गृह्यविनियोग के समान है। कौशिक० द्वारा इसका प्रयोग न किया जाना आश्चर्यजनक है। तृतीय मन्त्र तै० ब्रा० (२।४।१।५) में भी विद्यमान है। इन मन्त्रों में प्रमुख रूप से **पथस्पति** (मार्गों का स्वामी) के रूप में प्रसिद्ध पूषा की स्तुति है। मृतात्मा को उचित मार्ग से ले जाने का अभिप्राय उसे उसके कृत्यों के अनुसार पुनर्जन्म प्रदान करना प्रतीत होता है।

पा० गृ० (३।१०।८) के अनुसार शव-यात्रा में जाने वाले व्यक्तियों को सारे मार्ग में

यमसूक्त [७०५] तथा यमगाथा [७०६]

का उच्चारण करते हुए जाना चाहिये। इस सूक्त और गाथा के विषय में भाष्यकार स्पष्ट प्रतीत नहीं होते। उदाहरणार्थ सूक्त के विषय में विश्वनाथ का कहना है कि यह **अपेतो यन्तु पणयः** शब्दों से प्रारम्भ होने वाला वा० सं० का पैंतीसवाँ अध्याय है। अन्य भाष्यकार इसे प्रसिद्ध यमसूक्त (यमसूक्तम् प्रसिद्धम्) कहते हैं। इस सम्बन्ध में विद्वान् इस बात पर सहमत प्रतीत होते हैं कि यह ऋ० १०।१४ है।[2] जहाँ तक यमगाथा का प्रश्न है, अधिकांश भाष्यकार इसे **छन्दोविशेषः** कहकर सन्तुष्ट हो जाते हैं। किन्तु हरिहर के अनुसार यह ऋग्विधि से गेय यमदेवताक साम है। विश्वनाथ का मत निर्णयात्मक है क्योंकि उसने निम्नलिखित यमगाथा उद्धृत की है :—

अहरहर्नीयमानो गामश्वं पुरुषं व्रजम्।
वैवस्वतो न तृप्यति सुरापा इव दुर्मतिः ॥ [७०७]

जिस प्रकार कोई दुर्बुद्धि मद्यप तृप्त नहीं होता उसी प्रकार दिन प्रतिदिन गौओं, घोड़ों, पुरुषों और गोष्ठों के पास ले जाया जाता हुआ काल

१. अथर्व० १८।२।५४, ५५ ; ७।६।२, तै० आ० ६।१।१,२।
२. इं० वै० कल्प०, पृ० ३७७–टि० ११।

तृप्त नहीं होता।[1]

यह गाथा तै० आ० और मा० श्रौ० में भी विद्यमान है। तै० आ० (६।५।३) में इसका विनियोग अन्त्येष्टि में ही हुआ है। मा० श्रौ० (६।१।२) में विधान है कि अग्निचयन के अन्तर्गत उखाशीर्ष लेने और मिट्टी द्वारा उसका लेप करने के लिये इसका उच्चारण किया जाना चाहिये। इसी प्रसंग में वहाँ इसके साथ तीन अन्य गाथायें भी उद्धृत की गई हैं। यहाँ गाथा में कुछ पाठभेद भी है। तदनुसार **नीयमानः** के स्थान पर **नयमानः** पाठ है और द्वितीय पाद में सर्वत्र एकवचन के स्थान पर शब्दों के बहुवचनान्त रूप रखे गये हैं, **व्रजम्** के स्थान पर **पशून्** पाठ है। अन्तिम पाद का पाठ **सुरया इव दुर्मदः** है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस गाथा का द्वितीय पाद सामान्य वाक्यांश रहा होगा क्योंकि अनेक वैदिक मन्त्रों का यह अंश है।[2]

कौशिक० (८०।३५) के मतानुसार शव उठाकर श्मशान को जाते हुए मार्ग में कुछ प्रकीर्ण मन्त्रों तथा

हरिणी [७०८]

नामक आठ अथर्ववेदीय मन्त्रों के समूह का उच्चारण करना चाहिये।[3] अथर्व ८/७/११

चिता पर शव रखने से पूर्व कर्म

आ० गृ०, कौशिक० और आग्नि० गृ० में निर्देश है कि शव के श्मशान पहुँचने पर कर्ता को दाह-स्थल पर जल का अभिषिञ्चन करते हुए निम्नलिखित मन्त्र (ऋ० १०।१४।९) का उच्चारण करना चाहिये[4]:—

अपेत वीत वि च सर्पतातोऽस्मा एतं पितरो लोकमक्रन्।
अहोभिरद्भिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्यवसानमस्मै॥ [७०९]

हे प्रेतादियो, तुम इस स्थान से हट जाओ, तुम पृथक् पृथक् हट जाओ, और अत्यन्त दूर चले जाओ, पितरों ने यह स्थान इस मृत शरीर को दिया है। दिनों में तथा रात्रियों में जल द्वारा शोधित इस स्थान को इस शव की दाहक्रिया के लिये यम देता है॥ ह० मि०

१. वैवस्वत का अर्थ विवस्वान्—सूर्य का पुत्र—काल, दे० यमपितृ परिचय, पृ०५।
२. ऋ०खि०५।८७।२, अथर्व० ८।७।११, मं०पा० १।९।१० ; हि० गृ०१।१८।५।
३. अथर्व० १८।३।८,९ ; २।४८ ; १।६१ ; २।५३ ; ४।४४, हरिणी—अथर्व० १८।२।११-१८।
४. आ० गृ० ४।२।१०, कौशिक० ८०।४२, आग्नि० गृ० ३।४।१।

वै० गृ० (५।२) के अनुसार ग्राम की सीमा पर तीन मार्गों पर बुहारी देने के लिये इसका उच्चारण करना चाहिये । अथर्व० (१८।१।५५) में इस मन्त्र का ठीक यही पाठ है । किन्तु यजुर्वेद परम्परा में तृतीय पाद हटाकर उसके स्थान पर चतुर्थ पाद रखा गया है, चतुर्थ पाद के स्थान पर द्वितीय पाद है और द्वितीय पाद **येऽत्र स्थ पुराणा ये च नूतनाः** है ।[1] आग्नि० गृ० में इन दोनों परम्पराओं का समन्वय उल्लेखनीय है । तदनुसार यजुःपरम्परा से पूर्वार्ध और ऋ० से उत्तरार्ध लिया गया है ।

तै०आ० (६।६।१) और शां० श्रौ० (४।१४।७) में इस मन्त्र का समानान्तर प्रयोग प्राप्त होता है क्योंकि वहाँ भी विधान है कि आहिताग्नि की अन्त्येष्टि में इसका उच्चारण करते हुए पलाश–शाखा द्वारा चिता–स्थान की सफाई करनी चाहिये । ब्राह्मणों तथा अन्य श्रौत सूत्रों के अनुसार भी गार्हपत्य अग्नि के चयन के अवसर पर अग्निस्थल के परिमार्जन के समय इसका उच्चारण किया जाना चाहिये ।[2] गृह्यसूत्रों में अभिषिंचन के लिये इसके विनियोग का आधार सम्भवतया श्रौतकर्मों का परिमार्जन है क्योंकि दोनों क्रियाओं का उद्देश्य एकमात्र शुद्धि होने के कारण ये दोनों क्रियाएँ समान कही जा सकती हैं । सायण के अनुसार यह मन्त्र भूत-प्रेतादिकों को सम्बोधित है, किन्तु महीधर के मतानुसार यह यम के सेवकों (यमभृत्याः) को सम्बोधित है । इस मन्त्र का उद्देश्य, अनिष्ट आत्माओं का निवारण अत्यन्त स्पष्ट है ।

वै०गृ० (५।३) में श्मशान में बने तीन मार्गों पर उत्तर से दक्षिण की ओर काष्ठखड्ग के द्वारा तीन या नौ नालियाँ खोदने के लिये उपर्युक्त मन्त्र के समान निम्नलिखित वाक्य का विनियोग किया गया है :—

अपसर्पतातः सर्पत प्रेता ये के चेह पूर्वजाः ॥ [७१०]

यह वाक्य स्पष्ट ही प्रेतों को सम्बोधित है ।

आग्नि०गृ० (३।४।१) और वै०गृ० (५।३) में विधान है कि निम्नलिखित तीनों वाक्यों का उच्चारण करते हुए क्रमशः तीन नालियों में तिल और चावल भरे जाने चाहियें :—

---

1. वा० सं० १२।४५, तै० सं० ४।२।४।१, मै० सं० २।७।११ ; ३।२।३, का० सं० १६।११ ; २०।१ ।
2. श० ब्रा० ७।१।१।२–४, तै० ब्रा० १।२।१।१६ ; आप० श्रौ० ५।६।१ ; १६।१४।१, का० श्रौ० १७।१।३–४, मा० श्रौ० ६।१।५।१ ।

यमाय दहनपतये पितृभ्यः स्वधा नमः ॥
कालाय .... ॥
मृत्यवे .... ॥ [७११-७१३]

दहनपति यम को, पितरों को स्वधा नमस्कार ।। दहनपति काल को......।। दहनपति मृत्यु को......।।

उपर्युक्त पाठ वै०गृ० में से उद्धृत है। आग्नि०गृ० में केवल प्रथम वाक्य दिया गया है और वहाँ भी दहनपतये के स्थान पर पितृपतये पाठ है। इन वाक्यों की तुलना

यमाय पितृमते स्वधा नमः (अथर्व० १८।४।७४) **[७१४]**

से की जा सकती है। कौशिक० (८८।४) में इसका विनियोग पिण्डपितृयज्ञ में आहुति के लिये किया गया है।

इन दोनों गृह्यसूत्रों (आग्नि० गृ० ३।४।२, वै० गृ० ५।३) में आगे विधान है कि मृतक के सम्बन्धियों को अपने वस्त्रों के किनारे हिलाकर उसे हवा करते हुए निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये :—

वातास्ते वान्तु पथि पुण्यगन्धा मनःशुभा गात्रशुभा अनुलोमाः ।
त्वचस्सुखा मांससुखा अस्थिसौख्या वहन्तु त्वा मरुतः सुकृतां यत्र लोकाः ॥
[७१५]

तुम्हारे मार्ग में पुण्य गन्ध वाली, मन को शुभ, शरीर को शुभ, अनुकूल, त्वचा को सुखद, मांस को सुखद तथा अस्थियों को सुखद पवन बहे । मरुत् देव तुम्हें वहाँ ले जायें जहाँ सत्य कृत्य करने वालों का लोक है ।।

यह मन्त्र बौधायन पितृमेध सूत्र (३।२)में भी विद्यमान है। किसी संहिता में यह उपलब्ध नहीं।

वै०गृ० (५।३) में निर्देश है कि चिता पर रखने से पूर्व निम्नलिखित वाक्य का उच्चारण करते हुए शव का जल से अभिषिंचन करना चाहिये :—

शिवं यातु परं यातु सुकृतं यातु तपो यातु ॥ [७१६]

कल्याण को प्राप्त हो, परम स्थान को प्राप्त हो, सुकृत-फल को प्राप्त हो, तपःफल को प्राप्त हो ॥

इसका स्रोत गृह्य-परम्परा प्रतीत होती है, क्योंकि यह अन्यत्र अनुपलब्ध है ।

चिता पर शव रखने के पश्चात् कर्म

कौशिक० (८०।४४) और आग्नि० गृ० (३।५।६) के अनुसार शव के चिता पर रखे जाने के पश्चात् कर्ता को निम्नलिखित मन्त्र (अथर्व० १८।३।१) का पाठ करते हुए मृतक की पत्नी को चिता पर उसके शव के पास बिठाना चाहिये :—

इयं नारी पतिलोकं वृणाना नि पद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतम् ।
धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि ॥ [७१७]

हे मनुष्य, यह नारी पुरातन धर्म का पालन करती हुई, पतिलोक (पुनर्विवाह द्वारा पतिलोक अर्थात् गृहस्थाश्रम) का वरण करती हुई, तुझ मृतक के पास (आशीर्वादलाभार्थ) आई है । तुम इसे यहाँ (इस संसार में) प्रजा और धन दो अर्थात् इनकी प्राप्ति के लिये आशीर्वाद दो ।।

यहाँ इह से स्पष्ट है कि मृतक की पत्नी सती होने के लिये नहीं बैठी, अपितु वह पुनर्विवाह करके फिर से गृहस्थाश्रम में धन-सन्तति से समृद्ध होने के लिये आशीर्वाद की इच्छुक है । आगामी कर्म से भी इसकी पुष्टि होती है । तै० आ० (६।१।३) में भी इसका विनियोग गृह्य-विनियोग के समान है । इसमें और आग्नि०गृ० में **धर्मम्** के स्थान पर **विश्वम्** पाठभेद है ।

आ० गृ० (४।२।१८) और कौशिक० (८०।४५) के विधानानुसार मृतक के अनुज अथवा अन्तेवासी अथवा किसी वृद्ध सेवक द्वारा निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए उसकी पत्नी को चिता पर से उठाना चाहिये :—

उदीर्ष्व नार्यभिजीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि ।
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभिसंबभूथ ॥ [७१८]

हे नारी, जो तुम अपने इस प्राणहीन पति के पास लेटी हो, वह तुम उठो और इस जीवित संसार में आ जाओ । विवाह के समय तुम्हारा पाणि-ग्रहण करने वाले तथा तुममें गर्भाधान करने वाले तुम्हारे पति का यह लोकान्तरप्राप्तिरूप जन्म ही है ।।ह०मि०

यह मन्त्र ऋग्वेद (१०।१८।८) और अथर्ववेद (१८।३।२) में विद्यमान है । इसके गृह्य-विनियोग और तै०आ० (६।१।३) के विनियोग में समानता है । शां०श्रौ० (१६।१३।१३) से भी ऐसे ही विनियोग का संकेत मिलता है क्योंकि वहाँ पुरुषमेध के अन्तर्गत यह निर्देश है कि वेदी पर पुरुष के साथ बैठी हुई उसकी पत्नी को इसका उच्चारण करते हुए उठाया जाना चाहिये ।

इन्हीं गृह्यसूत्रों (आ० गृ० ४।२।२०, कौशिक० ८०।४९) में विधान है कि चिता पर से मृतक का धनुष हटाने के समय निम्नलिखित मन्त्र (ऋ० १०।१८।९) का उच्चारण करना चाहिये :—

धनुर्हस्तादाददानो मृतस्यास्मे क्षत्राय वर्चसे बलाय ।

अत्रैव त्वमिह वयं सुवीरा विश्वाः स्पृधो अभिमातीर्जयेम ॥ [७१९]

इसकी सन्तति, बल और वर्चस्विता के लिये मैं तुझ मृतक के हाथ से धनुष लेता हूँ । तू यहीं रह । हम इस संसार में शोभनवीरों से युक्त होकर सभी प्रतिस्पर्धी शत्रुओं पर विजय प्राप्त करें ॥ ह० मि०

ऐसा प्रतीत होता है कि मृतक की पत्नी का भावी पति ये शब्द कहता है । मन्त्र का पूर्वार्ध अथर्व० (१८।२।६०) में उपलब्ध होता है । वहाँ **अस्मे** के स्थान पर सह पाठ है और क्षत्र, वर्चस् तथा बल शब्द तृतीयान्त हैं । इसका उत्तरार्ध एक अन्य अथर्व० मन्त्र (१८।२।५९) का उत्तरार्ध है—वहाँ **स्पृधः** के स्थान पर मृधः पाठ है । इसी प्रसंग में कौशिक० द्वारा उद्धृत अथर्व० १८।२।६० का उत्तरार्ध निम्नलिखित है :-

समा गृभाय वसु भूरि पुष्टमर्वाङ् त्वमेह्युप जीवलोकम् ।

(हे प्रेतसम्बन्धिजन ! अत्यन्त पर्याप्त धन को स्ववश में करके संसार में प्रजावर्ग को प्राप्त हो ।।) प्रि० र०

तै० आ० (६।१।३) में भी गृह्य-विनियोग के समान ही इसका विनियोग हुआ है । इसमें मन्त्र का ऋग्वेदीय पाठ उद्धृत है ।

वै० गृ० (५।३) में निर्देश है कि मृतक की सात ज्ञानेन्द्रियों पर सुवर्ण-शकल रखते हुए निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये :—

आ ओ वह भवतात् तारयन्तु स्वरायन्तां रोहिणीं रोपयन्ताम् ॥ [७२०]

तुम इन्हें धारण करो, ये आपको पार कर दें, स्वर्ग को प्राप्त हों, तुम्हें रोहिणी पर आरोपित करें ॥

यह पाठ मुद्रित पुस्तक का है । वैखानसीय संहिता की मैसूर की प्रति में **आ न वह हवनात् तारयन्तु** आदि पाठ है । जैसा कि कैलेण्ड ने कहा है, इस वाक्य का पाठ और इसलिये अर्थ सन्देहास्पद है ।

आग्नि० गृ० (३।४।३) और वै० गृ० (५।५) के अनुसार अब कर्ता को एक जलपूर्ण घट को तीन बार कुल्हाड़ी से धीरे से ठोकना चाहिये और प्रत्येक बार उसमें से बहने वाली जल की धारा का निम्नलिखित वाक्य से अभिमन्त्रण करना चाहिये :-

इमा आपो मधुमत्योऽस्मिंस्त लोक उपदुह्यन्ताम् ॥ [७२१]

ये माधुर्ययुक्त जल इस लोक में तुम्हें सुख प्रदान करें ।।

दूसरी और तीसरी बार क्रमशः **अस्मिन्** के स्थान पर **अन्तरिक्षे** और **स्वर्गे** पढ़ा जाना चाहिये। यह मन्त्र अन्य किसी ग्रन्थ में अनुपलब्ध है।

२. घड़े के इस प्रकार तोड़े जाने के पश्चात् खप्परों में अवशिष्ट जल निम्नलिखित वाक्य (वै० गृ० ५।५) के उच्चारण के साथ-साथ मृतक की सभी ज्ञानेन्द्रियों के विवरों में डाला जाना चाहिये :—

भूः पृथिवीं गच्छतु। भुवोऽन्तरिक्षं गच्छतु। सुवर्दिवं गच्छतु ॥ [७२२]

भूः पृथ्वी को जाये, भुवः अन्तरिक्ष को जाये, स्वः आकाश को जाये ॥

आग्नि०गृ० (३।४।३) में इसी कर्म के निमित्त निम्नलिखित वाक्य उद्धृत है।

दिवि जाता अप्सु जाताः ॥ [७२२ अ]

ये इन्द्रियाँ द्युलोक से उत्पन्न हैं, ये जल से उत्पन्न हैं।

यह वाक्य तै०ब्रा० (३।७।१२।६) में अग्निष्टोम के प्रारम्भ में यजमान द्वारा उच्चारणार्थ दिया गया है। तै० आ० (२।३।१) में इसका विनियोग पाप-विनाशक कर्म कूष्माण्ड होम में किया गया है। सम्भवतया **अप्सु** शब्द से आग्नि० गृ० का रचयिता जल से सम्बद्ध क्रिया में इसके विनियोग के लिये प्रेरित हुआ।

आग्नि०गृ० (३।४।१) में कर्ता द्वारा मृतक के मुख में दही, चावल और तिल की आहुति डालने के लिये निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है :—

इदं त आत्मनः शरीरमयं त (आत्मा) आत्मनस्त आत्मानं शरीराद्
ब्रह्म निर्भिनद्मि भूर्भुवः स्वरसौ स्वर्गाय लोकाय स्वाहा ॥ [७२३]

यह तुम्हारी आत्मा का शरीर है, यह (शरीर) तुम्हारी (आत्मा अर्थात् अपना आप है)। तुम्हारे अपने आप की आत्मा को यह मैं स्वर्ग लोक के लिये शरीर से ब्रह्मरूप में पृथक् करता हूँ ! भूर्भुवः स्वः ।।

इसी गृह्यसूत्र में एक अन्य स्थल (३।४।५) पर इसका विनियोग अस्थि-संचय कर्म में अस्थियों पर घृत डालने के लिये किया गया है। यह अन्य किसी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं है।

अब मृतक के शरीर के विभिन्न अंगों का अभिमन्त्रण किया जाता है। आग्नि० गृ० (३।४।१) और वै० गृ० (५।५) में दोनों नासा-रन्ध्रों के अभिमन्त्रण के लिये निम्नलिखित वाक्य के दो बार उच्चारण का विधान है :—

चित्तिः स्रुक् चित्तमाज्यं वाग्वेदिराधीतं बर्हिः केतोऽग्निर्विज्ञातमग्निर्वाक्-पतिर्होता मन उपवक्ता प्राणो हविः सामाध्वर्युः ॥ [७२४]

विचार स्रुक् है, बुद्धि आज्य है, वाणी वेदी और अध्ययन पवित्र घास है, ज्ञान अग्नि है और विज्ञान भी अग्नि है, वाणी का स्वामी होता है, मन उपवक्ता है, प्राण आहुति है और साम अध्वर्यु है ॥

यद्यपि मनुष्य के विभिन्न अंगों और उनके विशेष कार्यों का यहाँ युगल-रूप में उल्लेख किया गया है, तथापि उपर्युक्त विनियोग का विशेष सम्बन्ध प्राणो हविः से प्रतीत होता है क्योंकि नासिका प्राण का माध्यम है। यह वाक्य मै० सं० (१।९।१) और का० सं० (९।८) में विद्यमान है। वै० गृ० में एक अन्य स्थल (५।२) पर इसका विनियोग मृत्यु के ठीक पश्चात् मृतक के शरीर-प्रक्षालनार्थ किया गया है। तै० आ० (३।१।१) में चातुर्होत्र वेदीचयन कर्म में उच्चारणार्थ वाक्य के रूप में इसे उद्धृत किया गया है। शां०श्रौ०(१०।१४।४) के अनुसार द्वादशाह याग में होता द्वारा होतृ-वाक्य के रूप में इसका पाठ किया जाना चाहिये। किन्तु किसी ग्रन्थ में भी इसका विनियोग गृह्यविनियोग के अनुरूप नहीं है।

इसके पश्चात् आग्नि० गृ० (३।४।१) में निर्देश है कि मृतक के मुख का अभिमन्त्रण चतुर्होतृ-वाक्य के द्वारा, सृक्काओं (मुख-कोणों) का अभिमन्त्रण पञ्चहोतृ-वाक्य के द्वारा दो बार, कानों का षड्ढोतृ-वाक्य के द्वारा दो बार और सप्तहोतृ-वाक्य के द्वारा दो बार अस्थियों का अभिमन्त्रण किया जाना चाहिये। उपर्युक्त क्रम में वाक्यों का पाठ निम्नलिखित है :—

पृथिवी होता द्यौरध्वर्यू रुद्रोऽग्नीद् बृहस्पतिरुपवक्ता ॥ [७२५]

अग्निर्होता अश्विनावध्वर्यू त्वष्टाग्नीन्मित्र उपवक्ता ॥ [७२६]

सूर्यं ते चक्षुर्वातं प्राणो द्यां पृष्ठमन्तरिक्षमात्माङ्गैर्यज्ञं पृथिवीं शरीरैः ॥ [७२७]

महाहविर्होता सप्तहविरध्वर्युरच्युतपाजा अग्नीदच्युतमना उपवक्ता-नाधृष्यश्चाप्रतिधृष्यश्च यज्ञस्याभिगरावयास्य उद्गाता ॥ [७२८]

पृथिवी होता है, द्यौ अध्वर्यु, रुद्र अग्नीद् और बृहस्पति उपवक्ता है ॥ अग्नि होता है, दोनों अश्विन् अध्वर्यु, त्वष्टा अग्नीद् और मित्र उपवक्ता है ॥ सूर्य को तुम्हारी दृष्टि (प्राप्त हो), वायु को प्राण, आकाश को पृष्ठ-भाग और अन्तरिक्ष को तुम्हारी आत्मा (शरीर का सामने का भाग) प्राप्त हो, सब अंगों से यज्ञ को और शरीरों से पृथिवी को प्राप्त करो ॥ महाहवि होता है, सप्तहवि अध्वर्यु, अच्युतपाजा अग्नीद्, अच्युतमना उपवक्ता, अना-

धृष्य और अप्रतिधृष्य यज्ञ के प्रशंसक तथा अयास्य उद्गाता है ॥

इन वाक्यों में विविध दैवी शक्तियों का विविध पुरोहितों के रूप में वर्णन किया गया है। किन्तु गृह्यविनियोग से इनका कोई विशिष्ट सम्बन्ध स्पष्ट नहीं होता। वै० गृ० (५।४) में चतुर्थ वाक्य का विनियोग तो आग्नि० गृ० के समान अस्थियों के अभिमन्त्रणार्थ किया गया है, परन्तु अन्य वाक्यों के विनियोग में अन्तर है। तदनुसार प्रथम वाक्य का उच्चारण करते हुए दर्भ घास से मृतक के मुख का स्पर्श किया जाना चाहिये, द्वितीय द्वारा कानों का और तृतीय वाक्य के द्वारा नेत्रों का अभिमन्त्रण किया जाना चाहिये।

तृतीय वाक्य को छोड़कर अन्य तीनों मै० सं० (१।६।१) में विद्यमान हैं। तै०आ०, शां०श्रौ० और मा०श्रौ० में ये चारों वाक्य उन्हीं नामों से आये हैं जिनसे आग्नि० गृ० में।[1] तृतीय वाक्य की तुलना विभिन्न संहिताओं में स्वल्प पाठान्तर सहित विद्यमान निम्नलिखित मन्त्र से की जा सकती है[2] :—

सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा।
अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रतितिष्ठा शरीरैः ॥[७२६]

तुम्हारे नेत्र सूर्य को प्राप्त हों, आत्मा वायु को, तुम नियमानुसार आकाश और पृथ्वी को प्राप्त हो। यदि जल में तुम्हारा हित है तो वहाँ जाओ अथवा ओषधियों में शरीर के साथ प्रतिष्ठित हो जाओ।

इस मन्त्र में पञ्चभूतों के पञ्चमहाभूतों में लीन होने तथा अन्य शरीर धारण करके आत्मा के पुनर्जन्म लेने के सिद्धान्त का स्पष्ट संकेत है। तै०आ०(६।१।४) में इसके अनुरूप उपरिलिखित तृतीय वाक्य का विनियोग अन्त्येष्टि के अन्तर्गत दाह-क्रिया के लिये अग्नि प्रज्वलित करने के पश्चात् उच्चारणार्थ किया गया है। इसमें एक अन्य स्थल (६।७।३) पर मृतक की उपासना के लिये भी इसका विनियोग किया गया है। ये दोनों विनियोग इसके गृह्यविनियोग के अनुरूप हैं।

मृतक द्वारा विविध यज्ञों में प्रयुक्त यज्ञोपकरणों को निर्दिष्ट विधि के अनुसार उसके शरीर के विभिन्न अंगों पर रखा जाना चाहिये। इसके पश्चात् अनुस्तरणी (मादा-पशु) के शरीर के विभिन्न अंगों को मृतक के शरीर के विभिन्न अंगों पर रखा

---

१. तै०आ०३।२।१; ३।१; ४।१; ५।१, शां०श्रौ०१०।१५।४; १६।४; १७।४; १८।४, मा०श्रौ० ५।२।१४।२-४।

२. ऋ०१०।१६।३, अथर्व०१८।२।७, मै०सं०४।१३।४, का०सं०१६।२१, दे०ऐ०ब्रा० २।६।१३, तै० ब्रा० ३।६।६।२।

जाना चाहिये ।[१] तदनुसार आ० गृ० (४।३।२०) में विधान है कि उक्त पशु की वपा (चर्बी) निकाल कर उससे मृतक के सिर तथा मुख आच्छादित करते हुए निम्नलिखित मन्त्र (ऋ० १०।१६।७) का उच्चारण किया जाना चाहिये :—

अग्नेर्वर्म परि गोभिर्व्ययस्व सं प्रोर्णुष्व पीवसा मेदसा च ।
नेत् त्वा धृष्णुर्हरसा जर्हृषाणो दधृग्विधक्ष्यन् पर्यङ्खयाते ॥ [७३०]

हे मृतक, अग्नि का घर बनी हुई इस वेदी को सब ओर से प्राप्त हो, तू मांस और चर्बी सहित इस चिता को पूर्णता से प्राप्त हो। इससे धर्षणशील, अतिशय से वस्तुमात्र को अकिञ्चित् करने वाली अग्नि तुझे विशेषरूप से जलाती हुई तुझे इधर उधर नहीं फेंकती ॥ प्रि० र०

मन्त्र के इस अनुवाद के अनुसार मन्त्र से पशु की चर्बी रखने का संकेत प्राप्त नहीं होता। यह मन्त्र अथर्व० (१८।२।५८) में भी (अन्तिम दो शब्दों के पाठ 'विघक्षन् परीङ्खयातै' सहित) विद्यमान है। कौशिक० (८१।२५) के अनुसार इसका उच्चारण मृतक के मुख पर सात छिद्रों से युक्त वपा रखते समय किया जाना चाहिये। ये सात छिद्र सम्भवतया ज्ञानेन्द्रियों के सात विवरों के प्रतीक हैं। तै०आ० (६।१।४) में इसका विनियोग मृतक के समस्त शरीर पर वपा रखने के निमित्त किया गया है। परन्तु शां० श्रौ० (४।१४।१७) का विनियोग इसके गृह्यविनियोग के बहुत अनुरूप है क्योंकि वहाँ भी इसका उच्चारण करते हुए मृतक के मुख को वपा से आच्छादित करने का विधान है।

आ० गृ० (४।३।२१) और कौशिक० (८१।२२) के अनुसार पशु की वृक्काएँ (गुर्दे) निकाल कर मृतक के दोनों हाथों में रखते हुए अधोलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये :—

अतिद्रव सारमेयौ श्वानौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा ।
अथा पितॄन् सुविदत्राँ उपेहि यमेन ये सधमादं मदन्ति ॥ [७३१]

हे प्रेत, तू सुष्ठु मार्ग से सरमा—उषा के पुत्रभूत, एक दूसरे के पीछे भागते हुए दो कुत्तों के समान चार-चार प्रहरों वाले श्वेत और श्यामवर्ण दिन और रात को प्राप्त कर। और इस प्रकार उन कल्याणप्रद सूर्यकिरणों के पास जा, जो काल के साथ-साथ प्रकाशित होती हैं ॥ प्रि० र०

यदि इसका सायणादिकृत अर्थ भी लिया जाये तो भी हाथों में वृक्का रखने का संकेत कहीं प्राप्त नहीं होता। सम्भवतया द्विवचनान्त सारमेयौ आदि शब्दों को

१. इं० वै० कल्प०, पृ० ३५८-३६१।

यहाँ दो वृक्काओं के प्रतीकरूप में ग्रहण किया गया है। ऋ० (१०।१४।१०) और अथर्व० (१८।२।११) इस मन्त्र के आदिस्रोत हैं। तै० सं० (१।८।५।२) में केवल उत्तरार्ध है। तै० आ० (६।३।१) के अनुसार दाहक्रिया के पश्चात् कर्ता मृतक की उपासना इस मन्त्र द्वारा करता है परन्तु शां० श्रौ० (४।१४।१५) का विनियोग गृह्य-विनियोग के पूर्णतया अनुरूप है, क्योंकि वहाँ भी मृतक के हाथों में पशु की वृक्काएँ रखने के लिये इसके उच्चारण का विधान है।

इसी प्रकार पशु के अन्यान्य अंग भी मृतक के विभिन्न अंगों पर रखे जाते हैं, परन्तु उन सब के साथ मन्त्रोच्चारण का विधान नहीं है।

आ०गृ०(४।३।२५) के अनुसार पहले जो चमस मृतक के उदर पर रखा गया था उसका अभिमन्त्रण निम्नलिखित मन्त्र द्वारा किया जाना चाहिये :—

इममग्ने चमसं मा वि जिह्वरः प्रियो देवानामुत सोम्यानाम्।
एष यश्चमसो देवपानस्तस्मिन् देवा अमृता मादयन्ते ॥ [७३२]

हे अग्नि, इस चमस को तुम कुटिल रूप में न जलाओ। यह चमस देवताओं तथा सोम-योग्य ऋत्विजों का भी प्रिय है। यह जो चमस देवों का पान-साधन है, उसमें अमर देव आनन्दित होते हैं॥ ह० मि०

कौशिक० (८१।१९) में इसका विनियोग मृतक के सिर पर चमस रखने के लिये किया गया है। इस कर्म में इस मन्त्र का विनियोग तै०आ०(६।१।४) में भी हुआ है। यह ऋ० और अथर्व० में विद्यमान है।[1]

अब दक्षिणाग्नि में अग्नि, काम, लोक और अनुमति को चार आहुतियाँ अर्पित की जानी चाहियें। इसके पश्चात् आ० गृ० (४।३।२६) और कौशिक० (८१।३०) के अनुसार पाँचवीं आहुति मृतक के वक्षःस्थल पर निम्नलिखित वाक्य का उच्चारण करते हुए अर्पित की जानी चाहिये :—

अस्माद्वै त्वमजायथा अयं त्वदधिजायतामसौ स्वर्गाय लोकाय स्वाहा ॥[७३३]

इसमें से निश्चय ही तुम उत्पन्न हुए थे, यह तुम में से उत्पन्न हो स्वर्ग लोक के लिये॥

कौशिक० में स्वर्गाय लोकाय का अभाव है। आग्नि०गृ० (३।४।५) में इसका विनियोग अस्थिसंचय में किया गया है। वहाँ यह निर्देश है कि यदि अस्थियाँ जलीं न

---

१. ऋ० १०।१६।८, अथर्व० १८।३।५३ (एषः और मादयन्ते के स्थान पर अयम् और मादयन्ताम्)।

हों, तो उन्हें इसका उच्चारण करते हुए पुनः जलाना चाहिये। इसमें **स्वर्गाय** से पूर्व **अग्नये वैश्वानराय** का समावेश किया गया है। यह वाक्य शीघ्र ही प्रज्वलित की जाने वाली अग्नि को संबोधित है। इसका स्रोत वा०सं०३५।२२ है। श०ब्रा०, तै०आ० और का०श्रौ० के अनुसार दाहक्रिया के समय इसका उच्चारण किया जाना चाहिये[1]। शां० श्रौ० (४।१४।३६) में विधान है कि इसका उच्चारण करते हुए कर्ता को मृतक-शरीर के साथ अग्नि का संयोग करना चाहिये। अतः इसके गृह्यविनियोग का आधार ये श्रौत-विनियोग प्रतीत होते हैं।

दाह-क्रिया

कौशिक० (८१।३३) में चिता में अग्नि प्रज्वलित करने के लिये निम्नलिखित चार मन्त्रों का विनियोग किया गया है :—

मैनमग्ने वि दहो माभि शूशुचो मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम्।
शृतं यदा करसि जातवेदोऽथेमेनं प्र हिणुतात् पितॄँरुप॥ [७३४]
शं तप मातितपो अग्ने मा तन्वं तपः।
वनेषु शुष्मो अस्तु ते पृथिव्यामस्तु यद्धरः॥ [७३५]
आरभस्व जातवेदस्तेजवद्धरो अस्तु ते
शरीरमस्य सं दहाथैनं धेहि सुकृतामु लोके॥ [७३६]
प्रजानन्तः प्रतिगृह्णन्तु पूर्वे प्राणमङ्गेभ्यः पर्याचरन्तम्।
दिवं गच्छ प्रति तिष्ठा शरीरैः स्वर्गं याहि पथिभिर्देवयानैः॥[७३७]

हे अग्नि, इसे विकृत रूप से न जलाओ, इसे छोड़कर इधर-उधर न जलो, इसकी त्वचा को और शरीर को न फेंकना। हे जातवेदा, जब तुम इसे पका डालो, तो इसे पितरों (सूर्य किरणों) के पास पहुँचा देना॥ हे अग्नि, शान्तिपूर्वक तपो, न तो शव का अतिक्रमण करके तपो और न ही किसी अन्य के शरीर को जलाओ। तुम्हारा बल वनों में रहे और तुम्हारी जो ज्वलन शक्ति है, वह पृथिवी पर रहे॥ हे जातवेदा, तुम जलाना प्रारम्भ करो, तुम्हारा ज्वलन तेजोयुक्त हो। तुम इसके शरीर को पूर्णतया जला डालो और इसे पुण्यकार्य करने वालों के लोक में स्थापित करो॥ ज्ञानी पूर्वज गतिशील प्राण को इसके अंगों में से ग्रहण कर लें। तुम आकाश को जाओ और शरीर सहित (पुनर्जन्म में) प्रतिष्ठित हो जाओ, देवताओं के मार्ग से तुम स्वर्ग को प्राप्त हो॥ प्रि० र०

---

1. श०ब्रा० १२।५।२।१५, तै०आ० ६।२।१; ४।२, का०श्रौ० २५।७।३७।

ये सभी मन्त्र अथर्ववेद में से उद्धृत हैं।[1] केवल प्रथम मन्त्र का विनियोग तै० आ० (६।१।४) में भी चिता प्रज्वलित करने के लिये किया गया है। शां० श्रौ० (४।१५।१) में भी इसी क्रम में इसका तथा ऋ० १०।१६ के अगले नौ मन्त्रों का विनियोग हुआ है।

आग्नि० गृ० (३।४।४) और वै० गृ० (५।५) के अनुसार आहवनीय, दक्षिण तथा गार्हपत्य अग्नियों का चिता से संयोग कराने के लिये निम्नलिखित प्रथम तीन वाक्यों का क्रमशः उच्चारण किया जाना चाहिये। और सभ्य तथा आवसथ्य दोनों अग्नियों द्वारा एक साथ चिता प्रज्वलित करने के लिये चतुर्थ वाक्य का उच्चारण किया जाना चाहिये :—

अग्निर्यजुर्भिः सविता स्तोमैः। सेनेन्द्रस्य धेना बृहस्पतेः ॥
वाचस्पते विधेनामन्। वाचस्पते वाचो वीर्येण ॥
सोमः सोमस्य शुक्रः शुक्रस्य। वाचस्पतेऽच्छिद्रया वाचा ॥
वाग्घोता पत्नी दीक्षा ॥ [७३८-७४१]

यजुर्मन्त्रों के साथ अग्नि, स्तोमों के साथ सविता। इन्द्र की सेना, बृहस्पति की धेना ॥ हे वाचस्पति, विधेनाम। हे वाचस्पति, वाणी की शक्ति से ॥ सोम सोमका (नेता है,) शुक्र शुक्र का। हे वाचस्पति, निर्दोष वाणी के द्वारा ॥ होता वाणी है, पत्नी दीक्षा है ॥

प्रथम वाक्य के दो भागों को क्रमशः सम्भार और पत्नी कहा गया है, द्वितीय वाक्य के दो भागों को क्रमशः ग्रह और ऋतुमुख तथा तृतीय वाक्य के प्रथम भाग को ग्रह कहा गया है। प्रथम वाक्य का आदि शब्द अग्नि होने के अतिरिक्त इन वाक्यों में अग्नि के साथ सम्बन्ध का अन्य कोई संकेत नहीं। तै० आ० में ये सभी वाक्य सभी स्थलों पर लगभग साथ-साथ ही आये हैं।[2] इसके अनुसार प्रथम वाक्य का विनियोग चातुर्होत्र-वेदी-चयन के अवसर पर पत्नी-इष्टकाएँ स्थापित करने के लिये किया गया है, और द्वितीय वाक्य का ग्रह-इष्टकाएँ स्थापित करने के लिये। तृतीय वाक्य का प्रथम भाग पञ्चहोतृ-वाक्य का ग्रह-भाग है और द्वितीय भाग षड्ढोतृ-वाक्य का ग्रह-भाग। अन्तिम वाक्य स्वयं षड्ढोतृ- वाक्य का एक अंश है। प्रथम दो वाक्य केवल का०सं० और मै०सं० में विद्यमान हैं[3], परन्तु तृतीय वाक्य सभी यजुर्वेदीय संहिताओं

---

१. अथर्व० १८।२।४, ३६; ३।७१; २।३४।५।
२. तै०आ० ३।८।१ ; ६।१ ; १।१ ; २।१ ; ३।१ ; ४ ; ६।१ ।
३. का०सं० ६।१०,६ मै०सं० १।६,२,८,१,४ ।

में उपलब्ध है।[1]

आग्नि० गृ० (३।४।४) और वै०गृ० (५।५) में आगे निर्देश है कि कर्ता को निम्नलिखित वाक्य का उच्चारण करते हुए चिताग्नि की उपासना करनी चाहिये :—

ब्राह्मण एकहोता स यज्ञः ॥ [७४२]

ब्राह्मण एकमात्र होता है, वह यज्ञ है।

बौ०गृ० (४।१०।१) के अनुसार गार्हस्थ्य अग्नि में क्षति होने पर उसके प्रायश्चित्त कर्म में इसका उच्चारण किया जाना चाहिये। तै० आ० (३।७।१) और आप० श्रौ० (८।४।३) में वैश्वदेव याग में उच्चारणार्थ अनुवाक के प्रारम्भ में यह दिया गया है। इसमें अग्नि की ब्राह्मण, होता तथा यज्ञ के रूप में स्तुति की गई है।

उपर्युक्त दोनों गृह्यसूत्रों में विधान है कि निम्नलिखित में से प्रथम मन्त्र आहिताग्नि मृतक के प्रति और द्वितीय मन्त्र अनाहिताग्नि मृतक के प्रति सम्बोधित किया जाना चाहिये :—

यं घर्मोऽग्निरभिजिहर्ति यां गतिं यन्ति युधि युद्धशूराः।
विधूतपापा विरजा विशोकास्तां गतिं याहि सुरभिर्नाकपृष्ठः स्वधानमः ॥
[७४३]

यां गतिं यन्ति युधि युद्धशूरास्तनुत्यजो मोक्षविदो मनीषिणः।
सुकृतिनोऽग्निहोत्रहविष्ठारतां गतिं याहि सुरभिर्नाकपृष्ठः स्वधानमः ॥
[७४४]

यह कटाहरूप अग्नि जहाँ (आहुतियों) को ले जाती है, पापरहित, दोषहीन, शोकरहित युद्धवीर युद्ध में जिस गति को प्राप्त होते हैं, उसी गति को प्रसिद्ध होकर, स्वर्ग पर आधृत तुम प्राप्त हो जाओ। पुण्यकर्ता, अग्निहोत्र में सबसे अधिक आहुति देने वाले, शरीरत्यागी, मोक्षविद्, मनीषी, युद्धवीर युद्ध में जिस गति को प्राप्त होते हैं, उसी गति को...

मन्त्रों में मृतक के स्वर्गलाभ की कामना व्यक्त की गई है। उपरिलिखित पाठ आग्नि०गृ० में से उद्धृत है। वै०गृ० में पाठान्तर हैं। तदनुसार इसमें **यम्** के स्थान पर **अयम्** पाठ है, **अभिजिहर्ति** के अनन्तर **होमम्** का समावेश है, **युधि युद्धशूराः** के स्थान पर **बहवो हितव्रताः** पाठ है और द्वितीय मन्त्र का उत्तरार्ध प्रथम मन्त्र के उत्तरार्ध के रूप में आया है (**सुरभिर्नाकपृष्ठः** के स्थान पर **सुगतिं नाकपृष्ठम्** पाठ सहित)। द्वितीय मन्त्र का पूर्वार्ध प्रथम मन्त्र के पूर्वार्ध के समान है—मात्र

१. वा०सं० ८।४९, तै०सं० ३।३।३।२, का०सं० ३०।६, मै०सं० १।९।१।

भेद अयम् के स्थान पर सुवर्ण और बहवो हितव्रताः के स्थान पर युधि भुवि शूराः हैं । इस मन्त्र का उत्तरार्ध वै०गृ० में दोनों मन्त्रों का निम्नलिखित मिश्रित रूप प्रस्तुत करता है :—

तनुत्यजो मोक्षविदो मनीषिणो विधूतपापा विरजा विशोकास्तां गतिं गच्छ सुगतिं............... ॥ ये दोनों मन्त्र बौधायन पितृमेध सूत्र (३।४) में भी विद्यमान हैं । इनका मूल स्रोत गृह्य-परम्परा ही प्रतीत होती है ।

आ०गृ० (४।४।६) में चिता के प्रदीप्त होने पर उच्चारणाथ मन्त्रों की एक लम्बी सूची दी गई है ।[1] ये सभी मन्त्र ऋग्वेद के यमसूक्तों में से उद्धृत हैं । इनके गृह्य-विनियोग का मूल स्रोत आ०श्रौ० (६।१०।१९-२०) प्रतीत होता है क्योंकि वहाँ भी दीक्षित व्यक्ति के शव-दाह के पश्चात् इसके उच्चारण का विधान है ।

कौशिक० (८१।३४-३९) में निर्देश है कि चिताग्नि में यम-आहुतियाँ अर्पित करनी चाहियें । इन आहुतियों की संगति में उच्चारणार्थ मन्त्रों की दीर्घ सूचियाँ दी गई हैं । वे सभी मन्त्र भी अथर्व० के यमसूक्तों में से उद्धृत हैं ।[2] इसके पश्चात् सरस्वती देवी वाले छः मन्त्रों का उच्चारण करते हुए कुछ

सारस्वत [७४५]

आहुतियाँ अर्पित करने का विधान है ।[3] इनमें से भी अधिकांश मन्त्र अथर्व० के यमसूक्तों में से उद्धृत हैं और इसलिये साधारणतया अन्त्येष्टि कर्म में उनकी विनियो-गार्हता असन्दिग्ध है ।

इसके पश्चात् (८१।४४) विधान है कि मृतक के सम्बन्धियों को उसकी उपासना या तो इन मन्त्रों द्वारा और या

अनुस्थानी [७४६]

मन्त्रों (दशम मन्त्र छोड़कर अथर्व० १८।२।४-१८) द्वारा करनी चाहिये । इनमें से छः (११-१४ और १६,१७) का विनियोग तै०आ० (६।३।१-२) में इसी कर्म में किया गया है । इस उपासना का विधान उस स्थिति में किया गया है यदि मृतक आहिताग्नि न हो । यदि वह आहिताग्नि हो तो (८१।४५) यह विधान है कि उसकी उपासना अथर्व० १८।४।१-१५ के पन्द्रहों मन्त्रों द्वारा की जानी चाहिये ।

---

१. ऋ० १०।१४।७,८,१०,११; १०।१६।१-६; १०।१७।३-६; १०।१८।१०-१३; १०।१५।४ ; १०।१४।१२ ।

२. अथर्व० १८।१।४९-५१,५८-६१ ; १८।३।१३ ; २।४९-५९ ।

३. अथर्व० १८।१।४१-४३ ; ७।६८।१,२ ; १८।३।२५ ।

वै०गृ० (५।५) के अनुसार चिता प्रज्वलित होने के पश्चात् हृदय मन्त्रों का पाठ किया जाना चाहिये । तै०आ० (३।११) के सम्पूर्ण अनुवाक में हृदय मन्त्र निहित माने जाते हैं । इस अनुवाक के आद्य शब्द ये हैं :—

सुवर्णं घर्मं परिवेद वेनम् । इन्द्रस्यात्मानं दशधा चरन्तम् । [७४७]

दस रूपों में (दस दिशाओं में) विचरणशील इन्द्र की आत्मा रूप इस सुवर्ण-कटाहरूपी अग्नि को मैं जानता हूँ ॥

इन मन्त्रों के हृदय नाम की व्याख्या करते हुए सायण ने कहा है कि इनके इस नाम का कारण यह है कि मानो ये होतृ-वाक्यों का हृदय प्रस्तुत करते हैं ।[1] तै०आ० में इनका विनियोग चातुर्होत्र-वेदी के चयन में इष्टकाधान के लिये किया गया है । अतः इस विनियोग का गृह्य-विनियोग से कोई सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता । अन्यथा अग्नि की स्तुति के रूप में इनकी साधारण विनियोगार्हता तो है ही ।

आग्नि० गृ० (३।४।४) और वै० गृ० (५।५) में विधान है कि अब किसी यज्ञोपवीती को निम्नलिखित वाक्य का उच्चारण करते हुए तर्पण करना चाहिये :—

सं त्वा सिञ्चामि यजुषा प्रजामायुर्धनं च ॥ [७४८]

यजुर्मन्त्र के द्वारा तुममें सन्तति, आयु और धन सिंचित करता हूँ ।

यह तै०सं० (१।६।१।१) के मन्त्र का पूर्वार्ध है । तै०आ० (६।१) में अन्त्येष्टि कर्म से सम्बद्ध अनुवाक के आरम्भ में इसे शान्ति-पाठ के रूप में दिया गया है । आप०श्रौ० (४।१३।४) के अनुसार स्रुव में से वपा गिरने पर प्रायश्चित्त कर्म में इसका उच्चारण किया जाना चाहिये ।

आग्नि०गृ० (३।४।४) के निर्देशानुसार दाहक्रिया के पश्चात् तीन मन्त्रों (ऋ० १।५०।१, १० ; ११५।१) के द्वारा सूर्योपासना करनी चाहिये । इनमें से प्रथम और अन्तिम मन्त्रों का विवेचन पहले किया जा चुका है (दे०मं०सं० ४७० और ६३९) । द्वितीय मन्त्र (ऋ० १।५०।१०) निम्नलिखित है :—

उद्वयं तमसस्परि पश्यन्तो ज्योतिरुत्तरम् ।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥ [७४९]

अन्धकार से परे हम ऊपर के प्रकाश को ऊर्ध्व दृष्टि से देखते हुए देवताओं के ध्यान में स्थित सर्वश्रेष्ठ प्रकाश सूर्य देव को प्राप्त हुए हैं ॥

---

१. चित्तिः स्रुगित्यादीनां होतृमन्त्राणां हृदयं रहस्यं तत्त्वं परमात्मस्वरूपं प्रतिपादयतीत्ययमनुवाको हृदयमित्युच्यते ।

वै०गृ० (५।६) में भी दाहक्रिया के पश्चात् सूर्योपासना के लिये इस मन्त्र का विनियोग किया गया है। यह मन्त्र सभी संहिताओं में अनेक बार आया है।[1] यद्यपि यह प्राग्-गृह्यसूत्र साहित्य की विस्तृत शृंखला में विद्यमान है[2] तथापि इसके विनियोग का सीधा स्रोत तै०आ० (६।३।२) प्रतीत होता है क्योंकि इसमें भी मृतक की दाहक्रिया के पश्चात् इसके द्वारा सूर्योपासना का विधान है। वैसे साधारण सूर्योपासना के लिये अन्य कर्मों में कुछ अन्य ग्रन्थों में भी इसका विनियोग किया गया है।[3]

आ०गृ० (४।४।६) के अनुसार अन्त में कर्ता को निम्नलिखित मन्त्र (ऋ० १०।१८।३) का उच्चारण करना चाहिए, और उसके इसे उच्चारित करते समय अन्य व्यक्तियों को पीछे देखे बिना श्मशान से चले जाना चाहिये :—

इमे जीवा वि मृतैराववृत्रन्नभूद्भद्रा देवहूतिर्नो अद्य।
प्रांचो अगाम नृतये हसाय द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः॥ [७५०]

इस मृतक के जीवित सम्बन्धी हम मृत पितरों से लौट रहे हैं। इसके पश्चात् हमारी देवपूजा कल्याणकर हो। अब हम पूर्वदिशा की ओर नाचने और हँसने के लिये अतिशय दीर्घ आयु धारण करते हुए जा रहे हैं। ह० मि०

कौशिक० (८६।२१) के अनुसार मृतक के सम्बन्धियों को श्मशान से बाहर जाते हुए इसका उच्चारण करना चाहिये। इसके समानान्तर विनियोग तै०आ० (६।१०।२) में भी दृष्टिगोचर होता है क्योंकि तदनुसार मृत्यु के दसवें दिन के कर्म में इसका उच्चारण करते हुए मृतक के ज्ञातिजनों को पूर्वाभिमुख होकर घर की परिक्रमा करनी चाहिये। इस विनियोग में 'प्रांचः' शब्द की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। यह मन्त्र अथर्व० (१२।२।२२) में भी विद्यमान है। दीर्घायु की कामना तथा नाचने हँसने के उल्लेख से वैदिक ऋषियों का पूर्ण आशावादी दृष्टिकोण प्रकट होता है।

उदककर्म

दाहकर्म की समाप्ति पर सभी जन नदी में अवगाहन करने जाते हैं।

---

१. अथर्व० ७।५३।७, वा० सं० २०।२१; ३५।१४; ३८।२४; तै० सं० ४।१।७।४; ५।१।८।६, मै० सं० २।१२।५; ३।४।६; ४।९।२७, का० सं० १८।१६; २२।१; ३८।५।

२. दे० वैदिक कॉन्कॉर्डेंस, पृ० २६३।

३. श०ब्रा० १२।९।२।८; १४।३।१।२८, तै०ब्रा० २।६।६।४, मा०श्रौ०४।३।४१; ६।५।

आग्नि०गृ० (३।४।४) के अनुसार जाते हुए उन्हें निम्नलिखित शब्दों का उच्चारण करना चाहिये :—

न पुनरागमिष्यामहे ॥ [७५१]

हम फिर लौटकर नहीं आयेंगे ।

किन्तु पा०गृ० (३।१०।१३) में इस अवसर पर मृत व्यक्ति के सम्बन्धी से अनुमति के लिये निम्नलिखित शब्द दिये गये हैं :—

उदकं करिष्यामहे ॥ [७५२]

हम उदककर्म करेंगे।

वे सब नदी पर जाकर अवगाहन करते हैं और फिर मृतक के प्रति उदकाञ्जलि अर्पित करते हुए इन शब्दों का उच्चारण करते हैं :[1]—

असावेतत्त उदकम् ॥ [७५३]

हे अमुक नाम वाले, यह तुम्हारे लिये जल (अर्पित) है ।

श्मशान से लौटकर घर पर कर्मानुष्ठान

आग्नि० गृ० (३।४।४) और वै० गृ० (५।६) में निर्देश है कि जिस स्थान पर किसी व्यक्ति की मृत्यु होती है, उस पर निम्नलिखित वाक्य का उच्चारण करते हुए तण्डुलमिश्रित तिल बिखेर कर उसे पवित्र किया जाना चाहिये :—

स्वस्त्यस्तु वो गृहाणां शेषे शिवमास्ताम् ॥ [७५४]

तुम्हारे घर का कल्याण हो, शेष सर्वत्र शुभ हो ।

वै० गृ० में **शेषे शिवमास्ताम्** शब्द नहीं हैं । यह वाक्य किसी प्राचीन ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं, अतः गृह्यपरम्परागत प्रतीत होता है ।

पा०गृ० (३।१०।२८) के अनुसार कर्ता को रात्रि के समय किसी मृत्तिकापात्र में खुले आकाश में मृतक के लिये दूध और जल रखते हुए निम्नलिखित शब्द कहने चाहियें :—

प्रेतात्र स्नाहि ॥ [७५५]

हे प्रेत, यहाँ स्नान करो ।

इससे यह विश्वास प्रकट होता है कि दाहक्रिया के पश्चात् भी मृतक किसी

---

१. शां०गृ० ४।१४, गो०गृ० ४।२।३५, पा०गृ० ३।१०।२१, आग्नि०गृ० ३।४।४, वै०गृ० ५।६ ।

रूप में (सम्भवतया आत्मा के रूप में) रहता है और सभी सामान्य क्रियाएँ करता है। इस वाक्य का मूल भी गृह्य-परम्परा प्रतीत होती है।

अस्थि-सञ्चयन

वै० गृ० में चतुर्थ दिवस अस्थि-सञ्चय का विधान है, परन्तु उस प्रसङ्ग में किसी मन्त्र का विनियोग नहीं किया गया। आग्नि०गृ० में इस कर्म का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। आग्नि०गृ० (३।४।५) में कहा गया है कि अस्थिसञ्चय करके कर्ता को **इदं त आत्मनः शरीरम्** इत्यादि मन्त्र (दे०मं०सं० ७२३) का उच्चारण करते हुए उन पर घी प्रवाहित करना चाहिये।

इसके पश्चात् निर्देश है कि यदि अस्थियाँ पूर्णतया न जली हों, तो **अस्मात्त्वमधि जातोऽसि** इत्यादि मन्त्र का उच्चारण करते हुए उनका पुनर्दाह किया जाना चाहिये।[१] (दे०मं०सं० ७३३)

आ०गृ० और कौशिक० में इस कर्म का विस्तृत वर्णन किया गया है। आ०गृ० (४।५।४) में विधान है कि सर्वप्रथम दुग्धमिश्रित जल से शमी-शाखा के द्वारा शव-दाह-स्थल पर छिड़काव करना चाहिये—इस समय कर्ता को निम्नलिखित मन्त्र (ऋ० १०।१६।१४) का उच्चारण करते हुए उस दाहस्थल की परिक्रमा करनी चाहिये :—

शीतिके शीतिकावति ह्लादिके ह्लादिकावति।
मण्डूक्या सु संगम इमं स्वग्निं हर्षय ।। [७५६]

हे सतत वृष्टि, हे अत्यन्त वृष्टि से युक्त भूमि, हे आनन्दित करने वाली, हे आनन्द से युक्त भूमि, तुम (जल की अधिकता के कारण) मेंढकियों से भली प्रकार संयुक्त हो जाओ और इस अग्नि को सुष्ठु प्रकार से शान्त कर दो ।। ह०मि०

हरदत्त मिश्र के अनुसार यहाँ प्रोक्षणोदक को ही वृष्टिरूप में वर्णित किया गया है (प्रोक्षणोदकं वृष्टित्वेन रूप्यते)। भाव यह है कि वह भूमि पुनः हरी भरी हो जाये। यह मन्त्र अथर्व० (१८।३।६०) में भी विद्यमान है, किन्तु वहाँ इससे पूर्व निम्नलिखित पंक्ति जोड़ी गई है :—

शं ते नीहारो भवतु शं ते प्रुष्वाव शीयताम् [७५७]

हे भूमि, तुम्हारे लिये ओस अनुकूल हो और वृष्टि अनुकूल होकर गिरे।।

---

१. आग्नि०गृ० ३।४।५—अथ यदि न दहेयुरुल्मुकमादाय पुनर्दहेत् ···।।

इसके अतिरिक्त यहाँ तृतीय पाद **मण्डूक्यप्सु शं भुव** है। कौशिक० (८२।२६) में इस अथर्व० मन्त्र का विनियोग ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य की अस्थियों पर क्रमश: दुग्ध, मधु अथवा जल अभिषिक्त करने के लिये किया गया है। कौशिक० के इस विनियोग की पुष्टि तै०आ० (६।४।१) से होती है क्योंकि वहाँ भी अस्थियों पर जलाभिषेक करने के लिये इसके उच्चारण का विधान है। यहाँ **ह्लादिके ह्लादिकावति** के स्थान पर **ह्लादुके ह्लादुकावति**, **सङ्गम** के स्थान पर **सङ्गमय** और **हर्षय** के स्थान पर **शमय** पाठान्तर हैं।

कौशिक० में इसी प्रसंग में निम्नलिखित मन्त्र (अथर्व० १८।३।५) का विनियोग भी किया गया है :[1]—

उप द्यामुप वेतसमवत्तरो नदीनाम् । अग्ने पित्तमपामसि ॥ [७५८]

हे अग्नि, आप नदियों के सरकण्डों के पौधों तथा बेंत आदि पौधों के उत्तम रक्षक हैं, और आप जलाशयों के जलरक्षक किनारे के भी रक्षक हैं ॥

इस मन्त्र में श्मशानाग्नि की विशेषता बताई गई है कि वह ऐसे प्रज्वलित की जाती है जिससे कि वह न तो नदियों के और न ही अन्य जलाशयों के तटों को थामकर रखने वाले सरकण्डे आदि पौधों को नष्ट कर सके। भूमि की उर्वरता की दृष्टि से इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता है।

इस मन्त्र की तुलना एक यजुर्वेदीय मन्त्र से की जा सकती है—उसका तृतीय पाद उपरिलिखित मन्त्र के तृतीय पाद के ठीक समान है और प्रथम दो पादों का पाठ **उप ज्मन्नुप वेतसेऽवतर नदीष्वा** है।[2] परन्तु पूर्ववर्ती साहित्य में इसके गृह्य-विनियोग का कोई स्पष्ट संकेत प्राप्त नहीं होता। पूर्ववर्ती साहित्य में इसका विनियोग यज्ञभूमि का कर्षण करने के लिये किया गया है। हाँ दोनों विनियोगों में जलाशयों की रक्षा की भावना समान है।

कौशिक० (८२।२९) में आगे चलकर अस्थिसञ्चय की क्रिया के लिये निम्नलिखित दो मन्त्रों (अथर्व० १८।२।२४, २६) का विनियोग किया गया है :—

१. अन्त्येष्टि और अथर्ववेद पद्धति में उप द्याम् इत्यादि दो, हिरण्यपाणिम् इत्यादि (अथर्व० ३।२१।८-१०) तीन तथा शन्ते नीहार: इत्यादि एक—इस प्रकार कुल पाँच मन्त्रों का विनियोग किया गया है।

२. वा०सं० १७।६, तै०सं० ४।६।१।१, मै०सं० २।१०।१, का०सं० १८।२०, श०ब्रा० ९।१।२।२७।

मा ते मनो मासोर्माङ्गानां मा रसस्य ते ।
मा ते हास्त तन्वः किञ्चनेह ॥ [७५९]
यत्ते अङ्गमतिहितं पराचैरपानः प्राणो य उ वा ते परेतः ।
तत्ते सङ्गत्य पितरः सनीडा घासाद् घासं पुनरावेशयन्तु ॥ [७६०]

हे प्रेत, (इस शरीर के जल जाने पर भी पुनर्जन्म में) तुम्हारा मन तुम्हें नहीं छोड़ता । उसी प्रकार तुम्हारे प्राण, अंगों के रस तथा शरीर की कोई भी वस्तु तुम्हें नहीं छोड़ती ।। हे जीव यह जो तेरा प्राण और अपान तेरे शरीर से निकल गया है, इसी कारण इन्द्रियों से युक्त तेरा शरीर तुझसे पृथक् हो गया है । इकट्ठी होकर वे ऋतुसहचरित सूर्यकिरणें (पितर) तुझसे संगत होकर जैसे एक पक्व घास से बीज की शक्ति लेकर दूसरे घास में पहुँचाते हैं, उसी तरह तुझको दूसरे शरीर तक पहुँचाती हैं ।। प्रि० र०

इन मन्त्रों में मृत्यूपरान्त मनुष्य के शरीर के जलने पर जीव के विनाश का निराकरण किया गया है । इन मन्त्रों के पादशः पाठ का विधान है । कौशिक० (८५।२६) में इन मन्त्रों का विनियोग पितृमेध याग के अन्तर्गत अस्थियों को गड्ढे में रखने के पश्चात् उच्चारणार्थ भी किया गया है । अथर्व० के यमसूक्त से उद्धृत होने के कारण अन्त्येष्टि कर्मों में इनकी सामान्य विनियोगार्हता है ।

कौशिक० (८२।३२) में निर्देश है कि सञ्चय के पश्चात् अस्थियों को एक कलश में रखकर उसे निम्नलिखित मन्त्र (अथर्व० १८।२।२५) का उच्चारण करते हुए वृक्षमूल में स्थापित करना चाहिये :—

मा त्वा वृक्षः सम्बाधिष्ट मा देवी पृथिवी मही ।
लोकं पितृषु वित्त्वैधस्व यमराजसु ॥ [७६१]

न तो यह वृक्ष और न ही यह विशाल पृथ्वी देवी तुम्हें बाधित करे । जिनका राजा यम है ऐसे पितरों का लोक प्राप्त करके तुम वृद्धि प्राप्त करो ।।

अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि जीव अस्थियों से भी बन्धा हुआ नहीं है । उनके पृथ्वी में रहने पर भी वह स्वेच्छया पितृलोक में जा सकता है । तै० आ० (६।७।२) में इसके बहुत समान एक अन्य मन्त्र का विनियोग पितृमेध-याग में वेदी पर पालाश समिधाओं का आधान करने के लिये किया गया है । तै० आ० में उसका पाठ निम्नलिखित है :—

मा त्वा वृक्षौ संबाधेथां मा माता पृथिवी मही ।
वैवस्वतं हि गच्छासि यमराज्ये विराजसि ॥

आ०गृ०(४।५।७) के अनुसार किसी पात्र में अस्थिसंचय करने के पश्चात् एक गड्ढा खोदकर उस पात्र को उसमें उतारते हुए निम्नलिखित मन्त्र (ऋ० १०।१८।१०) का उच्चारण किया जाना चाहिये :—

उप सर्प मातरं भूमिमेतामुरुव्यचसं पृथिवीं सुशेवाम् ।
ऊर्णम्रदा युवतिर्दक्षिणावत एषा त्वा पातु निर्ऋतेरुपस्थात् ॥ [७६२]

तुम इस अतिव्यापिनी, विस्तीर्ण, शोभन सुख वाली भूमि माता के पास जाओ। ऊन के समान कोमल, युवती के समान सुखकारिणी यह तुम दक्षिणा देने वाले की पापों से रक्षा करे ।। ह० मि०

युवतिः के स्थान पर **पृथिवी** और **निर्ऋतेरुपस्थात्** के स्थान पर **प्रपथे पुरस्तात्** पाठभेद-सहित यह मन्त्र अथर्व० (१८।३।४९) में भी विद्यमान है। आ०श्रौ० (६।१०।१९) में भी यह मन्त्र मृतक की दाहक्रिया के समय उच्चारणार्थ विनियुक्त है। किन्तु तै० आ० (६।७।१) में पितृमेध में वेदी पर मृत्तिका-लोष्ठ रखने के लिये इसका विनियोग किया गया है। कौशिक० (८६।१०) के अनुसार भी पितृमेध में जिस गड्ढे में मृतक की अस्थियाँ रखी गई हों उस पर ईंटें रखते समय इसका पाठ किया जाना चाहिये। मन्त्र में भूमि से पाप से रक्षा की प्रार्थना के कारण उपर्युक्त प्रत्येक विनियोग में किसी न किसी रूप में भूमि से इसका सम्बन्ध विशेष ध्यान देने योग्य है।

कौशिक०(८२।३३)में भूमि में अस्थिकलश दबाने के लिये अथर्व०(१८।२।१९) मन्त्र **स्योनास्मै भव** इत्यादि का विनियोग किया गया है। इसके विस्तृत विवेचन के लिये दे०मं०सं० ६९३, तथा १०२३ के पश्चात्।

आ०गृ० (४।५।८) में विधान है कि जिस गड्ढे में अस्थिकलश रखा जाये उसे कलश के कण्ठ तक मिट्टी से भर देना चाहिये। इस समय गड्ढे में मिट्टी डालते हुए निम्नलिखित मन्त्र का पाठ किया जाना चाहिये :—

उच्छ्वञ्चस्व पृथिवि मा नि बाधथाः सूपायनास्मै भव सूपवञ्चना ।
माता पुत्रं यथा सिचाऽभ्येनं भूम ऊर्णुहि ॥ [७६३]

हे पृथिवी, तुम ऊँची हो जाओ, इसे पीड़ित न करो, इसके लिये पोषण करने योग्य तथा शोभन रक्षा वाली हो जाओ। जिस प्रकार माता पुत्र को अपने आँचल से ढक लेती है, उसी प्रकार हे भूमि तुम इसे आवृत करो।।

इसका मूल स्रोत ऋ० (१०।१८।११) तथा अथर्व० (१८।३।५०) प्रतीत होता है। इसके समानान्तर विनियोग शां० श्रौ० (४।१५।८) में उपलब्ध होता है, जहाँ अस्थि-सञ्चय-कर्म के अन्तर्गत अस्थिकलश को गड्ढे में दबाते हुए इसके उच्चारण का

विधान है। इसके गृह्यविनियोग की तुलना तै०आ० (६।७।१) से भी की जा सकती है क्योंकि उसके अनुसार पितृमेध में वेदी पर मृत्तिका-लोष्ठ रखते हुए इसका उच्चारण किया जाना चाहिये। ये सभी विनियोग भूमि से सम्बद्ध हैं और मन्त्र में अभिव्यक्त प्रार्थना के पूर्णतया अनुकूल हैं।

इसी गृह्यसूत्र (४।५।९) में आगे चलकर विधान है कि अस्थिकलश तथा गड्ढे को ढकने वाली मृत्तिका का अभिमन्त्रण अधोलिखित मन्त्र के द्वारा किया जाना चाहिये :—

उच्छ्वञ्चमाना पृथिवी सु तिष्ठतु सहस्रं मित उप हि श्रयन्ताम्।
ते गृहासो घृतश्चुतो भवन्तु विश्वाहास्मै शरणाः सन्त्वत्र॥ [७६४]

इस प्रकार ऊँची होती हुई पृथिवी भली प्रकार स्थिर रहे, सभी मृतक सहस्रों की संख्या में इसमें ही शरण प्राप्त करें। (जन्मान्तर में भी) घृतादि में समृद्ध वह घर सर्वदा इस लोक में इसकी शरण बना रहे॥

इसका मूल स्रोत भी ऋ० (१०।१८।१२) तथा अथर्व० (१८।३।५१) है। पूर्ववर्ती मन्त्र के समान ही इसका विनियोग भी शां० श्रौ० तथा तै० आ० द्वारा परिपुष्ट है।

अन्त में आ०गृ० (४।५।१०) में निर्देश है कि अस्थिकलश को किसी ढक्कन से ढकते हुए निम्नलिखित मन्त्र का पाठ किया जाना चाहिये :—

उत्ते स्तभ्नामि पृथिवीं त्वत् परीमं लोगं निदधन्मो अहं रिषम्।
एतां स्थूणां पितरो धारयन्तु तेऽत्रा यमः सादना ते मिनोतु॥ [७६५]

मैं तुम्हारे लिये पृथ्वी को दृढ़ बनाता हूँ, तुम्हारे चारों ओर इस ढेले को रखता हुआ मैं किसी द्वारा हिंसित न होऊँ। तुम्हारे लिये पितर इस चिता को धारण करें, यहीं (इहलोक में) यम तुम्हारा घर बना दे॥

उपर्युक्त दोनों मन्त्रों के समान इसका आदि स्रोत भी ऋ० (१०।१८।१३) तथा अथर्व० (१८।३।५२) है। और विनियोग की दृष्टि से भी यह उनके समान शां०श्रौ० तथा तै०आ० द्वारा सम्पुष्ट है। शां०श्रौ०के अनुसार कलश को ढकने के लिये मिट्टी के ढेले का प्रयोग किया जाना चाहिये। किन्तु इसमें गड्ढे में कलश की स्थापना से पूर्व उसे ढकने का विधान है। इसी प्रसंग में कौशिक० (८६।८) में भी इसे उद्धृत किया गया है। सर्वत्र भूमि के साथ इस मन्त्र का सम्बन्ध भी दर्शनीय है।

कौशिक० (८२।३६, ३७) के अनुसार अस्थिसञ्चय की तृतीय रात्रि को कर्ता को निम्नलिखित मन्त्रों (अथर्व० १८।३।६१, ६२) का उच्चारण करते हुए यम के

लिये उद्दिष्ट स्थालीपाक आहुतियाँ अर्पित करनी चाहियें :—

विवस्वान्नो अभयं कृणोतु यः सुत्रामा जीरदानुः सुदानुः ।
इहेमे वीरा बहवो भवन्तु गोमदश्ववन्मय्यस्तु पुष्टम् ॥ [७६६]
विवस्वान्नो अमृतत्वे दधातु परैतु मृत्युरमृतं न एतु ।
इमान् रक्षतु पुरुषाना जरिम्णो मो ष्वेषामसवो यमं गुः ॥ [७६७]

जो सूर्य शोभन रक्षक, पुरातन दाता तथा शोभन दाता है, वह हमारे लिये अभयदान दे । इस संसार में ये वीर बहुत संख्या में हों; मुझ में गौओं, घोड़ों आदि पशुओं से युक्त समृद्धि हो ॥ सूर्य हमें अमरत्व प्रदान करे, मृत्यु को दूर कर दे और अमरत्व ले आये । वह इन वृद्ध पुरुषों की रक्षा करे, इनके शोभन प्राण यम को प्राप्त न हों ॥

इन मन्त्रों में सारे समाज के लिये मृत्यु से रक्षा तथा दीर्घ, स्वस्थ, समृद्ध जीवन की अभिलाषा व्यक्त की गई है । कौशिक० में स्वयं प्रथम मन्त्र का विनियोग अन्य दो स्थलों पर भी किया गया है । प्रथम स्थान (८१।४८) पर दाहक्रिया की समाप्ति पर आहुति अर्पित करते हुए इसके उच्चारण का विधान है । द्वितीय स्थान (८६।१७) पर पितृमेध में उपासनार्थ यह विनियुक्त है ।

एकादश अध्याय

शान्तिकर्म और श्राद्ध

शान्तिकर्म

इस कर्म का अनुष्ठान मृत्यु के सम्भावित दुष्परिणामों के निवारणार्थ किया जाता है। अन्य प्रकार से विपत्तिग्रस्त व्यक्तियों द्वारा भी इसका अनुष्ठान किया जाता है। इसकी प्रमुख क्रिया पुरातन गार्हस्थ्य-अग्नि की समाप्ति तथा उसके स्थान पर नवाग्नि का आधान है, क्योंकि यह विश्वास किया जाता है कि पुरातन अग्नि दैव के प्रतिकूल सिद्ध हुई।

आगामी पृष्ठों में विवेचनीय अधिकांश मन्त्र कौशिकसूत्र की ७१वीं और ७२वीं कण्डिकाओं में विनियुक्त हैं। वहाँ भी अग्न्याधान शान्तिकर्म के समान है क्योंकि इसके आरम्भ में (कौशिक० ६९।१) निर्देश है कि यदि पिता की मृत्यु हो जाये तो ज्येष्ठ पुत्र को नवाग्नि का आधान करना चाहिये। आ०गृ० में इस कर्म का विस्तृत वर्णन दिया गया है। तदनुसार (४।६।२) कर्म-कर्ताओं को सूर्योदय से पूर्व पात्र और भस्म सहित अग्नि को दक्षिण दिशा की ओर ले जाते हुए निम्नलिखित मन्त्रार्ध का उच्चारण करना चाहिये :—

क्रव्यादमग्निं प्रहिणोमि दूरं यमराज्ञो गच्छतु रिप्रवाहः। [७६८]

शवरूप मांस के भक्षक अग्नि को मैं दूर ले जा रहा हूँ। दूषित शरीर (तद्यदमेध्यं रिप्रं तत्—श० ब्रा० ३।१।२।११) का वाहक वह अग्नि ऐसे स्थान पर जाये जिसका शासक यम है।

उस अग्नि को चतुष्पथ पर रखकर वे पीछे देखे बिना घर लौट आते हैं। अब (आ०गृ० ४।६।५) नवाग्नि प्रज्वलित करते समय निम्नलिखित मन्त्रार्ध के उच्चारण का विधान है :—

इहैवायमितरो जातवेदा देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन्॥

यहीं (उसी वेदी पर) यह दूसरा अग्नि (हमारी श्रद्धा) जानता हुआ देवताओं के लिये आहुति ले जाये॥

ये दोनों मन्त्रार्ध मिलकर वस्तुतः ऋ० १०।१६।९ बनता है। यह मन्त्र स्वल्प

पाठान्तर सहित अथर्व० और वा० सं० में विद्यमान है।[1] मन्त्र के अर्थ से ही प्रकट है कि नवाग्न्याधान कर्म ऋग्वेदकाल में किया जाता था। इसके गृह्यविनियोग के बहुत अनुरूप विनियोग का० श्रौ० (२१।४।२७, २८) में किया गया है। कौशिक०, मा०गृ० और का०गृ० में सम्पूर्ण अविभाजित मन्त्र का विनियोग पुरातन अग्नि का वहन करने के लिये किया गया है।[2]

आ०गृ० (४।६।७) में निर्देश है कि सन्ध्या के समय वातावरण निश्शब्द होने पर और सबके सो जाने पर कर्ता को निम्नलिखित मन्त्र (ऋ० १०।५३।६) का उच्चारण करते हुए दक्षिण कपाट से जल की अविच्छिन्न धारा प्रवाहित करनी चाहिये :—

तन्तुं तन्वन् रजसो भानुमन्विहि ज्योतिष्मतः पथो रक्ष धिया कृतान्।
अनुल्बणं वयत जोगुवामपो मनुर्भव जनया दैव्यं जनम्॥ [७६९]

हे अग्नि, जिस प्रकार तन्तुवाय सूत्र फैलाकर वस्त्र बुनता है, उसी प्रकार तन्तुस्थानीय अंग का विस्तार करते हुए स्तुति करने वाले यजमानों के यज्ञ कर्म का निर्दोष विस्तार करो। उसे पूर्ण करके इस लोक से दीप्त देवलोक को जाओ तथा अपनी प्रज्ञा द्वारा निर्मित प्रकाशक स्वर्गमार्गों की रक्षा करो। देवों के यज्ञभाग के ज्ञाता हो जाओ, देवजनों को अमृततुल्य आहुति द्वारा जीवित रखो॥ ह० मि०

यह मन्त्र तै० सं० (३।४।२।२; ३।६) और का०सं० (१३।११) में भी विद्यमान है। हि० गृ०, भा० गृ० और आग्नि० गृ० में औपासनाग्नि के पुनराधान के अवसर पर तीन तन्तुमती आहुतियों में से एक के साथ इसके उच्चारण का विधान है।[3] यह अग्नि को सम्बोधित है, इसीलिये आ० गृ० में भी शान्तिकर्म के अन्तर्गत पुनराधान के प्रसंग में इसे उद्धृत किया गया है। इसके अतिरिक्त जल की अविच्छिन्न धारा प्रवाहित करने के लिये इसके विनियोग का आधार भी पूर्ववर्ती ऋग्वेदीय ग्रन्थों में प्राप्त होता है। ऐ०ब्रा० (७।१२।३) के अनुसार यदि किसी की गार्हपत्य और आहवनीय अग्नियों के ऊपर से ठेला, रथ या घोड़ा निकल जाये तो उसे गार्हपत्य से आहवनीय अग्नि तक जल की अविच्छिन्न धारा प्रवाहित करनी चाहिये। इन दोनों

---

१. अथर्व० १२।२।२८ (देवेभ्यः से पूर्व देवः का सन्निवेश) वा० सं० का० ३५।५३, वा०सं० ३५।१९ (यमराज्ञः के स्थान पर यमराज्यम्—अधिक स्पष्ट)

२. कौशिक० ७१।१२, मा०गृ० २।१।८, का०गृ० ४५।६।

३. हि०गृ० १।२६।८, भा०गृ० ३।२, आग्नि०गृ० २।७।२।

अग्नियों के मध्य में से किसी जन्तु के निकल जाने पर शां० श्रौ० (२।६।१३) में भी उपर्युक्त कर्म का विधान है। दक्षिण, गार्हपत्य और आहवनीय अग्नियों के आधान के अवसर पर आ० श्रौ० (२।२।१४) में भी इस कर्म का निर्देश है। इन श्रौतसूत्रों में दर्श-पौर्णमास यागों में भी ऐसे ही कर्म का विधान किया गया है।[1] उनके अनुसार गार्हपत्य से लेकर आहवनीय अग्नि तक के अन्तर में तृण-पंक्ति बिखेरने के लिये इस मन्त्र का उच्चारण किया जाना चाहिये। सभी ऋग्वेदीय ग्रन्थों में किसी पदार्थ को धारा या पंक्ति के रूप में प्रवाहित करने या डालने की क्रिया समान है। सम्भवतया इन विनियोगों की प्रेरणा मन्त्रस्थ **तन्वन्** (विस्तार करता हुआ), **अन्विहि** (पीछे जाओ), **पथः रक्ष** (मार्गों की रक्षा करो) शब्दों से प्राप्त हुई होगी। इसके अतिरिक्त प्राग्-गृह्यसूत्र ग्रन्थों में विभिन्न यज्ञों में आहुतियों के लिये भी इस मन्त्र का विनियोग किया गया है।[2]

नवाग्नि-आधान के पश्चात् कर्ता को ऋषभ-चर्म बिछाकर अधोलिखित मन्त्र का पाठ करते हुए परिवार के सभी सदस्यों को उस पर चढ़ाना चाहिये (आ० गृ० ४।६।८):—

आरोहतायुर्जरसं वृणाना अनुपूर्वं यतमाना यतिष्ठ।
इह त्वष्टा सुजनिमा सजोषा दीर्घमायुः करति जीवसे वः॥ (दे० मं० सं० ६७९)

यह मन्त्र ऋ० (१०।१८।६) और अथर्व० (१२।२।२४) में विद्यमान है। आग्नि० गृ० (३।७।१) में भी मृतक के दाहकर्म से दसवें दिन प्रातः नवाग्नि-आधान के पश्चात् उपर्युक्त कर्म में इसका विनियोग किया गया है। कौशिक० (७२।९) के अनुसार भी अग्न्याधान के अवसर पर चटाई पर चढ़ते हुए कर्ता को इसका उच्चारण करना चाहिये। आरोहण करने वालों के लिये मन्त्र में दीर्घायु की कामना व्यक्त की गई है। तै०आ० (६।१०।१) में भी आग्नि०गृ० के समान ही इस मन्त्र का विनियोग किया गया है। किन्तु शां०गृ० (३।१।१०) में इसका विनियोग समावर्तन के अन्तर्गत किया गया है।

आ० गृ० (४।६।९) के निर्देशानुसार कर्ता को अग्नि के चारों ओर परिधिरूप समिधा का आधान करते हुए निम्नलिखित मन्त्र (ऋ० १०।१८।४) का उच्चारण करना चाहिये :—

---

१. शां०श्रौ० १।१५।१५, आ०श्रौ० १।११।६, आप०श्रौ० ३।१०।५।

२. ऐ०ब्रा० ३।३८।५; ७।९।६, शां०श्रौ० ८।६।१६, आ०श्रौ० ३।१०।१५; ५।२०।६, आप०श्रौ० ९।८।७; १९।१७।१२।

इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतम् ।।
शतं जीवन्तु शरदः पुरूचीरन्तर्मृत्युं दधतां पर्वतेन ॥ [७७०]

मैं इस मध्यम परिधि को इन जीवित व्यक्तियों के लिये स्थापित करता हूँ अर्थात् इनके और मृत्यु के मध्य अवरोधरूप स्थापित करता हूँ। इनके मध्य कोई दूसरा इस (मृत्यु) मार्ग को (शीघ्र) न प्राप्त हो। ये सब पर्वत (अवरोध) के द्वारा मृत्यु के मध्य व्यवधान उत्पन्न करें। बहुत अधिक ऋतुफलों को देने वाले सौ वर्षों तक वे जीवित रहें ।। हृ० मि०

इस गृह्यसूत्र के इससे अगले ही सूत्र में अग्नि के उत्तर की ओर एक शिला रखते हुए इस मन्त्र के अन्तिम पाद के उच्चारण का विधान है। आप० गृ० और आग्नि० गृ० के अनुसार शिला रखने के लिये सम्पूर्ण मन्त्र का उच्चारण किया जाना चाहिये।[1] उपर्युक्त विनियोगों में रखने की क्रिया का आधार √धा, परिधि-समिधाओं का आधार **परिधिम्** और शिला का **पर्वतेन** शब्द रहा होगा। कौशिक० (७२।१७) में निर्देश है कि अग्न्याधान के अवसर पर इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए द्वारदेश पर शर्कराएँ स्थापित की जानी चाहियें।

यह मन्त्र अथर्व० १२।२।२३ (तु० ८।२।६) और वा०सं० (३५।१५) में भी विद्यमान है। परिधि-समिधाओं के आधान के लिये आ०गृ० के इसके विनियोग के समानान्तर ही शां०श्रौ० ४।१६।५ है क्योंकि वहाँ इसका विनियोग उन समिधाओं के आधान के पश्चात् आहुतियों के लिये किया गया है। और आ० गृ० ४।६।१० में तो इसका विनयोग ठीक वैसा ही है। शिला रखने के लिये इसके विनियोग की तुलना तै०आ० (६।१०।२) और आप०श्रौ० (१४।२२।३) के विनियोग से करनी चाहिये क्योंकि उनमें भी मृत्यु से दसवें दिन अनुष्ठित कर्मों में अग्नि के दक्षिण की ओर अध्वर्यु द्वारा एक शिला रखते समय इसके उच्चारण का विधान है। श० ब्रा० (१३।८।४।१२) और का० श्रौ० (२१।४।२५) के अनुसार मृतक की अन्त्येष्टि के तत्काल पश्चात् लौटते हुए कर्ता को मर्यादा (समाधि) का लोष्ठ लेकर उसे समाधि और ग्राम के मध्य स्थापित करते हुए इसका उच्चारण करना चाहिये। तै० ब्रा० (३।७।११।३) और आप० श्रौ० (६।१२।४) में दर्श और पौर्णमास के अन्तर्गत प्रायश्चित्त कर्म में भी शिला स्थापित करने की क्रिया सन्निविष्ट है। इस प्रकार इस मन्त्र के विनियोगों को दो प्रमुख भागों में विभाजित किया जा सकता है। एक तो ऋग्वेदीय ग्रन्थों के विनियोग—जिनमें परिधि-समिधाओं का आधान प्रधान है। दूसरे यजुर्वेदीय ग्रन्थों के विनियोग—जिनमें शिला (लोष्ठ) स्थापित करना

१. आप० गृ० ८।२३।१० (मं०पा० २।२२।२४), आग्नि०गृ० ३।७।२।

प्रधान है।

तत्पश्चात् आ०गृ० (४।६।१०) में विधान है कि चार मन्त्रों (ऋ० १०।१८। १-४) का च्चारण करते हुए चार आहुतियाँ अर्पित की जानी चाहियें। इनमें से अन्तिम मन्. (**इमं जीवेभ्यः इत्यादि**) का विवेचन ऊपर हो चुका है। तृतीय मन्त्र (**इमे जीवा वि मृतैः इत्यादि**) का विवेचन भी अन्त्येष्टि कर्म के अन्तर्गत किया जा चुका है (दे०मं०सं० ७५०)। प्रथम दो मन्त्र ये हैं :—

परं मृत्यो अनु परेहि पन्थां यस्ते स्व इतरो देवयानात्।
चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजां रीरिषो मोत वीरान्॥ [७७१]
मृत्योः पदं योपयन्तो यदैत द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः।
आप्यायमानाः प्रजया धनेन शुद्धाः पूता भवत यज्ञियासः॥ [७७२]

हे मृत्यु, देवयान से भिन्न जो तुम्हारा स्वकीय मार्ग है, तुम उस दूसरे मार्ग का अनुसरण करो। दृष्टि तथा श्रवण से युक्त तुम्हें मैं कहता हूँ कि न तो हमारी दुहिताओं दौहित्रों आदि को और न ही पुत्रों पौत्रों आदि को नष्ट करो॥ हे यज्ञार्ह ज्ञातिजनों, क्योंकि आई हुई मृत्यु के निधान स्थान को लुप्त करते हुए तुम गये हो, अतः दीर्घतर आयु को उत्कृष्ट रूप में धारण करते हुए सन्तान और धन से अभिवृद्ध होते हुए तुम शुद्ध और मनसे पवित्र हो गये हो॥ ह०मि०

ये दोनों मन्त्र अथर्व० (१२।२।२१, ३०) में भी विद्यमान हैं। प्रथम मन्त्र वा०सं० ३५।७८ में भी उपलब्ध है। इस मन्त्र का गृह्यसूत्रों में बहुविध विनियोग हुआ है। पा०गृ० के अनुसार विवाह संस्कार में (कुछ आचार्यों के मतानुसार) संस्रव (यज्ञान्नशेष) के प्राशन के पश्चात् इसका उच्चारण करते हुए वर को एक आहुति अर्पित करनी चाहिये।[1] इस विनियोग की तुलना मा०गृ० (२।१८।२) और का०गृ० (४८।१) के उस विधान से की जा सकती है जिसके अनुसार पुत्रकाम के द्वारा अनुष्ठित **षड्ढाहुत** कर्म में आहुति के साथ इसका उच्चारण किया जाना चाहिये। इस विनियोग का आधार **मा नः प्रजां रीरिषः** इत्यादि शब्द प्रतीत होते हैं। किन्तु हि०गृ० (१।२८।१) में इसका विनियोग नवनिर्मित भवन की भूमि के शुद्धिकर्म में आहुतियों के लिये किया गया है। तदनुसार इसमें **चक्षुष्मते** का स्थानान्तरण **वास्तोष्पते** द्वारा किया गया है परन्तु पूर्वार्ध में **मृत्यु** को सम्बोधन होने के कारण यह परस्पर-विरोधी प्रतीत होता है। कौशिक सूत्र में इसका विनियोग चार स्थलों पर किया गया है। सर्वप्रथम (७१।११) इसका विनियोग पुरातन

१. पा०गृ० १।५।१२-**परं मृत्यविति चैके प्राशनान्ते।**

अग्नि उठाने के लिये किया गया है । तदनन्तर (७१।२१) इसी कर्म में और पितृमेध (८६।२४) में कूदी को बींधने के लिये इसके उच्चारण का विधान है । कौशिक० ७२।१३ में नवाग्न्याधान कर्म के अन्तर्गत एक आज्याहुति के साथ इसके उच्चारण का विधान है। ऐसा प्रतीत होता है कि आ०गृ० में का०श्रौ० (२१।४।७) द्वारा अनुसृत श०ब्रा० (१३।८।३।४) का अनुसरण किया गया है क्योंकि वहाँ भी अन्त्येष्टि कर्म के अन्तर्गत अस्थियों को भूमि में दबाने के पश्चात् इसका उच्चारण निर्दिष्ट है । तै०आ० (६।७।३) में भी अस्थिकलश को वस्त्रावृत करने के पश्चात् इसके उच्चारण का विधान है। एक अन्य स्थान पर तै०आ० (३।१५।२) में इसे मृत्यु-सूक्त के एक मन्त्र के रूप में उद्धृत किया गया है। तै०ब्रा० (३।७।१४।५) और आप० श्रौ० (२१।४।१) में इसका विनियोग द्वादशाह यज्ञ के लिये यजमान के दीक्षित हो जाने पर दक्षिणाग्नि में आहुति अर्पित करने के निमित्त किया गया है।

द्वितीय मन्त्र का विनियोग मा०गृ० (२।१।१३) और का०गृ० (४५।८) में भी शान्तिकर्म के अर्न्तगत किया गया है—तदनुसार पुरातन अग्नि छोड़कर लौटते हुए ज्ञातिजनों को एक शाखा द्वारा अपने पदचिह्न मिटाने चाहियें । और इनमें इस क्रिया को ध्यान में रखकर ही **योपयन्तः** के स्थान पर **लोपयन्तः** दिया गया है। कौशिक० (७१।२०) के अनुसार पुरातन अग्नि छोड़ने के लिये जाते हुए सम्बन्धियों को कूदी द्वारा पांव ढकने के समय इसका उच्चारण करना चाहिये । पितृमेध (८६।२३) में भी इसी क्रिया के लिये इसका विनियोग किया गया है। मा०गृ० और का०गृ० के ठीक समान विनियोग तै० आ० (६।१०।२) में प्राप्त होता है। शां० श्रौ० (४।१५।२) के अनुसार अन्त्येष्टि कर्म में शव की दाह-क्रिया के समय सम्बन्धियों द्वारा चिता की परिक्रमा के अवसर पर कर्ता को इसका उच्चारण करना चाहिये। इससे यह सिद्ध होता है कि मृतक से सम्बद्ध कर्मों में इस मन्त्र की सामान्य विनियोगार्हता है।

आ०गृ० (४।६।१०) में निर्देश है कि इन चार आहुतियों के पश्चात् कर्ता को निम्नलिखित मन्त्र (ऋ० १०।१८।५, अथर्व० १२।२।२५) का उच्चारण करते हुए परिवार के सदस्यों का अवलोकन करना चाहिये :—

यथाहान्यनुपूर्वं भवन्ति यथ ऋतव ऋतुभिर्यन्ति साधु ।
यथा न पूर्वमपरो जहात्येवा धातरायूंषि कल्पयैषाम् ॥ [७७३]

जिस प्रकार दिन एक दूसरे के पीछे आते रहते हैं, जिस प्रकार ऋतुओं के साथ सब ऋतुएँ नियमित रूप से चलती हैं, जिस प्रकार दूसरा (मास) पहले वाले (मास) का (तारतम्य) नहीं छोड़ता, हे विधाता, उसी प्रकार इनकी आयु (निरन्तर) बनाइये ॥

अन्त्य शब्द **एषाम्** से वे व्यक्ति संकेतित हैं कर्ता जिनका अवलोकन करता है। आग्नि०गृ० (३।७।१) के अनुसार अस्थिसंचय करके श्मशान से लौटने पर सम्बन्धियों को उनकी आयु के अनुसार आरोहक्रम में व्यवस्थित करने के अवसर पर इसका उच्चारण किया जाना चाहिये। यहाँ सम्भवतया **अनुपूर्वम्** तथा **न पूर्वमपरो जहाति** शब्दों को विशेष रूप से ध्यान में रखा गया है। आ० गृ० कृत मन्त्र के विनियोग के ठीक समान विनियोग शां०श्रौ० (४।१६।६) में उपलब्ध होता है। किन्तु आग्नि०गृ० का विनियोग तै० आ० (६।१०।१) के बहुत निकट है क्योंकि उसके अनुसार दसवें दिन के कर्म में परिवार के सदस्यों के ऋषभ-चर्म पर चढ़ने के पश्चात् आरोहक्रम में उन्हें व्यवस्थित करते समय इसका उच्चारण किया जाना चाहिये। निर्बाध जीवन की प्रार्थना होने के कारण इसकी भी सामान्य विनियोगार्हता सिद्ध है।

आ० गृ० ४।६।११, १२ में विधान है कि इस समय जब महिलाएँ अपनी आँखों में अञ्जन लगायें तो उनका अवलोकन करते हुए कर्ता को निम्नलिखित मन्त्र का पाठ करना चाहिये[1] :—

इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा संविशन्तु।
अनश्रवोऽनमीवाः सुरत्ना आरोहन्तु जनयो योनिमग्रे॥ [७७४]

शोभन पतियुक्त ये अविधवा स्त्रियाँ अञ्जनभूत घृत के द्वारा आँखों को आँजें और इसके पश्चात् अश्रुरहित होकर नीरोग होकर सुन्दर आभूषणों वाली सन्तानोत्पत्ति योग्य ये (पुरुषों से) पूर्व घर में प्रवेश करें॥ ह०मि०

कौशिक० (७२।११) के अनुसार इसका उच्चारण करते हुए कर्ता को स्त्रियों के मध्य अञ्जन वितरित करना चाहिये। आग्नि०गृ० (३।७।२) में विनियोगार्थ मन्त्र के दोनों अर्ध भागों को पृथक् किया गया है। पूर्वार्ध का उच्चारण करते हुए स्त्रियाँ अभिनव घृत के द्वारा आँखें आँजती हैं, और उत्तरार्ध के द्वारा परिवार के सदस्य गृहप्रवेश के पश्चात् प्रेङ्खनी नामक पीठिका पर आरोहण करते हैं। उत्तरार्ध के विनियोग की प्रमुख प्रेरणा सम्भवतया **आरोहन्तु** शब्द से प्राप्त हुई होगी। तै०आ० (६।१०।२) और शां०श्रौ० (४।१६।६) में भी इस मन्त्र का समान विनियोग प्राप्त होता है। तै०आ० के अनुसार स्त्रियों को इसका उच्चारण करते हुए घी का आँखों से स्पर्श कराना चाहिये। शां०श्रौ० में विधान है कि कर्ता को स्त्रियों की आँखों में अञ्जन अर्पित करते हुए इसका उच्चारण करना चाहिये। **अनश्रवः**

---

१. ऋ० १०।१८।७, अथर्व० १२।२।३१; १८।३।५७।

शब्द से संकेत प्राप्त होता है कि अञ्जन का प्रयोग रोदन और शोक की समाप्ति के प्रतीकरूप में किया जाता था।

आ०गृ० (४।६।१३) के अनुसार **अश्मन्वती** इत्यादि मन्त्र (ऋ० १०।५३।८) का उच्चारण करते हुए कर्ता को अग्नि के निकट स्थापित शिला का स्पर्श करना चाहिये। इस मन्त्र का विस्तृत विवेचन विवाह संस्कार के अन्तर्गत किया जा चुका है (दे०मं०सं० २१०)। परन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि प्राग्-गृह्यसूत्र साहित्य द्वारा अन्त्येष्टि में इसके विनियोग की पुष्टि होती है।

आ०गृ० (४।६।१४) में निर्देश है कि परिवार के सभी सदस्यों को अपने हाथ में अग्नि और ऋषभ-गोमय लेकर सद्य-आहित अग्नि की परिक्रमा करते हुए जल की अविच्छिन्न धारा प्रवाहित करते समय **आपोहिष्ठीय** (ऋ० १०।९।१-३) मन्त्रों का उच्चारण करना चाहिये। इन मन्त्रों का विस्तृत विवेचन भी विवाह संस्कार के अन्तर्गत किया जा चुका है (दे०मं०सं० १८६-१८८)।

परिवार के सदस्यों के इस प्रकार अग्नि की परिक्रमा करने के अवसर पर कर्ता को निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये (आ०गृ० ४।६।१४) :-

परीमे गामनेषत पर्यग्निमहृषत।
देवेष्वक्रत श्रवः क इमाँ आ दधर्षति॥ [७७५]

ये परिवार के सदस्य गौ को अग्नि के चारों ओर ले जाते हैं, ये अग्नि भी उठाकर ले जा रहे हैं। इन्होंने देवताओं के मध्य अपना यश फैलाया है; इनका धर्षण कौन करेगा॥

यह मन्त्र ऋ०, अथर्व० और वा०सं० में विद्यमान है।[1] अग्नि की परिक्रमा का भाव मन्त्र में ही अभिव्यक्त है। इसके गृह्यविनियोग के सामानान्तर का०श्रौ० (२१।४।२७) का विनियोग है। वहाँ इसका **परिदा** नामकरण करके 'सब ओर से रक्षा करने वाले' मन्त्र के रूप में इसकी व्याख्या की गई है।[2] इस स्थान पर इसका विनियोग सद्य-आहित औपासनाग्नि में आहुति के तत्काल पश्चात् उच्चारणार्थ किया गया है।

आ०गृ० (४।६।१८) में विधान है कि सूर्योदय के पश्चात् उन्हें सोयें तथा

---

१. ऋ० १०।१५५।५, अथर्व० ६।२८।२, वा०सं० ३५।१८।

२. परिदा रक्षणं तत्संज्ञं मन्त्रं वदति। दाङ् पालने परिदीयते समन्ताद्रक्ष्यते-ऽनेनेति परिदाः रक्षणः तम्॥ (महीधरः)

स्वस्त्ययन सूक्तों[1] का पाठ करना चाहिये और ऋ० १।६७ सूक्त का पाठ करते हुए अग्नि में अन्नाहुतियाँ अर्पित करनी चाहियें। शां०गृ० (४।१७।५) में इसका विनियोग आग्रहायणी में जल में विभिन्न पदार्थ डुबोने के लिये किया गया है। कुछ गृह्यसूत्रों में इस सूक्त के केवल निम्नलिखित प्रथम मन्त्र का विनियोग किया गया है :—

अप नः शोशुचदघमग्ने शुशुग्ध्या रयिम्। अप नः शोशुचदघम्। [७७६]

हे अग्नि, हमारा पाप दूर करो, हमें धन दो, हमारा पाप दूर करो। हृ०मि०

अन्तिम पाद इस सूक्त का ध्रुव पाद है। आग्नि०गृ० (३।४।३) में विधान है कि यदि मृतक आहिताग्नि हो तो इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए कर्ता को उसके अंगूठे की गाँठ खोलनी चाहिये। उसी गृह्यसूत्र में एक अन्य स्थान (३।७।१) पर अस्थि-संचय के पश्चात् घर लौटने पर सम्बन्धियों द्वारा इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए अग्नि में आहुतियाँ अर्पित करने का विधान है। कौशिक० (८२।४) के अनुसार मृत्यु से अगले दिन अनुष्ठित कर्म में इसके द्वारा मृतक के सम्बन्धियों का का अभिमन्त्रण किया जाना चाहिये। पा०गृ० (३।१०।१६) के अनुसार दाह क्रिया के पश्चात् जलावगाहन करने से पूर्व मृतक के सम्बन्धियों को अनामिका द्वारा जल छिड़कते समय केवल अन्तिम पाद का पाठ करना चाहिये।

यह मन्त्र अथर्व० (४।३३।१) में भी विद्यमान है। वा०सं० (३५।६, २१) में इसका केवल अन्तिम पाद प्राप्त होता है। शां० श्रौ० (४।२।६) में आहवनीय अग्नि के आधान के अन्तर्गत आहुतियों के लिये इसे उद्धृत किया गया है। तै० आ० (६।१०।१) के अनुसार इसका उच्चारण मृत्यु के दसवें दिन के कर्मों में एक आहुति के साथ किया जाना चाहिये। तै०आ० ६।१।१ में स्रुक्-आहुतियों के लिये इससे आरम्भ होने वाला सम्पूर्ण अनुवाक विनियुक्त है। एक ओर मन्त्र का अग्नि को सम्बोधित होना, तथा दूसरी ओर उपर्युक्त श्रौत विनियोग—इन दोनों से आहुतियों में इसके विनियोग का औचित्य प्रमाणित होता है। जल से सम्बद्ध कर्मों में इसके विनियोग का संकेत सम्भवतया **अघम् अपशोशुचत्** शब्दों से प्राप्त हुआ होगा, क्योंकि जल के महान् शोधक माने जाने के कारण अधिकांश शुद्धिसम्बन्धी कर्म जल द्वारा अनुष्ठित किये जाते हैं।

श्राद्ध : *एकोद्दिष्ट*

सद्योमृत एक ही व्यक्ति को अर्पित होने के कारण इस श्राद्ध का नाम एको-

---

१. इन सूक्तों के विस्तृत विवेचन के लिये दे० प्रत्यवरोहण के अन्तर्गत मं० सं० १०३१—१०३४।

द्दिष्ट है । वै०गृ० (५।१३) में इसका विस्तृत वर्णन किया गया है, परन्तु इसमें किसी मन्त्र का विनियोग नहीं किया गया । का० गृ० (६६।१) के अनुसार इस श्राद्ध का अनुष्ठान अष्टका के समान होता है । दोनों कर्मों के मन्त्र भी समान हैं । केवल अन्तर यही है कि एक व्यक्ति को सम्बोधित होने के कारण मन्त्रों के पदों को एकवचन में परिवर्तित किया गया है । अन्य गृह्यसूत्रों में भी इसका संक्षिप्त वर्णन किया गया है । आग्नि०गृ० (३।११।२ में विधान है कि एक पात्र को तिलों से भर कर उसे दर्भ घास द्वारा ढकना चाहिये । इस दर्भ घास पर एक पिण्ड रखते हुए निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण किया जाना चाहिये :—

अयमोदनः कामदुघोऽस्त्वनन्तोऽक्षीयमाणः सुरभिः सर्वकामैः ।
स त्वोपतिष्ठत्वजरो नित्यभूतः स्वधां दुहानाममृतांस्तर्पयन्त्वसौ ॥ [७७७]

सब कामनाओं से सुरभित, कामदोह, क्षीण न होने वाला यह ओदन अन्तहीन हो । जीर्ण हुए बिना नित्यभूत वह तुम्हारी सेवा करे । अमुकनामवाला वह अभिवर्धनशील सुस्वास्थ्य से अमरों को तृप्त करे ॥

इस मन्त्र का अन्तिम पाद अंशतः तै०सं० और तै०आ० में विद्यमान है ।[1] एकवचनान्त **ओदनः** के साथ बहुवचनान्त क्रिया **तर्पयन्तु** असंगत प्रतीत होती है । मन्त्र का अधिकांश केवल इसी गृह्यसूत्र में उपलब्ध है ।

आग्नि०गृ० (३।११।२) के अनुसार एक पिण्ड अर्पित करने के पश्चात् पात्र पर तिलोदक छिड़कते हुए निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये :—

ऊर्जस्वतीः स्वधया वन्दमानास्तास्ते श्रयन्तीः स्योनाः ।
ऊर्जं वहन्तीः स्वधामक्षितोदकाः क्षीरमुदकं घृतं मधु पयः कीलालं परिस्रुतम् ॥ [७७८]

यह जल ऊर्जा से युक्त है, सुस्वास्थ्य द्वारा तुम्हारा सत्कार करता है, इस प्रकार का सुखकर वह जल तुम्हारा आश्रय लेता है । वह दुग्धरूप जल, घृत, मधु, पय और प्रवाहशील भोजन, ऊर्जा तथा सुस्वास्थ्य का वहन करता है । इसका रस क्षीण नहीं होता ॥

इस मन्त्र के प्रथम पाद के समानान्तर शब्द वा०सं० और तै०सं० में दृष्टिगोचर होते हैं ।[2] एक अन्य स्थल पर आग्नि०गृ० (३।११।३) में सपिण्डीकरण के अन्तर्गत इसी क्रिया में इसका विनियोग किया गया है । यह मन्त्र इसी गृह्यसूत्र में

---

१. तै०सं० ४।२।६।६, तै०आ० १०।४० (स्वधां दुहाना अमृतस्य धाराम्)
२. वा० सं० १२।७०, तै०सं० ४।२।५।६ ऊर्जस्वतीः पयसा पिन्वमानाः ।

उपलब्ध होता है ।

सपिण्डीकरण

एकोद्दिष्ट के पश्चात् सपिण्डीकरण नामक कर्म का अनुष्ठान किया जाता है। इस कर्म का उद्देश्य सद्यो-मृत व्यक्ति को परिवार के अन्य पूर्वजों के साथ श्राद्ध ग्रहण करने का अधिकारी बनाना है। शां०गृ० (५।९।४) में पितरों के तीन पात्रों में प्रथम पिण्ड वितरित करने के लिये निम्नलिखित चार मन्त्रों का विनियोग किया गया है :-

ये समानाः समनसः पितरो यमराज्ये ।
तेषां लोकः स्वधा नमो यज्ञो देवेषु कल्पताम् ।।
ये समानाः समनसो जीवा जीवेषु मामकाः ।
तेषां श्रीर्मयि कल्पतामस्मिंल्लोके शतं समाः ।।
समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम् ।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ।।
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ।। [७७९-७८२]

यम के राज्य में जो पितर समान मन वाले समान रूप से हैं, देवताओं के मध्य उनका संसार, सुस्वास्थ्य, नमस्कार और यज्ञ विहित हो ।। जीवित जनों में जो समान रूप तथा मन वाले जीव मेरे हैं, उनकी लक्ष्मी इस संसार में सौ वर्ष तक मुझमें बनी रहे ।। इनका चिन्तन समान है, संगति समान है, मन और बुद्धि समान है । आपके प्रति समान मन्त्र सम्बोधित करता हूँ, आपको समान आहुति अर्पित करता हूँ ।। आपका अभिप्राय समान हो, आपके हृदय समान हों, आपका मन समान हो जिससे आपकी सङ्गति शोभन हो ।।

सपिण्डीकरण की भावना के अनुरूप ही इन मन्त्रों में पितरों के पूर्ण समभाव की कामना व्यक्त की गई है। शां०गृ० (४।३।६) में इसी प्रसङ्ग में केवल प्रथम दो मन्त्रों का विनियोग किया गया है। इन दोनों मन्त्रों का विनियोग भा०गृ० (३।१७) में भी उसी क्रिया के निमित्त किया गया है। आग्नि०गृ० (३।११।३) में ये मन्त्र इसी कर्म में पितरों की उपासना के लिये प्रयुक्त किये गये हैं। इसमें द्वितीय मन्त्र में **समानाः** के स्थान पर **सजाताः** पाठ है। कौशिक० (८९।१) में भी मन्त्र का पाठ यही है और इसे पिण्ड-पितृयज्ञ में केवल जाप के लिये उद्धृत किया गया है। का०गृ० (६२।५) में इनका विनियोग मांसाष्टका के अन्तर्गत क्रमशः स्थालीपाक और मांसपेशियों की आहुतियों के लिये किया गया है। इन दोनों मन्त्रों का स्रोत

यजुर्वेदीय संहिताओं में है।[1] इनका गृह्यविनियोग पूर्ववर्ती साहित्य पर आधारित प्रतीत होता है क्योंकि उनमें पितरों को आहुतियाँ अर्पित करते समय इसके उच्चारण का विधान है।[2] किन्तु तै०ब्रा० (२।६।३।४, ५) और मा०श्रौ० (५।२।११।३०) के अनुसार सौत्रामणी यज्ञ में क्रमशः अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता द्वारा ग्रह आहुतियाँ अर्पित करते हुए इनका उच्चारण किया जाना चाहिये।

अन्तिम दोनों मन्त्रों में से प्रथम का विनियोग आग्नि०गृ० (३।११।३) द्वारा शां०गृ० के समान किया गया है। अन्तिम मन्त्र का विनियोग इस गृह्यसूत्र में मृतक के पात्र में से पितरों के पात्र में जल प्रवाहित करने के लिये किया गया है। किन्तु का०गृ० (६६।७) में इसका विनियोग पिण्ड-वितरणार्थ हुआ है। इसमें प्रथम पाद के **समाना व आकूतानि** पाठ से यह मन्त्र पूर्ण अनुष्टुभ् बन जाता है।[3] आ०गृ० (३।५।८) के अनुसार अध्यायोपाकरण के अन्तर्गत दही और सत्तू की एक आहुति अर्पित करते हुए इसका उच्चारण किया जाना चाहिये। इन दोनों मन्त्रों का स्रोत ऋ० (१०।१९१।३, ४) और अथर्व० (६।६४।२, ३) में है। तृतीय मन्त्र में अथर्व० में **मनः** के स्थान पर **व्रतम्** पाठ है, चतुर्थ पाद तृतीय पाद के रूप में आया है और चतुर्थ पाद **समानं चेतो अभिसंविशध्वम्** है। तै०ब्रा० (२।४।४।५) के अनुसार यदि कोई व्यक्ति अपने समान जनों में प्रिय न हो तो एक विशेष कर्म में उसे अन्य तीन मन्त्रों के अतिरिक्त इन दोनों का भी उच्चारण करना चाहिये।

का०गृ० (६६।७) में पिण्ड-वितरणार्थ अधोलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है :—

सं वो मनांसि सं व्रता समु चित्तान्याकरत्।
अमी ये विव्रताः स्थन तान्वः संनमयामसि॥ [७८३]

यह पिण्ड आपके मन, आचरण और बुद्धि को समान बना दे। आप जो विविध आचरण वाले हैं, उन आपको हम समन्वित करते हैं॥

यद्यपि यह मन्त्र अथर्व० और मै०सं० में भी विद्यमान है, तथापि का०गृ० में

---

१. वा०सं० १९।४५,४६, मै०सं० ३।११।१०, का०सं० ३८।२।

२. श०ब्रा० १२।८।१।१९,२०, आप०श्रौ० १।१०।१२,१३, का०श्रौ० १९।३।२३, २४, ला०श्रौ० ३।२।१०।

३. वस्तुतः मन्त्र का यह पाठ मै०सं० २।२।६ और का०सं० १०।१२ में से उद्धृत है। का०गृ० का सीधा स्रोत का०सं० प्रतीत होती है।

इसका स्रोत का०सं० ही प्रतीत होता है।[1] कौशिक० (१२।५) में एकस्वरता की प्राप्ति के निमित्त कर्म में प्रयुक्त मन्त्रों में से यह एक है।

का०गृ० ६६।७ में उपर्युक्त प्रसंग में निम्नलिखित मन्त्र भी दिया गया है :—

संसृजतु त्वा पृथिवी वायुरग्निः प्रजापतिः।
संसृजध्वं पूर्वेभिः पितृभिः सह ॥ [७८४]

पृथिवी, वायु, अग्नि और प्रजापति तुम्हारा संयोग करे। तुम अपने पूर्वज पितरों से संयुक्त हो जाओ ॥

सपिण्डीकरण के अनुरूप समन्वय की भावना इसमें भी व्यक्त की गई है। यह मन्त्र अन्य किसी ग्रन्थ में अप्राप्य है।

अन्त में आग्नि०गृ० (३।११।३) में निम्नलिखित शब्दों से आरम्भ होने वाले सम्पूर्ण पैतृक अनुवाक के उच्चारण का विधान है :—

उशन्तस्त्वा हवामहे ॥ [७८५]

यह अनुवाक तै०सं० (२।६।१२) में से उद्धृत है। इसमें पितृयज्ञ में प्रयुक्त याज्याएँ और पुरोनुवाक्याएँ समाविष्ट हैं।[2] इस अनुवाक के मन्त्रों के भावों से पितृ-सम्बन्धी कर्मों में उनकी सामान्य विनियोगार्हता सिद्ध होती है।

आभ्युदयिक श्राद्ध

इसे नान्दीमुख श्राद्ध या नन्दीश्राद्ध भी कहा जाता है। किसी भी उत्सव से पूर्व इसका अनुष्ठान किया जाता है। अन्य श्राद्धों के समान इसमें भी पितरों के प्रतिनिधिरूप ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता है। शां०गृ०(४।४।१२) और भा०गृ० (३।१६) में ब्राह्मणों के आह्वान के लिये निम्नलिखित वाक्य का प्रयोग किया गया है :-

नान्दीमुखान् पितॄन् आवाहयिष्ये ॥ [७८६]

मैं नान्दीमुख पितरों का आह्वान करूँगा।

भा०गृ० (३।१६) में इस क्रिया के लिये निम्नलिखित शब्द भी दिये गये हैं :-

इडा देवहूः ॥ [७८७]

यह मेरी देवताओं का आह्वान करने वाली वाणी है।

बौ०गृ० (१।१।२४) में इसी प्रसंग में इन्हें उद्धृत किया गया है। ये शब्द

---

१. अथर्व० ३।८।५; ६।६४।१, मै०सं० २।२।६, का०सं० १०।१२।
२. तै०ब्रा० २।६।१६, दे०तै०ब्रा० १।६।६ भी।

तै०सं० (३।३।२।१) और आप०श्रौ० (१२।२७।११) के एक मन्त्र का अंश हैं।

आह्वान् के पश्चात् पितरों को आसन देने के लिये निम्नलिखित वाक्य के उच्चारण का विधान है[1] :—

नान्दीमुखाः पितरः प्रीयन्ताम् ॥ [७८८]

नान्दीमुख पितर प्रसन्न हो जायें।

ये दोनों वाक्य केवल गृह्यसूत्रों में विद्यमान हैं।

आग्नि०गृ० (२।३।२) के अनुसार सर्वप्रथम ब्राह्मणों को दधि, माष, मत्स्य-मांस और अन्य भोज्य पदार्थों सहित यज्ञान्न प्रस्तुत किया जाना चाहिये, तदनन्तर गृहस्थ को उन्हें व्रीहि, यव, पुष्प और तिल समर्पित करते हुए निम्नलिखित प्रकार से उन्हें सम्बोधित करना चाहिये :—

ओम् मनः समाधीयताम् । प्रसीदन्तु भावमिश्राः ॥ [७८९]

ओम्, मन को एकाग्र किया जाये। आप महानुभाव प्रसन्न हों॥

इसके द्वारा नान्दीमुख में पितरों को प्रसन्न करने का यह उद्देश्य प्रतीत होता है कि इससे उत्सव निर्विघ्न सम्पन्न हो जाये।

वै०गृ० (२।२) में विधान है कि ब्राह्मणों को भोजन कराते समय गृहस्थ को निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये :—

आ सत्येन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवना विपश्यन् ॥ [७९०]

सत्य मार्ग से लौटता हुआ, देवों और मर्त्यों को अपने-अपने कार्य में प्रवृत्त करता हुआ, सभी लोकों का निरीक्षण करता हुआ सर्वप्रेरक देव सुवर्ण वर्ण वाले (सूर्यमण्डल रूप) रथ में आ रहा है॥

यह मन्त्र ऋ० और यजुर्वेदीय संहिताओं में विद्यमान है।[2] इनमें से केवल तै०सं० में द्वितीय शब्द सत्येन है, अन्य सभी में यह शब्द कृष्णेन है। इसका अधिष्ठाता सवितृदेव है और इसीलिये प्रस्तुत गृह्य विनियोग से इसका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं दिखाई देता।

---

१. शां०गृ० ४।४।१३, बौ०गृ० १।१।२४; ३।१२।३,४; भा०गृ० ३।१६, आग्नि०गृ० २।३।२।

२. ऋ० १।३५।२, वा० सं० ३३।४३; ३४।३१, तै० सं० ३।४।११।२, मै० सं० ४।१२।६; १४।६।

मासिक श्राद्ध

इस श्राद्ध का अनुष्ठान नियमपूर्वक प्रतिमास किया जाता है। यह मासिश्राद्ध तथा पार्वणश्राद्ध नामों से भी प्रसिद्ध है। सर्वप्रथम ब्राह्मणों का आह्वान किया जाता है और उन्हें पितरों के प्रतिनिधियों के रूप में बिठाया जाता है। जै० गृ० (२५।६) के अनुसार उन्हें बिठाते समय निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण किया जाना चाहिये :—

आ मे गच्छन्तु पितरो भागधेयं विराजाहूताः सलिलात् समुद्रियात् ।
अक्षीयमाणमुपजीवतैनन्मया प्रत्तं स्वधया मदध्वम् ।। [७९१]

इस शोभन अन्न द्वारा आहूत मेरे पितर मेरे भाग्य के अनुसार (आकाश रूपी) समुद्र के जल में से आ जायें। मेरे द्वारा अर्पित इस अक्षय भोजन का उपभोग करो; हे पितरो, सुस्वास्थ्य से आनन्दित रहो ।।

इसी गृह्यसूत्र (२५।१२) के अनुसार इसके पश्चात् गृहस्थ को निम्नलिखित वाक्य का उच्चारण करते हुए ब्राह्मणों को दर्भासन देने चाहियें :—

एतत्ते पितरासनमसौ ये च त्वात्रानु तेभ्यश्चासनम् ।। [७९२]

हे, अमुक नाम वाले पिता, यह तुम्हारे लिये आसन है और जो तुम्हारा अनुगमन कर रहे हैं, उनके लिये यह आसन है ।।

वस्तुतः ब्राह्मणों को दिये गये ये दर्भासन पितरों के निमित्त प्रतीत होते हैं।

आ० गृ० (४।७।८) में विधान है कि पितरों के तीन पात्रों में जल प्रवाहित करने के पश्चात् उसका अभिमन्त्रण शन्नो देवीः इत्यादि (ऋ०१०।९।४) द्वारा किया जाना चाहिये (दे० मं० सं०३४)। आग्नि० गृ० (३।३।२) में निर्देश है कि कुशाघास के द्वारा मधु को घुमाकर उसे किसी सुरक्षित स्थान पर रखते हुए इसका उच्चारण किया जाना चाहिये।

कुछ गृह्यसूत्रों में अन्य कर्मों में भी इसका विनियोग किया गया है। हि० गृ० (१।५।७) के अनुसार इसका उच्चारण करते हुए आचार्य और शिष्य दोनों को अपना परिमार्जन करना चाहिये। वा० गृ० (४।३) में चूडाकर्म के अन्तर्गत आरम्भ में ब्राह्मण के निर्दिष्ट स्थान पर आसीन हो जाने पर इसके द्वारा उसके अभिमन्त्रण का विधान है। कौशिक० (१४०।५) में इसका विनियोग इन्द्रमहोत्सव में राजा द्वारा जल के आचमनार्थ किया गया है। का० गृ० में चार विभिन्न प्रसंगों में इसे उद्धृत किया गया है। सर्वप्रथम (२३।४) विवाह संस्कार में वधू-गृह की ओर प्रस्थान से पूर्व कुछ इष्ट जनों के साथ वर को जलाशय पर जाकर अपने सिर पर जलाभिषेक

करने तथा आचमन करने के लिये इसके उच्चारण का विधान है। इसी संस्कार में आगे चलकर (२४।१०) मधुपर्क के प्रसंग में अतिथि के पाद-प्रक्षालनार्थ जल का अभिमन्त्रण करने के लिये इसका उच्चारण निर्दिष्ट है। एक अन्य स्थान (४५।८) पर एकाग्न्याधान कर्म में जिस चतुष्पथ पर अग्नि की राख डाली गई हो वहाँ जलाचमनार्थ इसका विनियोग किया गया है। नक्षत्र यज्ञ में (४६।१) मन्त्र द्वारा आपः देवता को सम्बोधित किया जाता है। यह ध्यान देने योग्य है कि अधिकांशतया मन्त्र का विनियोग जल से सम्बद्ध कर्मों में किया गया है। वा० गृ० में इसके द्वारा ब्राह्मण के अभिमन्त्रण की बात आश्चर्यजनक है। ऋ० के अतिरिक्त यह मन्त्र अथर्व०, वा०सं० और का० सं० में भी उपलब्ध होता है।[1] ब्राह्मण और श्रौत साहित्य के अनुसार भी इसका उच्चारण विभिन्न यज्ञों में या तो जलाभिषेक, या जलाचमन या जलस्पर्श की क्रियाओं के साथ किया जाना चाहिए।[2] अतः जलसम्बन्धी क्रियाओं में इसके विनियोग की परम्परा अति पुरातन है।

आ० गृ० (४।७।८) और आग्नि०गृ० (३।३।१) में विधान है कि इसके पश्चात् तीनों पात्रों में तिल डालते हुए निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण किया जाना चाहिये :—

तिलोऽसि सोमदेवत्यो गोसवे देवनिर्मितः।
प्रत्नवद्भिः प्रत्तः स्वधया पितॄनिमाँल्लोकान् प्रीणयाहि नः स्वधा नमः।
[७६३]

तुम सोम सम्बन्धी तिल हो, गोसव यज्ञ में देवों द्वारा तुम्हारा निर्माण हुआ है। पूर्वजों द्वारा तुम्हें अर्पित किया गया है, तुम सुस्वास्थ्य के द्वारा पितरों को, इन लोकों को तथा हमें प्रसन्न करो। तुम्हें नमस्कार है॥
ओ० ब०

स्तेंत्स्लर ने कात्यायन और गोभिल के श्राद्ध कल्पसूत्रों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है जहाँ यह मन्त्र विद्यमान है। ओल्डनबर्ग ने अनेक शब्दों यथा प्रत्तः, प्रत्नवद्भिः के पाठ सन्देहास्पद बताये हैं। परन्तु आप्टे ने सिद्ध किया है कि मन्त्र का पाठ तनिक भी भ्रष्ट नहीं है क्योंकि इसका अर्थ बहुत सन्तोषजनक है। प्रत्नवद्भिः शब्द से ऋ० (६।५४।१ इत्यादि) के उन विशेष मन्त्रों का अभिप्राय है जहां प्रत्न शब्द आया

1. अथर्व० १।६।१, वा० सं० ३६।१२, का० सं० १३।१५, ३८।१३।
2. गो० ब्रा० १।१।२६, तै० ब्रा० १।२।१।१; २।५।८।५, तै० आ० ४।४२।४; शां० श्रौ० ४।११।६; २१।१६; ८।६।७, ला० श्रौ० ५।३।१३, आप० श्रौ० ५।४।१, १६।१४।१; १६।३, मा० श्रौ० ६।१।५।२२।

है ।[1] पं० ब्रा० १०।४।८ के अन्तर्गत सायण द्वारा भी इस शब्द की उक्त व्याख्या की गई है ।

आ० गृ० (४।७।१०) के अनुसार पितरों को अर्घ्योदक अर्पित करते समय निम्नलिखित वाक्य बोला जाना चाहिये :—

पितारिदं ते अर्घ्यं पितामहेदं ते अर्घ्यं प्रपितामहेदं ते अर्घ्यम् । [७६४]

हे पिता, यह अर्घ्य आपके लिये है। हे पितामह यह अर्घ्य आपके लिये है । हे प्रपितामह यह अर्घ्य आपके लिये है ।।

आ० गृ० (४।७।१३) में पितरों को अर्पित इस जल का अभिमन्त्रण करने के लिये निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है :—

या दिव्या आपः पृथिवी सम्बभूवुर्या अन्तरिक्ष्या उत पार्थिवीर्याः ।
हिरण्यवर्णा यज्ञियास्ता न आपः शंस्योना भवन्तु ।। [७६५]

जो दिव्य (आकाशीय) जल पृथिवी पर उत्पन्न हुआ, जो अन्तरिक्ष सम्बन्धी है और जो पार्थिव है, वह सुवर्ण वर्ण वाला यज्ञ के योग्य जल हमारे लिये कल्याणकारी और सुखकारी हो जाये ।

मन्त्र के पूर्वार्ध का स्रोत का० सं० (३७।६) प्रतीत होती है । इसमें **पृथिवी** और **पार्थिवीर्याः** के स्थान पर क्रमशः **पयसा** और **पार्थिवासः** पाठ है । अथर्व० (४।८।५) भी इसके बहुत समरूप है । तै० ब्रा०(२।७।१५।४) में भी पूर्वार्ध का इससे मिलता जुलता पाठ है । वहां इसका विनियोग राज्याभिषेक में राजा पर जलाभिषेक के लिये किया गया है । मन्त्र का तृतीय पाद **हिरण्यवर्णाः यज्ञियाः** सम्भवतया तै०सं० (५।६।१।१) के सुप्रसिद्ध मन्त्र **हिरण्यवर्णाः शुचयः** इत्यादि का प्रतिरूप है । मन्त्र का अन्तिम पाद तो प्राचीन ग्रन्थों का बृहुसामान्य वाक्य प्रतीत होता है क्योंकि यह उनके अनेक मन्त्रों का अन्तिम पाद है ।[2]

समानान्तर ग्रन्थों के पाठ का अनुसरण करते हुए ओल्डनबर्ग ने **पृथिवी** के स्थान पर **पयसा** पाठ का सुझाव दिया है । अच्छा होते हुए भी आप्टे के मतानुसार यह नितान्त आवश्यक नहीं क्योंकि आश्वलायन ने जानबूझकर मन्त्र का सम्बन्ध पृथिवी से स्थापित करने के लिये **पृथिवी** स्वीकार किया है क्योंकि पृथिवी पर प्रवाहित किये गये जल का अभिमन्त्रण इसके द्वारा किया जाना है । साथ ही वह पृथिवी की सप्तमी-

---

१. नॉन ऋ० मन्त्रज् इन आ० गृ०, पृ० ६०-६१ ।
२. अथर्व०१।३३।१-४, तै०सं० ५।६।१।१, मै०सं० २।१३।१, तै०ब्रा० ३।१।२।३ ।

व्यत्यय के रूप में व्याख्या करता है।[1] परन्तु यह स्वीकार करने पर भी पुनरावृत्ति की कठिनाई उत्पन्न होती है क्योंकि अन्तिम से पहले शब्द **पार्थिवी:** में भी वही भाव (अर्थात् पृथिवी से उत्पन्न या सम्बद्ध जल) व्यक्त किया गया है। अतः इसके आधार पर तथा परम्परा और नियमित विभक्ति के आधार पर ओल्डनबर्ग का **पयसा** पाठ का सुझाव स्वीकार्य प्रतीत होता है।

अधिकांश कृष्णयजुर्वेदीय गृह्यसूत्रों में एक भिन्न पद्धति अपनाई गई है। तदनुसार हि० गृ०, भा० गृ० और आग्नि० गृ० में विधान है कि सर्वप्रथम निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करके पितरों को निमन्त्रित करना चाहिये[2]:—

आयात पितरः सौम्या गम्भीरैः पथिभिः पूर्व्यैः।
प्रजामस्मभ्यं ददतो रयिं च दीर्घायुत्वं च शतशारदं च॥ [७६६]

हे सोम-सम्बन्धी पितरो, हमें सन्तान, धन, दीर्घायु और सौ वर्ष का जीवन प्रदान करते हुए पहले के गम्भीर मार्गों से आओ॥

इसकी तुलना एक मिलते जुलते अथर्व०, मै०सं० और का०सं० के मन्त्र से की जा सकती है।[3] तै०सं० (१।८।५।२) में **आयात** के स्थान पर **परेत** के स्वल्प पाठभेद से युक्त केवल पूर्वार्ध प्राप्त होता है। कौशिक० (८३।२७) में अथर्व० पाठ का अनुसरण करते हुए पितरों को निमन्त्रित करने के लिये ही इसका विनियोग किया गया है।

गो०गृ० (४।३।४) में पिण्डपितृयज्ञ के अवसर पर पितरों को निमन्त्रित करने के लिये निम्नलिखित समान मन्त्र (मं०ब्रा० २।३।५) का विनियोग किया गया है :—

एत पितरः सोम्यासः गम्भीरेभिः पथिभिः पूर्विणेभिः।
दत्तास्मभ्यं द्रविणेह भद्रं रयिं च नः सर्ववीरं नियच्छत॥ [७६७]

हे सोम-सम्बन्धी पितरो, पहले के गम्भीर मार्गों से आओ। यहाँ हमें सम्पत्ति दो और कल्याणकर तथा वीरों से युक्त धन दो॥

यह मन्त्र का०सं० (९।६) मन्त्र से लगभग एकरूप है। का०सं० में **एत** के स्थान पर **परेत** और **दत्त** के स्थान पर **दत्वाय** का स्वल्प पाठभेद है। इस के अन्तिम पाद की तुलना अथर्व० (१८।४।४०) से भी की जा सकती है। पितृयज्ञ

१. नॉन ऋ० मन्त्रज् इन आ० गृ०, पृ० ६१-६२।
२. हि०गृ० २।१०।५, भा०गृ० २।११, आग्नि०गृ० ३।१।१।
३. अथर्व० १८।४।६२, मै०सं० १।१०।३, का०सं० ९।६।

में इसका विनियोग करते हुए आ०श्रौ० (२।७।६) में का०सं० के पाठ का ही अनुसरण किया गया है। मा०श्रौ० में भी पितृ-सम्बन्धी अनेक कर्मों में इसका विनियोग किया गया है।[1]

हि०गृ० (२।१०।६) और आग्नि०गृ० (३।१।१) में विधान है कि निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए दक्षिण दिशा की ओर जल प्रवाहित करना चाहिये :—

आपो देवीः प्रहिणुताग्निमेते यज्ञं पितरो नो जुषन्ताम्।
आसीनामूर्जमुत ये भजन्ते ते नो रयिं सर्ववीरान् नियच्छतात्॥ [७९८]

हे आपः देवियो, अग्नि को भेजो, ये हमारे पितर यज्ञ का सेवन करें। जो हमारे पितर यहाँ विद्यमान ऊर्जा को प्राप्त करते हैं, वे हमें धन तथा सभी वीर पुरुष प्रदान करें॥

इस मन्त्र का स्रोत अथर्व० (१८।४।४०) प्रतीत होता है क्योंकि स्वल्प पाठान्तर होने पर भी कुल मिलाकर इसमें भाव तत्सम है। कौशिक० (८८।२३) में इसका विनियोग पितृमेध के अन्तर्गत किया गया है। आपः को सम्बोधित होने के कारण जल प्रवाहित करने के लिये इसका विनियोग अर्थानुकूल है।

कुछ कृष्णयजुर्वेदीय गृह्यसूत्रों में पितरों के लिये तैयार किये गये अन्न की आहुतियाँ अर्पित करने के लिये निम्नलिखित छः मन्त्रों का विनियोग किया गया है[2] :—

यन्मे माता प्रलुलोभ चरत्यननुव्रता।
तन्मे रेतः पिता वृंक्तामाभुरन्योऽवपद्यताममुष्मै स्वाहा॥ [७९९]
यास्तिष्ठन्ति या धावन्ति या आर्द्रोध्नीः परि तस्थुषीः।
अद्भिर्विश्वस्य भर्त्रीभिरन्तरन्यं पितुर्दधेऽमुष्मै स्वाहा॥ [८००]
यन्मे पितामही......तन्मे रेतः पितामहः......॥ [८०१]
अन्तर्दधे पर्वतैरन्तर्मह्या पृथिव्या।
आभिर्दिग्भिरनन्ताभिरन्तरन्यं पितामहाद्दधे ऽमुष्मै स्वाहा॥ [८०२]
यन्मे प्रपितामही......तन्मे रेतः प्रपितामहः......॥ [८०३]
अन्तर्दध ऋतुभिरहोरात्रैश्च सन्धिभिः।
अर्धमासैश्च मासैश्चान्तरन्यं प्रपितामहाद्दधेऽमुष्मै स्वाहा॥ [८०४]

---

१. मा०श्रौ० १।१।२।१४, ३७; ७।६।५२; ११।६।१।५, तु०आप०श्रौ १।१०।७।
२. आप०गृ० ८।२१।३ (मं०पा० २।१९।१-६), हि०गृ० २।१०।७, भा०गृ० २।११, आग्नि०गृ० ३।१।१।

पातिव्रत्य धर्म का पालन न करती हुई जो मेरी माता प्रलोभन में आई, मेरे पिता उसके उस रेत (बीज) को दूर करें, इन के लिये दूसरा गर्भ पतित हो जाये, स्वाहा ॥ जो जल स्थिर रहता है, जो वेग से प्रवाहित होता है, जो पशुओं के ऊध को आर्द्र करके सुस्थिर रहता है, उस विश्व का भरण करने वाले जल के द्वारा इस अपने पिता के लिये किसी अन्य का अन्तर्धान करता हूँ ॥.........जो मेरी पितामही (दादी).........मेरे पितामह (दादा) उसके उस रेत को.........॥ पर्वतों तथा विशाल पृथिवी के द्वारा अन्तर्धान करता हूँ, मैं इन अनन्त दिशाओं के द्वारा इस पितामह के लिये किसी अन्य का अन्तर्धान करता हूँ ॥ जो मेरी प्रपितामही (परदादी).........मेरे प्रपितामह (परदादा) उसके उस रेत को.........॥ ऋतुओं, दिन रात और सन्ध्याओं के द्वारा अन्तर्धान करता हूँ। अर्धमासों के द्वारा तथा मासों के द्वारा मैं इस प्रपितामह के लिये किसी अन्य का अन्तर्धान करता हूँ ॥

मन्त्रों का उपरिलिखित पाठ मं०पा में से उद्धृत है। प्रथम, तृतीय और पंचम मन्त्र स्वल्प परिवर्तनों सहित एक समान हैं। सभी मन्त्रों की भावना यह प्रतीत होती है कि कर्ता अपने पितरों को विश्वास दिलाना चाहता है कि मैं माता की अवैध सन्तान नहीं हूँ। **अन्तर्दधे** का यही अभिप्राय प्रतीत होता है कि जो भी अवैध सन्तान है, उसके स्थान पर मैं किसी अन्य वैध सन्तान अर्थात् अपने आप को स्थापित करता हूँ जिससे कि पूर्वज प्रसन्नता पूर्वक श्राद्ध स्वीकार करें। जल, पृथिवी, दिशाओं, ऋतुओं आदि से अन्तर्धान का अभिप्राय यह है कि उस अवैध सन्तान के साथ समय और स्थान दोनों की दृष्टि से दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। शां०गृ० (३।१३।५) और बौ०गृ० (२।११।२५-२८) में प्रथम, द्वितीय, चतुर्थ और षष्ठ—इन चार मन्त्रों का पाठान्तर सहित विनियोग अष्टका में किया गया है। का०गृ० (६३।४, ५) में ये दो विभिन्न क्रियाओं के निमित्त विनियुक्त हैं। श्राद्ध के अन्तर्गत चतुर्थ और षष्ठ मन्त्रों का उच्चारण करते हुए कर्ता को पितरों को निमन्त्रित करना चाहिये। और शेष सभी मन्त्रों का उच्चारण उनके पादप्रक्षालनार्थ जल लाने के लिये किया जाना चाहिये। का०गृ० में इनके पाठान्तर हैं। द्वितीय, चतुर्थ और षष्ठ मन्त्रों में **अन्यं पितुः** इत्यादि के स्थान पर **अन्यान् पितॄन्** इत्यादि पाठ है। प्रथम, तृतीय और पञ्चम मन्त्रों में **चरत्यननुव्रता** के स्थान पर **यच्चचारानुव्रतम्** तथा **आभुः** के स्थान पर **माभिः** पाठ है। द्वितीय मन्त्र में **आर्द्रोध्नीः परितस्थुषीः** के स्थान पर **अद्रुग्धाः परिसस्रुषीः** और **भर्त्रीभिः** के स्थान पर **धर्त्रीभिः** पाठ है। चतुर्थ मन्त्र में **आभिः** के स्थान पर **दिवा** और षष्ठ मन्त्र में **च सन्धिभिः**

के स्थान पर **ससन्धिकैः** पाठ है । इनमें से प्रथम मन्त्र में पाठान्तर द्वारा पूर्ण अनुष्टुभ् हो जाने से छन्द में सुधार हुआ है । हि०गृ० और आग्नि०गृ० में द्वितीय मन्त्र का पूर्वार्ध **याः प्राचीः सम्भवन्त्याप उत्तरतश्च याः** है । उत्तरार्ध में **विश्वस्य** से आगे **भुवनस्य** जोड़ने के कारण छन्दोभंग हो गया है । चतुर्थ मन्त्र में **आभिः** के स्थान पर **दिवा** पाठ है और **अनन्ताभिः** के आगे **ऊतिभिः** जोड़ा गया है । षष्ठ मन्त्र में **च सन्धिभिः** के स्थान पर **ससन्धिभिः** है और **ऋतुभिः** के पश्चात् **सर्वैः** जोड़ा गया है । इस प्रकार हम देखते हैं कि पाठान्तरों द्वारा मन्त्रों के भावों में विशेष सुधार न होते हुए भी छन्दोभंग अवश्य हो गया है । इन मन्त्रों का समानान्तर विनियोग आप०श्रौ० (१।६।६) में दर्श पौर्णमास याग के अन्तर्गत पितरों की उपासना में प्राप्त होता है ।

अगली आहुती के लिये निम्नलिखित मन्त्र (ऋ० १०।१५।१३) का विनियोग किया गया है[1] :—

ये चेह पितरो ये च नेह यांश्च विद्म याँ उ च न प्रविद्म ।
त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः स्वधाभिर्यज्ञं सुकृतं जुषस्व ।। [८०५]

जो पितर यहाँ हैं और जो नहीं हैं, जिन्हें हम जानते हैं और जिन्हें नहीं जानते, हे जातवेदाः, वे जितने भी हैं उन्हें तुम जानते हो, (अतः) तुम सुस्वास्थ्य द्वारा भलीप्रकार अनुष्ठित यज्ञ को ग्रहण करो ।

मं० पा० और आग्नि० गृ० में उपरिलिखित पाठ से कुछ भेद हैं । मं०पा० में **त्वम्** के स्थान पर **अग्ने तान्** तथा **यति** के स्थान पर **यदि** पाठ है । चतुर्थ पाद का पाठ **त्वया प्रत्तं स्वधया मदन्ति** है । आग्नि०गृ० में अन्त में **कामैः** तथा **त्वया** के स्थान पर **तया** पाठ सहित मन्त्र मं० पा० के अनुसार है । यह मन्त्र वा० सं० (१६।६७) में भी विद्यमान है । तै० ब्रा० (३।१।१।७) में एक अन्य मन्त्र के अंशरूप में केवल द्वितीय पाद आया है । पितरों के प्रति आहुतियों में इसके विनियोग का आधार आ०श्रौ० २।१६।२२ और शां०श्रौ० ३।१६।७ में प्राप्त होता है क्योंकि वहां **पित्र्या** नामक कर्म में एक आहुति के साथ इसके उच्चारण का विधान है । ऋग्वेद के यमसूक्त में से उद्धृत होने के कारण मृतकसम्बन्धी कर्म में इसकी विशेष विनियोगार्हता सिद्ध है । अग्नि जातवेदा को सम्बोधित होने के कारण आहुति के साथ इसका सम्बन्ध बहुत दृढ़ है ।

हि० गृ० (२।११।१) और आग्नि गृ० (३।१।२) के अनुसार अगली दो आहु-

---

१. आप०गृ० ८।२१।३ (मं०पा०२।१६।७), हि०गृ०२।११।१, आग्नि०गृ०३।१।२ ।

तियों के साथ निम्नलिखित दो मन्त्रों का उच्चारण किया जाना चाहिये :—

यद्वः क्रव्यादङ्गमदहल्लोकाननयन् प्रणयन् जातवेदाः ।

तद्वोऽहं पुनरावेदयास्यरिष्टाः सर्वैरङ्गैः सम्भवन्तु पितरः स्वधा नमः स्वाहा ॥ [८०६]

वहाज्यं जातवेदः पितृभ्यो यत्रैतान् वेत्थ निहितान् पराके ।

आज्यस्य कुल्या उप ताँ क्षरन्तु सत्या एषामाशिषः सन्तु कामैः स्वधा-नमः स्वाहा ॥ [८०७]

आपको दूसरे लोकों में ले जाने वाले, आपको अपने में समाहित करने वाले, माँसभक्षक जातवेदा अग्नि ने जो कि आपके शरीर को जलाया है, आपके उस शरीर के लिये मैं पुनः प्रार्थना करता हूँ। पितर सब अंगों सहित क्षतिरहित उत्पन्न हो जायें, स्वधा, नमः स्वाहा ॥ हे जातवेदा, जहाँ तुम इन पितरों को परलोक में अवस्थित जानते हो, वहाँ इनके लिये आज्य वहन करो। उनके पास आज्य की धाराएं प्रवाहित हों, सब कामनाओं सहित इनके आशीर्वाद सत्य हों ॥ स्वधा, नमः, स्वाहा ।

इनमें से प्रथम मन्त्र का स्रोत निम्नलिखित अथर्व० (१८।४।६४) मन्त्र प्रतीत होता है क्योंकि पाठ में पर्याप्त भेद होने पर भी इसका भाव वही है :—

यद्वो अग्निरजहादेकमङ्गं पितृलोकं गमयं जातवेदाः ।

तद्व एतत् पुनराप्याययामि साङ्गाः सर्वे पितरो मादयध्वम् । [८०८]

पितृलोक को ले जाने के लिये जातवेदा अग्नि ने तुम्हारा जो एक अंग छोड़ दिया था, तुम्हारे उस इस अंग को परिपूर्ण कर रहा हूँ। हे पितरो आप सब अंगों सहित आनन्दित होइये ।

पूर्ण त्रिष्टुभ् छन्द वाले इस मन्त्र की अपेक्षा गृह्यसूत्रों के मन्त्र का छन्द विकृत है। कौशिक० (८८।५) में इस अथर्व-मन्त्र का विनियोग पिण्ड-पितृ-यज्ञ में यव और ओदन मिश्रित करने के लिये किया गया है।

द्वितीय मन्त्र **आज्यम्** के स्थान पर **वपाम्** पाठ सहित वा० सं० (३५।२०) में उपलब्ध है। उस वा० सं० मन्त्र का विनियोग प्रायः सभी गृह्यसूत्रों में अष्टका के अन्तर्गत किया गया है (दे० मं० सं० १०९०)। कौशिक० (४५।१४) में भी वा० सं० के समान **वपाम्** पाठ है, और उत्तरार्ध इस प्रकार है :—

मेदसः कुल्या उप तान्स्रवन्तु सत्या एषामाशिषः सन्तु कामाः स्वाहा स्वधा ॥

इस सूत्र के अनुसार पितृ-सम्बन्धी काम्यकर्मों में वपा की आहुतियों के साथ

इसका उच्चारण किया जाना चाहिये। एक अन्य स्थल (८४।१) पर पितृ-मेध के अवसर पर तीन आज्याहुतियों के लिये इसका विनियोग किया गया है।

कुछ कृष्णयजुर्वेदीय गृह्यसूत्रों में विधान है कि अन्तिम स्विष्टकृत् आहुति अर्पित करते हुए निम्नलिखित वाक्य बोला जाना चाहिये[1] :—

अग्नये कव्यवाहनाय स्विष्टकृते स्वधा नमः। [८०९]

कव्यवाहन स्विष्टकृत् अग्नि के लिये स्वधा, नमः।

अन्य गृह्यसूत्रों द्वारा पाठान्तर सहित इसका विनियोग अन्य कर्मों में भी किया गया है। मा० गृ०, कौशिक० और जै० गृ० में **स्विष्टकृते** का अभाव है। मा० गृ० (२।९।१३) में यह अन्वष्टक्य के अन्तर्गत एक आहुति के लिये विनियुक्त है। कौशिक० (८८।२) में पिण्डपितृयज्ञ में आहुति के साथ इसके उच्चारण का विधान है। जै० गृ० (२६।१) के अनुसार श्राद्ध में पितरों को विष्टर (आसन) दिये जाने के पश्चात् आहुति अर्पित करते समय इसका उच्चारण किया जाना चाहिये। मं० पा० में भी **स्विष्टकृते** का अभाव है और **नमः** के स्थान पर **स्वाहा** है। इस पाठान्तर सहित इसका विनियोग आप० गृ० ८।२२।७ (मं०पा० २।२१।९) में एकाष्टका कर्म के अन्तर्गत आज्याहुति के लिये किया गया है। **स्विष्टकृते** रहित इस वाक्य का स्रोत अथर्व० जितने प्राचीन ग्रन्थों में प्राप्त होता है।[2] इसका गृह्य विनियोग भी इन ग्रन्थों के विनियोग के समान है क्योंकि इनमें पिण्डपितृयज्ञ के अन्तर्गत आहुति के साथ इसके उच्चारण का विधान है।

कुछ कृष्णयजुर्वेदीय गृह्यसूत्रों में निर्देश है कि कर्ता को निम्नलिखित वाक्य का जाप करते हुए पितरों के लिये प्रस्तुत अन्न का स्पर्श करना चाहिये[3] :—

पृथिवी ते पात्रं द्यौरपिधानं ब्रह्मणस्त्वा मुखे जुहोमि ब्राह्मणानां त्वा प्राणापानयोर्जुहोमि अक्षितमसि मैषां क्षेष्ठा अमुत्रामुष्मिंल्लोके॥ [८१०]

पृथ्वी तुम्हारा पात्र है, आकाश ढक्कन है। ब्रह्म के मुख में तुम्हारी आहुति देता हूँ, ब्राह्मणों के प्राणापान में तुम्हारी आहुति देता हूँ। तुम

---

१. आप० गृ० ८।२१।४ (मं० पा० २।१९।१३), का० गृ० ६३।९, हि० गृ० २।११।३, आग्नि० गृ० ३।१।२।

२. अथर्व० १८।४।७१, वा०सं० २।२९, तै०ब्रा० १।३।१०।३, आ०श्रौ० २।६।१२, आप०श्रौ० १।८।४, मा०श्रौ० १।१।२।१८।

३. आप०गृ० ८।२१।८ (मं०पा० २।२०।१), हि०गृ० २।११।४, भा०गृ० २।१४, आग्नि०गृ० ३।१।२।

अक्षीण हो, इनके लिये इस लोक और परलोक में क्षीण न होना ।।

इस वाक्य में प्रार्थना है कि पितर इहलोक और परलोक अर्थात् पुनर्जन्म में भी भोजन की दृष्टि से असन्तुष्ट न रहें। उपरिलिखित पाठ मं०पा० में से उद्धृत है। आग्नि०गृ० में कुछ पाठान्तर हैं। इसमें त्वा और **प्राणापानयोः** के मध्य **विद्यावताम्** का सन्निवेश किया गया है और **एषाम्** के स्थान पर **पितॄणाम्** पाठ है। हि०गृ० और आग्नि०गृ० में इसका उच्चारण पितामहों और प्रपितामहों को उद्दिष्ट करके भी करने का विधान है, और तदनुसार **पितॄणाम्** को **पितामहानाम्** तथा **प्रपितामहानाम्** में भी परिवर्तित किया गया है। इनमें वाक्यान्त में निम्नलिखित भी जोड़ा गया है :—

पृथिवी समन्तस्समेऽग्निरुपद्रष्टा दत्तस्याप्रमादाय ऋचस्ते महिमा ॥

(हे सब ओर से सम पृथिवी, दिये हुए पदार्थों के प्रमत्त न होने देने के लिये अग्नि निरीक्षक है। ऋचाएँ तुम्हारी महिमा हैं ।।)

इस पंक्ति में भी पितामहों और प्रपितामहों के लिये उच्चारित होने पर क्रमशः **पृथिवी** को **अन्तरिक्षम्** और **द्यौः** में, **अग्निः** को **वायुः** और **आदित्यः** में तथा **ऋचः** को **यजूंषि** और **सामानि** में परिवर्तित किया जाता है। बौ०गृ० (२।११।३६) और आग्नि०गृ० (३।२।३) में इसका विनियोग अष्टका के अन्तर्गत भी किया गया है। **पृथिवी ते पात्रम्** शब्द मा०श्रौ० (११।९।२।४) में भी प्राप्त होते हैं जहाँ इनके द्वारा उन पात्रों का अभिमन्त्रण करने का विधान है जिनमें श्राद्ध के अवसर पर भोजन परोसा जाता है। **अक्षितमसि** इत्यादि शब्द अन्त तक **अक्षितिरसि** इत्यादि पाठान्तर सहित यजुर्वेदीय संहिताओं में विद्यमान हैं।[1] अन्नस्पर्शार्थ इसके गृह्यविनियोग के समानान्तर श्रौत विनियोग है जहाँ दर्शपौर्णमास के अन्तर्गत अन्वाहार्य अन्न का स्पर्श अथवा अवलोकन करते समय इसके उच्चारण का विधान है।[2]

हि०गृ० (२।११।५) के अनुसार निम्नलिखित वाक्य का उच्चारण करते हुए कर्ता को ब्राह्मणों द्वारा इस भोजन का स्पर्श कराना चाहिये :—

प्राणे निविष्टोऽमृतं जुहोमि । [८११]

प्राण में स्थित मैं अमृत की आहुति अर्पित करता हूँ ।।

इस गृह्यसूत्र (२।१२।१) में भोजन करते हुए ब्राह्मणों का अवलोकन करते

१. वा०सं०का० २।३।८, तै०सं० १।६।३.३ ; ७।३।४, का०सं० ५।५ ।
२. आ०श्रौ० १।११।६ ; १३।४, शां०श्रौ० ४।९।४ ; ११।३, का०श्रौ ३।४।३०, मा०श्रौ० १।४।२।१२ ।

समय कर्ता द्वारा निम्नलिखित वाक्य के उच्चारण का विधान है :—

ब्रह्मणि म आत्मामृतत्वाय । [८१२]

अमृतत्व के लिये मेरी आत्मा ब्रह्म (ब्राह्मण) में (स्थित हो)।

अन्य वाक्यों द्वारा व्यवहित होकर ये दोनों वाक्य तै० श्रा० (१०।३३, ३४) में भी विद्यमान हैं। वहाँ जलपान के पश्चात् इसका उच्चारण निर्दिष्ट है। आप०गृ० ८।२१।९ (मं०पा० २।२०।२६) में इन्हें एक वाक्य मानकर उसका विनियोग ब्राह्मणों द्वारा भोजन का भोग करने के पश्चात् शेष भोजन का भक्षण करते समय कर्ता द्वारा उच्चारणार्थ किया गया है। बौ०गृ० (२।११।३८) और आग्नि०गृ० (३।३।२) में इसे अष्टका के अन्तर्गत उद्धृत किया गया है।

जै०गृ० (२६।१९) के अनुसार जब ब्राह्मण भोजन कर रहे हों, उस समय कर्ता को निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये :—

यन्मेऽप्रकामा उत वा प्रकामा समृद्धे ब्राह्मणेऽब्राह्मणे वा।
यः स्कन्दति निर्ऋति वात उग्रां येन नः प्रीयन्ते पितरो देवताश्च।
वायुष्टत् सर्वं शुन्धतु तेन शुद्धेन देवता मादयन्तां तस्मिंच्छुद्धे पितरो मादयन्ताम्॥ [८१३]

जो कि समृद्ध ब्राह्मण अथवा अब्राह्मण के प्रति मेरी बलहीन या बलवती कामनाएँ हैं, जो वायु उग्र पाप को च्युत करता है जिससे हमारे पितर और देवता प्रसन्न होते हैं, वायु वह सब कुछ शुद्ध करे। उस शुद्ध (अन्न) के द्वारा देवता आनन्दित हों, उसके शुद्ध होने पर पितर आनन्दित हों।

यह मन्त्र अन्यत्र अप्राप्य है।

आ०गृ० (४।७।२६) और कौशिक० (८८।२७) में विधान है कि ब्राह्मणों को सन्तुष्ट हुआ देखने पर कर्ता को **अक्षन्नमीमदन्त** इत्यादि मन्त्र (ऋ०१।८२।२) का उच्चारण करना चाहिये। इसका विस्तृत विवेचन विवाह के अन्तर्गत किया जा चुका है (दे०मं०सं० १९८)। प्रस्तुत प्रसंग में इसके विनियोग की प्रेरणा गृह्यसूत्रकारों को सम्भवतया **अस्तोषत** शब्द से प्राप्त हुई होगी।

ब्राह्मणों के भोजन करके चले जाने पर कर्ता उनके पीछे जाकर अनुष्ठीयमान कर्म के लिये उनसे भोजन का अवशिष्टांश लेने की अनुमति माँगता है। फिर एक जलपात्र और मुट्ठीभर दर्भ घास लेकर वह दक्षिणपूर्व दिशा की ओर जाता है और वहाँ दर्भ घास बिछाकर निम्नलिखित छः वाक्यों का उच्चारण करता हुआ उस

पर तीन वार जलाञ्जलि प्रवाहित करता है[1]:—

मार्जयन्तां मम पितरो, मार्जयन्तां मम पितामहा, मार्जयन्तां मम प्रपितामहाः। [८१४]

मार्जयन्तां मम मातरो, मार्जयन्तां मम पितामह्यो, मार्जयन्तां मम प्रपितामह्यः॥ [८१५]

मेरे पितर मार्जन करें, मेरे पितामह......, मेरे प्रपितामह......, मेरी माताएँ मार्जन करें, मेरी पितामहियाँ......, मेरी प्रपितामहियाँ......॥

यह पाठ मं० पा० के अनुसार है। हि० गृ० और आग्नि० गृ० में **पितरः, पितामहाः** इत्यादि के पश्चात् **सौम्यासः** पाठ है तथा माताओं आदि से सम्बद्ध द्वितीय वाक्य नहीं दिया गया। बौ०गृ० (२।११।२८) में ये वाक्य अष्टका में विनियुक्त हैं। इनके गृह्य विनियोग के समानान्तर आप०श्रौ० (१।८।१०) में दर्शपौर्णमास के अन्तर्गत स्फ्य (काष्ठ-खड्ग) पर जल प्रवाहित करने के लिये इनका विनियोग किया गया है। इस प्रकार श्रौत और गृह्य दोनों विनियोगों में जलप्रवाह-क्रिया समान है।

उपरिनिर्दिष्ट दर्भ घास पर उसे पितरों के लिये भोजन-पिण्ड रखते हुए निम्नलिखित वाक्यों का उच्चारण करना चाहिये[2]:—

एतत्ते ततासौ ये च त्वामनु, एतत्ते पितामह......,
एतत्ते प्रपितामह...। [८१६]

एतत्ते मातरसौ याश्च त्वामनु, एतत्ते पितामहि......,
एतत्ते प्रपितामहि......॥ [८१७]

हे अमुक नाम वाले पिता, यह (भोजन) आपके लिये और आपके अनुगामियों के लिये है। ......हे पितामह......, हे प्रपितामह......। हे अमुक नाम वाली माता, यह (भोजन) आपके लिये और आपकी अनुगामिनियों के लिये है। ......हे पितामही......, ...हे प्रपितामही......॥

हि०गृ०, भा०गृ० और आग्नि०गृ० में **ये च त्वामनु** शब्दों का तथा द्वितीय मन्त्र का नितान्त अभाव है। प्रथम मन्त्र का स्रोत तै० सं० और का० सं० में प्राप्त

---

१. आप० गृ० ८।२१।९ (मं० पा० २।२०।२–७), हि० गृ० २।१२।२, आग्नि० गृ० ३।१।३।

२. आप० गृ० ८।२१।९ (मं० पा० २।२०।८–१३), हि० गृ० २।१२।३, भा० गृ० २।१२, आग्नि० गृ० ३।१।३।

होता है।[1] इसके गृह्य विनियोग का आधार भी ब्राह्मण और श्रौत ग्रन्थों में प्रतीत होता है क्योंकि वहाँ पितृयज्ञ के अन्तर्गत कर्ता द्वारा पितरों को पिण्डदान करते समय इसके उच्चारण का विधान है।[2]

जै०गृ० (२७।१३) में इस कर्म के लिये इससे मिलते-जुलते निम्नलिखित वाक्य का विनियोग किया गया है :—

एतत्ते पितरसौ ये च त्वात्रानु तेभ्यश्च स्वधा नमः,
एतत्ते पितामह......, एतत्ते प्रपितामह...... ॥ [८१८]

हे अमुक नामक पिता यह (भोजन) तुम्हारे लिये और जो यहाँ तुम्हारे अनुगामी हैं, उनके लिये है। स्वधा, नमः। हे......पितामह......हे प्रपितामह......॥

इसका स्रोत भी ऊपर वाले वाक्य का स्रोत ही प्रतीत होता है।

हि० गृ० (२।१२।४) और आग्नि० गृ० (३।१।३) के अनुसार यदि कर्ता को अपने पूर्वजों के नाम न पता हों तो पिण्डदान के समय उसे निम्नलिखित वाक्य बोलना चाहिये :—

स्वधा पितृभ्यः पृथिवीषद्भ्यः, स्वधा पितामहेभ्योऽन्तरिक्षसद्भ्यः,
स्वधा प्रपितामहेभ्यो दिविषद्भ्यः ॥ [८१९-८२१]

पृथिवीवासी पितरों के लिये सुस्वास्थ्य, अन्तरिक्षवासी पितामहों के लिये सुस्वास्थ्य, द्युलोकवासी प्रपितामहों के लिये सुस्वास्थ्य ॥

स्वधा के स्थान पर इदम् पाठान्तर सहित जै०गृ० (२७।१५) में भी इसका विनियोग किया गया है।

भा०गृ० (२।१३), का०गृ० (६३।१६) और जै०गृ०(२८।५) में विधान है कि इन पिण्डों के चारों ओर निम्नलिखित मन्त्र (वा०सं० २।३४) का उच्चारण करते हुए जल छिड़कना चाहिये :—

ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम्।
स्वधा स्थ तर्पयत मे पितॄन्। [८२२]

ऊर्जा, अमृत, घृत और अन्नरस रूप सद्योजात जल का वहन करने वाली हे आपः तुम आहुति (स्वास्थ्य) हो, तुम मेरे पितरों को तृप्त करो ॥

दे० पा०

---

१. तै०सं० १।८।५।१; ३।२।५।५, का०सं० ९।६।
२. तै०ब्रा० १।६।९।७, आप०श्रौ० ८।१६।६, आ०श्रौ० २।६।१५।

का०गृ० में घृतम् और पयः के मध्य मधु का समावेश किया गया है और अन्तिम तीन शब्दों का क्रम पितॄन् मे तर्पयत रूप में उलट दिया गया है। गो० गृ० और खा०गृ० में इसका विनियोग इसी क्रिया के लिये पिण्डपितृयज्ञ में किया गया है।[1] बौ०गृ० (२।११।४६) में अष्टका में इसका विनियोग किया गया है। जलसिञ्चनार्थ इसके विनियोग की पुष्टि श्रौतसूत्रों में पितृयज्ञ के अन्तर्गत पितरों के लिये जलप्रवाहार्थ इसके विनियोग से होती है।[2]

निम्नलिखित दो वाक्यों को बोलते हुए पितरों को अञ्जन और अभ्यञ्जन अर्पित किया जाना चाहिये[3] :—

आंक्ष्वासौ आंक्ष्वासौ ॥ [८२३]
अभ्यंक्ष्वासौ अभ्यंक्ष्वासौ ॥ [८२४]

हे अमुक नामक अञ्जन लगाओ, हे अमुक......॥ हे अमुक नाम वाले अभ्यञ्जन लगाओ, हे अमुक......॥

जै०गृ० के अनुसार वाक्यों में शब्दों की पुनरावृत्ति नहीं की जानी चाहिये। तदनुसार द्वितीय वाक्य का उच्चारण पुष्प और धूप अर्पित करते हुए किया जाना चाहिये। यह द्वितीय वाक्य आ०श्रौ० (२।७।५) और मा० श्रौ० (१।१।२।२९) में भी पितृयज्ञ के अन्तर्गत पितरों को अभ्यञ्जन अर्पित करने के लिये विनियुक्त हुआ है।

हि०गृ० (२।१२।८) और आग्नि०गृ० (३।१।३) में निर्देश है कि पितरों को वस्त्ररूप कोई वस्तु अर्पित करते हुए निम्नलिखित वाक्यों का उच्चारण किया जाना चाहिये :—

एतानि वः पितरो वासांस्यतो नोऽन्यत् पितरो मा योढ्वम् ॥ [८२५]
एतानि वः पितामहाः.........पितामहाः......... ॥ [८२६]
एतानि वः प्रपितामहाः.........प्रपितामहाः......... ॥ [८२७]

हे पितरो, ये आपके लिए वस्त्र हैं, हे पितरो अब हमारे वस्त्र से भिन्न किसी और से संयुक्त न होना ॥ हे पितामहो......॥ हे प्रपितामहो......॥

गो०गृ० और खा०गृ० में इनका विनियोग पिण्डपितृयज्ञ में किया गया है।[4] इनकी

---

१. गो०गृ० ४।३।२१ (मं०ब्रा० २।३।१५), खा०गृ० ३।५।३१।
२. शां०श्रौ० ४।५।३, का०श्रौ० ४।१।१९, आप०श्रौ० १।१०।४।
३. हि०गृ० २।१२।६,७, आग्नि०गृ० ३।१।३, जै०गृ० २८।१।
४. गो०गृ० ४।३।२४ (मं०ब्रा० २।३।१४), खा०गृ० ३।५।३०।

तुलना वा०सं० के मिलते-जुलते वाक्यों से की जा सकती है।[1] इनके गृह्यविनियोग की पुष्टि तदनुरूप श्रौतविनियोग से होती है।[2]

जै०गृ० (२७।२०) में पितरों को वस्त्र अर्पित करने के लिये निम्नलिखित वाक्य के उच्चारण का विधान है :—

एतद्वः पितरो वासो गृहान्नः पितरो दत्त ॥ [८२८]

हे पितरो, यह आपके लिये वस्त्र है। हे पितरो, यह घर हमें दे दो ॥

भट्ट गुणविष्णु के मतानुसार यहाँ घर की प्रार्थना से अभिप्राय गृहिणी की प्रार्थना का है। अर्थात् हे पितरो मुझे गृहिणी से संयुक्त करो।[3] परन्तु गृह का अर्थ गृहिणी किये बिना भी यह सार्थक ही होगा क्योंकि तब इसका यह अभिप्राय होगा कि हे पितरो, जिस घर में पहले आप निवास करते थे, उसका स्वामी अब हमें बना दो। इस वाक्य का उपर्युक्त वाक्यों से निकट का साम्य है। गो०गृ० (४।३।२२) के अनुसार **गृहान्नः पितरो दत्त** (मं०ब्रा० २।३।१२) का उच्चारण करते हुए गृहस्थ को गृहावलोकन करना चाहिये।

इसके पश्चात् यह विधान है कि कर्ता को भोजनपात्र का प्रक्षालन करके पिण्डों के चारों ओर जलसिञ्चन करते हुए निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये[4] :—

पुत्रान् पौत्रानभितर्पयन्तीरापो मधुमतीरिमाः।
स्वधां पितृभ्यो अमृतं दुहाना आपो देवीरुभयांस्तर्पयन्तु ॥ [८२९]

पुत्रों और पौत्रों को अभितृप्त करता हुआ यह मधुयुक्त जल, पितरों के लिये स्वास्थ्य और अमृत का दोहन करती हुई आपः देवी (उन्हें और हमें) दोनों को संतृप्त करें ॥

इस मन्त्र का स्रोत अथर्व० (१८।४।३९) है। कौशिक० (८८।२४) में इसका विनियोग पिण्डपितृयज्ञ में किया गया है। पितरों के लिए जलसिञ्चन-क्रिया में इसका विनियोग पूर्णतया अर्थानुकूल है।

---

१. वा०सं० २।३२, वा०सं०का० २।७।४।
२. आ०श्रौ० २।७।६, का०श्रौ० ४।१।१६, आप०श्रौ० १।१०।१।
३. दे०मं०ब्रा० २।३।१२ पर भाष्य— गृहिण्या संयुक्तं मां कुरुध्वमित्यर्थः।......... गृहिणीप्रार्थनं वाक्यार्थः।
४. आप०गृ० ८।२१।९ (मं०पा० २।२०।२४), हि०गृ० २।१२।१०, भा०गृ० २।१३, आग्नि०गृ० ३।१।३।

निम्नलिखित वाक्यों का उच्चारण करके पितरों को प्रणाम किया जाना चाहिये[1] :—

नमो वः पितरो रसाय ॥ नमो वः पितरः शुष्माय ॥ नमो वः पितरो जीवाय ॥ नमो वः पितरः स्वधायै ॥ नमो वः पितरो मन्यवे ॥ नमो वः पितरो घोराय ॥ पितरो नमो वो य एतस्मिंल्लोके स्थ युष्मांस्तेऽनु येऽस्मिंल्लोके मां तेऽनु य एतस्मिंल्लोके स्थ यूयं तेषां वसिष्ठा भूयास्त येऽस्मिंल्लोकेऽहं तेषां वसिष्ठो भूयासम् ॥ [८३०-८३६]

हे पितरो, आपको रस के लिये प्रणाम है ।। हे पितरो, आपको बल के लिये प्रणाम है ।। हे पितरो, आपको जीवन के लिये प्रणाम है ।। हे पितरो, आपको स्वास्थ्य के लिये प्रणाम है ।। हे पितरो, आपको क्रोध अथवा मनन-शक्ति के लिये प्रणाम है ।। हे पितरो, आपको भय (में साहस) के लिये प्रणाम है ।। हे पितरो, आपको प्रणाम है ! जो उस लोक में हैं, वे आपके अनुगामी हैं, जो इस लोक में हैं, वे मेरे अनुगामी हैं । जो उस लोक में हैं, आप उनमें श्रेष्ठ हो जायें, जो इस लोक में हैं, मैं उनमें श्रेष्ठ हो जाऊँ ।।

पितरों को छः बार प्रणाम करने के निमित्त जै० गृ० (२८।२,५) में ऐसे ही वाक्यों को उद्धृत किया गया है । इनमें से प्रथम तीन तो उपरिलिखित प्रथम तीन वाक्यों के तत्सम हैं । चतुर्थ और षष्ठ क्रमशः ऊपर के षष्ठ और पञ्चम हैं । पञ्चम वाक्य का पाठ **नमो वः पितरो बलाय** है । गो० गृ० और खा० गृ० में पिण्ड-पितृयज्ञ में इसी क्रिया के लिये ऐसे ही वाक्य दिये गये हैं ।[2] मं० ब्रा० में ऊपर का तृतीय वाक्य प्रथम, षष्ठ वाक्य तृतीय, प्रथम वाक्य चतुर्थ, चतुर्थ और पञ्चम क्रमशः पञ्चम और षष्ठ वाक्य हैं । इसमें द्वितीय वाक्य **नमो वः पितरः शूषाय** है । इनका स्रोत तै०सं० ३।२।५।५ है । अन्य संहिताओं के वाक्यों का तै०सं० से आंशिक साम्य है ।[3] गृह्यसूत्रों में ये प्रतीकेन उद्धृत किये गये हैं । इनके स्रोत का संकेत भाष्यकारों से ही प्राप्त होता है । इनके गृह्यविनियोग की पुष्टि तै० ब्रा० और कुछ श्रौतसूत्रों में पिण्डपितृयज्ञमें पितरोंकी उपासना के लिये इनके विनियोग से होती है[4]।

कुछ गृह्यसूत्रों में विधान है कि पितरों को प्रणाम करने के पश्चात् गृहस्थ

---

१. हि०गृ० २।१२।१०, भा०गृ० २।१३, आग्नि०गृ० ३।१।३ ।

२. गो०गृ० ४।३।१८ (मं०ब्रा० २।३।८-१४), खा०गृ० ३।५।२५-२६ ।

३. अथर्व० १८।४।८१,८२, वा०सं० २।३२ (घोराय तक तत्समान), का०सं० ९।६ (बहुत समान), मै०सं० १।३।१० ।

४. तै०ब्रा० १।३।१०।८, शां०श्रौ० ४।५।१,आ० श्रौ० २।७।७, का० श्रौ० ४।१।१२

को निम्नलिखित तीन मन्त्रों का उच्चारण करते हुए किसी जलाशय के तट पर जाना चाहिये[1]:—

एष ते तत मधुमाँ ऊर्मिस्सरस्वान् यावानग्निश्च पृथिवी च तावत्यस्य मात्रा तावतीं त एतां मात्रां ददामि यथाग्निरक्षितोऽनुपदस्त एवं मह्यं पित्रेऽक्षितो ऽनुपदस्तः स्वधा भवतां त्वं स्वधां तैः सहोप जीवर्चस्ते महिमा ।। [८३७]

एष ते पितामह······यावान् वायुश्चान्तरिक्षं च······यथा वायुरक्षितो ······पितामहायाक्षितोऽनुपदस्त······सामानि ते महिमा ।। [८३८]

एष ते प्रपितामह······यावानादित्यश्च द्यौश्च······यथादित्योऽक्षितो प्रपितामहायाक्षितोऽनुपदस्तः······यजूंषि ते महिमा ।। [८३९]

हे पिता, मधु तथा जल से युक्त यह तरङ्ग आपके लिये है। जितने विशाल अग्नि और पृथ्वी हैं, उतनी इसकी मात्रा है। तुम्हें इसकी इतनी (अधिक) मात्रा मैं देता हूँ। जिस प्रकार अग्नि अविनाशी और अक्षय है, उसी प्रकार मेरे पिता के लिये यह अक्षय और अविनाशी हो और स्वास्थ्य-कर हो। तुम उनके साथ जीवित रहो, ऋचाएँ तुम्हारी महिमा हैं।। हे पितामह······जितने विशाल वायु और अन्तरिक्ष हैं······जिस प्रकार वायु अक्षय······पितामह के लिये यह अक्षय······साम तुम्हारी महिमा हैं।। हे प्रपितामह······जितने विशाल आदित्य और आकाश हैं······जिस प्रकार आदित्य अक्षय······प्रपितामह के लिये यह अक्षय······यजु तुम्हारी महिमा हैं ।।

उपरिलिखित पाठ मं० पा० का है। आग्नि० गृ० में इनके पाठान्तर हैं। इसमें तत और मधुमान् के मध्य पितुः का अन्तर्धान है, तावतीं त एतां मात्राम् के स्थान पर तावन्तमेनं भूतम्, मह्यम् के स्थान पर मे तताय पाठ है, तथा पुनः स्वधाम् और तैः के मध्य अक्षितम्, और जीव और ऋचः के मध्य असौ अन्तर्हित हैं। ये मन्त्र किसी प्राग्-गृह्यसूत्र ग्रन्थ में अनुपलब्ध हैं ।

पिण्डदान के स्थान से लौट कर गृहस्थ को स्थाली में लगे हुए अवशेष को जलपात्र में डालकर उसे निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए प्रवाहित करना चाहिये[2] :—

---

१. आप० गृ० ८।२१।६ (मं० पा० २।१९।१४-१६), हि० गृ० २।१३।१, भा०गृ० २।१२, आग्नि० गृ० ३।१।३।

२. हि०गृ० २।१३।२, भा०गृ० २।१४, आग्नि०गृ० ३।१।३।

परायात पितरः सौम्या गम्भीरैः पथिभिः पूर्व्यैः ।
अथ मासि पुनरायात नो गृहान् हविरत्तुं सुप्रजसः सुवीराः ।। [८४०]

हे सोमसम्बन्धी पितरो, गम्भीर पुरातन मार्गों से लौट जाओ । हे शोभन सन्तान वाले, शोभन वीरों से युक्त पितरो, पुनः आगामी मास में हविर्भक्षण के लिए हमारे घर आ जाना ।।

मन्त्र का यह पाठ हि०गृ० में दिया गया है । इस रूप में इसके पूर्वार्ध का छन्द अनुष्टुभ् और उत्तरार्ध का त्रिष्टुभ् है । परन्तु भा० गृ० और आग्नि० गृ० में पूर्वार्ध में **प्रजामस्मभ्यं ददतो रयिम्** जोड़ा गया है। यह अंश अपने आप में त्रिष्टुभ्-पाद है । इससे मिलते-जुलते एक मन्त्र (आयात पितरः इत्यादि) का विवेचन पहले किया जा चुका है (दे०मं०सं० ७९६) । उस मन्त्र में इस मन्त्र का उत्तरार्ध तो नहीं है, परन्तु भा०गृ० द्वारा जोड़ा गया अंश विद्यमान है । प्रस्तुत मन्त्र का विनियोग कौशिक० (८८।२८) में पिण्ड-पितृ-यज्ञ के अन्तर्गत इसी क्रिया के लिये किया गया है । पितरों को विदा देने की भावना के आधार पर यह श्राद्ध की समाप्ति का द्योतक है ।

आ०गृ० (४।७।३०) के अनुसार निम्नलिखित शब्दों द्वारा कर्ता को ब्राह्मणों को विदा करना चाहिये :—

ओं स्वधोच्यताम् ।। [८४१]

ओम्, स्वधा (स्वास्थ्य) वचन कहिये ।।

ब्राह्मणों को अधोलिखित शब्दों द्वारा इसका प्रत्युत्तर देना चाहिये :—

अस्तु स्वधा ।। [८४२]

स्वधा (स्वास्थ्य) हो ।।

इन शब्दों का स्रोत ब्राह्मणों और श्रौतसूत्रों में प्रतीत होता है ।[1] इनमें विनियोग भी आ०गृ० के समान है क्योंकि इनमें महापितृ-यज्ञ की प्रधानाहुतियों की तैयारी के प्रसंग में श्रौषत् के लिये अध्वर्यु का आह्वान **ओम् स्वधा** है और अग्नीध्र द्वारा इसका प्रत्युत्तर **अस्तु स्वधा** है ।

गो०गृ० और खा०गृ०में निर्देश है कि यदि गृहस्थ की पत्नी को पुत्रप्राप्ति की कामना हो तो उसे निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए मध्यम-पिण्ड का भक्षण करना चाहिये[2] :—

---

१. श०ब्रा० २।६।१।२४, गो०ब्रा० २।१।२४, आ०श्रौ० २।१९।१८, का०श्रौ० ६।११, आप०श्रौ० ८।१५।१२ ।

२. गो०गृ० ४।३।२७ (मं०ब्रा० २।३।१६), खा०गृ० ३।५।३० ।

आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम् । यथेह पुरुषः स्यात् ।। [८४३]

हे पितरो, इस पिण्ड में उस प्रकार से कमलमालाधारी, अर्थात् अश्विन्-तुल्य कुमार गर्भ का आधान करो, जिससे कि यह पुरुष ही हो ।।

गृ० वि०

जै०गृ० (२७।२०) में यह पितरों को वस्त्र प्रदान करने के लिये विनियुक्त एक अन्य मन्त्र का अंश है । इसका स्रोत अन्त्य **स्यात्** के स्थान पर **असत्** सहित वा०सं० (२।३३) है । वा०सं० के पाठ का अनुसरण करते हुए कौशिक० (८९।६) में इसका उच्चारण पिण्ड-पितृ-यज्ञ में निर्दिष्ट है । तदनुसार यदि गृहस्थ की पत्नी को पुत्रप्राप्ति की कामना हो तो वह उसे मध्यम पिण्ड देता है । इसके गृह्य विनियोग के समानान्तर श्रौतकल्प में भी पिण्डपितृयज्ञ के अन्तर्गत यदि यजमान की पत्नी पुत्रप्राप्ति की इच्छुक हो तो उसे मध्यम पिण्ड देने के समय इसके उच्चारण का विधान है ।[1]

पिण्डपितृयज्ञ और अन्वाहार्य श्राद्ध

वस्तुतः यह श्रौत यज्ञ है । केवल गो० गृ० और कौशिक० में इसका वर्णन किया गया है । गो०गृ० के अनुसार इस यज्ञ के कर्म अन्वष्टक्य-कर्मों के बहुत समान हैं । क्योंकि इस यज्ञ के अधिकांश मन्त्र श्राद्ध-मन्त्र ही हैं, अतः ऊपर श्राद्ध मन्त्रों के अन्तर्गत उनका विवेचन हो चुका है । अन्वाहार्य श्राद्ध भी एक मासिक श्राद्ध है । परन्तु इसका सम्बन्ध भी अधिकतर श्रौतकल्प से है । इसका अनुष्ठान भी प्रायः पिण्ड-पितृयज्ञ के समान होता है और इसलिये इसमें भी उन्हीं मन्त्रों का विनियोग किया गया है ।

---

१. आ०श्रौ० २।७।१४, शां०श्रौ० ४।५।८, का०श्रौ० ४।१।३२, आप०श्रौ० १।१०।११, मा०श्रौ० १।१।२।३१ ।

द्वादश अध्याय

पशुकल्याण और कृषि से सम्बद्ध कर्म

आश्वयुजीकर्म

पशुकल्याण से सम्बद्ध वैदिक कर्मों में आश्वयुजीकर्म का विशेष महत्त्व है। यद्यपि नाम में अश्व शब्द की प्रमुखता है, तथापि इस कर्म का उद्देश्य सभी पालतू पशुओं का कल्याण है। इसका अनुष्ठान आश्वयुज अर्थात् आश्विन मास की पूर्णिमा को होता है। इसकी विशिष्ट आहुतियाँ शिव, पशुपति इत्यादि देवों को अर्पित की जाती हैं। इससे शिव का पशुपालन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्पष्ट होता है।

मा०गृ० (२।३।६) में निर्देश है कि पृषातक (दधि और आज्य का मिश्रण) की दो आहुतियां अर्पित करते समय निम्नलिखित दो मन्त्रों का उच्चारण किया जाना चाहिये :—

आ नो मित्रावरुणा घृतैर्गव्यूतिमुक्षतम्। मध्वा रजांसि सुक्रतू॥ [८४४]

प्र बाहवा सिसृतं जीवसे न आ नो गव्यूतिमुक्षतं घृतेन।
आ नो जने श्रवयतं युवाना श्रुतं मे मित्रावरुणा हवेमा॥ [८४५]

हे शोभन कर्म वाले मित्र और वरुण, जलरूप घृत के द्वारा हमारी गोचर-भूमि को और मधु के द्वारा हमारे मार्गों को सींच दीजिये। हे मित्र और वरुण, हमारे जीवन के लिये अपनी भुजाओं को फैलाइये, हमारी गोचर-भूमि को जलरूप घृत के द्वारा सब ओर से सींचिये; हे युवको, हमसे श्रुत स्तुति को सब जनों में सुनाइये! हम आपका आह्वान करते हैं।

गो०गृ० (३।८।२) में केवल प्रथम मन्त्र का विनियोग पायस की आहुतियों के लिये किया गया है। मं०ब्रा० में न होते हुए भी गो०गृ० में इसे प्रतीकेन उद्धृत किया गया है। इसका कारण सम्भवतया यह है कि गो०गृ० द्वारा इसी के साथ साथ विनियुक्त दूसरा मन्त्र (दे० आगे) सामवेद का नहीं है। वह मन्त्र मं०ब्रा० में उद्धृत है। परन्तु यह साम० (१।२२०) में विद्यमान है। उपरिलिखित दोनों मन्त्रों के यजुर्वेदीय संहिताओं में साथ साथ अस्तित्व से ऐसा प्रतीत होता है कि विनियोग के कारण वे एक दूसरे के निकट आये हैं। इस प्रसंग में यह ध्यान देने योग्य है कि

ऋग्वेद में वे पृथक् पृथक् आये हैं।[1] यह भी कम आश्चर्य की बात नहीं कि यजुर्वेदीय श्रौत सूत्रों में से केवल का०श्रौ० (१९।७।१७) और मा० श्रौ० (८।११।५) में इन्हें साथ साथ उद्धृत किया गया है। का०श्रौ० में इन्हें संयुक्त रूप से पायस्य कहा गया है, और अवभृथ इष्टि में याज्या और आनुवाक्या के रूप में विनियुक्त किया गया है। मा०श्रौ० में इनका विनियोग दाक्षायण यज्ञ में आहुति के लिये हुआ है। गृह्य कर्म का उद्देश्य गो-समृद्धि होने के कारण सम्भवतया मा०गृ० में इनका वरण विशेष रूप से किया गया है क्योंकि इनमें गोचर भूमि के उदकरूप घृत द्वारा सिंचन की प्रार्थना की गई है।

का०गृ० (५८।२) के अनुसार निम्नलिखित चार मन्त्रों का उच्चारण करते हुए पृषातक की चार आहुतियां अर्पित की जानी चाहियें :—

इह प्रजा विश्वरूपा रमन्तामस्मिन् गोष्ठे विश्वभृतो जनित्रीः।
अग्निं कुलायमभिसंवसाना अस्मानवन्तु पयसा घृतेन॥ [८४६]
यासामूधश्चतुर्बिलं मधोः पूर्णं घृतस्य च।
ता नोऽवन्तु पयस्वतीरस्मिन् गोष्ठे वयोवृधः॥ [८४७]
पृषदश्वा मरुतः पृश्निमातरः शुभंयावानो विदथेषु जग्मयः।
अग्निजिह्वा मनवः सूरचक्षसो विश्वे मा देवा अवसागमन्निह॥ [८४८]
घृतप्रतीको घृतपृष्ठो अग्निर्घृताहवनो घृतमस्य धाम।
घृतप्रुषो हरितस्त्वावहन्तु घृतं पिबन्यजताद् देव देवान्॥ [८४९]

यहाँ इस गोष्ठ में गौओं की विश्वरूप, सबका पोषण करने वाली रक्षक सन्तान क्रीड़ा करें। पशु-वर्धक अग्नि का सम्यक् आच्छादन करने वाली वे घृत और दुग्ध द्वारा हमारी रक्षा करें। जिनका दुग्धाधार चार स्तनों से युक्त, मधुरस दुग्ध और घृत से परिपूर्ण है, वे दुग्ध से युक्त, धन की वृद्धि करने वाली इस गोष्ठ में रहने वाली गौएं हमारी रक्षा करें। चितकबरे अश्वों वाले, अल्प शब्द करने वाले, पृथ्वी, आकाश अथवा वाणीरूपी माता वाले, उत्कृष्ट फल प्राप्त कराने वाले, यज्ञों में जाने वाले अग्निरूपी जिह्वा वाले, मननशील, देखने में सूर्यसदृश सबके सब मरुत्-देवता इस यज्ञ में अन्न तथा धन सहित आयें। हे अग्निदेव, आप घृत के द्वारा प्रकाशित करते हैं, आप वडवाग्नि या वैद्युताग्नि हैं, घृत की आहुति से युक्त हैं और घृत अथवा जल ही आपका स्थान है, घृत अथवा उदक को

१. ऋ० ३।६२।१६; ७।६२।५, वा०सं० २१।८,९, तै०सं०१।८।२२।३; २।५।१२.३, मै०सं० ४।११।२, का०सं० ४।१६; १२।१४।

जलाने वाली किरणें आपको ले आयें, आप घृत का पान करते हुए देवों का सत्कार कीजिये। दे०पा०

इनमें से प्रथम मन्त्र मै० सं० ४।२।१० का है। मा० श्रौ० १।८।३।३३..के अनुसार पशु की आहुति अर्पित करने से पूर्व पृषदाज्य का अवलोकन करते हुए इसका उच्चारण किया जाना चाहिये। तै० ब्रा० ३।७।४।४ और आप० श्रौ० ४।१।१० में कुलायम् के स्थान पर गृहपतिम् पाठ सहित केवल इसके प्रथम और तृतीय पाद उद्धृत किये गये हैं। वहां इस मन्त्रांश को गार्हपत्य आधान के प्रसंग में दिया गया है। इस प्रकार इसका श्रौतविनियोग भी गृह्य-विनियोग के समान अग्नि से सम्बद्ध है। द्वितीय मन्त्र किसी प्राग्-गृह्यसूत्र ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं। आ०गृ० २।१०।६ और शां०गृ० ३।६।३ में गोचर-भूमि से गौओं के लौटने पर इसके उच्चारण का विधान है। अर्थ को देखते हुए यह विनियोग अधिक सीधा प्रतीत होता है। तृतीय मन्त्र ऋ० १।८६।७, वा० सं० २५।२० और का० सं० ३५।१ में उपलब्ध है। आप० श्रौ० (१४।१६।१) के अनुसार सोम-याग से सम्बद्ध प्रायश्चित्त आहुतियाँ अर्पित करते समय अन्य मन्त्रों के साथ साथ इसका उच्चारण भी किया जाना चाहिये। इसका श्रौत-विनियोग भी गृह्य -विनियोग के समान आहुति से सम्बद्ध है। चतुर्थ मन्त्र का स्रोत का० सं० ३५।१ है। का० गृ० ३६।२ में इसका विनियोग अन्नप्राशन संस्कार में शिशु के अन्नप्राशन में भी किया गया है। परन्तु अग्नि की स्तुति होने के कारण आहुति में इसका उपर्युक्त विनियोग अधिक संगत प्रतीत होता है। आहुतियों के अतिरिक्त यदि आश्वयुजी के प्रमुख उद्देश्य (पशु-कल्याण) को ध्यान में रखा जाये तो प्रथम दो मन्त्र गौओं को सम्बोधित होने के कारण इस कर्म से सीधे सम्बद्ध प्रतीत होते हैं।

गोभिल और खादिर का विधान है कि निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए पायस की भी एक आहुति दी जानी चाहिए[४]:—

मा नस्तोके तनये मा न आयौ मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः।
वीरान् मा नो रुद्र भामितो वधीर्हविष्मन्तः सदमित्त्वा हवामहे ॥ [८५०]

हे रुद्र, हमारे पौत्रादि, पुत्रों, आयु, गौओं तथा घोड़ों के प्रति हिंसा न करो। हमारे पराक्रमी तथा वर्चस्वी मनुष्यों का वध न करो जिससे हम सदा ही यज्ञ करते हुए तुम्हारा आह्वान करें। गु० स्वा०

शां० गृ० (५।१०।२) के अनुसार यदि मधुमक्खियां घर में अपना छत्ता

---

४. गो०गृ० ३।८।२ (मं० ब्रा० २।१।८-'भामितः' के स्थान पर 'भामिनः'), खा० गृ० ३।३।२।

बनाने लगें तो उनके निवारणार्थ आहुतियों में से एक के साथ इसका उच्चारण किया जाना चाहिये। यह मन्त्र ऋग्वेद और यजुर्वेद संहिताओं में विद्यमान है।[1] का०सं० के अतिरिक्त अन्य सभी यजुर्वेदीय संहिताओं में आयौ के स्थान पर आयुषि पाठ है। उनमें अन्य गौण पाठान्तर भी हैं। यह मन्त्र शतरुद्रिय स्तोत्र का अंश है। तै०ब्रा०, तै०आ० तथा मा० श्रौ० में इसका विनियोग सामान्यतया आहुतियों के लिये किया गया है।[2] गृह्यसूत्रों में उपर्युक्त दोनों विनियोगों का आधार सम्भवतया मन्त्र में विद्यमान सामान्य कल्याण की तथा रक्षा की प्रार्थना है।

गो० गृ० (३।८।५) और खा० गृ० (३।३।५) में आगे चलकर यह निर्देश किया गया है कि कर्ता को सुप्रसिद्ध **तच्चक्षुः** इत्यादि (ऋ० ७।६६।१६) मन्त्र का उच्चारण करते हुए पृषातक का अवलोकन करना चाहिये। इस मन्त्र का विस्तृत विवेचन उपनयन में किया जा चुका है।(दे०मं०सं० ५४७)

शां० गृ० (४।१६।३) में पृषातक की आहुतियों के लिये सम्पूर्ण सूक्त ऋ० ६।२८ का विनियोग किया गया है। उस सूक्त का प्रथम मन्त्र यह है :—

आ गावो अग्मन्नुत भद्रमक्रन्त्सीदन्तु गोष्ठे रणयन्त्वस्मे।
प्रजावतीः पुरुरूपा इह स्युरिन्द्राय पूर्वीरुषसो दुहानाः॥ [८५१]

ये गौएं लौट आई हैं और इन्होंने कल्याण किया है। अब ये इस गोष्ठ में रहें और हमें आनन्दित करें। सन्तानसहित ये उसी प्रकार यहां विविधरूप वाली हों जैसे पूर्व दिशा में प्रकाश उत्पन्न करने वाली उषाएं इन्द्र के लिए होती हैं।

आद्य शब्दों के आधार पर इस सूक्त को **आगावीय** नाम दिया गया है और आ०गृ० (२।१०।७) में इसका विनियोग गौओं के गोचर भूमि से लौटने पर उच्चारणार्थ किया गया है। इसी प्रसंग में शां०गृ० (३।९।३) में इस सूक्त के केवल प्रथम मन्त्र का विनियोग किया गया है। अथर्व० (४।२१) में स्वल्प पाठभेद सहित इस सूक्त के प्रथम सात मन्त्र हैं। तै० ब्रा० (२।८।८।११-१२) और आप०श्रौ० (१९।१६।१८) में इस समस्त सूक्त का विनियोग उपहोमों में किया गया है। क्योंकि सर्वानुक्रमणी के अनुसार इस सूक्त की अधिष्ठातृदेवता गौएं हैं, अतः उचित रूप में ही इसका गृह्य-विनियोग गौओं से सम्बद्ध है।

---

१. ऋ० १।११४।८, वा० सं० १६।१६. तै० सं० ३।४।११।२; ४।५ १०।३, मै०सं० ४।१२।६, का० सं० २३।१२।

२. तै०ब्रा० २।८।६।९, तै० आ० १०।५३, मा० श्रौ० ११।२।९।

आ०गृ० २।२।३ और पा०गृ० २।१६।३ के अनुसार पृषातक की आहुति के निमित्त निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण किया जाना चाहिये :—

ऊनं मे पूर्यतां पूर्णं मे मोपसदत् पृषातकाय स्वाहा। [८५२]

मेरी कमी पूर्ण हो, मेरी पूर्णता नष्ट न हो, यह आहुति पृषातक को।

पा०गृ० में **पूर्णं मे** के पश्चात् केवल **मा विगात् स्वाहा** पाठ दिया गया है। यह मन्त्र किसी प्राग्-गृह्यसूत्र ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं।

पा०गृ० (२।१६।४) में विधान है कि **आ यात्विन्द्रः** प्रभृति अनुवाक का पाठ करते हुए घर के सदस्यों को दधि मधु घृत से मिश्रित पायस का अवलोकन करना चाहिये। भाष्यकारों के अनुसार इस अनुवाक के अन्तिम शब्द **यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः** हैं। तदनुसार वा०सं० २०।४७-५४ के मन्त्र मिलकर यह अनुवाक बनता है। इस अनुवाक का प्रथम मन्त्र यह है :—

आ यात्विन्द्रोऽवस उप न इह स्तुतः सधमादस्तु शूरः।
वावृधानस्तविषीर्यस्य पूर्वीर्द्यौर्न क्षत्रमभिभूति पुष्यात् ॥ [८५३]

इन्द्र हमारी रक्षा के लिए हमारे पास आये, स्तुति किये जाने पर वह वीर यहाँ हमारे साथ आनन्द ले। उसकी पुरातन शक्तियों की अभिवृद्धि करता हुआ आकाश हमारे बल के अभिभव को पुष्ट न करे।

इस अनुवाक का यह मन्त्र ऋ० ४।२१।१ में भी है। का०श्रौ० १६।६।१३ में इस अनुवाक के मन्त्रों का उद्धरण विभिन्न आहुतियों की याज्याओं और पुरोनुवाक्याओं के रूप में किया गया है। इन मन्त्रों में सब ओर से रक्षा की कामना की गई है। आश्वयुजी में इनके विनियोग का कोई विशिष्ट आधार नहीं दृष्टिगोचर होता।

का०गृ० (५८।३) के निर्देशानुसार गौओं को लवण देते हुए अधोलिखित मन्त्र का उच्चारण किया जाना चाहिये :—

अम्भः स्थाम्भो वो भक्षीय महःस्थ महो वो भक्षीयोर्जः स्थोर्जं वो भक्षीय रायस्पोषः स्थ रायस्पोषं वो भक्षीय, रेवती रमध्वमस्मिंन् योनावस्मिन् गोष्ठेऽयं वो बन्धुरितो मापगात मा मा हासिष्ट बह्वीर्मे भवत [८५४]

तुम जल हो, जलरूप तुम्हारा मैं उपभोग करूँ, तुम महत्ता हो, महत्तारूप तुम्हारा मैं उपभोग करूँ, तुम रस हो, रसरूप तुम्हारा मैं उपभोग करूँ, तुम धन की पुष्टि हो, धन की पुष्टि के रूप में तुम्हारा मैं उपभोग करूँ, हे धनवती, तुम इस घर में, इस गोष्ठ में आनन्द प्राप्त करो, यह (मैं) तुम्हारा बन्धु हूँ, यहाँ से न जाओ, मुझे मत छोड़ देना, मेरे लिए बहुसंख्यक हो जाना।

मा०गृ० (२।३।६) में **ऊर्जः** से पूर्व **सहःस्थ वो भक्षीय** का समावेश किया गया है। इस गृह्यसूत्र में इस मन्त्र का विनियोग गौओं को खिलाने मात्र के लिये किया गया है। क्या विशेष पदार्थ खिलाया जाय, इसका उल्लेख नहीं है। का०गृ० में उद्धृत इस मन्त्र का पाठ का०सं० (७।१,६,७) और मै०सं० (१।५।२,९) के इसके पाठ के ठीक समान है। मा० गृ० में **सहःस्थ** इत्यादि शब्दों का समावेश सम्भवतया तै० सं० (१।५।६।१, ८।१) के अनुकरण पर किया गया है क्योंकि उसमें भी ये शब्द विद्यमान हैं। यह मन्त्र वा०सं० (३।२०, २१) में भी दिया गया है। वहाँ **अम्भः** के स्थान पर **अन्धः** पाठ है।[1] तदनुसार अर्थ भी जल के स्थान पर **अन्न** हो जायेगा। मन्त्रस्थ गोष्ठ शब्द इस बात का परिचायक है कि यह मन्त्र गौओं को सम्बोधित है। सम्भवतया इसीलिये श्रौतसूत्रों में गार्हपत्योपासना में विनियुक्त होने पर भी किसी न किसी प्रकार इसका सम्बन्ध गौओं से जोड़ा गया है। शां० श्रौ० (२।११।६) और का० श्रौ० (४।१२।५) के अनुसार इसका पाठ करते हुए यजमान को गौ के पास जाना चाहिये। आप०श्रौ० (६।१७।२) में विधान है कि उसे गोष्ठ के पास खड़े होकर इसका पाठ करना चाहिये। मा०श्रौ० (१।६।२।८) के मतानुसार उसे वत्स का स्पर्श करते हुए इसका उच्चारण करना चाहिये। स्पष्ट है कि गौओं के साथ इसके अर्थगत तथा परम्परागत सम्बन्ध के आधार पर ही गृह्यसूत्रों में गौओं के कल्याण से सम्बद्ध आश्वयुजी कर्म में इसका विनियोग किया गया है।

वृषोत्सर्ग

जैसा कि नाम से स्पष्ट है, यह कर्म प्रजनन के निमित्त वृषभ को खुला छोड़ने से सम्बद्ध है। शां०गृ० ३।११।४ और पा०गृ० ३।९।४ में विधान है कि गौओं के मध्य अच्छी प्रकार से अग्नि प्रज्वलित करके और पूषा देवता को उद्दिष्ट चरु (यज्ञान्न) दूध से तैयार करके गृहस्थ को **इह रतिः** इत्यादि मन्त्रों का उच्चारण करते हुए सर्वप्रथम अग्नि में आज्याहुतियाँ अर्पित करनी चाहियें। इन मन्त्रों का विस्तृत विवेचन चतुर्थ अध्याय में किया जा चुका है। (दे०मं०सं० २४४-२५८)

शां०गृ० (३।११।५), पा०गृ० (३।९।५) और का०गृ० (५९।२) में निर्देश है कि उपर्युक्त पौष्ण्य (पूषा से सम्बद्ध) चरु की आहुति के साथ निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण किया जाना चाहिये :—

पूषा गा अन्वेतु नः पूषा रक्षत्वर्वतः। पूषा वाजं सनोतु नः॥ [८५५]

---

१. **अन्धः** का अर्थ अन्न होने के कारण यह पाठ अधिक स्वाभाविक लगता है। दे० कीथ, तै०सं० (अनु०) पृ० ७४, पा० टि० ४।

पूषा हमारी गौओं का अनुगमन करे अर्थात् उनकी रक्षा करे, पूषा हमारे अश्वों की रक्षा करे। पूषा हमें गति प्रदान करे ॥

का० गृ० के अनुसार यह आहुति आज्याहुतियों से पूर्व अर्पित की जानी चाहिये। शां० गृ० में एक अन्य स्थल (३।९।१) पर तथा हि० गृ० (१।१८।१) में गौओं के गोचरभूमि की ओर प्रस्थान करने के समय इसके उच्चारण का विधान है। परन्तु यह ध्यान देने योग्य बात है कि इस प्रसंग में और वृषोत्सर्ग में भी इसके उच्चारण का उद्देश्य गोधन का कल्याण ही है। तै०ब्रा०२।४।१।५ पर अपने भाष्य में सायण द्वारा उद्धृत बौ० श्रौ० के अनुसार भी इसका उच्चाण वृषोत्सर्ग के अवसर पर अन्न की आहुति के साथ किया जाना चाहिये। यही इसके गृह्यविनियोग का आधार प्रतीत होता है। यह मन्त्र ऋग्वेद और कृष्ण यजुर्वेद की संहिताओं में उपलब्ध है।[1] ऋग्वेद के जिस सूक्त में यह मन्त्र है उसका देवता पूषा है। इसी प्रकार का० सं० में भी इसके आस पास के कुछ मन्त्र पूषा को सम्बोधित हैं। परन्तु तै०सं० और मै० सं० में इसके पूर्व या पश्चात् पूष-देवताक मन्त्र नहीं दिये गये।

शां० गृ०, पा० गृ० और का० गृ० में विधान है कि इन आहुतिओं के पश्चात् कर्ता को

रुद्रों [८५६]

अर्थात् रुद्रसम्बन्धी अनुवाकों अथवा मन्त्रों का जाप करना चाहिये।[2] गृह्यसूत्रों के ही शब्दों में **रुद्रान् जपति**। **रुद्रान्** के अभिप्राय के विषय में इन गृह्यसूत्रों में मतभेद है। शांख्यायन गृह्यसंग्रह के अनुसार रुद्रों से अभिप्राय ऋ० १।४३।११४;२।३३ और ७।४६ सूक्तों का है। पा० गृ० के अधिकांश भाष्यकारों के मतानुसार इस शब्द का आशय **नमस्ते** इत्यादि शब्दों से आरम्भ होने वाले वा० सं० के षोडश अध्याय के रुद्र-सम्बन्धी मन्त्र हैं।[3] किन्तु विश्वनाथ ने **रुद्रम्** (एकवचनान्त) पाठ दिया है और इसकी व्याख्या **रुद्रम् अध्यायम्** की है। उसीका भी अर्थ वही है। का० गृ० के भाष्यकार देवपाल ने **रुद्रान्** को का० सं० १७।११-१६ के छः अनुवाक बताया है।[4] ये अनुवाक लगभग वा० सं० का अध्याय ही हैं। वृषोत्सर्ग में इन रुद्रसम्बन्धी मन्त्रों के विनियोग का कारण यह प्रतीत होता है कि वा० सं० के एक मन्त्र (१६।१७) में

---

१. ऋ० ६।५४।५, तै०सं० ४।१।११।२, मै०स० ४।१०।३;११।१, का०सं० ४।१५; २०।१५।

२. शां० गृ० ३।११।६, पा० गृ० ३।९।६, का० गृ० ५९।४।

३. दे० हरिहर—नमस्त इत्यध्यायाम्नातान् जपित्वा ॥

४. दे० देवपाल—रुद्राभिधान् षडनुवाकान् ॥

रुद्र का एक विशेषण **पशूनां पतिः** दिया गया है। इसके अतिरिक्त एक अन्य कारण यह भी प्रतीत होता है कि वेद में प्रायः इस देवता को दिव्य भिषक् कहा गया है। (**भिषक्तमं त्वा भिषजां शृणोमि**— ऋ० २।३३।४)

इसके पश्चात् कर्ता को पशुसमूह में से सर्वोत्कृष्ट वृषभ लेकर उसे चार श्रेष्ठ युवती गौओं के मध्य निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए खुला छोड़ देना चाहिये[1] :—

एतं युवानं पतिं वो ददामि तेन क्रीडन्तीश्चरथ प्रियेण।
मा नः साप्तजनुषाऽसुभगा रायस्पोषेण समिषा मदेम ॥ [८५७]

मैं तुम्हें इस युवक वृषभ को पतिरूप में देता हूँ, उस प्रिय के साथ क्रीड़ा करती हुई तुम विचरण करो। हमारे इस स्थान में तुम सात जन्मों से सम्बद्ध अपने पति से सौभाग्यविहीन न होना (और उसके फलस्वरूप) हम धन की पुष्टि और अन्न के द्वारा आनन्दित हों॥ ज०रा०

मन्त्र का उपरिलिखित पाठ पा०गृ० में से उद्धृत है। तै०सं० (३।३।९।१) के पाठ के यह बहुत समान है, केवल भेद यह है कि वहाँ **पतिम्** के स्थान पर **परि**, **चरथ** के स्थान पर **चरत** पाठ है, **साप्तजनुषा** का विच्छेद **शाप्त जनुषा** के रूप में किया गया है तथा **असुभगा** के स्थान पर **सुभगा** पाठ है। का०गृ० में पूर्वार्ध में **तेन** के स्थान पर **अनेन** पाठ है और उत्तरार्ध **मा हास्महि प्रजया मा तनूभिर्मा रधाम द्विषते सोम राजन्** है। शां०गृ० में तृतीय पाद **मा वश्वात्र जनुषा संविदाना** है। यह पाद भ्रष्ट प्रतीत होता है। पा०गृ० का पाठ भी तै०सं० के पाठ का भ्रष्टरूप प्रतीत होता है। ओल्डनबर्ग ने भी यही मानते हुए इसका अनुवाद इस प्रकार किया है—'हे स्वभावतः सौभाग्यवती गौओ, हमें शाप न दो।' शां०गृ० और पा०गृ०, दोनों में इस पाद के प्रथम चार अक्षरों के स्थान पर उसने **मावस्थात** (हमें न छोड़ो) पाठ का भी सुझाव दिया है। परन्तु पा० गृ० के भाष्यकार जयराम ने तनिक भी पाठान्तर किये बिना इस पाद की पर्याप्त सन्तोषजनक व्याख्या की है।[2]

कौशिक० (२४।२१) में पुराने वृषभ के स्थान पर नये को खुला छोड़ने के अवसर पर उपरिविवेचित मन्त्र के बहुत समान निम्नलिखित मन्त्र (अथर्व० ९।४।२४) के उच्चारण का विधान किया गया है :—

---

१. शां० गृ० (कौ०गृ०) ३।११।१४, पा० गृ० ३।९।६, का० गृ० ५९।५।
२. **नोऽस्माकं स्थाने साप्तजनुषा सप्तजन्मसम्बद्धेन पत्या सह असुभगा मा भवतेति शेषः।**

एतं वो युवानं प्रति दध्मो अत्र तेन क्रीडन्तीश्चरत वशाँ अनु ।
मा नो हासिष्ट जनुषा सुभागा रायश्च पोषैरभि नः सचध्वम् ॥ [८५८]

इस युवा वृषभ को तुम्हारे प्रति हम यहाँ धारण करते हैं, उसके साथ क्रीड़ा करती हुई तुम वत्सों के पीछे-पीछे विचरण करो। हे सौभाग्यवतियो, हमें जीवन से हीन न करो और धन की पुष्टि से हमारी सेवा करो ॥

इस मन्त्र और पूर्ववर्ती मन्त्र का गृह्यविनियोग आप० श्रौ० (९।१९।१३; १९।१७।२) के विनियोग के समान है क्योंकि वहाँ पशुयाग में पुराने वृषभ को स्थानान्तरित करने के लिए नये वृषभ को खुला छोड़ने के अवसर पर इसके उच्चारण का विधान है।

का०गृ० (५९।६) में विधान है कि वृषभ के दक्षिण कर्ण में निम्नलिखित मन्त्र का जाप किया जाना चाहिये :—

पिता वत्सानां पतिरघ्न्यानामथो पिता महतां गर्गराणाम् ।
रेतोधां त्वा यशोधां रायस्पोषायोत्सृजे ॥ [८५९]

हे वृषभ, तुम वत्सों के पिता अर्थात् जनक हो, अवध्यों (गौओं) के पति हो और विशाल (दही आदि से परिपूर्ण) गागरों के उत्पादक हो। अतः वीर्य तथा यश के विधाता तुम्हें मैं धन की पुष्टि के निमित्त खुला छोड़ता हूँ ॥ (दे०पा०)

इस मन्त्र का सीधा स्रोत मै०सं०(४।२।१०)प्रतीत होता है क्योंकि वहाँ पाठ बहुत समान है। केवल भेद **अथो** के स्थान पर **उतायम्** और **उत्सृजे** के स्थान पर **उत्सृजेत्** है। मै०सं० के **उत्सृजेत्** (विधि०) से प्रकट है कि मूलरूप में यह मन्त्र, विधि-वाक्य था, परन्तु गृह्यसूत्रों में इसे प्रार्थना के रूप में परिणत कर दिया गया है। अथर्व० तथा कृष्णयजुर्वेदीय संहिताओं में मन्त्र का पूर्वार्ध ही इसके पूर्वार्ध के ठीक समान है।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि अथर्व० के जिस सूक्त में यह मन्त्र विद्यमान है, वह सम्पूर्ण सूक्त मूलरूप में इस कर्म से ही सम्बद्ध रहा होगा। इस तथ्य की पुष्टि कौशिक० (२४।१९) द्वारा वृषोत्सर्ग के आरम्भ में आहुतियों के लिए इस सम्पूर्ण सूक्त के विनियोग से भी होती है। पूर्ववर्ती मन्त्र के समान ही इस मन्त्र का गृह्य-विनियोग भी आप०श्रौ० के विनियोग के समान है। किन्तु इसके गृह्य-विनियोग का मूल स्रोत मा०श्रौ० (९।५।६।१६) प्रतीत होता है क्योंकि वहाँ भी खुला छोड़े जाने वाले वृषभ के दक्षिण कर्ण में ही इसके जाप का विधान है।

---

१. अथर्व०९।४।४, तै०सं० ३।३।९।२, मै० सं० २।५।१०, का० सं० १३।९।

शां० गृ० ३।११।१५ और पा० गृ० ३।९।७ में निर्देश है कि जब वृषभ गौओं के मध्य खड़ा हो तो उसका अभिमन्त्रण

मयोभूः इत्यादि [८९०]

से लेकर अनुवाक के अन्त तक के मन्त्रों द्वारा किया जाना चाहिये। शां०गृ० के अनुसार इन शब्दों से ऋ० १०।१६९ इत्यादि का तथा पा० गृ० के अनुसार वा० सं० १८।४५-५० का संकेत प्राप्त होता है। ओल्डनबर्ग के मतानुसार पा० गृ० का संकेत भी ऋ० मन्त्रों के प्रति होना चाहिये, क्योंकि एक ओर जहाँ वा० सं० में **मयोभूः** इत्यादि शब्द किसी मन्त्र के प्रारम्भ में नहीं हैं, वहाँ दूसरी ओर वा०सं० के सब मन्त्रों का वृषोत्सर्ग से सम्बन्ध लक्षित नहीं होता। इसके अतिरिक्त **अनुवाकशेषेण** का प्रतिबन्ध भी ऋ० में ठीक घटता है क्योंकि वहाँ भी **मयोभूः** इत्यादि शब्द अनुवाक के मध्य आते हैं। इस दृष्टि से इन शब्दों से तै०सं० ७।४।१७ के प्रति भी संकेत प्रतीत नहीं होता क्योंकि वहाँ ये शब्द अनुवाक के आरम्भ में हैं।[1] ऋग्वेद के उपरिनिर्दिष्ट अनुवाक का विस्तार दशम मण्डल के अन्त तक है। इस अनुवाक के अन्तर्गत मन्त्रों का भी वृषोत्सर्ग से कोई स्पष्ट सम्बन्ध नहीं है। हां केवल प्रथम सूक्त के मन्त्रों (१०।१६९।१-४) का सम्बन्ध पशुकल्याण से अवश्य है। और शांखायन गृह्यसंग्रह के रचयिता वासुदेव ने एक अन्य पाठ भी दिया है जिसके अनुसार केवल ऋ०१०।१६९ का उच्चारण किया जाना चाहिये।[2] गृह्यसूत्रों में अन्यत्र भी पशुकल्याण से सम्बद्ध कर्मों में इसके मन्त्रों का विनियोग किया गया है। शां० गृ० (३।९।५) में गौओं के गोष्ठों में प्रवेश करने के समय इसके उच्चारण का विधान है। आ० गृ० (२।१०।५,६) के अनुसार प्रथम दो मन्त्रों का उच्चारण गौओं के गोचरभूमि की ओर प्रस्थान के समय तथा अन्तिम दो का उनके वहाँ से लौटने के समय किया जाना चाहिये। तै०ब्रा (३।८।१८।४) में इस सूक्त के मन्त्रों को

गव्यः [८९१]

नाम दिया गया है क्योंकि वहाँ पशु-प्राप्ति के लिये उद्दिष्ट गव्यहोम में इनका विनियोग किया गया है। उपर्युक्त **अनुवाक** के सम्बन्ध में ई० डब्ल्यू० फेय् के मत का उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा। उसके अनुसार यहाँ वर्तमान संहिता के अतिरिक्त किसी अन्य अनुवाकों में विभाजित ऋक् संहिता के प्रति संकेत है। उसके शब्दों में, "अतः हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि सूत्ररचनाकाल में १०।१६९ सूक्त संहिता के अन्त के अधिक निकट था।" उसका एक और सुझाव भी है। "शां०गृ० और पा०गृ० दोनों

१. से० बु० ई० खं० ३०, पृ० xxxviii
२. अपरे त्वेवं पठन्ति "मयोभूर्वात" इति सूक्तेनैतेषां चतसृभिः ऋग्भिरनुमन्त्रणं भवति ॥

ने ही अब अविद्यमान किसी सूत्र ग्रन्थ से समानरूपेण उद्धरण किया है या फिर उनमें किसी ऐसी मौलिक यज्ञ-पद्धति का संकेत है जो कभी लिपिबद्ध नहीं हुई।" उसका कहना है कि यह परम्परा तै० सं० (७।४।१७-२२) में प्रतिबिम्बित होती है; और सम्भवतया इन दोनों गृह्यसूत्रों ने यहीं से उद्धरण किया है।[1] परन्तु केवल इसी के आधार पर विद्वान् लेखक द्वारा स्वयं दिये गये सुझाव अनावश्यक लगते हैं क्योंकि यह देखने में आता है कि प्राय: औचित्य के लिये गृह्यसूत्र अपनी शाखासे भिन्न शाखा में से भी मन्त्र उद्धृत करने में संकोच नहीं करते।

बौढ्यविहार

यह कर्म पर्णविहार अथवा क्षेत्रपति यज्ञ के नाम से भी प्रसिद्ध है। इसका अनुष्ठान शूलगव के तत्काल पश्चात् किया जाता है। कुछ भाष्यकारों के अनुसार यह उसी कर्म का अंग है। आपस्तम्ब ने विधान किया है कि ओदन के अवदानों के साथ दो दो पत्तों को दिव्य गणों में निम्नलिखित मन्त्रों में से एक एक का उच्चारण करते हुए वितरित करना चाहिये[2] :—

गृहपोप स्पृश गृहपाय स्वाहा॥ गृहप्युप स्पृश गृहप्यै स्वाहा॥ घोषिण उपस्पृशत घोषिभ्य स्वाहा। श्वासिन उप स्पृशत श्वासिभ्य स्वाहा॥ विचिन्वन्त उप स्पृशत विचिन्वद्भ्य स्वाहा। प्रपुन्वन्त उप स्पृशत प्रपुन्वद्भ्य स्वाहा॥ समश्नन्त उप स्पृशत समश्नद्भ्य स्वाहा॥ [८६२-८६८]

हे गृहरक्षक, इनका स्पर्श करो, गृहरक्षक को स्वाहा॥ हे गृहरक्षिका इनका स्पर्श करो, गृहरक्षिका को स्वाहा॥ हे घोषकरने वालो इनका स्पर्श करो, घोष करने वालों को स्वाहा॥ हे श्वास लेने वालो, इनका स्पर्श करो, श्वास लेने वालों को स्वाहा॥ हे चयन करने वालो, इनका स्पर्श करो, चयन करने वालों को स्वाहा॥ हे पवित्र करने वालो, इनका स्पर्श करो, पवित्र करने वालों को स्वाहा॥ हे सह-भक्षियो, इनका स्पर्श करो, सहभक्षियों को स्वाहा॥

आगे चलकर आपस्तम्ब ने एक एक करके निम्नलिखित दोनों मन्त्रों का पाठ करते हुए दिव्यगणों को दस दस पत्ते दो बार वितरित करने का विधान किया है[3] :-

---

१. ऋ० मन्त्रज् इन दि गृह्यसूत्रज्, पृ० ८-१०।
२. आप० गृ० ७।२०।५ (मं० पा० २।१८।३३-३९)
३. आप० गृ० ७।२०।५ (मं० पा० २।१८।४०-४१)

देवसेना उपस्पृशत देवसेनाभ्य स्वाहा ॥ [८६९]

या अख्याता याश्चानाख्याता देवसेना उप स्पृशत देवसेनाभ्य स्वाहा॥ [८७०]

हे देवसेनाओ, इनका स्पर्श करो, देवसेनाओं को स्वाहा ॥ जो देवसेनाएँ प्रसिद्ध हैं, और जो देवसेनाएँ प्रसिद्ध नहीं हैं, वे आप इनका स्पर्श करो, देवसेनाओं को स्वाहा ॥

पुन: यह निर्देश है कि एक एक करके निम्नलिखित मन्त्रों का उच्चारण करते हुए दिव्यगणों को दो दो पत्ते वितरित किये जाने चाहियें :-

द्वारापोप स्पृश द्वारापाय स्वाहा ॥ द्वाराप्युप स्पृश द्वाराप्यै स्वाहा ॥ अन्वासारिण उप स्पृशतान्वासारिभ्य स्वाहा ॥ निषङ्गिन्नुप स्पृश निषङ्गिणे स्वाहा ॥ [८७१-८७४]

हे द्वाररक्षक इनका स्पर्श करो, द्वाररक्षक को स्वाहा ॥ हे द्वाररक्षिका ...... ॥ हे अनुसरण करने वालो ...... ॥ हे निषङ्गधारी ...... ॥ [1]

हि०गृ० (२।९।२-४) में भी पत्तों के वितरण के लिए इसी प्रकार के मन्त्रों का विनियोग किया गया है। तदनुसार सर्वप्रथम उपरिलिखित मन्त्रों में से प्रथम दो, दशम और एकादश मन्त्रों का उच्चारण करते हुए चार-चार पत्ते वितरित किये जाने चाहियें। इसमें **द्वाराप** और **द्वारापि** के स्थान पर क्रमश: **द्वारप** और **द्वारपि** पाठ है। यह पाठ अधिक बोधगम्य है। कुछ और पत्तों के वितरणार्थ तृतीय, त्रयोदश, द्वादश, षष्ठ, पञ्चम और सप्तम मन्त्रों का विनियोग किया गया है। षष्ठ मन्त्र में **प्रपुन्वन्तः** के स्थान पर **प्रयुन्वन्त:** पाठ है। अन्त में हि०गृ० में आप०गृ० के समान ही अष्टम और नवम मन्त्रों का उच्चारण करते हुए दो बार दस-दस पत्तों के वितरण का निर्देश किया गया है। नवम मन्त्र में इसमें **उपस्पृशत** से पूर्व **देवसेना:** का अभाव है और इसके पश्चात् **देवसेनाभ्यः** के स्थान पर **ताभ्य:** पाठ है। भा०गृ० (२।९) में भी पत्तों के वितरण के लिए हि०गृ० के समान ही मन्त्रों का विभाजन किया गया है। किन्तु इसमें अन्त में **द्वाराप** और **द्वारापि** आप०गृ० के समान ही है। आरम्भ में तृतीय और चतुर्थ पत्तों के वितरण के लिये इसमें निम्नलिखित मन्त्र उद्धृत किया गया है :—

जयन्तोप स्पृश जयन्ताय स्वाहा ॥ [८७५]

शूलगव में ओदन के अवदानों का जयन्त द्वारा स्पर्श कराने के लिये भी भा०गृ०, आप०गृ० और हि०गृ० द्वारा इसका विनियोग किया गया है। भा०गृ० में द्वादश मन्त्र (**अन्वासारिण: इत्यादि**) का अभाव है और हि०गृ० द्वारा त्यक्त **श्वासिनः**

---

१. आप० गृ० ७।२०।६ (मं० पा० २।१८।४२-४५)

इत्यादि चतुर्थ मन्त्र लिया गया है। षष्ठ मन्त्र में भा०गृ० में प्रपुन्वन्तः के स्थान पर प्रचिन्वन्तः पाठ है। वस्तुतः इस मन्त्र के सबसे अधिक पाठान्तर हैं। विन्तरनित्स ने अन्य पाण्डुलिपियों में से दो और पाठान्तर प्रपुण्वन्तः तथा प्रपिन्वन्तः दिये हैं। कहीं-कहीं पर इस आद्य शब्द के पश्चात् शोधयन्तः अथवा शोभवन्तः शब्द भी आता है।[1] इनमें से अधिकांश मन्त्रों की तुलना शूलगव में विनियुक्त श्वासिनीः इत्यादि मन्त्रों से की जा सकती है। (दे०मं०सं० १०५६)

हि०गृ० (२।६।५) में विधान है कि निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए ओदन-राशि से परिपूर्ण पर्णमञ्जूषा को किसी वृक्ष पर लटका देना चाहिये :—

निषङ्गिण उपस्पृशत निषङ्गिभ्यः स्वाहा ।। [८७६]

हे निषङ्गधारियो, इनका स्पर्श करो, निषङ्गधारियों को स्वाहा ।।

इस मञ्जूषा को लटकाने के लिये आपस्तम्ब और भारद्वाज ने इस मन्त्र का विनियोग किया है[2] :—

नमो निषङ्गिण इषुधिमते ।। [८७७]

धनुष से युक्त धनुर्धारी को नमस्कार ।।

किन्तु हि० गृ० (२।६।६) में इसका विनियोग इस मञ्जूषा के सम्मुख उपासना के लिये किया गया है। इसमें इसके आगे तस्कराणां पतये नमः शब्द भी जोड़े गये हैं।

भा०गृ० (२।१०) के अनुसार कर्ता को निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए अपनी गौओं पर चन्दन तथा अन्य विशिष्ट पदार्थों से मिश्रित जल छिड़कना चाहिये :—

शिवं गोभ्यः शिवं गोपतये ।। [८७८]

गौओं का कल्याण हो, गौओं के स्वामी का कल्याण हो ।।

इसी क्रिया के लिये हि०गृ० (२।६।७) में यह मन्त्र दिया गया है :—

शिवो भव शिवो भव ।। [८७९]

कल्याणकर हो जाओ, कल्याणकर हो जाओ ।।

बौढ्यविहार में प्रयुक्त उपर्युक्त मन्त्रों में से कोई भी अन्यत्र प्राप्य नहीं है। देवगणों के विचित्र नामों से यह प्रायः स्पष्ट है कि ये ही आगे चलकर शिव अथवा

---

१. मं०पा०, पृ० ७१ पर पा०टि०।

२. आप०गृ० ७।२०।७ (मं०पा० २।१८।४६), भा०गृ० २।६।

रुद्र के गण के रूप में प्रसिद्ध हो गये। ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल में रुद्र अथवा शिव के विशेष महत्त्व[1] के साथ-साथ उसके गणों की कल्पना का प्रादुर्भाव भी हो रहा था।

भा०गृ० (२।१०) में आगे चलकर यह विधान है कि एतं युवानम् इत्यादि पाँच मन्त्रों का उच्चारण करते हुए अवशिष्ट जल वृषभ पर डाल दिया जाना चाहिये। सम्भवतया यहाँ भारद्वाज का संकेत तै०सं० (३।३।९) के सम्पूर्ण अनुवाक के प्रति है। इस अनुवाक के प्रथम मन्त्र एतं युवानम् इत्यादि और चतुर्थ मन्त्र पिता वत्सानाम् इत्यादि का विनियोग वृषोत्सर्ग में भी हुआ है। अतः उन दोनों का विस्तृत विवेचन उस कर्म के अन्तर्गत किया जा चुका है (दे० मं० सं० ८५७, ८५९)। उस अनुवाक के शेष तीन मन्त्र निम्नलिखित हैं :—

नमो महिम्न उत चक्षुषे ते मरुतां पितस्तदहं गृणामि।
अनु मन्यस्व सुयजा यजाम जुष्टं देवानामिदमस्तु हव्यम्॥ [८८०]
देवानामेष उपनाह आसीदपां गर्भ ओषधीषु न्यक्तः।
सोमस्य द्रप्समवृणीत पूषा बृहन्नद्रिरभवत् तदेषाम्॥ [८८१]
त्वां गावोऽवृणत राज्याय त्वां हवन्त मरुतः स्वर्काः।
वर्ष्मन् क्षत्रस्य ककुभि शिश्रियाणस्ततो न उग्रो विभजा वसूनि॥ [८८२]

हे मरुतों के पिता, आपकी महिमा और चक्षु अर्थात् तेज के लिये मैं यह नमोवचन कहता हूँ। आप हमें अनुमति दीजिये जिससे हम शोभन विधि से यज्ञ करें, हमारी यह आहुति देवताओं को प्रिय हो॥ ओषधियों में अभिषिक्त यह जल का गर्भ देवों का परस्पर-बन्धक था। (इसीलिये) पूषा ने सोम के रस का वरण किया और वह उनका महान् पर्वत (अर्थात् दृढ़ संयोजक) हो गया॥ गौओं ने आपका वरण किया, शोभन गायक मरुतों ने आह्वान करके राज्य के निमित्त आपका वरण किया, इस प्रकार बल के शक्तिशाली शिखर पर अधिश्रित आप हमें उग्र (स्थिर) धन वितरित कीजिये॥

प्रथम मन्त्र को छोड़कर इस अनुवाक के सभी मन्त्र मै०सं० (२।५।१०) में विद्यमान हैं। का०सं० (२३।९) में इसके केवल दो से चार तक मन्त्र हैं। अथर्व० ९:४।४, ५ इस अनुवाक के तृतीय और चतुर्थ मन्त्र हैं तथा पञ्चम मन्त्र कुछ पाठभेद सहित अथर्व० ३।४।२ है। तै० सं० के इस अनुवाक में मन्त्रों का विशेष क्रम मूल-रूपेण पशुसम्बन्धी कर्म को ध्यान में रखकर निश्चित किया गया होगा। इस बात की पुष्टि आप० श्रौ० ९।१९।१३ और मा० श्रौ० ३।५।१८ के उस विनियोग से भी

१. इं० वै० कल्प०, पृ० ४६५।

होती है जिसके अनुसार किसी सगर्भ पशु की बलि के पश्चात् इसके द्वारा उपासना की जानी चाहिये। आप० श्रौ० (१९।१७।१-५) के अनुसार नये वृषभ के स्थानापन्न होने के अवसर पर वृद्ध वृषभ की बलि देते हुए इसका उच्चारण किया जाना चाहिये। वस्तुतः इस अनुवाक में रुद्र की स्तुति की गई है, परन्तु सम्भवतया वृषभ के रूप में उसका उल्लेख होने के कारण यहाँ वृषभ अथवा पशु से सम्बद्ध कर्म में इसका विनियोग किया गया है। भा० गृ० का गृह्यविनियोग भी सम्भवतया इसी श्रौत विनियोग पर आधारित है। अन्यथा भी रुद्र को पशुपति भी माना जाता है। कहीं ऐसा तो नहीं कि वृषभरूप में रुद्र का यह वर्णन शिव के पशु 'नन्दी' की कल्पना का मूलाधार हो ?

अन्त में निर्देश है कि निम्नलिखित दो मन्त्रों द्वारा क्षेत्रपति की उपासना की जानी चाहिये[1] :—

क्षेत्रस्य पतिना वयं हितेनेव जयामसि।
गामश्वं पोषयित्न्वा स नो मृडातीदृशे ॥ [८८३]
क्षेत्रस्य पते मधुमन्तमूर्मिं धेनुरिव पयो अस्मासु धुक्ष्व।
मधुश्चुतं घृतमिव सुपूतमृतस्य नः पतयो मृडयन्तु ॥ [८८४]

हम हितकारी जैसे क्षेत्र के पति के द्वारा विजयी हैं। गौओं और अश्वों का पोषण करके वह हमें सुखी करे ॥ हे क्षेत्रपति, जिस प्रकार गौ दूध देती है उसी प्रकार हमारे प्रति माधुर्ययुक्त, सुपवित्र तथा घृत के समान माधुर्य प्रवाहित करने वाली (जल की) धारा प्रवाहित कीजिये। ऋत अर्थात् नियमों के पालक देव हमें सुखी करें ॥

इन मन्त्रों का प्राचीनतम स्रोत ऋ० (४।५७।१-२) है, और वहाँ से तै० सं० १।१४।२-३ तथा का० सं० ४।१५ द्वारा इन्हें यथावत् उद्धृत किया गया है। मै०सं० (४।११।१) में केवल प्रथम तथा का०सं० (३०।४) में केवल द्वितीय मन्त्र है। ऋ० का यह सम्पूर्ण सूक्त (४।५७) आ०गृ० २।१०।४ और शां०गृ० ४।१३।५ में क्षेत्रप्रकर्षण-सम्बन्धी कर्म में विनियुक्त है और इसका विवेचन उसी कर्म के अन्तर्गत किया गया है (नीचे दे०)। अतः यह ध्यान देने योग्य है कि इन मन्त्रों के गृह्यविनियोग में इनकी देवता क्षेत्रपति का विशेष ध्यान रखा गया है। आग्नि० गृ० (२।५।१२) में क्षेत्रलवन कर्म के अन्तर्गत पिण्डदान के लिये केवल द्वितीय मन्त्र का विनियोग किया गया है। इनके गृह्यविनियोग का आधार आ० श्रौ० (९।११।१४, १५) का वह विनियोग

---

१. आप० गृ० ७।२०।१६ (मं० पा० २।१८।४७, ४८), हि० गृ० २।९।११, भा० गृ० २।१०।

प्रतीत होता है जिसके अनुसार पशु समृद्धि के लिये उद्दिष्ट अप्तोर्याम याग में आहुतियों के साथ इनका उच्चारण किया जाना चाहिये । इसी प्रकार शां० श्रौ० (१५।८।१८) में अप्तोर्याम से अभिन्न एकाहयाग में आहुतियों के लिये इनका विनियोग किया गया है ।[1]

क्षेत्रप्रकर्षण-कर्म

इस कर्म के नामान्तर **लाङ्गलयोजन, कृषिकर्म** और **हलाभियोग** भी हैं । आ०गृ० (२।१०।४) में विधान है कि क्षेत्र में वायु की दिशा में ऋ० ४।५७ के मन्त्रों का एक-एक करके उच्चारण करते हुए आहुतियाँ अर्पित की जानी चाहियें । शां०गृ० (४।१३।५) के अनुसार इस सूक्त का उच्चारण कर्म के अन्त में उपासना के समय किया जाना चाहिये । सर्वानुक्रमणी के अनुसार प्रथम तीन मन्त्रों का देवता क्षेत्रपति है, चतुर्थ का शुनः, पञ्चम और अष्टम का शुनासीरौ तथा षष्ठ और सप्तम का सीता है । ये सभी देवता क्षेत्र से अथवा क्षेत्रप्रकर्षण से किसी न किसी प्रकार अवश्य सम्बद्ध हैं । इस सूक्त के मन्त्र अन्य संहिताओं में विकीर्ण हैं । अतः आप्टे के साथ साथ[2] प्रथम तीन मन्त्रों के एक पृथक् वर्ग की बात सोचना अनुचित होगा क्योंकि सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में उन्हें कर्मकाण्ड की दृष्टि से पृथक् करके एकत्र कहीं भी नहीं रखा गया ।

शां० गृ० ४।१३।४ और पा० गृ० २।१३।५ में इस सूक्त के अन्तिम मन्त्र का विनियोग हल के फाल का स्पर्श करने अथवा हल चलाने के लिये किया गया है :—

शुनं नः फाला वि कृषन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अभि यन्तु वाहैः ।
शुनं पर्जन्यो मधुना पयोभिः शुनासीरा शुनमस्मासु धत्तम् ॥ [८८५]

हमारे हल के फाल शोभन प्रकार से भूमि का कर्षण करें, कृषक शोभन प्रकार से हल-वाहनों के साथ (खेतों की ओर) जायें । पर्जन्य मधु के समान जल से शुभ करे तथा कुदाल और हल हम में शुभ का आधान करें ॥

वा० सं० के अनुसार पा० गृ० में भी नः फाला के स्थान पर सुफाला पाठ दिया गया है । तै०सं० में ऋ० का नः सुरक्षित है, अन्य सभी संहिताओं में सुफाला

---

१. दे० आ० श्रौ० ९।११।३ पर नारायण का भाष्य—'एकाहेन वायमप्तोर्यामो व्याख्यातः' ।

२. ऋ० मन्त्रज़ इन दि आ० गृ०, पृ० ३२, इनमें से कोई भी तै० सं० ४।२।५।६ और वा०सं० १२।६९-७१ में विद्यमान नहीं है ।

पाठ है।[1] श०ब्रा० ७।२।२।६ और का०श्रौ० १७।२।१२ में इस मन्त्र का समानान्तर विनियोग प्राप्त होता है क्योंकि वहाँ आहवनीयाग्नि के वेदीचयन के कर्म में यज्ञभूमि पर कर्षण के लिये इसके उच्चारण का विधान है।

शां० गृ० (४।१३।३) के अनुसार क्षेत्र-प्रकर्षण से पूर्व किसी द्यावापृथिवीय ऋचा के द्वारा आकाश और पृथिवी की उपासना की जानी चाहिये। वासुदेव द्वारा सांख्यायनगृह्यसंग्रह में इस उद्देश्य के लिये निम्नलिखित मन्त्र (ऋ० १।२२।१३) उद्धृत किया गया है :—

मही द्यौः पृथिवी च न इमं यज्ञं मिमिक्षताम्। पिपृतां नो भरीमभिः॥ [८८६]

विशाल आकाश और पृथ्वी हमारे इस यज्ञ को पोषणों से संयुक्त करें, वे हमें अपने पोषणों द्वारा परिपूर्ण करें॥

यह मन्त्र यजुर्वेद की भी सभी संहिताओं में विद्यमान है।[2] ब्राह्मणों और श्रौतसूत्रों में अनेक स्थलों पर यह मन्त्र उद्धृत किया गया है।[3] परन्तु केवल ऐ० ब्रा० और ऋग्वेदीय श्रौतसूत्रों में यह आकाश और पृथिवी की उपासना के लिये प्रयुक्त हुआ है।[4] कुछ ग्रन्थों में इसे ऐसे कर्मों से सम्बद्ध किया गया है जिनका इसके अर्थ से कोई सम्बन्ध नहीं, और फिर इस स्थिति में मन्त्र और कर्म का सम्बन्ध स्थापित करने के लिये कृत्रिम तर्क प्रस्तुत किये गये हैं। उदाहरणार्थ ऐ० ब्रा० (१।१६।५) में इसका विनियोग घर्षण द्वारा अग्नि उत्पन्न करने के लिये किया गया है, और फिर इसकी पुष्टि में निम्नलिखित आख्यानक दिया गया है :—

एकबार देवताओं ने इसे (अग्नि को) उत्पन्न होते ही आकाश और पृथ्वी के मध्य पकड़ लिया। तब से वह (आकाश और पृथ्वी द्वारा) आवृत वहीं पर रखा गया है। फिर होता द्यावापृथिवी को सम्बोधित मन्त्र का उच्चारण करता है।" इसी प्रकार श०ब्रा० (७।५।१।१०) में वेदीचयन के वर्णन में इस मन्त्र के उच्चारण का विधान कूर्म की स्थापना के प्रसंग में किया गया है। और साथ ही यह भी कहा गया

---

१. वा० सं० १२।६६, तै० सं० ४।२।५।६, मै० सं० २।७।१२, का० सं० १६।१२, दे० अथर्व० ३।१७।५—यहाँ सुफाला तो है परन्तु अन्य पाठान्तर हैं।

२. वा०सं० ८।३२; १३।३२, तै०सं० ३।३।१०।२; ५।११।३; ४।२।६।३, मै०सं० २।७।१६; ४।१०।३, का०सं० १३।६।

३. दे० वै० कान्०, पृ० ६६८।

४. ऐ० ब्रा० ४।१०।११; ५।१६।१०, आ० श्रौ० ६।५।१८; ८।१०।२, शां० श्रौ० ३।१२।६; ६।२०।२५; १०।१०।७; १३।२१।

है कि कूर्म ही आकाश और पृथिवी का प्रतिरूप है।[१]

शां०गृ० (४।१३।३) में ही आकाश और पृथिवी की उपासना के लिये निम्नलिखित वाक्य का भी प्रयोग दिया गया है :—

नमो द्यावापृथिवीभ्याम् ॥ [८८७]

आकाश और पृथ्वी को नमस्कार ॥

पा०गृ० (२।१३।४) में विधान है कि गृहस्थ को हल में बैल जोतते हुए निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये :—

सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक् । धीरा देवेषु सुम्नया ॥ [८८८]

सुख की इच्छा से देवताओं के प्रति बुद्धिमान् मेधावी ऋत्विज् कर्षणसाधनों (हलादि) को जोतते हैं। वे जुओं को पृथक् पृथक् (बैलों पर) स्थापित करते हैं। सा०

कौशिक० (२०।१) में इसका विनियोग जुओं और हल को बाहर निकालने तथा (२०।१३ में) दाहिने जुए में एक बैल जोतने के लिये किया गया है : यह मन्त्र सभी संहिताओं में विद्यमान है।[२] ब्राह्मण और श्रौत ग्रन्थों में भी आहवनीय वेदीचयन के कर्म में इसका विनियोग हल में बैल जोतने के लिये किया गया है।[३] इस प्रकार इसका गृह्य और श्रौत विनियोग एकसमान है।

कौशिक० (२०।३) में

एहि पूर्णक इत्यादि मन्त्र [८८९]

का विनियोग बायें जुए में दूसरा बैल जोतने के लिये किया गया है। यह निश्चित नहीं है कि इन शब्दों को प्रतीकरूपेण उद्धृत किया गया है अथवा ये स्वतन्त्र मन्त्र ही हैं। दारिल ने इन्हें कल्पज कहा है। तदनुसार इस मन्त्र का स्रोत कल्पसूत्रों में ही है। और यदि इन्हें स्वतन्त्र मन्त्र माना जाये तो भी अर्थ की दृष्टि से ये पूर्ण हैं। अर्थ है—हे पूरक (बैल) आओ।

कौशिक० २०।५ के अनुसार हल में लगाने से पूर्व फाल का अभिमन्त्रण निम्नलिखित मन्त्र द्वारा किया जाना चाहिये :—

---

१. द्यावापृथिव्यौ हि कूर्मः ।

२. ऋ० १०।१०१।४, अथर्व० ३।१७।१, वा० सं० १२।६७, तै० सं० ४।२।५।५, मै० सं० २।७।१२, का० सं० १६।१२ ।

३. श०ब्रा०७।२।२।४, का०श्रौ०१७।२।११, आप०श्रौ०१६।१८।५ ।

अश्विना फालं कल्पयतामुपावतु बृहस्पतिः ।
यथासद्बहुधान्यमयक्ष्मं बहुपूरुषम् ॥ [८६०]

अश्विन् देवता फाल बनायें, बृहस्पति उसकी रक्षा करे, जिससे कि अधिक अन्न, नीरोगता और जन-समृद्धि हो ॥

इसका स्रोत अथर्व० की पैप्पलाद संहिता (८।१८।६) है। ऐसा प्रतीत होता है कि ब्लूमफ़ील्ड इससे परिचित नहीं था क्योंकि उसके अनुसार यह किसी ज्ञात संहिता में प्राप्त नहीं होता ।[1]

कौशिक० २०।७ में यह विधान किया गया है कि निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए हल को अपूपों से आवृत कर देना चाहिये :—

अपहताः प्रतिष्ठाः [८६१]

(राक्षसों की) प्रतिष्ठाएँ आहत (हों) ।

इन शब्दों के विषय में भी निश्चित नहीं है कि ये प्रतीक हैं अथवा स्वतन्त्र पूर्ण मन्त्र। किन्तु दारिल के **अनेन मन्त्रेण** शब्दों से ये शब्द अपने आप में पूर्ण मन्त्र प्रतीत होते हैं । तथापि जैसा कि ब्लूमफ़ील्ड का अभिमत है, ये किसी भी ज्ञात संहिता में उपलब्ध नहीं होते ।

इसके पश्चात् (२०।८ में) यह विधान है कि गृहस्थ को

लाङ्गलं पवीरवत् (अथर्व० ३।१७।३ इत्यादि) सम्पूर्ण सूक्त [८६२]

का उच्चारण करते हुए स्वयं क्षेत्र-प्रकर्षण करना चाहिये, और फिर हल चलाने वालों को हल दे देना चाहिये । यह सम्पूर्ण सूक्त कर्षण की क्रिया से सम्बद्ध है । अतः ऐसा प्रतीत होता है कि अति प्राचीन काल से-ही इस क्रिया के साथ मन्त्रों का उच्चारण किया जाता था ।

बीजवपन

इस कर्म का वर्णन केवल आग्नि०गृ० (२।५।१२) में किया गया है। तदनुसार कर्ता को क्षेत्र में जाकर प्रारम्भिक होमादि के पश्चत् तै०सं० के अनुवाक ४।२।६ का पाठ करते हुए बीजवपन करना चाहिये । इस अनुवाक का आद्य मन्त्र निम्नलिखित है :-

या जाता ओषधयो देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा ।
मन्दामि बभ्रूणामहं शतं धामानि सप्त च ॥ [८६३]

जो ओषधियाँ तीन युग पूर्व (कृत युग में) देवताओं से पूर्व उत्पन्न

---

१. दे०कौशिक०२०।५ पर उसकी टिप्पणी ।

हुईं, मैं उन भरण-पोषण करने वाली ओषधियों की एक सौ सात जातियों के प्रति आनन्दित होता हूँ।

इस अनुवाक में कुल बीस मन्त्र हैं। मन्त्रों की संख्या और पाठों में अन्तर सहित यह अनुवाक अन्य संहिताओं में भी उपलब्ध होता है।[1] ऋ० और वा०सं० में प्रथम मन्त्र के प्रथम पाद का पाठ **या ओषधी: पूर्वा जाता:** है और मै०सं० तथा का०सं० में यह **या ओषधय: प्रथमजा:** है। इस प्रकार उपर्युक्त पाठ केवल तै०सं० में ही है। इस अनुवाक के गृह्य विनियोग के समानान्तर विनियोग ब्राह्मणों और श्रौतसूत्रों में भी है क्योंकि उनमें इसके चौदह पन्द्रह मन्त्र आहवनीय-चयन के अन्तर्गत विभिन्न ओषधियों के बीजवपन के लिये विनियुक्त हैं।[2] उपर्युक्त अनुवाक के मन्त्रों में ओषधियों के महत्त्वगान के साथ साथ उनकी विभिन्न जातियों का उल्लेख भी हुआ है, यथा पुष्पवती, प्रसूवती, फलिनी, अफला, वीरुध्, पारयिष्णु इत्यादि।

आग्रयण

आग्रयण कर्म नवप्राशन नाम से भी प्रसिद्ध है। इसके एक अन्य नाम **नवयज्ञ** का आधार सम्भवतया यह है कि इसमें प्रमुखरूप से वर्ष के नवान्न की आहुतियाँ दी जाती हैं। यह कर्म ब्राह्मणों और श्रौतसूत्रों में भी वर्णित है। आ० गृ० (२।२।४) में विधान है कि सर्वप्रथम स्थालीपाक की आहुतियाँ अर्पित करते हुए निम्नलिखित मन्त्रों का पाठ किया जाना चाहिये :—

सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजूरिन्द्राग्निभ्यां स्वाहा ॥ [८९४]
सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजूर्विश्वेभ्यो देवभ्यः स्वाहा ॥ [८९५]
सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजूर्द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा ॥ [८९६]

ऋतुओं से संयुक्त, (यज्ञ-) विधाओं से संयुक्त, इन्द्र और अग्नि से संयुक्त (अन्नपति) को स्वाहा ॥ ऋतुओं, (यज्ञ-) विधाओं और विश्वदेवों से संयुक्त (अन्नपति) को स्वाहा। ऋतुओं, (यज्ञ-) विधाओं और आकाश और पृथ्वी से संयुक्त (अन्नपति) को स्वाहा ॥

इन आहुतियों के लिये मा० गृ० (२।३।११) में मिलते जुलते मन्त्रों का विनियोग किया गया है। उन सब में **विधाभिः** तक के शब्द का अभाव है। प्रथम मन्त्र में इन्द्र और अग्नि का क्रम-विपर्यय है। इसके अतिरिक्त एक मन्त्र **सजूः सोमाय**

---

१. ऋ०१०।९७, वा०सं० १२।७५-९६, मै०सं०२।७।१३, का०सं०१६।१३।
२. श०ब्रा० ७।२।४।२६, का०श्रौ० १७।३।८, आप०श्रौ० १६।१९।११, बौ०श्रौ० १०।२५।

स्वाहा भी जोड़ा गया है। कौशिक० (७४।१५) में इसके अतिरिक्त आरम्भ में एक और मन्त्र **सजूरग्नये स्वाहा** दिया गया है। केवल इन दोनों मन्त्रों से पूर्व इसमें **सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः** शब्द प्राप्त होते हैं। इस प्रकार यह आश्चर्यजनक बात है कि यद्यपि ये शब्द केवल यजुर्वेद में प्राप्त होते हैं,[1] तथापि मा० गृ० के मन्त्रों में इनका नितान्त अभाव है। सम्भवतया मा० गृ० ने ये मन्त्र किसी ऐसे स्रोत से ग्रहण किये हैं जो अब उपलब्ध नहीं। आ० गृ० और कौशिक० द्वारा उन्हीं मन्त्रों के उपसर्गरूप ये शब्द यजुर्वेद से लेकर जोड़ दिये गये। इस बात की पुष्टि इस तथ्य से होती है कि यजुर्वेद में इन शब्दों से आगे का अंश नहीं है। श०ब्रा०, का०श्रौ० और आप०श्रौ० मेंइन शब्दों का विनियोग वेदीचयन के अन्तर्गत इष्टकाधान के निमित्त किया गया है।[2] अतः उस विनियोग का गृह्य-विनियोग से स्पष्ट सम्बन्ध नहीं है।

पा० गृ०, गो० गृ० और खा० गृ० में आज्याहुतियों के लिये निम्नलिखित दो मन्त्रों का विनियोग किया गया है[3] :—

शतायुधाय शतवीर्याय शतोतयेऽभिमातिषाहे।
शतं यो नः शरदो[4] अजीयादिन्द्रो नेषदति दुरितानि विश्वा॥ [८९७]
ये चत्वारः पथयो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी वियन्ति।
तेषां यो अज्यानिमजीतिमावहात्[5] तस्मै नो देवाः परिदत्तेह सर्वे [८९८]

जो इन्द्र हमें सौ वर्षों तक जीवित रखे और जो सभी दुर्गतियों का विनाश करे, उस प्रकार के बहुत प्रकार के शस्त्रों वाले, अत्यन्त बलशाली, विविध प्रकार के रक्षक तथा प्रतिपक्षी राक्षसों के विजेता इन्द्र के लिये—(आहुति)॥ जो देवप्राप्तिसाधनरूप चार मार्ग पृथ्वी और आकाश के मध्य विविध रूप में चलते हैं, उनमें से जो मार्ग अविनाश, तथा शत्रु से अपराजय प्रदान करता है, हे सभी देवो, इस कर्म में हमें उसे समर्पित करो॥) सा०

उपरिलिखित पाठ मं० ब्रा० में से उद्धृत है। पा० गृ० में प्रथम मन्त्र के उत्तरार्ध में **शरदो अजीयात्** के स्थान पर **शरदोऽजीजान्**, तथा द्वितीय मन्त्र के उत्तरार्ध में **यो अज्यानिमजीतिम्** के स्थान पर **यो ऽज्यानिमजीजम्** पाठ है। तै० सं० और

---

१. वा० सं० १४।७, तै० सं० ४।३।४।३, मैं० सं० २।८।१, का सं० १७।१
२. श० ब्रा० ८।२।२।८, का श्रौ० १७।८।१८, आप श्रौ० १७।१।३।
३. पा० गृ० ३।१।२, गो० गृ० ३।८।१० (मं०ब्रा० २।१।९,१०) खा०गृ० ३।३।७।
४. छां०ब्रा० में गुण विष्णु—अजीजात, का०सं० अनयत्, तै०सं० अजीतान्।
५. छां०ब्रा० में गु० वि० अजीजिमावहास्तस्मै।

का० सं० में दोनों मन्त्र इसी क्रम में विद्यमान हैं।[1] का०सं० में द्वितीय मन्त्र का प्रथम पाद **इमे चत्वारो रजसो विमानाः** है। इसके पूर्वार्ध के अन्त में **पन्थानः** भी जोड़ा गया है। इससे छन्द विकृत हो गया है। इस मन्त्र के का० सं० पाठ का अनुसरण करते हुए का० गृ० (२६।७) में विवाह के पश्चात् पतिगृह के प्रति यात्रा के मध्य चतुष्पथ पार करते समय इसके उच्चारण का विधान किया गया है। **चत्वारः पन्थानः** शब्द इस विनियोग के प्रमुख प्रेरणा-स्रोत रहे होंगे। इन दोनों मन्त्रों के गृह्य-विनियोग का आधार श्रौतविनियोग रहा होगा क्योंकि श्रौत सूत्रों में भी आग्रयण के अन्तर्गत आज्याहुतियों के लिये इनका विनियोग किया गया है।[2]

गो० गृ० और खा० गृ० में आज्याहुतियों के लिये निम्नलिखित दो मन्त्रों का विनियोग भी किया गया है[3] :—

ग्रीष्मो हेमन्त उत नो वसन्तः शरद्वर्षाः सुवितं नो अस्तु।
तेषामृतूनां शतशारदानां निवात एषामभये स्याम ॥ [८९९]

इद्वत्सराय परिवत्सराय संवत्सराय कृणुता बृहन्नमः।
तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानां ज्योगजीता[4] अहताः स्याम ॥ [९००]

ग्रीष्म, हेमन्त, वसन्त, शरद्, और वर्षा (इन सब ऋतुओं से मैं प्रार्थना करता हूँ कि) हमारा यह कर्म सुविहित हो, सैंकड़ों वर्षों वाली उन इन ऋतुओं के निर्भय आश्रय में हम रहें। हे सम्बन्धिजनो, इद्वत्सर, परिवत्सर, संवत्सर को महा नमस्कार करो। उन यज्ञयोग्य इद्वत्सरादि की शोभन-बुद्धि में हम चिर काल तक जरारहित होकर अहत रहें। सा०

पा० गृ० (२।२।२) में आग्रहायणी के अन्तर्गत आज्याहुतियों के लिये इन मन्त्रों का विनियोग किया गया है। यहाँ प्रथम मन्त्र का द्वितीय पाद **शिवा वर्षा अभया: शरन्नः** है। अन्तिम शब्द **स्याम** के स्थान पर **वसेम** है। द्वितीय मन्त्र का पूर्वार्ध इस प्रकार है :—**संवत्सराय परिवत्सरायेदावत्सारयेद्वत्सराय वत्सराय कृणुते बृहन्नमः।** शां० गृ० (४।१८।१) में इसी कर्म के निमित्त केवल प्रथम मन्त्र का विनियोग किया गया है। आ० गृ० (२।४।१४) के अनुसार इसका उच्चारण अष्टका के अन्तर्गत एक स्थालीपाक-आहुति के साथ किया जाना चाहिये।

१. तै० सं० ५।७।२।३, का०सं० १३।१५, द्वितीय मन्त्र तु० अथर्व० ६।५५।१।
२. आप० श्रौ० ६।२६।१२, मा० श्रौ० १।६।४।२१, मा०श्रौ० ६।१६।१८।
३. गो० गृ० ३।८।१० (मं०ब्रा० २।१।११,१२), खा०गृ० ३।३।७।
४. छां ब्रा० में गु० वि० ज्योग् जीताः।

अथर्व०, तै० सं० और का० सं० में भी ये मन्त्र साथ साथ उपलब्ध होते हैं।[1] इस प्रकार ये शतायुधाय इत्यादि मन्त्रों के अनुक्रमागत हैं। अथर्व० में प्रथम मन्त्र का पाठ निम्नलिखित है :—

ग्रीष्मो हेमन्तः शिशिरो वसन्तः शरद्वर्षाः स्विते नो दधात।
आ नो गोषु भजता प्रजायां निवात इद्वः शरणे स्याम [९०० क]

का० सं० में इसका पूर्वार्ध वसन्तो ग्रीष्मो मधुमन्ति वर्षाः शरद्हेमन्तः सुविते दधात है। द्वितीय मन्त्र में से अथर्व० में इद्वत्सराय परिवत्सराय शब्दों का अभाव है, मन्त्र का आरम्भ इदावत्सराय से होता है और चतुर्थ पाद अपि भद्रे सौमनसे स्याम है। तै०सं० में पूर्वार्ध का पाठ अथर्व० के सदृश और उत्तरार्ध पा० गृ० (ऊपर) के समान है। इन सब पाठान्तरों के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट है कि मं० ब्रा० और पा० गृ०, दोनों पर ही तै०सं० का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा है। जहाँ तक विनियोग का प्रश्न है गो०गृ० और खा०गृ० के विनियोग की पुष्टि मा०श्रौ० १।६।४।२१ से होती है क्योंकि वहाँ भी आग्रयण के अन्तर्गत आज्याहुतियों के लिये इनका विनियोग किया गया है।

पा०गृ० ३।१।३ में इस अवसर पर स्विष्टकृत् आहुति के साथ अधोलिखित मन्त्र (का०सं० २।१५) के उच्चारण का विधान है :—

स्विष्टमग्ने अभि तत् पृणीहि विश्वं च देवः पृतना अविष्यत्।
सुगन्नु पन्थां प्रदिशन्न एहि ज्योतिष्मद्धेह्यजरं न आयुः॥ [९०१]

हे अग्नि, उस शुभ यज्ञ को पूर्ण कर दीजिये। वह देव सभी शत्रुओं को नष्ट कर दे। हे अग्नि, शुभ मार्ग-निर्देशन करते हुए आइये, हमें तेजस्वी तथा जरारहित आयु प्रदान कीजिये।

हि०गृ० २।१७।३ में पाठान्तर सहित इसे आग्रहायणी के अन्तर्गत स्विष्टकृत् आहुति के लिये विनियुक्त किया गया है। तदनुसार पृणीहि के स्थान पर पृणाहि, विश्वं च के स्थान पर विश्वा, देवः के स्थान पर देव, अविष्यत् के स्थान पर अभिष्य, सुगन्नु के स्थान पर उरुं नः और न एहि के स्थान पर विभाहि पाठान्तर हैं। परन्तु बौ०गृ० १।६।१८ में इसका विनियोग विवाह के अन्तर्गत लाजाहोम में किया गया है। इसमें भी पाठ पा० गृ० के समान है। पा० गृ० और हि० गृ० के विनियोग की पुष्टि तै०ब्रा०, आप०श्रौ० द्वारा होती है, क्योंकि इनमें भी अनेक यज्ञों में स्विष्टकृत् आहुति के लिये इसका उच्चारण विहित है।[2]

---

१. अथर्व० ६।५५।२,३, तै० सं० ५।७।२।४, का० सं० १३।१५।
२. तै०ब्रा० २।४।१।४, ३।१।३।३; १२।१।१; ३।४, आप०श्रौ० ६।८।८।

अधिकांश गृह्यसूत्रों में विधान है कि इन आहुतियों के पश्चात् नवान्नप्राशन करते हुए गृहस्थ को अधोलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये[1] :—

भद्रान्नः श्रेयः समनैष्ट देवास्त्वयावसेन समशीमहि त्वा ।
स नो मयोभूः पितो आविशस्व शं,तोकाय तनुवे स्योनः ॥ [९०२]

हे देवी, हम भद्रजनों के प्रति कल्याण प्राप्त कराइये । हे अन्न, तुझ कल्याणकारी बल वाले के द्वारा हम तुझे शुद्ध रूप में खायें । हे अन्न, इस प्रकार का तू हमारे लिये सुखकर हो जा, तू हममें प्रविष्ट हो, हमारी सन्तान के लिये कल्याणकर और हमारे शरीर के लिये सुखकर हो ।।

मन्त्र का उपरिलिखित पाठ पा० गृ० में से उद्धृत है । मं० ब्रा० में **पितो आविशस्व** की सन्धि करके **पितवाविशस्व** रूप कर दिया गया है । सामश्रमी के मं०ब्रा० के संस्करण में **पितेवाविशस्व** पाठ दिया गया है । परन्तु यह पाठ प्रसंगानुकूल नहीं प्रतीत होता । इसके अतिरिक्त मं०ब्रा० में **तन्वै** के स्थान पर **तनुवे** पाठ है । शां०गृ० में भी मं०ब्रा० के समान **पितवाविशस्व** पाठ है । इसके अतिरिक्त **अवशेन** के स्थान पर **ज्वसेन** पाठ है और चतुर्थ पाद **शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे** है । शां०गृ० का यह पाठ आ० श्रौ० के पाठ के ठीक समान है । कौशिक० में पूर्वार्ध तो पा० गृ० के समान है, परन्तु उत्तरार्ध

स नः पितो मधुमाँ आविवेश शिवस्तोकाय तन्वो न एहि है । यह पाठ का०सं० १३।१५ में से उद्धृत प्रतीत होता है । दूसरी ओर पा० गृ० के पाठ का मूल स्रोत समानता के कारण तै०सं० ५।७।२।४-५ प्रतीत होता है । जहां तक विनियोग का प्रश्न है, इसके गृह्यविनियोग का आधार ब्राह्मण और श्रौत साहित्य प्रतीत होता है क्योंकि वहाँ भी आग्रयण के अन्तर्गत ही अन्नप्राशन के निमित्त इसका प्रयोग किया गया है ।[2]

पा०गृ० ३।१।५ में इस अवसर पर अन्नप्राशन के निमित्त अन्नपतीय मन्त्र (**अन्नपतेऽन्नस्य नो देहि** इत्यादि, वा०सं० ११।८३) के पाठ का विकल्प भी दिया गया है । अधिकांश गृह्यसूत्रों में इसका विनियोग शिशु के अन्नप्राशन संस्कार के अन्तर्गत किया गया है । इस सम्बन्ध में यह विशेष उल्लेखनीय है कि दोनों कर्मों में मन्त्र का सम्बन्ध अन्न-भक्षण से है और यह मन्त्र अन्नपति को सम्बोधित है ।

---

१. शां०गृ० ३।८।३, गो० गृ० ३।८।१६ (मं० ब्रा० २।१।१३), खा० गृ० ३।३।१३, पा०गृ० ३।१।४, आग्नि०गृ० १।७।४, कौशिक० ७४।१९ ।

२. तै० ब्रा० २।४।८।७, आ० श्रौ० २।९।१०, आप० श्रौ० ६।३०।८, भा० श्रौ० ६।१७।१६, मा०श्रौ० १।६।४।२५ ।

गोभिल और खादिर के अनुसार यदि इस अवसर पर अन्न के रूप में श्यामक का भक्षण करना हो तो निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण किया जाना चाहिये[1] :—

अग्निः प्रथमः प्राश्नातु स हि वेद यथा हविः ।
शिवा अस्मभ्यमोषधीः कृणोतु विश्वचर्षणिः ॥ [६०३]

सर्वप्रधान अग्नि भक्षण करे, क्योंकि वह जानता है कि आहुति किस प्रकार की होती है। संसार का प्रेरक वह हमारे लिये ओषधियों को कल्याणकर बना दे ॥

किन्तु पा०गृ० ३।१।४ में इसका विनियोग किसी प्रकार का भी अन्न भक्षण करने के लिए किया गया है। बौधायन और आपस्तम्ब के अनुसार इसका उच्चारण मधुपर्क के अवसर पर अतिथि को उपहृत गौ की वपा की आहुति देते हुए किया जाना चाहिये।[2] मं०पा० में इसके उत्तरार्ध का पाठ **अरिष्टमस्माकं कृण्वन् ब्राह्मणो ब्राह्मणेभ्यः** है। इस मन्त्र का प्राचीनतम स्रोत का०सं० १३।१५ है। तै०ब्रा०, भा०श्रौ०, मा०श्रौ० और औप०श्रौ० में भी इसका विनियोग आग्रयण में किया गया है।[3] इन तीन श्रौत-सूत्रों में तो श्यामाक-भक्षण के लिये ही इसका विनियोग किया गया है। अतः गोभिल द्वारा इसके विनियोग का आधार यही श्रौत-विनियोग प्रतीत होता है।

अभिनव यवान्न-भक्षण की स्थिति में सामवेदीय गृह्यसूत्रों तथा पा० गृ० द्वारा निम्नलिखित मन्त्र के उच्चारण का विधान किया गया है[4] :—

एतमु त्यं मधुना संयुतं यवं सरस्वत्या अधिमनाव चर्कृषुः ।
इन्द्र आसीत् सीरपतिः शतक्रतुः कीनाशा आसन् मरुतः सुदानवः ॥ [६०४]

प्रजापति मनु के शासन में कृषकों ने इसी उस माधुर्य से युक्त यव को सरस्वती नदी के मधुर जल के द्वारा क्षेत्रों में बोया है। शतक्रतु इन्द्र हल का स्वामी था और शोभन दाता मरुत्-देव कृषक थे ॥ सा०

मन्त्र का यह पाठ तै० ब्रा० २।४।८।७ में से उद्धृत है। गृह्यसूत्रों में इसके पाठ में स्वल्प भेद हैं। मं०ब्रा० में **अधिमनाव चर्कृषुः** के स्थान पर **अधिमनाव चकृषुः**

---

१. गो०गृ० ३।८।२० (मं०ब्रा० २।१।१५) खा०गृ० ३।३।१३।
२. बौ०गृ० १।२।४८, ४९, आप०गृ० ५।१३।१६ (मं०पा० २।१०।७)
३. तै० ब्रा० २।४।८।७, आप० श्रौ० ६।३०।१०, मा० श्रौ० १।६।४।२६, मा० श्रौ० ६।१७।१७।
४. गो० गृ० ३।८।२४ (मं० ब्रा० २।१।१६), खा० गृ० ३।३।१४, जै० गृ० १।२४, पा०गृ० ३।१।६।

पाठ है। किन्तु सत्यव्रत सामश्रमी ने **अधिवनाव चर्क्रषि** पाठ देकर उसकी निम्नलिखित व्याख्या की है :—**वना वननीयया सरस्वत्या स्तुत्या संस्तूय अधि अवचर्क्रषि अतिशयेन अधिकुरुष्व भुंक्ष्वेति भावः ॥** परन्तु स्पष्ट रूप से भ्रष्ट-पाठ की यह दूराकृष्ट व्याख्या प्रतीत होती है। दूसरी ओर **अधिमनौ** (मननन्निमित्तभूते मनोरथे) पाठ अधिक अच्छा है, यद्यपि यहाँ भी **सरस्वत्याः** के आगे **तीरे** (तट पर) का अध्याहार करना पड़ता है। पा०गृ० में तै०ब्रा० के इन शब्दों के पाठ के स्थान पर **अधिवनाय चकृषुः** पाठ है। परन्तु पा०गृ० का पाठ भी बहुत अच्छा नहीं है। तै०ब्रा० के **अधिमनावचर्क्रुषुः** की सायण द्वारा निम्नलिखित व्याख्या की गई है :—**अधिमनौ युगादिभूते मनौ प्रजापतौ राजनि सति तस्मिन् काले कृषिकाः सरस्वत्या नद्या मधुरेण जलेन—अचर्क्रुषुः क्षेत्रेषूप्तवन्तः ॥**

कौशिक० ६६।१५ में इसी कर्म में अथर्व० ६।३०।१ का विनियोग किया गया है। यह मन्त्र उपर्युक्त मन्त्र के बहुत निकट है। केवल **एतमु त्यम्** के स्थान पर **देवा इमम्** पाठ है और द्वितीय पाद **सरस्वत्यामधि मणावचर्क्रषुः** है। यह अथर्व० मन्त्र ही इसका मूल स्रोत प्रतीत होता है। इसके गृह्य विनियोग का आधार भी श्रौत-विनियोग प्रतीत होता है क्योंकि तै०ब्रा०, भा०श्रौ०, आप०श्रौ० तथा मा०श्रौ० में भी आग्रयण के अवसर पर यवान्न-भक्षण के समय इसके उच्चारण का विधान है।[1]

गो० गृ० और खा०गृ० में विधान है कि नवान्न-प्राशन के पश्चात् ऊपर से नीचे की ओर सिर, मुख तथा अन्य अंगों का स्पर्श करते हुए निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण किया जाना चाहिये[2]:—

अमोऽसि प्राण तदृतं ब्रवीम्यमा ह्यसि सर्वमनुप्रविष्टः ।
स मे जरां रोगमपमृज्य शरीरादपाम एधि मा मृथा न इन्द्र ॥ [६०५]

हे प्राण, तू अन्न है—यह मैं सत्य कहता हूँ। अन्न के साथ साथ तू सबमें प्रविष्ट है। वह तू मेरे शरीर में बुढ़ापे और रोग को दूर करके रोगशून्य हो जा। हे सब प्राणियों के ईश्वर, तू हमारा विनाश न कर ॥ [६०५]

शां० गृ०(३।८।४)में केवल हृदयदेश के स्पर्श के लिये इसका विनियोग किया गया है। इसमें द्वितीय पाद **अमोऽसि सर्वाङसि प्रविष्टः** है। इसके अतिरिक्त **अपमृज्य** के स्थान पर **अपनुद्य**, **अपाम** के स्थान पर **अमा मे**, **मृथाः** के स्थान पर **मृधाः** पाठ

१. तै० ब्रा० २।४।८।७, भा०श्रौ० ६।१८।७, आप० श्रौ०६।३०।३०, मा श्रौ० १।६।४।२४।

२. गो० गृ० ३।८।२१ (मं० ब्रा० २।१।१४), खा० गृ० ३।३।१५।

दिया गया है तथा मृधाः से पूर्व मा का अभाव है। कौशिक० (७४।२०) के अनुसार भक्षण के पश्चात् इस मन्त्र द्वारा अन्न का अभिमन्त्रण किया जाना चाहिये। पूर्वार्ध में मं० ब्रा० का अंश रखते हुए इसमें शां० गृ० के समान पाठ है। उत्तरार्ध में केवल शरीरात् तक पाठ शां० गृ० के समान है और उसके पश्चात् अनामयैधि मा रिषाम इन्दो पाठ है। यह मन्त्र प्राण को सम्बोधित है। प्राण से सभी अंगों का संकेत भी होता है। आ० श्रौ० (२।६।१०) में भी आग्रयण के अन्तर्गत इसका विनियोग नाभिस्पर्श के लिये किया गया है। नाभि भी सभी प्राणों अर्थात् इन्द्रियों का केन्द्र मानी जाती है। यह बात शां०गृ०(३।८।५) द्वारा नाभिस्पर्श के निमित्त प्रयुक्त अधोलिखित मन्त्र से भी स्पष्ट हो जाती है :—

नाभिरसि मा बिभीथाः प्राणानां ग्रन्थिरसि मा विस्रसः ॥ [६०६]

इससे मिलते जुलते मन्त्रों का विनियोग गृह्यसूत्रों द्वारा उपनयन और विवाह के अन्तर्गत भी नाभिस्पर्श के लिये किया गया है।

शां० गृ० (३।८।६) में इसके पश्चात् निम्नलिखित मन्त्र[1] में दिये गये अंगनामों के अनुसार इन्द्रियस्पर्श करने के लिये इसके उच्चारण का विधान किया गया है :—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥ [६०७]

हे देवो, हम कानों से श्रेयस्कर बात सुनें, हे याज्ञिको, हम आँखों से कल्याणकर पदार्थ देखें, दृढ़ अंगों से सन्तुष्ट होते हुए अपने शरीरों से उस सारी आयु का भोग करें जो देवों द्वारा प्रदान की गई है।।

एक अन्य स्थल पर शां० गृ० (५।५।११) में कुछ विशेष अपशकुनों का उपशमन करने के लिये अनुष्ठित कर्म में कानों का स्पर्श करते हुए इसके उच्चारण का निर्देश किया गया है। मा० गृ०(१।१।१६)के अनुसार वृषोत्सर्ग कर्म में समिदाधान के पश्चात् कर्ता को कर्णस्पर्श करते हुए इसका पाठ करना चाहिये। यद्यपि यह मन्त्र तै० आ०, आ० श्रौ० और आप० श्रौ० में भी विद्यमान है,[2] तथापि इसके गृह्यविनियोग की तुलना केवल आ० श्रौ० ५।१६।५ के विनियोग से की जा सकती है, जिसके अनुसार यदि सोम-याग में सोम के लिये उद्दिष्ट चरु में कर्ता अपना प्रतिबिम्ब देखने में असमर्थ हो तो उसे इसका उच्चारण करना चाहिये। ऐसा प्रतीत होता है

---

१. ऋ०१।८९।८, साम०२।१२२४,वा०सं०२५।२१,मै०सं०४।१४।२, का०सं०३५।१
२. तै० आ० १।१।१, २१।३, आ० श्रौ० ८।१४।१८, आप० श्रौ० १४।१६।१।

कि इस श्रौतविनियोग में देखने की क्रिया पर विशेष ध्यान दिया गया है।

अन्त में शां० गृ० (३।८।७) द्वारा सूर्योपासना के लिये प्रसिद्ध मन्त्र तच्चक्षुर्देवहितम् इत्यादि (ऋ० ७।६६।१६) के पाठ का विधान किया गया है। उपनयन तथा अन्य कर्मों में भी गृह्यसूत्रों द्वारा प्रायः सूर्योपासना में ही इसका विनियोग किया गया है। इसके अतिरिक्त ब्राह्मणों तथा श्रौतसूत्रों में भी अनेक स्थलों पर सूर्योपासना में ही यह प्रयुक्त हुआ है।

आप० गृ० ७।१६।७ के अनुसार आग्रयण की प्रमुख क्रिया घर के शिखर पर यज्ञान्न-पिण्ड का उत्क्षेपण है। इस क्रिया के निमित्त निम्नलिखित मन्त्र (मं० पा० २।१८।१) का विनियोग किया गया है :-

परमेष्ठ्यसि परमां मा श्रियं गमय ।। [६०८]

हे अन्न, तू शिखरस्थ है, तू मुझे परम लक्ष्मी प्राप्त करा ।।

यह मन्त्र किसी अन्य ग्रन्थ में अनुपलब्ध है।

सीतायज्ञ

इस यज्ञ में कृषिकर्म की प्रतीकभूत देवी सीता को आहुतियाँ अर्पित की जाती हैं। पारस्कर ने इस यज्ञ का विस्तृत वर्णन किया है। पा० गृ० (२।१७।६) के अनुसार प्रारम्भिक कृत्य के पश्चात् गृहस्थ को निम्नलिखित पाँच मन्त्रों का उच्चारण करते हुए आज्याहुतियां अर्पित करनी चाहियें :—

पृथिवी द्यौः प्रदिशो दिशो यस्मै द्युभिरावृताः।
तमिहेन्द्रमुपह्वये शिवा नः सन्तु हेतयः स्वाहा ।।
यन्मे किंचिदुपेप्सितमस्मिन् कर्मणि वृत्रहन्।
तन्मे सर्वं समृध्यतां जीवतः शरदः शतं स्वाहा ॥
सम्पत्तिर्भूतिर्भूमिर्वृष्टिर्ज्यैष्ठ्यं श्रैष्ठ्यं श्रीः प्रजामिहावतु स्वाहा ॥
यस्या भावे वैदिकलौकिकानां भूतिर्भवति कर्मणाम्।
इन्द्रपत्नीमुपह्वये सीतां सा मे त्वनपायिनी भूयात् कर्मणि कर्मणि स्वाहा ।।
अश्वावती गोमती सूनृतावती बिभर्ति या प्राणभृतो अतन्द्रिता।
खलमालिनीमुर्वरामस्मिन् कर्मण्युपह्वये ध्रुवां सा मे त्वनपायिनी भूयात् स्वाहा ।। [६०९–६१३]

जिसके लिये, पृथ्वी, आकाश, दिशाएँ और उपदिशाएँ सभी आकाशों से आवृत हैं, उस इन्द्र का मैं यहाँ आह्वान करता हूँ। उसके आयुध हमारे लिये कल्याणकर हों ।। हे वृत्रनाशक इन्द्र, मेरे इस कर्म में जो कुछ भी न्यून हो,

वह सब सौ वर्ष तक जीवित रहते रहते ही मेरे लिये समृद्ध हो जाये ।। यहाँ सम्पत्ति, वैभव, भूमि, वृष्टि, ज्येष्ठता, श्रेष्ठता, और लक्ष्मी हमारी सन्तान की रक्षा करे ।। जिसकी उपस्थिति में वैदिक और लौकिक कर्मों की समृद्धि होती है, मैं उस इन्द्रपत्नी सीता का आह्वान करता हूँ । वह प्रत्येक कर्म में मुझसे वियुक्त न हो ।। अश्वों तथा गौओं से युक्त और शोभन तथा सत्य वाणी से युक्त जो (देवी) आलस्यरहित होकर सब प्राणियों का भरणपोषण करती है, मैं इस कर्म में उस नित्य खल-रूप-मालाधारिणी उर्वरा (सीता) का आह्वान करता हूँ । वह मुझसे वियुक्त न हो ।।

उपरिलिखित मन्त्रों के स्रोत अज्ञात हैं । केवल आकस्मिक रूप से अन्तिम मन्त्र का प्रथम पाद अथर्व० ३।१२।२ के अंश के रूप में प्राप्त होता है । पाठान्तर-सहित उस अथर्व० मन्त्र का विनियोग गृह्यसूत्रों में नवशालानिर्माण के अन्तर्गत किया गया है ।[1] इन मन्त्रों में सीता को इन्द्र की पत्नी कहा गया है । इसके अतिरिक्त सामान्य कल्याण की प्रार्थना के साथ साथ सीताके विशेषणरूप प्रयुक्त खलरूप-माला-धारिणी तथा उर्वरा शब्दों से प्रतीत होता है कि सीता इन्द्र अर्थात् वर्षा और सूर्य पर आश्रित समस्त कृषि की प्रतीक है ।

अग्नि के चारों ओर आस्तरण करने के पश्चात् अवशिष्ट कुशा घास पर गृहस्थ को निम्नलिखित मन्त्रों का उच्चारण करते हुए क्रमशः एक-एक के साथ पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा में सीता के रक्षकों को बलि अर्पित करनी चाहिये (पा०गृ० २।१७।१३-१६) :—

ये त आसते सुधन्वानो निषङ्गिणः । ते त्वा पुरस्ताद् गोपायन्त्वप्रमत्ता अनपायिनो नम एषां करोम्यहं बलिमेभ्यो हरामीमम् ॥
अनिमिषा वर्मिण आसते । ते त्वा दक्षिणतः......हरामीमम् ॥
आभुवः प्रभुवो भूतिर्भूमिः पार्ष्णिः शुनंकुरिः । ते त्वा पश्चात्‌............... हरामीमम् ॥
भीमा वायुसमा जवे । ते त्वोत्तरतः क्षेत्रे खले गृहेऽध्वनि......हरामीमम् ॥

[९१४-९१७]

---

१. शां०गृ०३।३।१, पा०गृ०३।४।४, हि०गृ०१।२७।३, कौशिक०४३।११; अथर्व० में मन्त्र का पाठ यह है :—

इहैव ध्रुवा प्रतितिष्ठ शाले ऽश्वावती गोमती सूनृतावती ।
ऊर्जस्वती घृतवती पयस्वत्युच्छ्रयस्व महते सौभगाय ।।

जो वे शोभन धनुर्धारी तूणीर से युक्त बैठे हैं, वे अप्रमत्त होकर तथा अपने स्थान से हटे बिना पूर्व दिशा में तुम्हारी रक्षा करें। मैं इनको नमस्कार करता हूँ और इनके लिये यह बलि उपहृत करता हूँ ॥ ये निर्निमेष शक्तिशाली बैठे हैं, वे अप्रमत्त होकर......दक्षिण दिशा में तुम्हारी रक्षा करें.........मैं यह बलि उपहृत करता हूँ ॥ आभू (पराभूत करने वाले), प्रभू (स्वामी), भूति (वैभव), भूमि, पार्ष्णि, शुनंकुरि—वे सब...... पश्चिम दिशा में तुम्हारी रक्षा करें.........मैं यह बलि उपहृत करता हूँ ॥ भीषण तथा वेग में वायु के समान—वे.........उत्तर दिशा में क्षेत्र में, खल में, घर में, मार्ग में रक्षा करें......मैं यह बलि उपहृत करता हूँ ॥

इन मन्त्रों के स्रोत अप्राप्य हैं। किन्तु ते त्वा गोपायन्तु इत्यादि शब्दों की तुलना निम्नलिखित मन्त्र (अथर्व० ८।१।१४) से की जा सकती है :—

ते त्वा रक्षन्तु ते त्वा गोपायन्तु तेभ्यो नमस्तेभ्यः स्वाहा ॥

उपरिलिखित मन्त्रों में सीता के रक्षकों की तुलना पौराणिक दिक्पालों की कल्पना से की जा सकती है।

का०गृ० (७१।७) के अनुसार सीतायज्ञ में केवल एक आहुति निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए अर्पित की जानी चाहिये :—

घृतेन सीता मधुना समज्यतां विश्वैर्देवैरनुमतं मरुद्भिः।
ऊर्जो भागं मधुमत् पिन्वमानास्मान्त्सीते पयसाभ्याववृत्स्व ॥ [६१८]

भूमिदेवता सीता को घृतरूप मधुर रस से सन्तृप्त किया जाये। सब देवों और मरुतों द्वारा अनुमत अन्न के मधुररसयुक्त भाग का पोषण करती हुई हे सीता, तुम दुग्ध सहित हमारी ओर पुनः पुनः आओ ॥ दे०पा०

का०गृ० में यह मन्त्र का०सं० (१६।१२) से उद्धृत प्रतीत होता है। मै०सं० (२।७।१२) में भी इसका यही पाठ प्राप्त होता है। स्वल्प पाठान्तरसहित यह मन्त्र अन्य संहिताओं में भी विद्यमान है।[1] ब्राह्मणों और श्रौतसूत्रों में आहवनीय-वेदीचयन के अन्तर्गत हल चलाने के प्रसङ्ग में इसका विनियोग किया गया है।[2] जैसा कि देवपाल की व्याख्या से भी स्पष्ट है यहाँ सीता का अर्थ खेत की क्यारी ही है। इस मन्त्र के गृह्य विनियोग की तुलना श्रौत विनियोग से की जा सकती है।

---

१. अथर्व० ३।१७।६, वा०सं० १२।७०, तै०सं० ४।२।५।६।

२. श०ब्रा० ७।२।२।१०, का०श्रौ० १७।२।१२, आप०श्रौ० १६।३४।४।

त्रयोदश अध्याय

नियतकालिक कर्म

दर्श और पौर्णमास यज्ञ

कुछ गृह्यसूत्रों में इन यज्ञों को पार्वणस्थालीपाक नाम भी दिया गया है। ये श्रौतसूत्रों की दर्शपूर्णमासेष्टि के अनुरूप हैं। यज्ञ से पूर्व गृहस्थ और उसकी पत्नी द्वारा उपवास किये जाने का विधान है।[1] आग्नि०गृ० १।७।३ के अनुसार यज्ञ के दिन से एक दिन पूर्व गृहस्थ को अग्नि पर समिदाधान करके निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए समिधाओं की उपासना करनी चाहिये :—

श्वो यज्ञाय रमतां देवताभ्यो यज्ञाय त्वा गृह्णामि देवयज्यायै ।। [६१६]

कल यज्ञ तथा देवताओं के लिये रमण करो, मैं तुम्हें यज्ञ और देवपूजा के लिये ग्रहण करता हूँ।

देवताभ्यः तक का मन्त्रांश तै० ब्रा० ३।७।४।३ और आप० श्रौ० ४।१।८ में आहवनीय अग्नि के आधान के अवसर पर समिदाधान करते समय उच्चार्यमाण प्रथम मन्त्र का अन्त्य भाग है। आग्नि०गृ० का विनियोग इसके बहुत समान है। सम्भव है कि गृह्यमन्त्र इसी श्रौत मन्त्रांश का विस्तार हो।

तत्पश्चात् आग्नि०गृ० में निर्देश है कि आगामी दिवस यज्ञान्न बनाने के हेतु निम्नलिखित मन्त्र (तै०सं० २।६।४।१) का पाठ करते हुए चरु (पात्र) में तीन मुट्ठी चावल डाले जाने चाहियें :—

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् ।
अग्नये जुष्टं निर्वपामि अग्निषोमाभ्याम् ॥

(अग्नि के लिये निर्दिष्ट तुम्हें मैं अग्नि और सोम के लिये सवितृ-देव की प्रेरणा से अश्विनों की भुजाओं और पूषा के हाथों द्वारा अर्पित करता हूँ।।)

इस मन्त्र का उच्चारण पूर्णमासी को निर्दिष्ट है। अमावास्या को मन्त्र के उत्तरार्ध में **अग्निषोमाभ्याम्** के स्थान पर **इन्द्राग्निभ्याम्** पाठ होना चाहिये। बौ०गृ० ३।७।३ में इसका विनियोग आयुष्यचरु के अन्तर्गत किया गया है। इस मन्त्र का विस्तृत विवेचन किया जा चुका है। (दे०मं०सं० ५४१)

---

१. शां०गृ० १।३, आ०गृ० १।१०।२, गो०गृ० १।५।१-५।

आगे चलकर आग्नि०गृ० में विधान है कि यज्ञान्न में से स्विष्टकृत् भाग निकालकर अग्नि में उसकी आहुति देते हुए पूर्णमासी को निम्नलिखित मन्त्रों में से प्रथम और अमावास्या को द्वितीय मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये :—

ऋषभं वाजिनं वयं पूर्णमासं यजामहे ।
स नो दोहतां सुवीर्यं रायस्पोषं सहस्रिणं प्राणाय सुराधसे पूर्णमासाय स्वाहा ॥ [९२०]
अमावास्या सुभगा सुशेवा धेनुरिव भूय आप्यायमाना ।
सा नो······अपानाय सुराधसेऽमावास्यायै स्वाहा ॥ [९२१]

महाबलशाली, वेगवान् पूर्णमास की हम पूजा करते हैं । वह हमारे लिये शोभन वीरता, सहस्रसंख्याक धन की पुष्टि उत्पन्न करे । प्राणभूत, पूजनीय पूर्णमास के लिये यह आहुति अर्पित है ॥ अमावास्या सौभाग्यशालिनी, शोभनधन वाली, गौ के समान पुनः अभिवृद्ध होती हुई वह हमारे लिये······अपानभूत पूजनीय अमावास्या को यह आहुति अर्पित है ॥

इन दोनों मन्त्रों का उत्तरार्ध परस्पर समान है । प्राग्-गृह्यसूत्र साहित्य में भी इन दोनों का विनियोग इसी प्रकार किया गया है ।[1] उनका पाठ भी यहाँ ठीक यही है ।

उपर्युक्त आहुतियों के साथ-साथ पूर्णमासी और अमावास्या को क्रमशः एक-एक और आहुति का विधान भी किया गया है । इनके साथ उच्चारणीय मन्त्र आग्नि० गृ० में प्रतीकेन उद्धृत किये गये हैं । तै० सं० (३।५।१।१) में प्राप्त उनका निम्नलिखित पाठ दिया जा रहा है :—

पूर्णा पश्चादुत पूर्णा पुरस्तादुन्मध्यतः पौर्णमासी जिगाय ।
तस्यां देवा अधिसंवसन्त उत्तमे नाक इह मादयन्ताम् [९२२]
यत्ते देवा अदधुर्भागधेयममावास्ये संवसन्तो महित्वा ।
सा नो यज्ञं पिपृहि विश्ववारे रयिं नो धेहि सुभगे सुवीरम् [९२३]

पौर्णमासी पश्चिम में भी पूर्ण है, पूर्व में भी पूर्ण है और मध्य (आकाश) में भी (पूर्ण होकर ही) चलती है । उसमें निवास करते हुए सभी देव यहाँ सर्वोन्नत स्वर्ग में आनन्दित हों । हे अमावास्ये, तुममें निवास करते हुए देवों ने महत्त्व के कारण जो तुम्हारा भाग दिया, हे सबके द्वारा पूजनीय वह तुम हमारे यज्ञ को पूर्ण करो, हे सौभाग्यशालिनी, हमें शोभन वीरों से

---

१ तै० ब्रा० ३।७।५।१३, आप० श्रौ० २।२०।५, मा० श्रौ० १।३।२।२१।

युक्त धन दो ॥

इन मन्त्रों की तुलना अथर्व० ७।८०।१ तथा ७।७९।१ से की जा सकती है। कौशिक० (५।५) में भी इनका विनियोग आग्नि० गृ० के प्रसङ्ग में ही किया गया है। कौशिक० ५९।१९ के अनुसार सर्वकाम व्यक्ति को प्रजापति को आहुति अर्पित करते हुए इनका उच्चारण करना चाहिये। तै० सं० ४।४।१०।३ में इन्हें प्रतीकेन उद्धृत किया गया है। वहाँ पूर्णमास और दर्श इष्टकाओं के आधान के लिये इनके उच्चारण का विधान है। आप० श्रौ० (१७।६।५,८) और मा० श्रौ० (६।२।३।८) में भी इनका ठीक यही विनियोग हुआ है। किन्तु आप० श्रौ० ५।२३।४ के अनुसार साधारण दर्श-पौर्णमास आहुतियों से पूर्व अन्वारम्भणीय इष्टि की आहुति के समय इनका उच्चारण किया जाना चाहिये। यह विनियोग गृह्य विनियोग के अत्यन्त निकट है। तै० ब्रा० ३।१।१।१२ में केवल प्रथम मन्त्र का विनियोग नक्षत्रयज्ञ के अन्तर्गत पूर्णमास आहुति के निमित्त किया गया है।

आग्नि० गृ० (१।७।३)में विधान है कि इन आहुतियों के पश्चात् जुहू को जल से भरकर उसे निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए यज्ञ-भूमि के भीतर प्रवाहित करना चाहिये :—

वैश्वानरे हविरिदं जुहोमि साहस्रमुत्सं शतधारमेतम्।
तस्मिन्नेष पितरं पितामहं प्रपितामहं स्वर्गे लोकेऽबिभरत् पिन्वमानं स्वाहा॥ [९२४]

वैश्वानर अग्नि के प्रति मैं सैंकड़ों धाराओं वाले सहस्रमुखी झरने-रूप यह आहुति अर्पित करता हूँ। यह अग्नि उस आहुति में अभिवृद्ध होते हुए पिता, पितामह और प्रपितामह का स्वर्ग लोक में भरण पोषण करता है॥

इसका पूर्वार्ध अथर्व० १८।४।३५ का पूर्वार्ध ही है। अथर्व० में उत्तरार्ध में निम्नलिखित रूप में किंचिद् भेद है :—

स बिभर्ति पितरं पितामहान् प्रपितामहान् बिभर्ति पिन्वमानः॥

कौशिक० (८२।२२) के अनुसार अन्त्येष्टि कर्म के अन्तर्गत किसी दोही गई गौ के पीछे भूमि पर आहुतियां अर्पित करते हुए इसका उच्चारण किया जाना चाहिए। आग्नि० गृ० के मन्त्र का सम्पूर्ण पाठ ठीक आप० श्रौ० (२।२१।७) के मन्त्र के समान है। और वहाँ इसका विनियोग भी गृह्यविनियोग से मिलता-जुलता है। तै० आ० (६।६।१) में भी यह मन्त्र उद्धृत किया गया है, परन्तु इसमें स्वर्गे लोके

शब्द नहीं हैं और **पिन्वमानम्** के स्थान पर अग्नि का विशेषणरूप **पिन्वमाने** पाठ है। सम्भवतया मन्त्र में पिता, पितामह और प्रपितामह का उल्लेख होने के कारण ही तै० आ० में इसका विनियोग पितृमेध के अन्तर्गत एक कलश में मधुमिश्रित दधि भरने के लिये किया गया है। इस विनियोग में और कौशिक० के विनियोग में समानता है।

इसके आगे आग्नि० गृ० में निर्देश है कि यजमान को यज्ञभूमि के बहि:प्रदेश में जलपूर्ण स्रुक् की आहुति देते हुए निम्नलिखित मन्त्र (तै० सं० ४।२।१०।२) का पाठ करना चाहिये :—

इमं समुद्रं शतधारमुत्सं व्यच्यमानं भुवनस्य मध्ये।
घृतं दुहानामदितिं जनायाग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन् स्वाहा॥ [६२५]

सारे भुवन के मध्य फैले हुए सैंकड़ों धाराओं वाले झरने के समान इस समुद्ररूप घृत का जीवन के लिये दोहन करती हुई अदिति को, हे अग्नि, परम आकाश में आहत न करो॥

यजुर्वेद की अन्य संहिताओं में भी यह मन्त्र स्वल्प पाठान्तर सहित विद्यमान है।[1] तै० आ० (६।६।१) के अनुसार पितृमेध के अन्तर्गत पूर्व मन्त्र के समान ही इस मन्त्र का उच्चारण भी मधुमिश्रित दधि को कलश में डालते समय किया जाना चाहिये। कुछ प्राग्-गृह्यसूत्र यजुर्वेदीय ग्रन्थों में इसका विनियोग वेदीचयन के अन्तर्गत किया गया है। उनके अनुसार सर्वप्रथम पशुओं के सिर वेदी में रखे जाते हैं और फिर उन्हें दक्षिण दिशा में उससे बाहर निकालकर विशेष मन्त्रों द्वारा उनकी उपासना की जाती है। उसी क्रम में वृषभशीर्ष की उपासना के हेतु इस मन्त्र का विनियोग किया गया है।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ **मा हिंसीः** (आहत न करो) पर विशेष बल दिया गया है, **शतधारमुत्सम्** (सैंकड़ों धाराओं वाला झरना) पर नहीं, क्योंकि वह गृह्यकर्म के समान जल प्रवाहित करने के कर्म के लिये अधिक उपयुक्त है। गोभिल ने इन यज्ञों की प्रधान आहुतियों के साथ मन्त्रोच्चारण का विधान नहीं किया है। सभी आहुतियाँ केवल देवनाम के पश्चात् **स्वाहा** का उच्चारण करके अर्पित की जाती हैं।

यज्ञवास्तु

यह कर्म भी दर्शपौर्णमास का अंग प्रतीत होता है। इस कर्म के अनुष्ठान का

---

१. वा० सं० १३।४९, मै०सं० २।७।१७, का० सं० १६।१७—सबमें समुद्रम् और भुवनस्य के स्थान पर क्रमशः सहस्रम् और सरिरस्य पाठ है।
२. श०ब्रा० ७।५।२।३४, का०श्रौ० १७।५।१९, आप०श्रौ० १६।२७।१७, मा०श्रौ० ६।१।७।२९।

विधान केवल गोभिल और खादिर द्वारा किया गया है। तदनुसार स्विष्टकृत् आहुति के पश्चात् वेदी पर आस्तृत बर्हि में से एक मुट्ठीभर कुश लेकर यजमान को निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए उसे तीन बार आज्य में डुबाना चाहिये[1] :—

अक्तं रिहाणा वियन्तु वयः ॥ [९२६]

अनुलिप्त (आज्य) को चाटते हुए पक्षी आकाश में उड़ जायें ॥

सम्भवतया यहाँ वयः से विद्युत्-रूप अग्नि का अभिप्राय है। मानो यही अग्नि घृत का भक्षण करके आकाश में पहुँचकर विद्युत् के रूप में प्रकाशित होती है। विद्युत् को पक्षी कहा जा सकता है क्योंकि वह पक्षियों के समान उड़ती हुई सी प्रतीत होती है। यह मन्त्र मं० ब्रा० में नहीं है, इसलिये गोभिल द्वारा इसका सकलपाठ दिया गया है। यह वा० सं० (२।१६) और तै० सं० (१।१।१३।१) में विद्यमान है। वा० सं० में मन्त्र के प्रथम दो और अन्तिम दो शब्दों का परस्पर क्रम-विपर्यय हो गया है। तदनुसार वहाँ मन्त्र का यह रूप है :—

व्यन्तु वयोऽक्तं रिहाणाः ॥ [९२७]

मै०सं०(१।१।१३)और का०सं०(१।१२)में भी यह मन्त्र है, परन्तु मै०सं० में तो **अक्तम्** के स्थान पर **अप्तुभिः** और का० सं० में **अर्थम्** पाठ है। गृह्य-विनियोग के समानान्तर विनियोग प्राग्-गृह्यसूत्र साहित्य में प्राप्त होता है क्योंकि वहाँ दर्शपौर्णमास के अन्तर्गत प्रस्तर-गुच्छाग्रों को जुहू में डुबाते या लिप्त करते समय इसके उच्चारण का विधान है।[2] मन्त्र के अर्थ के विषय में कीथ का कहना है कि वह बहुत अस्पष्ट है।[3] उसका अपना अनुवाद इस प्रकार है :– "लिप्त को चाटते हुए पक्षी दूर जायें।" किन्तु वा० सं० २।१६ के भाष्य में महीधर ने यज्ञ-प्रसङ्गानुसार इसकी संगत और बोधगम्य व्याख्या करने का प्रयत्न किया है—"घृतानुलिप्त प्रस्तर को चाटते हुए, प्रस्तर को लेकर पक्षिरूप छन्द जायें।" **पक्षिरूपापन्नानि गायत्र्यादीनि छन्दांसि गच्छन्तु। प्रस्तरमादायेति शेषः। किंभूता वयः। अक्तं रिहाणाः। अक्तं घृतलिप्तं प्रस्तरं लिहानाः आस्वादयन्तः।**

आगे गो० गृ० (१।८।२८) और खा० गृ० (२।१।२८) में यह विधान है कि यजमान को उस कुशगुच्छ पर जल छिड़क कर निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए उसे अग्नि में डाल देना चाहिये :—

---

१. गो० गृ० १।८।२६,२७, खा० गृ० २।१।२६,२७।

२. श०ब्रा० १।८।३।१३,१४, तै०ब्रा० ३।३।९।३, का०श्रौ० ३।६।४-७, आप०श्रौ० ३।६।१, मा०श्रौ० १।३।४।१५।

३ तै० सं० (अनु०) १।१।१३।१ (d) पर पा० टि० २।

यः पशूनामधिपती रुद्रस्तन्तिचरो वृषा ।
पशूनस्माकं मा हिंसीरेतदस्तु हुतं तव स्वाहा ।। [६२८]

पशुओं की पंक्तियों में विचरण करने वाला बलशाली जो रुद्र पशुओं का स्वामी है, हे वह रुद्र ! तुम हमारे पशुओं का नाश न करो । यह आहुति तुम्हारी ही हो जाये ।।

गोभिल ने इस मन्त्र का भी गृह्यसूत्र में सकलपाठ दिया है । न तो यह मन्त्र मं०ब्रा० में दिया गया है और न ही अन्यत्र उपलब्ध है ।

श्रवणाकर्म

इस कर्म को केवल श्रवणा नाम से भी अभिहित किया जाता है । इसके इस नामकरण का कारण यह है कि इसका अनुष्ठान श्रावण मास में होता है । आ० गृ० (२।१।४) में विधान है कि सामान्य स्थालीपाक तैयार किया जाना चाहिये और सूर्यास्त के समय निम्नलिखित चार मन्त्रों (ऋ० १।१८६।१-४) का उच्चारण करते हुए एक-कपाल पुरोडाश के साथ साथ अग्नि में इसकी आहुति दी जानी चाहिये :—

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ।। [६२९]

अग्ने त्वं पारया नव्यो अस्मान्त्स्वस्तिभिरति दुर्गाणि विश्वा ।
पूश्च पृथ्वी बहुला न उर्वी भवा तोकाय तनयाय शं योः ।। [६३०]

अग्ने त्वमस्मद्युयोध्यमीवा अनग्नित्रा अभ्यमन्त कृष्टीः ।
पुनरस्मभ्यं सुविताय देव क्षां विश्वेभिरमृतेभिर्यजत्र ॥ [६३१]
पाहि नो अग्ने पायुभिरजस्रैरुत प्रिय सदन आ शुशुक्वान् ।
मा ते भयं जरितारं यविष्ठ नूनं विदन्मापरं सहस्वः [६३२]

हे अग्नि, हमें धन अर्थात् सुख-प्राप्ति के लिये शोभन मार्ग से ले जाइये, हे देव, आप सभी मार्ग जानते हैं । हमसे कुटिल पाप पृथक् कीजिये, हम आपको अत्यधिक नमस्कार करें ।। हे अग्नि, आप अभिनव रूप में कल्याणपूर्वक हमें सभी दुर्गम मार्गों अर्थात् कष्टों से पार कर दीजिये । यह धन-धान्यसम्पन्न विस्तृत पृथ्वी हमारे लिये नगर हो जाये । आप हमारे पुत्र-पौत्रों के आगत और अनागत कष्टों का शमन करने वाले हो जाइये ।। हे अग्नि, जो मनुष्यजातियों को अत्यधिक पीड़ित करते हैं, उन उदराग्नि-मान्द्यजनक रोगों को आप हमसे पृथक् कर दीजिये । हे देव, हे पूजनीय, सभी देवों के साथ साथ हमें भी यथेष्ट विचरणार्थ भूमि प्रदान कीजिये ।

हे अग्नि, आप अपने प्रिय स्थान में प्रदीप्त होते हुए हमें अपनी निर्बाध रक्षा से रक्षित कीजिये। हे युवा देव, हे बलिष्ठ, इस स्तोता को आपका भय न तो अब प्राप्त हो और न ही किसी अन्य काल में ।। हृ० मि०

उपर्युक्त मन्त्रों में प्रमुखरूप से पाप, कष्ट, रोग और भय-निवारण की प्रार्थना की गई है। प्रथम दो मन्त्रों का विनियोग अष्टका के अंगभूत पशुयाग के अन्तर्गत स्थालीपाक अवदान की आहुतियों में भी किया गया है।[1] ऋ० के अतिरिक्त किसी अन्य प्राग्-गृह्यसूत्र ग्रन्थ में ये मन्त्र साथ साथ एक ही स्थान पर नहीं आये। केवल प्रथम तीन मन्त्र तै० सं०, मै० सं० और तै० ब्रा० में एक स्थान पर आये हैं।[2] तै० ब्रा० में प्रथम मन्त्र को पशु याग में आग्नेयी मह्ला (?) की वपा की आहुति के लिये पुरोनुवाक्या, द्वितीय को पुरोडाश आहुति की याज्या और तृतीय को सामान्य आहुति की पुरोनुवाक्या के रूप में उद्धृत किया गया है। तै० ब्रा० का प्रथम दो मन्त्रों का विनियोग आ० गृ० द्वारा अष्टका में इनके विनियोग के अत्यन्त निकट है क्योंकि दोनों में पशुबलि अन्तर्निहित है। शां० श्रौ० ५।५।२ में इनका विनियोग सोमयाग के अन्तर्गत प्रायणीय इष्टि की आहुति में किया गया है। प्रथम मन्त्र समस्त वैदिक वाङ्मय में अत्यन्त लोकप्रिय रहा होगा क्योंकि प्रायः सभी ग्रन्थों में यह उद्धृत किया गया है।[3] श्रवणाकर्म में इन चारों मन्त्रों के विनियोग की पुष्टि करते हुए आप्टे ने कहा है कि, "ऋ०१।१८९ का ऋषि अगस्त्य सर्पविष-शामक सूक्त ऋ० १।१९१ का भी ऋषि है।"[4] परन्तु दो सूक्तों का एक ऋषि होने से यह सिद्ध नहीं होता कि उसने दोनों सूक्तों की रचना एक ही उद्देश्य से की। इसके अतिरिक्त प्रायः गृह्यसूत्रों में ऋ० १।१९१ के मन्त्रों का विनियोग सर्पों से सम्बद्ध श्रवणाकर्म अथवा प्रत्यवरोहण दोनों कर्मों में से किसी में नहीं किया गया। अतः प्रस्तुत गृह्यप्रसङ्ग में इनके विनियोग के औचित्य का आधार केवल यही प्रतीत होता है कि ये सब अग्नि को सम्बोधित हैं और तदनुसार अग्नि को आहुति अर्पित करने के लिये इनका विनियोग किया गया है।

इसके पश्चात् आ० गृ०(२।१।६) में विधान है कि यजमान को निम्नलिखित मन्त्र(ऋ० १।१८९।५) का उच्चारण करते हुए आज्यसहित पुरोडाश की आहुति

१. आ० गृ० २।४।१४ (दे० मं०सं० १०९१ से आगे)
२. तै० सं० १।१।१४।३-४, मै० सं० ४।१४।३, तै० ब्रा० २।८।२।३-५
३. वा० सं० ५।३६; ७।४३, का० सं० ३।१;६।१०, ऐ० ब्रा० १।९।७, श० ब्रा० ३।६।३।११, आ० श्रौ० ३।७।५, आप० श्रौ० २४।१२।१० इत्यादि।
४. ऋ० मन्त्रज् इन दि आ० गृ०,पृ० २४।

अर्पित करनी चाहिये:—

मा नो अग्नेऽव सृजो अघायाऽविष्यवे रिपवे दुच्छुनायै।
मा दत्वते दशते मादते नो मा रीषते सहसावन् परा दाः ॥ [६३३]

हे अग्नि, आप हमें पाप, हमारी समृद्धि के अनिच्छुक, शत्रु, दुर्भिक्ष के प्रति अर्पित न कीजिये। हे बलिष्ठ देव, हमें आप दाँतों से युक्त, काटने वाले, खाने वाले और हमें आहत करने वाले अन्य प्राणियों आदि के वश में भी न कीजिये ॥ हृ० मि०

मा० गृ० २।१।६ के अनुसार इस मन्त्र का उच्चारण सर्पों को अक्षत यव की एक बलि देते हुए किया जाना चाहिये। मन्त्र के उत्तरार्ध के दत्वते आदि शब्दों का सर्पों के साथ विशेष सम्बन्ध है। सम्भवतः इनके ही आधार पर इस मन्त्र का विनियोग प्रस्तुत प्रसंग में हुआ है।

हि० गृ० (२।१६।४) में विधान है कि स्थालीपाकान्न की आहुतियों के साथ निम्नलिखित चार मन्त्रों का पाठ किया जाना चाहिये:—

नमोऽग्नये पार्थिवाय पार्थिवानामधिपतये स्वाहा ॥ [६३४]
नमो वायवे विभुमत आन्तरिक्षाणामधिपतये स्वाहा ॥ [६३५]
नमः सूर्याय रोहिताय दिव्यानामधिपतये स्वाहा ॥ [६३६]
नमो विष्णवे गौराय दिश्यानामधिपतये स्वाहा ॥ [६३७]

पार्थिव पदार्थों के स्वामी, पार्थिव अग्नि को नमस्कार है। अन्तरिक्ष-सम्बन्धी पदार्थों के स्वामी, वैभवयुक्त वायु को नमस्कार है। दिव्य पदार्थों के स्वामी, रक्तवर्ण सूर्य को नमस्कार है। सभी दिशाओं के पदार्थों के स्वामी गौरवर्ण विष्णु को नमस्कार है ॥

इन मन्त्रों का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि वर्षा ऋतु में पृथ्वी, अन्तरिक्ष, आकाश अथवा किसी दिशा से जो भी विपत्ति हो सकती है उसे उन उन स्थानों के स्वामी शान्त कर दें। ये मन्त्र अन्यत्र अनुपलब्ध हैं।

आपस्तम्ब और हिरण्यकेशि का निर्देश है कि अग्नि में स्थालीपाकान्न की आहुति देकर गृहस्थ को निम्नलिखित मन्त्रों का पाठ करते हुए किंशुक पुष्पों की आहुति देनी चाहिये:[1]—

---

१. आप० गृ० ७।१८।६ (मं० पा० २।१६।१५-१७), हि० गृ० २।१६।५।

जग्धो मशको जग्धा वितृष्टिर्जग्धो व्यध्वरः स्वाहा ॥ [६३८]
जग्धो व्यध्वरो जग्धो मशको जग्धा वितृष्टिः स्वाहा ॥ [६३६]
जग्धा वितृष्टिर्जग्धो व्यध्वरो जग्धो मशकः स्वाहा ॥ [६४०]

मशक खाया गया, वितृष्टि खाई गई, व्यध्वर खाया गया ॥ व्यध्वर खाया गया, मशक खाया गया, वितृष्टि खाई गई ॥ वितृष्टि खाई गई, व्यध्वर खाया गया, मशक खाया गया ॥

इन तीनों मन्त्रों का परस्पर भेद केवल इतना है कि इनमें मशक, वितृष्टि और व्यध्वर शब्दों को भिन्न क्रम में रखा गया है । अर्थ सबका एक ही रहेगा । उपरि-लिखित पाठ मं० पा० में से उद्धृत है । हि० गृ० में **वितृष्टि:** के स्थान पर **विचष्टि:** पाठ है, द्वितीय मन्त्र में **मशक:** और **विचष्टि:** का, तथा तृतीय मन्त्र में **व्यध्वर:** और **मशक:** का क्रमविपर्यय हो गया है । विन्तरनित्ज् द्वारा **वितृष्टि:** के **वितृष्णि:** और **पिदृष्टि:** पाठान्तरों की ओर भी संकेत किया गया है ।[1]

वैदिक इण्डेक्स (खं०२,पृ० १३८) में **मशक:** का अर्थ **काटनेवाली मक्खी** या **मच्छर** बताया गया है । इस प्रसङ्ग में **वितृष्टि** का अर्थ निश्चित नहीं है। ओल्डनबर्ग ने इसका अर्थ पिपासु करके आगे प्रश्नसूचक चिह्न लगाया है ।[2] **व्यध्वर** का अर्थ **बींधने वाला—छिद्र करने वाला** देते हुए जैसा कि मैक्डॉनल और कीथ द्वारा सुझाव दिया गया है, इसकी निरुक्ति **व्यध्** (बींधना) धातु से की जा सकती है ।[3] अतः इससे भी किसी कीट या कृमि का अभिप्राय हो सकता है । सर्वाधिक ध्यान देने योग्य बात यह है कि इन तीनों शब्दों में काटने या आहत करने का भाव विद्यमान है । विशेष-रूप से **मशक** शब्द से यह संकेत होता है कि आप० गृ० और हि० गृ० के अनुसार श्रवणाकर्म का उद्देश्य न केवल सर्पों को, अपितु वर्षा ऋतु में वृद्धि को प्राप्त होने वाले अन्य कृमि-कीटों को शान्त करना भी था।

आ० गृ० (२।१।७) के अनुसार घृतानुलिप्त अन्नकणों की आहुति अंजलि द्वारा अग्नि में निम्नलिखित मन्त्र का पाठ करते हुए अर्पित की जानी चाहिये :—

शं नो भवन्तु वाजिनो हवेषु देवताता मितद्रवः स्वर्काः ।
जम्भयन्तोऽहिं वृकं रक्षांसि सनेम्यस्मद् युयवन्नमीवाः ॥ [६४१]

---

१. मं० पा० (सम्पा०), २।१६।१५-१७ पर पा० टि०

२. से० बु० ई०, खं० ३०, पृ० २३७ ।

३. वै इं०,खं०२, पृ० ३३६। अथर्व० २।३१।४ में ह्विट्ने ने इसकी व्युत्पत्ति वि-अध्वन् से की है। तदनुसार अर्थ है, मार्गभ्रष्ट अथवा विमार्ग ।

यज्ञ में आह्वान होने पर शीघ्रगामी तथा शोभनगति वाले देवाश्व हमारे लिये सुखकर हों। सर्प, भेड़िये और राक्षसों को अवरुद्ध करते हुए उन्हें तथा विभिन्न रोगजातियों को वे हमसे दूर कर दें ॥

पा० गृ० २।१०।१५ में इस मन्त्र का विनियोग अध्यायोपाकर्म में बिना चबाये अक्षत धान खाने के लिये किया गया है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि अध्यायोपाकर्म का काल भी श्रावण ही है। सम्भवतया उस कर्म में इसका विनियोग करते हुए भी पारस्कर ने श्रवणाकर्म और सर्पों के साथ उसके सम्बन्ध को विशेषरूप से ध्यान में रखा है। यह मन्त्र ऋ० और यजुर्वेद की संहिताओं में उपलब्ध होता है।[1] प्राग्-गृह्यसूत्र साहित्य से इसके गृह्य-विनियोग की पुष्टि नहीं होती। श० ब्रा० ५।१।५।२२ और का०श्रौ० १४।४।५ में विधान है कि वाजपेययज्ञमें इसके द्वारा अश्वों को सम्बोधित किया जाना चाहिये। कुछ अन्य श्रौतसूत्रों में मासिकयज्ञों में से अन्यतम वरुणप्रघासकर्म में वाजिन आहुति के लिये इसका विनियोग किया गया है।[2] इस स्थिति में श्रवणाकर्ममें विनियोग करते समय आ० गृ० में अहिम् शब्द को विशेषरूप से ध्यान में रखा गया है।

पा० गृ० २।१४।९ और भा० गृ० २।१ के अनुसार निम्नलिखित तीन मन्त्रों का पाठ करते हुए सर्पों को घृतमिश्रित सक्तुओं की बलि दी जानी चाहिए:—

आग्नेयपाण्डुपार्थिवानां सर्पाणामधिपतये स्वाहा ॥ [९४२]

श्वेतवायवान्तरिक्षाणां...................................... ॥ [९४३]

अभिभूःसौर्यदिव्यानाम्................................ ॥ [९४४]

अग्निसम्बन्धी पाण्डुवर्ण पार्थिव सर्पों के स्वामी को यह बलि अर्पित है ॥ वायुसम्बन्धी श्वेतवर्ण अन्तरिक्ष के सर्पों के.........॥सूर्य सम्बन्धी अभिभूत करने वाले दिव्य सर्पों के.........॥

इन मन्त्रों की तुलना मं० सं० ९३४-९३६ से की जा सकती है। उपरिलिखित पाठ पा० गृ० में से उद्धृत है। आ०गृ० में सब मन्त्रों में **सर्पाणाम्** का अभाव है, और प्रथम शब्द का समास-विग्रह करके **आग्नेयाय पाण्डराय पार्थिवानाम्** इत्यादि पाठ दिया गया है। इन मन्त्रों में भूमि,अन्तरिक्ष और आकाश के सर्पों के

---

१. ऋ० ७।३८।७, वा० सं० ९।१६, २१।१०, तै० सं० १।७।८।२; ४।२।११।३, मै० सं० १।११।२; ४।१०।३, का० सं० १२।१४; १३।१४; २०।१५।

२. आ० श्रौ० २।१६।१४, शां० श्रौ० ३।८।२३; का० श्रौ० १९।७।१८, मा० श्रौ० ५।१।३।११।

स्वामियों को सम्बोधित किया गया है । ये मन्त्र किसी प्राग्-गृह्यसूत्र ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं हैं ।

आ० गृ० २।१।४, पा० गृ० २।१४।१० और मा०गृ० २।१६।१ में सक्तु-सहित दर्भास्तृत भूमि पर निम्नलिखित मन्त्र द्वारा बलि देने का विधान है :—

अच्युताय भौमाय स्वाहा ।। [६४५]

भूमि-सम्बन्धी अच्युत (सर्प) के लिये यह बलि अर्पित है ।।

पा० गृ० में **अच्युताय** के स्थान पर **ध्रुवाय** पाठ है । इन तीनों गृह्यसूत्रों में इस मन्त्र का विनियोग शालानिर्माण कर्म में भी किया गया है । तदनुसार स्तम्भ गाढ़ने के निमित्त बने हुए गढ़े में आहुति अर्पित करते हुए इसका उच्चारण किया जाना चाहिये ।[1] इस प्रसंग में पा० गृ० में **अच्युताय** पाठ ही दिया गया है । स्पष्ट ही है कि स्तम्भ के अविचलित रहने की कामना की पुष्टि **अच्युताय** शब्दसे होती है । किन्तु **ध्रुवाय** पाठ की पुष्टि तै० आ० १०।६७।१ द्वारा होती है । वहाँ **भूमाय** के स्थान पर **भौमाय** पाठ है । इस ग्रन्थ में इस मन्त्र का विनियोग वैश्वदेव यज्ञ में आहुतियाँ अर्पित करने के लिये किया गया है । सम्भवतया गृह्यसूत्रों द्वारा श्रवणाकर्म में इसके विनियोग का प्रमुख आधार **भूमाय** (भौमाय) है क्योंकि सर्पों का भूमि से सम्बन्ध सुविदित है ।

आ०गृ० २।१।६ में निर्देश है कि गृहस्थ को स्वच्छ भूमि पर पानी डालकर वहाँ निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए सर्पों को सत्तुओं की बलि देनी चाहिये :

सर्पदेवजनेभ्यः स्वाहा ।। [६४६]

सर्पों के मध्य देवजनों के लिये यह बलि अर्पित है ।।

इसी गृह्यसूत्र में आगे (२।१।१४ में) कहा गया है कि प्रत्यवरोहण कर्म तक प्रतिदिन सायं प्रातः इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए सर्पों को बलि दी जानी चाहिये । पा० गृ० ३।४।८ में भी एक मन्त्र में सर्पदेवजनों को देवता बताया गया है । आ० श्रौ०२।४।१२ और आप० श्रौ० ६।१२।४ के अनुसार अग्निहोत्र में जल प्रवाहित करते समय इसका उच्चारण किया जाना चाहिये । तै० ब्रा० ३।१२।८।२ की व्याख्या में सायण ने सर्पदेवजन उन्हें बताया है जो सर्पों के मध्य आकृतिमें देवों और मनुष्यों के समान लगते हैं ।[2] वा०सं० ३०।८ में भी सर्पदेवजनों का उल्लेख है ।

---

१. आ० गृ० २।८।१५, पा० गृ० ३।४।३, मा० गृ० २।११।७ ।

२. सर्पेष्वेव देवाकारा मनुष्याकाराश्च सर्पदेवजनाः ।।

पा० गृ० २।१४।११-१२ के अनुसार घर से बाहर जाकर और गोमय द्वारा भूमि का लेप करके गृहस्थ को निम्नलिखित तीन मन्त्रों का पाठ करते हुए सर्पों का जल द्वारा प्रक्षालन करना चाहिये:—

आग्नेयपाण्डुपार्थिवानां सर्पाणामधिपतेऽवनेनिक्ष्व ॥ [९४७]
श्वेतवायवान्तरिक्षाणां........................ ॥ [९४८]
अभिभूः सौर्यदिव्यानां........................ ॥ [९४९]

हे अग्निसम्बन्धी पाण्डुवर्ण पृथ्वी के सर्पों के स्वामी, तुम अपना प्रक्षालन करो ॥ हे वायु सम्बन्धी श्वेतवर्ण अन्तरिक्ष के सर्पों के......... ॥ हे सूर्यसम्बन्धी, पराभूत करने वाले आकाश के सर्पों के......... ॥

ये मन्त्र मूलरूप में उपरिविवेचित मन्त्र (सं० ९४२-९४४) ही हैं। केवल **अधिपतये** के स्थान पर यहाँ **अधिपते** और उसी प्रकार प्रसङ्गानुसार **स्वाहा** के स्थान पर **अवनेनिक्ष्व** पाठ है। इसी गृह्यसूत्र (२।१४।१३-१४) में इन्हीं मन्त्रों का विनियोग सर्पों को बलि देने के लिये भी किया गया है, और प्रसङ्गानुसार वहाँ **अवनेनिक्ष्व** का परिवर्तन **एष ते बलिः** में किया गया है। एक बार और इसी गृह्यसूत्र (२।१४।१५-१६) में इन मन्त्रों का विनियोग कंघे द्वारा सर्पों की कंघी करने के लिये किया गया है। और वहाँ भी प्रसङ्गानुसार **अवनेनिक्ष्व** के स्थान पर **प्रलिखस्व** पाठ दिया गया है। आगे चलकर (२।१४।१७ में) यह विधान है कि इन्हीं मन्त्रों का उच्चारण करते हुए सर्पों को अंजन, लेप और मालाएं दी जानी चाहियें, और तदनुसार अन्तिम शब्द क्रमशः **अङ्क्ष्व**, **अनुलिम्पस्व** और **उपनह्यस्व** होगा। सर्पों को उपर्युक्त वस्तुएं प्रदान करने के आधार में यह भावना प्रतीत होती है कि इस प्रकार सर्प पूर्णतया सन्तुष्ट होकर अपने बिलों में ही रहें, अथवा बाहर भी निकलें तो हमें क्षति न पहुँचायें।

गोभिल और खादिर का विधान है कि गृहस्थ को निम्नलिखित चार मन्त्रों का उच्चारण करते हुए चारों दिशाओं में स्थित सर्पों को बलि देनी चाहियें[1] :—

यः प्राच्यां दिशि सर्पराज एष ते बलिः ॥ [९५०]
यो दक्षिणस्यां........................ ॥ [९५१]
यः प्रतीच्यां........................ ॥ [९५२]
य उदीच्यां........................ ॥ [९५३]

जो तुम पूर्व दिशा में सर्पों के राजा हो, तुम्हारे लिये यह बलि है ॥

---

१. गो० गृ० ३।७।१३-१५ (मं० ब्रा० २।१।१-४), खा० गृ० ३।२।२।

जो तुम दक्षिण दिशा में……॥ जो तुम पश्चिम दिशा में……॥ जो तुम उत्तर दिशा में……॥

ये मन्त्र प्राग्-गृह्यसूत्र साहित्य में अनुपलब्ध हैं। आश्वलायन, आपस्तम्ब और हिरण्यकेशी ने भी सर्पों को बलि प्रदान करने हेतु ऐसे ही मन्त्रों का विनियोग किया है[1] :—

ये सर्पाः पार्थिवा य आन्तरिक्ष्या ये दिश्याः।
तेभ्य इमं बलिमाहार्षं तेभ्य इमं बलिमुपकरोमि॥[९५४]

जो सर्प पृथ्वीसम्बन्धी हैं, जो अन्तरिक्षसम्बन्धी हैं, जो आकाशीय हैं, जो दिशाओं से सम्बद्ध हैं, उनके लिये मैं यह बलि लाया हूँ, उनको मैं यह बलि प्रदान करता हूँ ॥

मन्त्र का यह पाठ आ॰ गृ॰ में से उद्धृत है। मं॰ पा॰ में 'सर्पाः' शब्द नहीं है और आद्य 'ये' से पहले

नमो अस्तु सर्पेभ्यः [९५५]

शब्द हैं। उत्तरार्ध में आहार्षम् के स्थान पर हरिष्यामि और उपकरोमि के स्थान पर आहर्षम् पाठ है। हि॰ गृ॰ में इन्हें निम्नलिखित रूप में चार मन्त्रों में विभाजित किया गया है :—

ये पार्थिवाः सर्पास्तेभ्य इमं बलिं हरामि॥ य आन्तरिक्षाः……॥
ये दिव्याः……………………॥ ये दिश्याः……॥ [९५६-९५९]

ये सभी मन्त्र भी किसी प्राग्-गृह्यसूत्र ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं हैं।

आ॰ गृ॰ (२।१।१०) के अनुसार बलि-प्रदान के पश्चात् गृहस्थ को बलि की पश्चिम दिशा में बैठकर निम्नलिखित मन्त्रोच्चारण करना चाहिये :—

सर्पोऽसि सर्पतां सर्पाणामधिपतिरसि।
अन्नेन मनुष्यांस्त्रायसेऽपूपेन सर्पान्।
यज्ञेन देवांस्त्वयि मा सन्तं त्वयि सन्तः सर्पा मा हिंसिषुर्ध्रुवां ते परिददामि॥ [९६०]

तुम सर्प हो, तुम सर्पणशील सर्पों के स्वामी हो। अन्न से मनुष्यों की रक्षा करते हो, अपूप से सर्पों की तथा यज्ञ से देवों की। तुझ पर आश्रित सर्प, तुझ पर आश्रित मुझे आहत न करें। मैं तुम्हें ध्रुव (पृथ्वी) समर्पित करता हूँ॥

---

१. आ॰ गृ॰ २।१।९, आप॰गृ॰ ७।१८।१० (मं॰पा॰ २।१७।८), हि॰गृ॰२।१६।६। गृ॰ वि॰ २८]

मा० गृ० (२।१६।३) में भी सर्पों को बलि देने के निमित्त इससे मिलते जुलते मन्त्र का विनियोग किया गया है। उसमें प्रथम पंक्ति के अन्त्य असि का अभाव है और तृतीय पंक्ति का निम्नलिखित पाठ है :—

त्वयि सन्तं मयि सन्त माक्षिबुर्मा रोरिधुर्मा हिंसिषुर्मा दंक्षुः सर्पाः ॥

इस पाठ से मन्त्र कुछ अस्पष्ट हो गया है। परन्तु ड्रेस्डन के समान इसे आ० गृ० के पाठानुसार शुद्ध किया जा सकता है।[1]

आप० गृ० (७।१८।७) में आरग्वध की समिधाओं की आहुति के लिए निम्नलिखित मन्त्र (मं० पा० २।१७।३) का विनियोग किया गया है :—

त्राणमसि परित्राणमसि परिधिरसि।
अन्नेन मनुष्यांस्त्रायसे तृणैः पशून् कर्तेन सर्पान् यज्ञेन देवान्त्स्वधया पितॄन् स्वाहा॥ [६६१]

तुम त्राण हो, तुम परित्राण हो, तुम परिधि (घेरा) हो। तुम अन्न से मनुष्यों की, घास से पशुओं की, काटने (?) से सर्पों की, यज्ञ से देवों की, और स्वधा से पितरों की रक्षा करते हो॥

इस मन्त्र का उत्तरार्ध उपरिलिखित आ० गृ० मन्त्र की द्वितीय पंक्ति से बहुत मिलता जुलता है। ये सभी प्राग्-गृह्यसूत्र साहित्य में अनुपलब्ध हैं।

कुछ यजुर्वेदीय गृह्यसूत्रों में विधान है कि सर्पों को बलि-प्रदान के पश्चात् गृहस्थ को निम्नलिखित मन्त्रों द्वारा उनकी उपासना करनी चाहिये[2] :—

नमो अस्तु सर्पेभ्यो ये के च पृथिवीमनु। ये अन्तरिक्षे ये दिवि तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः॥
येऽदो रोचने दिवो ये वा सूर्यस्य रश्मिषु। येषामप्सु सदः कृतं......॥
या इषवो यातुधानानां ये वा वनस्पतींरनु। ये वावटेषु शेरते...॥[६६२-६६४]

जो भी सर्प पृथ्वी पर हैं, उनको नमस्कार हो। जो अन्तरिक्ष में हैं, जो आकाश में हैं, उन सर्पों को नमस्कार हो॥ जो वहाँ आकाश के प्रकाश-स्थल में या जो सूर्य की किरणों में हैं, जिनका जल में निवास बना हुआ है......॥ जो यातुधानों के बाण हैं या जो वनस्पतियों में हैं, या जो कुओं में लेटते हैं......॥

---

१. मा० गृ० (अनु०) पृ० १६८, पा० टि० ६।

२. बौ० गृ० ३।१०।४, पा० गृ० २।१४।१८, हि० गृ० २।१६।७, मा० गृ० २।१।

आप० गृ० ७।१८।८ (मं० पा० २।१७।५-७) में इनका विनियोग इस कर्म में आज्याहुतियों के लिये किया गया है। ये मन्त्र ऋग्वेद तथा यजुर्वेदीय संहिताओं में विद्यमान हैं।[1] उपरिलिखित पाठ तै० सं० के अनुसार हैं। वा० सं० में द्वितीय मन्त्र में अदः के स्थान पर वामी पाठ है। मै० सं० और का० सं० में भी नगण्य सा पाठान्तर है। ब्राह्मणों और श्रौतसूत्रों में इन मन्त्रों को सर्पनामानः संज्ञा दी गई है और वेदीचयन के अन्तर्गत सुवर्णपुरुष के अभिमन्त्रणार्थ इनका विनियोग किया गया है।[2] इस विनियोग की पुष्टि में श० ब्रा० (७।४।१।२७) में कहा गया है कि ये लोक सर्प हैं, क्योंकि जो कुछ भी सर्पण करता है, इन्हीं लोकों में सर्पण करता है।[3] किन्तु इनके गृह्यविनियोग के समानान्तर विनियोग आप० श्रौ० (१६।२७।२२) में प्राप्त होता है क्योंकि वहां वेदीचयन के अन्तर्गत वेदी की दक्षिण दिशा में सर्पशीर्ष का आधान करने के लिये इनका विनियोग किया गया है।

गो० गृ० और खा० गृ० के अनुसार सर्पों को बलि देने के पश्चात् गृहस्थ को अग्नि के पश्चिम की ओर भूमि पर अपने हाथ रखते हुए निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये[4] :—

नमः पृथिव्यै दंष्ट्राय विश्वभृन्मा ते अन्ते रिषाम।
संहतं मा वि वधीर्विहतं माऽभि सं वधीः ॥[९६५]

पृथ्वी के जबड़े रूप अग्नि को नमस्कार है, हे विश्व का भरण करने वाले अग्नि, हम आपके समीप रहते हुए विनष्ट न हों। जो भी पदार्थ हमसे संयुक्त हो, उसे तुम नष्ट अर्थात् वियुक्त न करो। और हम से दूर जो विपत्तियाँ हैं, उन्हें हमसे संयुक्त न करो॥ सा०

यद्यपि यह मन्त्र अग्नि को सम्बोधित है, तथापि श्रवणाकर्म में इसके विशिष्ट विनियोग का आधार दंष्ट्राय शब्द प्रतीत होता है। यह मन्त्र अन्यत्र उपलब्ध नहीं है।

आगे इन गृह्यसूत्रों में विधान है कि सन्ध्या के समय ओदन की आहुतियां अर्पित की जानी चाहियें और अग्नि की उत्तर दिशा में दर्भगुच्छ रखकर गृहस्थ को निम्नलिखित दो मन्त्रों का पाठ करना चाहिये[5] :—

---

१. ऋ० खि० ७।५५।९-११, वा० सं० १३।६-८, तै० सं० ४।२।८।३, मै० सं० २।७।१५, का० सं० १६।१५।
२. श० ब्रा० ७।४।१।२८-३०, आप० श्रौ० ६।२२।४, मा० श्रौ० ६।१।७।४।
३. इमे वै लोकाः सर्पा यद्धि किंच सर्पत्येष्वेव तत्लोकेषु सर्पति ॥
४. गो० गृ० ३।७।१७ (मं० ब्रा० २।१।५), खा० गृ० ३।२।६; ३।१७।
५. गो० गृ० ३।७।२१ (मं० ब्रा० २।१।६,७), खा० गृ० ३।२।७।

सोमो राजा सोमस्तम्बो राजा सोमोऽस्माकं राजा सोमस्य वयं स्मः अहिजम्भनमसि सौमस्तम्बं सौमस्तम्बमहिजम्भनमसि ।।[६६६]

यां सन्धां समधत्त यूयं सप्तऋषिभिः सह।
तां सर्पा माऽत्यक्रामिष्ट नमो वो अस्तु मा नो हिंसिष्ट ।।[६६७]

सोम राजा अर्थात् स्वामी है, सोमगुच्छ (सब ओषधियों का) राजा है, अर्थात् उनमें श्रेष्ठ है; सोम हमारा भी राजा है, हम सोम के (अधीन) हैं। हे दर्भगुच्छ, सोमगुच्छ से सम्बद्ध तुम सर्पों के हिंसक हो, तुम सोमगुच्छ से सम्बद्ध, सर्पों के हिंसक हो ।। हे सर्पो, तुमने मरीचि आदि सप्तर्षियों से जो सन्धि की उसका उल्लंघन न करो, तुम्हें नमस्कार हो, हमारे प्रति हिंसा न करो ।। सा०

प्रथम मन्त्र में दर्भगुच्छ को ही सर्पभक्षक (अहिजम्भन) कहा गया है। द्वितीय मन्त्र में नमस्कारपूर्वक सर्पों से सप्तर्षियों की सन्धि का पालन करने और हमारी हिंसा न करने की प्रार्थना की गई है। ये मन्त्र भी अन्यत्र अनुपलब्ध हैं और सम्भवतया शुद्ध गृह्य मूल के हैं।

आ० गृ० (२।१।११-१२) और मा० गृ० (२।१६।४) के अनुसार गृहस्थ को निम्नलिखित शब्द बोलते हुए अपने कौटुम्बिकों को ध्रुव को समर्पित करना चाहिये :—

ध्रुवामुं ते ध्रुवामुं ते ॥ [६६८]

हे ध्रुव, इसे तुम्हें समर्पित करता हूँ। हे ध्रुव इसे तुम्हें... ...।।

आ० गृ० के अनुसार अन्त में उसे स्वयं को भी निम्नलिखित शब्द बोलते हुए ध्रुव को समर्पित करना चाहिये :—

ध्रुव मां ते परिददामि ॥ [६६९]

हे ध्रुव मैं स्वयं को तुम्हें समर्पित करता हूँ।।

वस्तुतः परिददामि पूर्ववर्ती शब्दोंके साथ भी बोला जाना चाहिये। ध्रुव यहाँ सर्पविशेष का नाम प्रतीत होता है। हरदत्त ने इसे सर्पों का स्वामी कहा है (ध्रुवो नाम सर्पाणामधिपतिः)।

शां०गृ० (४।१५।४) में घृतमिश्रित सत्तुओं की आहुतियाँ अर्पित करने के लिये निम्नलिखित मन्त्रों का विनियोग किया गया है :—

दिव्यानां सर्पाणामधिपतये स्वाहा ।।[६७०]
दिव्येभ्यः सर्पेभ्यः स्वाहा ॥ [६७१]

दिव्य सर्पों के स्वामी को यह अर्पित है ।। दिव्य सर्पों को यह अर्पित है ।।

इसी गृह्यसूत्र में आगे यह विधान है कि गृहस्थ को सर्पों का प्रक्षालन करना चाहिये, उनकी कंघी करनी चाहिये, उनका अनुलेप करना चाहिये, उन्हें माल्यार्पण करना चाहिये, वस्त्रार्पण करना चाहिये, अंजन देना चाहिये और दर्पण दिखाना चाहिये। इन सब क्रियाओं के साथ उपर्युक्त मन्त्रों में से प्रथम में **अधिपतये** के स्थान पर अधिपतिः पाठ करके उसके आगे क्रमशः **अवनेनिक्ताम्, प्रलिखताम्, प्रलिम्पताम्, आबध्नीताम्, आच्छादयताम्, आङ्क्ताम्,** तथा ईक्षताम् का उच्चारण किया जाना चाहिये। इसी प्रकार द्वितीय मन्त्र में भी **दिव्येभ्यः सर्पेभ्यः**, के स्थान पर **दिव्याः सर्पाः** पाठ करके क्रमशः उपरिलिखित शब्दों (अवनेनिक्ताम् आदि) के बहुवचनान्त रूपों का उच्चारण करना चाहिये। अन्त में (४।१५।६) गृहस्थ को निम्नलिखित मन्त्रों का उच्चारण करते हुए सर्पों को बलि प्रदान करनी चाहिये :—

दिव्यानां सर्पाणामधिपत एष ते बलिः । दिव्याः सर्पा एष वो बलिः ।।

आन्तरिक्षाणां........................। **आन्तरिक्षाः**...............।।

पार्थिवानां........................। **पार्थिवाः**...............।।

दिश्यानां..................। **दिश्याः**..................।।[६७२-७५]

हे दिव्य सर्पों के स्वामी, यह तुम्हारे लिये बलि है। हे दिव्य सर्पो, यह तुम्हारे लिये बलि है।। हे अन्तरिक्षसम्बन्धी सर्पों के स्वामी,......। हे अन्तरिक्ष सम्बन्धी सर्पो,.........।। हे पार्थिव सर्पों के स्वामी,..........। हे पार्थिव सर्पो,.........।। हे दिशासम्बन्धी सर्पों के स्वामी.........। हे दिशा-सम्बन्धी सर्पो... .....।।

ये मन्त्र प्राग्-गृह्यसूत्र साहित्य में उपलब्ध नहीं। परन्तु इनकी तुलना बलि-प्रदान के निमित्त अन्य गृह्यसूत्रों में विनियुक्त इसी प्रकार के अन्य मन्त्रों से की जा सकती है।

कुछ कृष्ण यजुर्वेदीय गृह्यसूत्रों में विधान है कि गृहस्थ को तै० सं० ५।५।१० अनुवाक के प्रथम बारह मन्त्रों का उच्चारण करके सर्पों की उपासना करनी चाहिये।[1] इनमें से अन्तिम मन्त्र के **वातनामम्** इत्यादि शब्दों की पुनरावृत्ति सप्तम मन्त्र से लेकर प्रत्येक मन्त्र के साथ की जानी चाहिये। मन्त्रों का पाठ निम्न-लिखित है :—

---

१. बौ० गृ० ३।१०।६, आप० गृ० ७।१८।१२ (मं० पा० २।१७।१४-२५), हि० गृ० २।१६।९; भा० गृ० २।१।

समीची नामासि प्राची दिक् तस्यास्तेऽग्निरधिपतिरसितो रक्षिता यश्चाधिपतिर्यश्च गोप्ता ताभ्यां नमस्तौ नो मृडयतां ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तं वो जम्भे दधामि ॥

ओजस्विनी नामासि दक्षिणा दिक् तस्यास्त इन्द्रोऽधिपतिः पृदाकुः……॥
प्राची नामासि प्रतीची दिक् तस्यास्ते सोमोऽधिपतिः स्वजो…………॥
अवस्थावा नामास्युदीची दिक् तस्यास्ते वरुणोऽधिपतिस्तिरश्चिराजिः…॥
अधिपत्नी नामासि बृहती दिक् तस्यास्ते बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो……
वशिनी नामासीयं दिक् तस्यास्ते यमोऽधिपतिः कल्माषग्रीवो………॥
हेतयो नाम स्थ तेषां वः पुरो गृहा अग्निर्व इषवः सलिलो…………॥
निलिम्पा नाम स्थ तेषां वो दक्षिणा गृहाः पितरो व इषवः सगरो…॥
वज्रिणो नाम स्थ तेषां वः पश्चाद् गृहाः स्वप्नो व इषवो गह्वरो…॥
अवस्थावानो नाम स्थ तेषां व उत्तराद् गृहा आपो व इषवः समुद्रो…॥
अधिपतयो नाम स्थ तेषां व उपरि गृहा वर्षं व इषवोऽवस्वान्…… …॥
क्रव्या नाम स्थ पार्थिवास्तेषां व इह गृहा अन्नं व इषवोऽनिमिषो वातनामं तेभ्यो वो नमस्ते नो मृडयत ते यं द्विष्मोयश्च नो द्वेष्टि तं वो जम्भे दधामि ॥

[९७६-९८७]

सम्यक् नाम वाली तुम पूर्व दिशा हो, उस प्रकार की तुम्हारा अग्नि स्वामी है; असित रक्षक है, जो स्वामी है और जो रक्षक है, उन दोनों को नमस्कार है, वे दोनों हमें सुख प्रदान करें, उस प्रकार के सुखी हम जिससे द्वेष करते हैं, और जो हमसे द्वेष करता है, उसे आपके वश में करता हूं ॥ तुम ओजस्विनी नाम की दक्षिण दिशा हो, उस प्रकार की तुम्हारा इन्द्र स्वामी है, पृदाकु रक्षक है……॥ प्राची नाम की तुम पश्चिम दिशा हो, उस प्रकार की तुम्हारा सोम स्वामी है, स्वज रक्षक है……॥ अवस्थित नाम की तुम उत्तर दिशा हो, उस प्रकार की तुम्हारा वरुण स्वामी है, तिरश्चिराजि (तिरछी पंक्तियों या किरणों वाला सूर्य ?) रक्षक है……॥ स्वामिनी नाम की तुम बृहती दिशा (ऊर्ध्व दिशा) हो, उस प्रकार की तुम्हारा बृहस्पति स्वामी हैं, श्वित्र (गतिशील) रक्षक है……॥ नियन्त्रक नाम की तुम यह दिशा (अधो दिशा) हो, उस प्रकार की तुम्हारा यम स्वामी है. चितकबरी ग्रीवावाला (शिव अथवा अग्नि) रक्षक है……॥ तुम निश्चय ही आयुध हो, उस प्रकार के तुम्हारा घर पूर्व दिशा में है, अग्नि तुम्हारे बाण हैं, जल वायुनाम है……॥ तुम निश्चिय ही मरुत् हो, उस प्रकार के तुम्हारा घर दक्षिण दिशा में है पितर तुम्हारे बाण हैं, सगर वायु-

नाम है……॥ तुम निश्चय ही वज्रधारी हो, उस प्रकार के तुम्हारा घर पश्चिम दिशा में है, स्वप्न तुम्हारे बाण हैं, गह्वर (गढ़ा) वायुनाम है……॥ तुम निश्चय ही दृढ़, स्थिर हो, उस प्रकार के तुम्हारा घर उत्तर दिशा में है, जल तुम्हारे बाण हैं, समुद्र वायुनाम है……॥ तुम निश्चय ही स्वामी हो, उस प्रकार के तुम्हारा घर ऊर्ध्व दिशा में है वर्षा तुम्हारे बाण हैं, रक्षक वायुनाम है……॥ तुम निश्चय ही पृथ्वीसम्बन्धी क्रव्य (नि० विकृत्तात् जायते—मांस या काष्ठ) हो, उस प्रकार के तुम्हारा घर यहाँ (पृथ्वी पर) है, अन्न तुम्हारे बाण हैं, निर्निमेष वायुनाम है, उस प्रकार के तुम्हें नमस्कार है, तुम हमें सुख प्रदान करो, उस प्रकार से सुखी हम जिससे द्वेष करते हैं, और जो हमसे द्वेष करता है, उसे तुम्हारे वश में करता हूँ॥

हि० गृ० और भा० गृ० में ये मन्त्र प्रतीकेन उद्धृत हैं। मा० गृ० में इनमें से प्रथम छः मन्त्रों के तुल्यरूप मन्त्रों का दो स्थलों पर विनियोग किया गया है। एक तो (२।११।८) वास्तुकर्म के अन्तर्गत दिशाओं को आहुतियाँ अर्पित करने के निमित्त, और दूसरे (२।१६।२) श्रवणाकर्म में सर्पों को बलिप्रदान से पूर्व दिशाओं को ही आहुतियाँ अर्पित करने के निमित्त। मै० सं० (२।१३।२१) में इन बारह मन्त्रोंमेंसे केवल प्रथम छः मन्त्र हैं। उनकी तुलना अथर्व०३।२७ और १२।३।५५-६० से भी की जा सकती है। आथर्वण मन्त्रों का विनियोग कौशिक० (१४।२५) द्वारा युद्धके अवसर पर उच्चारणार्थ किया गया है। इसी सूत्र द्वारा अन्यत्र(५०।१३) इनके उच्चारण का विधान विक्रयार्थ प्रवास को जाने वाले श्रेष्ठी की सुरक्षा की कामना से किया गया है। इनके गृह्यविनियोग का समानान्तर विनियोग आप०श्रौ० और बौ० श्रौ० में द्रष्टव्य है क्योंकि तदनुसार अग्निचयन कर्म के अन्तर्गत प्रथम छः मन्त्रों द्वारा सर्पों को आहुतियाँ दी जानी चाहियें और अन्तिम छः मन्त्रों का उच्चारण महा आहुतियाँ अर्पित करते हुए किया जाना चाहिये।[1] किन्तु मा० श्रौ० (६।२।६।२३) में अग्निचयन के अन्तर्गत साधारण आहुतियों के साथ इनके उच्चारण का विधान है। यद्यपि इन मन्त्रों में सर्पों का उल्लेख नहीं है, तथापि सब ओर से रक्षा की प्रार्थना होने के कारण ये प्रसङ्गानुकूल ही हैं।

आप० गृ० ७।१८।१२ (मं० पा० २।१७।९-१२) में सर्पोपासना के लिये निम्नलिखित मन्त्रों का विनियोग भी किया गया है :—

तक्षक वैशालेय धृतराष्ट्रैरावतस्ते जीवास्त्वयि नः सतस्त्वयि सद्भ्यो वर्षाभ्यो नः परिदेहि॥ [९८८]

---

१. आप श्रौ० ७।२०।१४-१५, बौ० श्रौ० १०।४९-५०

धृतराष्ट्रैरावतं तक्षकस्तं वैशालेयो जीवाः........................॥ [९८९]
अहिंसातिबलस्ते जीवाः......................................॥ [९९०]
अतिबलाहिंसस्ते जीवाः......................................॥ [९९१]
ये दन्दशूकाः पार्थिवास्तांस्त्वमितः परोगव्यूति निवेशय ।
सन्ति वै नः शफिनः सन्ति दण्डिनस्ते वो नेद्धिनसान्न्येद्यूयमस्मान् हिनसात ॥ [९९२]

हे तक्षक, वैशालेय, धृतराष्ट्र ! तुम्हारे जीव ऐरावत हैं। तुममें अवस्थित हमें तुम अपने में अवस्थित वर्षा को सौंप दो ॥ हे धृतराष्ट्र, ऐरावत, तुम्हारे जीव तक्षक-वैशालेय हैं......॥ तुम्हारे जीव अहिंसातिबल हैं......॥ तुम्हारे जीव अतिबलाहिंस हैं......॥ जो पार्थिव सर्प हैं, तुम उन्हें यहाँ से दो कोस से भी दूर बसा दो। हमारे खुरधारी तथा दण्डधारी (योद्धा) हैं, न तो वे तुम्हें हिंसित करें और न ही तुम हमें हिंसित करो ॥

इन मन्त्रों में विभिन्न विशिष्ट सर्पों को नाम लेकर सम्बोधित किया गया है। परन्तु प्राग्-गृह्यसूत्र साहित्य में ये अप्राप्य हैं।

कुछ गृह्यसूत्रों में कहा गया है कि जल-सिंचन करते हुए घर की परिक्रमा करते समय परिवार के सदस्यों को इन मन्त्रों का पाठ करना चाहिये[1] :—

अप श्वेतपदा जहि पूर्वेण चापरेण च ।
सप्त च मानुषीरिमास्तिस्रश्च राजबन्धवीः ॥ [९९३]

न वै श्वेतस्याध्याचारेऽहिर्जघान कञ्चन ।
श्वेताय वैदर्वाय नमो नमः श्वेताय वैदर्वाय ॥ [९९४]

हे श्वेतचरण, तुम सामने और पीछे से इन सात मानुषी सन्ततियों और तीन राजबन्धु सन्ततियों को छोड़ जाओ ॥ निश्चय ही श्वेत (-चरण) के आधिपत्य में सर्प ने किसी का वध नहीं किया। विदर्व के पुत्र श्वेत (-चरण) को नमस्कार है, नमस्कार है श्वेत (-चरण) विदर्व-पुत्र को ॥

उपर्युक्त पाठ मं० पा० का है। हि० गृ० में **राजबन्धवीः** के स्थान पर **राजबान्धवैः** और **अध्याचारे** के स्थान पर **अभ्याचारेण** पाठ है। भा० गृ० में **मानुषीः** के स्थान पर **मानवैः** पाठ है, परन्तु हि०गृ० का **राजबन्धवैः** रखा गया है। परन्तु इन

---

१. भा० गृ० ७।१८।१२ (मं०पा० २।१७।२६,२७), पा० गृ० २।१४।१६, हि० गृ० २।१६।८, भा० गृ० २।१।

दोनों तृतीयान्त पदों से मन्त्र अस्पष्ट हो जाता है।[1] द्वितीय मन्त्र में जघान के स्थान पर ददंश पाठ है और उत्तरार्ध में पादावृत्ति नहीं की गई। निस्सन्देह श्रवणाकर्म में ददंश (काटा) अधिक प्रसंगानुकूल है। पा०गृ० २।१४।४,५ में श्रवणाकर्म के आरम्भ में भी आज्याहुतियों के निमित्त इन मन्त्रों का विनियोग किया गया है। प्रथम मन्त्र में यहाँ मानुषी: के स्थान पर वारुणी: और इमा: के पश्चात् प्रजा: सर्वाश्च राजबान्धवै: पाठ है। तृतीयान्त राजबान्धवै: की अस्पष्टता के साथ-साथ इस पाठ से पूर्ण अनुष्टुभ् छन्द भी विकृत हो गया है। द्वितीय मन्त्र में जघान के स्थान पर ददर्श पाठ के साथ-साथ यहां भी पादावृत्ति नहीं की गई। आ०गृ० (२।३।३), शां०गृ० (४।१८।१) और मा०गृ० (२।७।१) में इन मन्त्रों का विनियोग प्रत्यवरोहण कर्म के अन्तर्गत खीर अथवा आज्य की आहुतियों के लिये किया गया है। आ० गृ० और पा० गृ० में प्रथम मन्त्र का पाठ लगभग एकसमान है। आ०गृ० में एक ओर जहाँ प्रजा: के अभाव से छन्द में पूर्णता आई है, वहीं दूसरी ओर राजबान्धवै: पाठ लौकिकसंस्कृत के अधिक अनुकूल है क्योंकि मं०पा० के राजबन्धवी: शब्द में आदिवृद्धि का अभाव लौकिक-संस्कृत-सम्मत नहीं है।[2] इसमें द्वितीय मन्त्र का पूर्वार्ध न वै श्वेतश्चाभ्यागारेऽहिर्जघान किंचन है। शां०गृ० में द्वितीय मन्त्र के पूर्वार्ध के अभाव के अतिरिक्त शां०गृ० और पा०गृ० के मन्त्रों में पूर्ण साम्य है। जहि और बन्धवै: के स्थान पर क्रमश: ग्रहि और बन्धव्य: को छोड़कर मा०गृ० का प्रथम मन्त्र पा०गृ० के समान है। इसके द्वितीय मन्त्र का पूर्वार्ध आ०गृ० के समान है। उत्तरार्ध श्वेताय वैतहव्याय स्वाहा है। मन्त्र सर्पों को सम्बोधित होने के कारण ही सम्भवतया सभी गृह्यसूत्रों में उनका विनियोग सर्पों से सम्बद्ध कर्मों में किया गया है। प्रथम मन्त्र का स्रोत अथर्व० १०।४।३ प्रतीत होता है। वहाँ इसका पूर्वार्ध अप के स्थान पर अव पाठसहित विद्यमान है।

शां०गृ० ४।१५।२२ में विधान है कि अन्त में कर्ता को सुत्रामाणम् इत्यादि मन्त्र (ऋ० १०।६३।१०) का उच्चारण करते हुए शय्यारोहण करना चाहिये। सम्भवतया गृह्यकार को आरोहण कर्म में इसके विनियोग की प्रेरणा आरुहेम शब्द से प्राप्त हुई। हाँ, मा०गृ० (२।७।२,३) में प्रत्यवरोहण के अन्तर्गत भूमि पर आस्तृत कुशास्तरण पर जल छिड़कने और उसे रगड़ने के लिये इसका विनियोग करते हुए मन्त्र-देवता पृथिवी का ध्यान अवश्य रखा गया है। इसी प्रकार मा०गृ० २।११।९,१० में भी वास्तुकर्म के अन्तर्गत उसी क्रिया के लिये इसका विनियोग किया गया है। इस

---

१. वे०, से०बु०ई०, खं० ३०, पृ० २३८, पा०टि० में प्रो०ब०—प्रथम मन्त्र में मैंने राजबान्धवी: पाठ लिया है।

२. छान्दसं ह्रस्वत्वम्—हरदत्त:।

मन्त्र का विवेचन विवाह कर्म में भी किया जा चुका है। (दे०मं०सं० २०६)

इन्द्रयज्ञ

इस यज्ञ का अनुष्ठान प्रौष्ठपद की पूर्णिमा को किया जाता है। पा० गृ० (२।१५।५) में विधान है कि प्रारम्भिक आहुतियों के पश्चात् कर्ता को निम्नलिखित मन्त्रों (वा०सं० १७।८०-८६) का पाठ करते हुए अश्वत्थ पर्णों पर मरुतों को बलि अर्पित करनी चाहिये :—

शुक्रज्योतिश्च चित्रज्योतिश्च सत्यज्योतिश्च ज्योतिष्माँश्च।
शुक्रश्च ऋतपाश्चात्यंहाः ॥
ईदृङ् चान्यादृङ् च सदृङ् च प्रतिसदृङ्। मितश्च संमितश्च सभराः ॥
ऋतश्च सत्यश्च ध्रुवश्च धरुणश्च। धर्ता च विधर्ता च विधारयः ॥
ऋतजिच्च सत्यजिच्च सेनजिच्च सुषेणश्च। अन्तिमित्रश्च दूरेअमित्रश्च गणः ॥
ईदृक्षास एतादृक्षास ऊषुणः सदृक्षासः प्रतिसदृक्षास एतन।
मिताश्च संमितासो नो अद्य सभरसो मरुतो यज्ञे अस्मिन् ॥
स्ववाँश्च प्रघासी च सांतपनश्च गृहमेधी च। क्रीडी च शाकी चोज्जेषी ॥
उग्रश्च भीमश्च ध्वान्तश्च धुनिश्च। सा सह्वाँश्चाभियुग्वा च विक्षिपः स्वाहा ॥
[९९५-१००१]

द्युतिशील ज्योति वाला, विचित्र ज्योति वाला, सत्य ज्योति वाला, ज्योतिर्मय, द्युतिशील, शाश्वतनियम-पालक, और पाप से परे; ऐसा, दूसरी प्रकार का, समान प्रकार का, विरोधी प्रकार का, परिमित, सुपरिमित और भरण सहित; शाश्वत नियम, सत्य, नित्य, धारक, धारणकर्ता, विविध रूप से धारणकर्ता, और विविध रूप से धारण कराने वाला, शाश्वत नियमों पर विजय प्राप्त करने वाला, सत्य-जयी, सेना का विजयी, अच्छी सेना वाला, गतिरूपी मित्र वाला, दूर शत्रुओं वाला और गण; इस प्रकारके, ऐसे, सर्वत्र-निवासी, समान प्रकार के, विरोधी प्रकार के, परिमित, सुपरिमित हे भरण-कर्ता मरुतो आज हमारे इस यज्ञ में आओ; आत्मवान्, विनाशक, सन्तापक, गृहयाजी, क्रीडनकर्ता, शाकभोजी, और विजयी; उग्र, भयानक, विनाशक, प्रकम्पक, सहनशील, आक्रामक और विक्षेपक को आहुति अर्पित है ॥

इनमें से अन्तिम मन्त्र की विमुख संज्ञा दी गई है। इन मन्त्रों में मरुतों के उनचास नाम परिगणित हैं। कृष्ण यजुर्वेदीय संहिताओं में अन्तिम दो मन्त्र नहीं हैं।[1] श्रौतसूत्रों में इनका विनियोग अग्न्याधान कर्म में मरुतों को पुरोडाश अर्पित करने के

१ तै०सं० ४।६।५।५-६, मै०सं० २।११, का०सं० १८।६।

लिये किया गया है ।[१] इन्द्र के नाम पर आधारित यज्ञ में मरुतों को आहुतियाँ अर्पित करने का कारण सम्भवतया यह है कि वेदों में प्राय: इन्द्र और मरुतों की साथ-साथ स्तुति की जाती है। एक दूसरे के विशेषण भी समान हैं।

इन्हीं मन्त्रों के आगे एक मन्त्र है जिसमें मरुतों को इन्द्र का आज्ञानुकारी कहा गया है। पा०गृ० (२।१५।६) में इसका विनियोग इस यज्ञ के अन्त में किया गया है। मन्त्र निम्नलिखित है :—

इन्द्रं दैवीर्विशो मरुतोऽनुवर्त्मानोऽभवन्यथेन्द्रं दैवीर्विशो मरुतोऽनुवर्त्मानोऽभवन् एवमिमं यजमानं दैवीश्च विशो मानुषीश्चानुवर्त्मानो भवन्तु ।। [१००२]

दिव्य प्रजा मरुतों ने इन्द्र का अनुसरण किया। जिस प्रकार दिव्य मरुतों ने इन्द्र का अनुसरण किया, उसी प्रकार सब दिव्य और मानवी प्रजायें इस यजमान का अनुसरण करें ।।

पा०गृ० (२।१०।१७) में अध्यायोपाकर्म के अन्तर्गत यदि आचार्य को अधिक शिष्यों की अभिलाषा हो तो उसके द्वारा इन सब मन्त्रों के उच्चारण का विधान है। सम्भवतया उस प्रसंग में मरुतों के संख्या–बाहुल्य से इनके विनियोग की प्रेरणा मिली होगी।

---

१. का० श्रौ० १८।४।२३-२५, आप० श्रौ० १७।१६।१६, बौ०श्रौ० १०।५२, ५३, मा०श्रौ० ६।२।५।२३।

चतुर्दश अध्याय

वार्षिक यज्ञ

आग्रहायणी

इस कर्म का एक और नाम **प्रत्यवरोहण** भी है। उपर्युक्त नाम तथा आग्रहायणीकर्म नाम का आधार यह प्रतीत होता है कि इसका अनुष्ठान नववर्षारम्भ की या मार्गशीर्ष मास की पूर्णिमा को किया जाता है। क्योंकि इस कर्म में विनियुक्त कुछ मन्त्रों में आग्रहायणी को **संवत्सरस्य पत्नी** कहा गया है, अतः सम्भवतया इसे नववर्षोत्सव के रूप में मनाया जाता था। इस विषय में यह ध्यान देने योग्य है कि अष्टका को भी नववर्षोत्सव के रूप में मनाया जाता था।[1] और इस बात की पुष्टि अधोगामी विवेचन से भी होती है क्योंकि प्रत्यवरोहण और अष्टका के बहुत से मन्त्र परस्पर समान हैं।

आहुतियाँ

पा० गृ० (३।२।२) में विधान है कि स्थालीपाक-श्रपण के पश्चात् कर्ता को चार मन्त्रों का उच्चारण करते हुए चार आज्याहुतियाँ अर्पित करनी चाहियें। इन चार मन्त्रो में से अन्तिम दो (**संवत्सराय** इत्यादि तथा **ग्रीष्मो हेमन्त** इत्यादि) का विवेचन पूर्ववर्ती पृष्ठों में किया जा चुका है (दे० मं० सं० ८९९-९००)। प्रथम दो मन्त्र निम्नलिखित हैं :—

यां जनाः प्रतिनन्दन्ति रात्रीं धेनुमिवायतीम्।
संवत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गली ॥ [१००३]

संवत्सरस्य प्रतिमा या तां रात्रीमुपास्महे।
प्रजां सुवीर्यां कृत्वा दीर्घमायुर्व्यश्नवै ॥ [१००४]

आती हुई गाय के समान जिस रात्रि का लोग अभिनन्दन करते हैं, जो वर्ष की पत्नी है, वह हमारे लिये कल्याणकारिणी हो ॥ जो वर्ष की प्रतिमा है, हम उस रात्रि की उपासना करते हैं। मैं अपनी सन्तान को वीरतायुक्त बनाकर दीर्घ आयु प्राप्त करूं ॥

हि० गृ० (१।१७।२) और भा० गृ० (२।२) में प्रथम मन्त्र का विनियोग इसी

---

१. ई० वै० कल्प०, पृ० ४१४।

कर्म के अन्तर्गत स्थालीपाक आहुतियों के लिये किया गया है। इन गृह्यसूत्रों में स्थालीपाकाहुतियों के निमित्त एक अन्य मन्त्र का विनियोग भी किया गया है। हि० गृ० के उस मन्त्र का और इस (प्रथम) मन्त्र का उत्तरार्ध एक ही है। भा० गृ० में उत्तरार्ध यह है :—

संवत्सरं कल्पयन्ती सा नः कामदुघा भवत् ॥

(वर्ष का निर्माण करती हुई वह हमारे लिये अभीष्ट-फलप्रदा हो ॥)

इन दोनों गृह्यसूत्रों में उस मन्त्र का पूर्वार्ध निम्नलिखित है :—

शिवा पशुभ्यो दारेभ्यः शिवा नक्तं शिवा दिवा ॥

(पशुओं और पत्नियों के लिये कल्याणकरी, रात्रिमें कल्याणकरी, दिनमें कल्याणकरी)

द्वितीय मन्त्र का विनियोग का० गृ० (६०।५) द्वारा इसी कर्म में आज्याहुति के लिये किया गया है। इसी गृह्यसूत्र में इसी मन्त्र का विनियोग जातकर्म के अन्तर्गत शिशु-जन्म के तत्काल पश्चात् आहुति अर्पित करने के लिये भी किया गया है (३४।४)। सम्भवतया इस दोहरे विनियोग का आधार उत्तरार्ध में अभिव्यक्त सन्तति-सम्बन्धी प्रार्थना है। क्योंकि अधिकांश गृह्यसूत्रों में इन दोनों का विनियोग अष्टका कर्म में किया गया है, अतः इनका विस्तृत विवेचन उसी कर्म में किया जायेगा। (दे० मं० सं १०७४ के आगे)

स्थालीपाकाहुतियों के लिये उपर्युक्त दो मन्त्रों के साथ-साथ हि० गृ० १।१७।२ और भा० गृ० २।२ में निम्नलिखित दो मन्त्रों का विनियोग भी किया गया है :—

इडायै सृप्तं घृतवच्चराचरं जातवेदो हविरिदं जुषस्व।
ये ग्राम्याः पशवो विश्वरूपास्तेषां सप्तानामिह रन्तिरस्तु पुष्टिः ॥
पौर्णमासी पूरयन्त्यायान्त्यपरापरान् ।
मासार्धमासान् विभजति सा नः पूर्णाभिरक्षतु ॥ [१००५-१००६]

हे जातवेदा, इडा की प्रवाहशील, घृत से युक्त, चर और अचर इस आहुति को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कीजिये। सभी रूपों वाले जो ग्राम्य (पालतू) पशु हैं, उन सातों प्रकार के पशुओं के लिये यहाँ सुखद निवास और पोषण प्राप्त हो ॥ समृद्धि प्रदान करने वाली, एक दूसरे के पश्चात् आने वाली, महीनों और पक्षों का विभाजन करती हुई यह पूर्ण पूर्णमासी हमारी रक्षा करे ॥ ओ० ब०

मन्त्रों का उपरिलिखित पाठ हि० गृ० में से उद्धृत है। भा० गृ० में इडायै

सूप्तम् के स्थान पर इडायाः पदम्, पुष्टिः के स्थान पर पुष्ट्यै,...परान् के स्थान पर ...परम् और मासार्धमासान् विभजति के स्थान पर अर्धमासान् विभजन्ती पाठान्तर है। अन्तिम पाठान्तर के द्वारा निस्सन्देह द्वितीय मन्त्र का छन्दःसंशोधन होकर पूर्ण अनुष्टुभ् बन गया है। गो० गृ० ४।१।१३ (मं० ब्रा० २।२।१४) में प्रथम मन्त्र का विनियोग अष्टका के अन्तर्गत एक अन्नाहुति अर्पित करने के लिये किया गया है। कौशिक० १३८।१० में अथर्व० ३।१०।६ का विनियोग इसी क्रिया में किया गया है। यह अथर्व० मन्त्र भी उपरिलिखित मन्त्रों में से प्रथम के बहुत समान है। इस मन्त्र का उत्तरार्ध स्वल्प पाठान्तर-सहित तै० आ० (३।११।१२) में विद्यमान है। भारद्वाज द्वारा दिया गया इसका पाठ कुछ श्रौतसूत्रों में इसके पाठ के बहुत निकट है। उन श्रौतसूत्रों में यज्ञाग्नि के अंगारों पर यज्ञ-सामग्री तपाने के लिये इसका विनियोग हुआ है।[1] द्वितीय मन्त्र किसी प्राग्-गृह्यसूत्र ग्रन्थ में अनुपलब्ध है। सम्भवतया इसका स्रोत अब लुप्त है।

गोभिल और खादिर द्वारा पायसाहुति के साथ निम्नलिखित मन्त्र के उच्चारण का विधान किया गया है[2]:—

प्रथमा हव्युवास सा धेनुरभवद्यमे।
सा नः पयस्वती दुहा उत्तरामुत्तरां समाम्। [१००७]

जो वह आग्रहायणीरूपा (प्रथमा) गौ यम में उत्पन्न हुई और दुग्धरूपी आहुति में कारणरूप में प्रविष्ट हुई, वह इष्टफलदायिनी उत्तरोत्तर प्रतिवर्ष हमें विविध कामनाएँ प्रदान करे॥ गु० वि०

यह मन्त्र अथर्ववेद, मैत्रायणी और काठक संहिताओं में विद्यमान है।[3] क्योंकि अधिकांश गृह्यसूत्रों में इससे अत्यधिक मिलते-जुलते मन्त्र का विनियोग अष्टका में किया गया है, अतः इसका विस्तृत विवेचन वहीं आगामी अध्याय में किया जायेगा।

मानव गृह्यसूत्र (२।७।१) के अनुसार पायसाहुति के साथ निम्नलिखित दो मन्त्रों का पाठ किया जाना चाहिये :—

श्वेतो रुषत्यो विदधात्यश्वो दधद्गर्भं वृषः संत्वर्यां ज्योक्।
समं जनाश्चक्रमयो वसानाः प्रौषादसाविरसि विश्वमेतत्।
श्वेताय रौषिदश्वाय स्वाहा॥ [१००८]
अभयं नः प्राजापत्येभ्यो भूयात् स्वाहा॥ [१००९]

---

१. आ० श्रौ० २।२।१७, आप० श्रौ० ६।५।७, मा० श्रौ० १।६।१।१५।
२. गो० गृ० ३।६।६ (मं० ब्रा० २।२।१), खा० गृ० ३।३।१८।
३. अथर्व० ३।१०।१, मै०सं० २।१३।१०, का०सं० ३९।१०।

श्वेतवर्ण अतिबलशाली अश्व (सूर्य) सर्वदा उषा में गर्भ धारण करता हुआ विविधवर्णा (ऋतुओं) का विधान करता है। इस संसार में रहने वाले लोग (उसके) साथ संक्रमणशील हैं। (हे सूर्य) तुम उषा के अनुगामी होकर उनके लिये प्रकट हुए हो। विविधवर्ण किरणों वाले श्वेत (सूर्य) के लिए यह आहुति है। प्रजापति के सन्तानभूत हमें अभय प्राप्त हो।।

उपर्युक्त मन्त्रों में से प्रथम किसी अन्य ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं है। इस मन्त्र का पाठ भ्रष्ट प्रतीत होता है। इसी कारण ऊपर जो अर्थ दिया गया है वह बहुत स्पष्ट नहीं बन पड़ा है। ड्रेस्डन इसका पूर्ण अनुवाद करने में असमर्थ रहा है। किन्तु उसने केवल **रौषिदश्वाय** को अशुद्ध माना है और इसके स्थान पर **रौहिदश्वाय** के बोह्तलिक के सुझाव का उद्धरण देते हुए स्वयं **रौहिताश्व** अथवा **रोहिताश्व** पाठ का सुझाव प्रस्तुत किया है।[1] यहाँ **रौषदश्वाय** पाठ अधिक संगत होगा क्योंकि मन्त्र के पूर्वार्ध में **रुषत्** (यः) का उल्लेख हुआ ही है। वस्तुतः सम्पूर्ण उत्तरार्ध ही भ्रष्ट है है और ड्रेस्डन द्वारा किया गया इसका अनुवाद बोधगम्य नहीं है।[2] आ०गृ० २।३।५ के अनुसार इसी कर्म के अन्तर्गत अग्नि का अवलोकन करते हुए कर्ता को दूसरे मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये। यह मन्त्र भी किसी प्राग्-गृह्यसूत्र ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं है।

इन दो मन्त्रों के अतिरिक्त मा० गृ० और आ० गृ० में इसी प्रसंग में अन्य दो मन्त्रों (**अप श्वेतपदा** इत्यादि तथा **न वै** इत्यादि) का भी विनियोग किया गया है। इनका विस्तृत विवेचन पीछे किया जा चुका है। (दे०मं०सं० ९९०, ९९१)

आ०गृ० का विधान है कि इसके तत्काल पश्चात् हेमन्त का मनन करते हुए कर्ता को निम्नोक्त मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये :—

शिवो नः सुमना भव ॥ [१०१०]

हे हेमन्त, हमारे प्रति कल्याणकर और सुमनस्क हो जाओ।

यह हि०गृ० १।१६।१८ में अशुभ पक्षी के अपशकुन के उपशमनार्थ प्रयुक्त एक मन्त्र का अंश है। यह सभी यजुर्वेदीय संहिताओं के एक मन्त्र का भी अंश है।[3] वह

---

१. मा०गृ० (अनु०), पृ० १३१, पा०टि० ४।

२. "चर का निर्माण करता हुआ (?) जल में प्रवेश करता हुआ (?)·········(?) यह समस्त चर संसार।" उसके मतानुसार—"प्रोषादसाविरसि इतना भ्रष्ट है कि उसका कोई विद्वत्सम्मत संशोधन नहीं हो सकता।"

३. वा०सं० १६।१३,५१, तै०सं० ४।५।१।४; १०।४, मै०सं० २।९।२, का०सं० १७।११,१६।

मन्त्र रुद्र को सम्बोधित है और शतरुद्रीय स्तोत्र में सम्मिलित है।

शां०गृ० ४।१८।२ और कौ०गृ० ४।४।६ में आज्याहुतियों के साथ निम्नलिखित मन्त्र के उच्चारण का विधान है:—

सुहेमन्तः सुवसन्तः सुग्रीष्मः प्रतिधीयताम्।
सुवर्षाः सन्तु नो वर्षाः शरदः शम्भवन्तु नः॥ [१०११]

हमें शुभ हेमन्त, शुभ वसन्त और शुभ ग्रीष्म प्रदान की जाये। वर्षा हमारे लिये शुभ वर्षा हो, शरद् हमारे लिये कल्याणकर हों॥

मन्त्र का यह पाठ शां०गृ० में से उद्धृत है। कौ०गृ० में **प्रतिधीयताम्** के स्थान पर **प्रतिभूषन्ताम्** पाठ है। पा०गृ० ३।२।१२ के अनुसार उपनीत व्यक्ति प्रत्यवरोहण के पश्चात् इस मन्त्र का पाठ करते हैं। इसमें पूर्वार्ध के अन्त में **नः** भी है और उत्तरार्ध **शिवा नो वर्षाः सन्तु शरदः सन्तु नः शिवाः** है। यह मन्त्र किसी प्राग्-गृह्यसूत्र ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं। क्योंकि इस मन्त्र में सभी ऋतुओं का परिगणन किया गया है, अतः आग्रहायणी अथवा नववर्ष उत्सव के अवसर पर इसका प्रयोग संगत है।

का०गृ० ६०।२ में निर्देश है कि अग्नि में अपूप-अवदानों की आहुति अर्पित करते समय निम्नलिखित मन्त्र का पाठ किया जाना चाहिये:—

एवा वन्दस्व वरुणं बृहन्तं नमस्या धीरममृतस्य गोपाम्।
स नः शर्म त्रिवरूथं वि यंसत् पातं नो द्यावापृथिवी उपस्थे॥ [१०१२]

हे मेरे आत्मा! महान् वरुण की ही वन्दना करो, उस अमरत्व के रक्षक, विद्वान् को नमस्कार करो। वह हमें तीनों लोकों द्वारा वरणीय शरण प्रदान करे। हे पृथ्वी और आकाश, अपने अंक में हमारी रक्षा कीजिये॥

यह मन्त्र ऋग्वेद, मैत्रायणी और काठक संहिताओं में विद्यमान है।[1] कौ०ब्रा० ६।५ और ऐ०ब्रा० १।३०।२७ के अनुसार अग्नीषोम-प्रणयन कर्म के अन्तर्गत यदि कोई व्यक्ति यजमान की शरण ग्रहण करना चाहे अथवा उससे रक्षा की कामना करे, तो होता को इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए उस कर्म की परिसमाप्ति करनी चाहिये। तै०ब्रा० २।५।८।४ और आप०श्रौ० १४।६।१ के अनुसार इसी कर्म में ब्रह्मा इसका उच्चारण करते हुए अपने अंक में सोम लेता है। मा० श्रौ० २।२।४।३३ के अनुसार यजमान को इसका उच्चारण करते हुए पूर्वद्वार से प्रवेश करना चाहिये। आ०श्रौ० ३।७।१५ और शां०श्रौ० ६।१०।११ में वरुण के लिये उद्दिष्ट पशु की आहुति

---

१. ऋ० ८।४२।२, मै०सं० १।२।१३, का०सं० १७।१६।

के लिये इसे आनुवाक्या के रूप में उद्धृत किया गया है। परन्तु इस समस्त श्रौत-विनियोग से इसके गृह्य-विनियोग के साथ इसका विशेष सम्बन्ध लक्षित नहीं होता। किन्तु सामान्य प्रार्थना के रूप में इसके विनियोग का औचित्य सर्वत्र सिद्ध हो सकता है।

स्थालीपाक-आहुति के लिये का० गृ० (६०।३) में निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है :—

उप ते गा इवाकरं वृणीष्व दुहितर्दिवः। रात्रि स्तोमं न जिग्युषे॥ [१०१३]

हे आकाशपुत्रि रात्रि, जिस प्रकार विजयी की स्तुति की जाती है, तथा किसी को गौएँ उपहार दी जाती हैं, उसी प्रकार मैं आपको आहुति प्रदान कर रहा हूँ। इसे स्वीकार कीजिये ॥ दे० पा०

यह मन्त्र ऋ०(१०।१२७।८) और का०सं०(१३।१६)में विद्यमान है। तै०ब्रा० (२।४।६।१०) के अनुसार यदि कोई व्यक्ति स्वप्न में कोई अपशकुन देखे तो उसे इसका उच्चारण करते हुए आहुति प्रदान करनी चाहिये। ऐसा प्रतीत होता है कि इस विनियोग में रात्रि और स्वप्न को परस्पर सम्बद्ध माना गया है। गृह्यसूत्रकार के मस्तिष्क में भी सम्भवतया मार्गशीर्ष की पूर्णमासी रही होगी।

इसी गृह्यसूत्र में आगे (६०।५) अन्य आहुतियों के साथ निम्नलिखित मन्त्रों (का० सं० ४०।११) का विनियोग किया गया है:—

अव ते हेडो वरुण नमोभिरव यज्ञेभिरीमहे हविर्भिः।
क्षयन्नस्मभ्यमसुर प्रचेता राजन्नेनांसि शिश्रथः कृतानि॥ [१०१४]
उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।
अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम॥[1]
तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदाशास्ते यजमानो हविर्भिः।
अहेडमानो वरुणेह बोध्युरुशंस मा न आयुः प्रमोषीः॥ [१०१५]

हे वरुण, स्तोत्रों, पञ्चमहायज्ञों आदि, पुरोडाशादि आहुतियों द्वारा हम आपका क्रोध दूर करते हैं। अतः प्रसन्नचित्त होकर हे बलवान्, ज्ञानवान्, कीर्तियुक्त देव, आप हमें निवास प्रदान कीजिये और हमारे द्वारा किये गये अपराधों को नष्ट कीजिये ॥१॥ हे वरुण, यजमान आहुतियों द्वारा जिन पदार्थों की आशा करता है, उनकी इच्छा से मन्त्रद्वारा आपकी स्तुति करता

१. इस मन्त्र के विस्तृत विवेचनार्थ दे० मं० सं० ६४० (समावर्तन)।

गृ०वि० २९]

हुआ तथा अनादर न करता हुआ आपके पास जाता हूँ। हे सर्वस्तुत, आप मेरी उस प्रार्थना को जानिये, हमारी आयु का नाश न कीजिये ।।३।।

यद्यपि ये मन्त्र ठीक इसी क्रम में केवल का० सं० में प्राप्त होते हैं, तथापि अन्य संहिताओं में भी वे एक दूसरे के बहुत निकट विद्यमान हैं।[1] तै०ब्रा०, तै०आ०, शां० श्रौ० और आप० श्रौ० में भी ये मन्त्र साथ ही साथ उद्धृत किये गये हैं।[2] इनमें से तै० ब्रा० और शां० श्रौ० में इनका विनियोग वरुण को अर्पित पशु की आहुति के लिये किया गया है। तै० आ० में ये कूष्माण्डहोम के प्रसङ्ग में विनियुक्त हैं। आपस्तम्ब के अनुसार वेदीनिर्माण के प्रसङ्ग में यजमान के दीक्षा-स्नान के स्थान पर तीन इष्टकाओं के आधान के समय इनका पाठ किया जाना चाहिये। आ० श्रौ०, शां०श्रौ० और मा०श्रौ० में केवल प्रथम दो मन्त्रों का विनियोग वरुण-यज्ञ में आहुतियों के लिये किया गया है।[3] अन्तिम दो मन्त्रों का कर्मकाण्डीय महत्त्व सर्वविदित है क्योंकि प्राय: सभी श्रौत और गृह्य कर्मों में यज्ञ की सामान्य प्रक्रिया में इनका पाठ किया जाता है।

हि० गृ० (२।१७।३) में स्वल्प परिवर्तन सहित निम्नलिखित मन्त्र (का० सं० २।१५) के पाठ के साथ एक स्विष्टकृत् आहुति अर्पित करने का विधान है :—

स्विष्टमग्ने अभि तत् पृणाहि विश्वा देव पृतना अभिष्य।
उरुं नः पन्थां प्रदिशन् विभाहि ज्योतिष्मद्धेह्यजरं न आयुः।। [१०१६]

हे अग्नि, हमारे इस यज्ञ को शुभ करके पूर्ण कर दीजिये, हे देव, सभी शत्रुसेनाओं को नष्ट कर दीजिये। हमारे लिये विस्तृत मार्ग का निर्देश करते हुए प्रकाशित होइये और हमें जरारहित तेजस्वी आयु प्रदान कीजिये ।।

पा० गृ० (३।१।३) में इसका विनियोग आग्रयणकर्म में स्विष्टकृत् आहुति अर्पित करने के लिये किया गया है। इसमें इसके **पृणाहि** के स्थान पर **पृणीहि, विश्वा** के स्थान पर **विश्वञ्च, देव** के स्थान पर **देवः, अभिष्य** के स्थान पर **अविष्यत्, उरुं नः** के स्थान पर **सुगन्नु** और **विभाहि** के स्थान पर **न एहि** पाठान्तर हैं। बौ० गृ० (१।६।१८) में इसे विवाहकर्म के अन्तर्गत लाजाहोम में विनियुक्त किया गया है। इस गृह्यसूत्र में भी मन्त्र का पाठ पा० गृ० के बहुत समान है। हि० गृ० और आ० गृ०

१. ऋ० १।२४।१४,१५,११, तै० सं० २।५।१२।१; ४.२।११।२, मै०सं० ४।१०।४; १४।१७।
२. तै०ब्रा० २।८।१।६, तै०आ० २।४।१. शां० श्रौ० ६।१०।१, आप०श्रौ० १७।२२।३।
३. आ० श्रौ० ६।१३।७, शां० श्रौ० ८।११।५, मा० श्रौ० ५।१।३।२६।

में इसके विनियोग की पुष्टि तै० ब्रा० और आप० श्रौ० से होती है क्योंकि उन ग्रन्थों में भी विभिन्न यज्ञों में स्विष्टकृत् आहुति के साथ ही इसके विनियोग का विधान है।[1]

पा० गृ० (३।२।७) में विधान है कि अवरोहण कर्म के पश्चात् कर्ता को अग्नि का अवलोकन करते हुए निम्नोक्त मन्त्र का जाप करना चाहिये :—

अयमग्निर्वीरतमोऽयं भगवत्तमः सहस्रसातमः।
सुवीर्योऽयं श्रेष्ठ्यै दधातु नौ ॥ [१०१७]

यह अग्नि सबसे वीर है, यह सबसे अधिक ऐश्वर्यवान् है, यह सहस्रों की प्रतिस्पर्धा करने वालों में श्रेष्ठ है। यह शोभन वीरता वाला हम दोनों (दम्पती) को कल्याण प्रदान करे॥

शां०गृ० ३।७।३ में प्रवास से लौटने पर गृहस्थ द्वारा उच्चारणार्थ इससे मिलते जुलते निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है :—

अयं नो अग्निर्भगवानयं नो भगवत्तरः।
अस्योपसद्ये मा रिषामायं श्रेष्ठये दधातु नः ॥[१०१८]

यह अग्नि हमारे प्रति ऐश्वर्यवान् है, यह हमारे प्रति अधिक ऐश्वर्यवान् है। हम इसके सान्निध्य में दुःखी न हों, यह हमें कल्याण प्रदान करे॥

मन्त्र का उपरिलिखित पाठ पूर्ण अनुष्टुभ् छन्द में है। कौशिक० (८९।१३) में इसका विनियोग पिण्डपितृयज्ञ के अन्तर्गत अग्नि में समिदाधान करने के लिये विहित है। तदनुसार **भगवान्** के स्थान पर **अध्यक्षः**, **भगवत्तरः** के स्थान पर **वसुवित्तमः** और **श्रेष्ठये दधातु नः** के स्थान पर **रक्षतु नः प्रजाम्** पाठान्तर हैं। अग्नि को सम्बोधित होने के कारण पा० गृ० और कौशिक० में इसके विनियोग का औचित्य स्पष्ट है। शां०गृ० में भी सम्भवतया प्रवास से लौटकर गृहस्थ इसके द्वारा गृह्याग्नि को ही सम्बोधित करता है। तै०सं० १।५।१०।२ और का०सं० ७।१४ में भी इससे मिलता जुलता एक मन्त्र प्राप्त होता है।

भूमि-स्पर्श

हि० गृ० (२।१७।४) में विधान है कि कर्ता को निम्नलिखित मन्त्रों का पाठ करते हुए अपने हाथों से भूमिस्पर्श करना चाहिये :—

प्रतिक्षत्रे प्रतितिष्ठामि राष्ट्रे प्रत्यश्वेषु प्रतितिष्ठामि गोषु।
प्रत्यङ्गेषु प्रतितिष्ठाम्यात्मन् प्रति प्राणेषु प्रतितिष्ठामि पुष्टे।
प्रति द्यावापृथिव्योः प्रतितिष्ठामि यज्ञे ॥[१०१९]

---

१. तै० ब्रा० २।४।१।४; ३।१।३।३; १२।१।१; ३।४, आप० श्रौ० ९।८।८।

त्रया देवा एकादश त्रयस्त्रिंशाः सुराधसः ।
बृहस्पतिपुरोहिता देवस्य सवितुः सवे । देवा देवैरवन्तु मा ॥[१०२०]

मैं बल के आधार पर और राष्ट्र के आधार पर प्रतिष्ठित हूँ, मैं घोड़ों और गोओं अर्थात् पशुधन के आधार पर प्रतिष्ठत हूँ, मैं अंगों तथा आत्म-शक्ति पर प्रतिष्ठित हूँ, मैं इन्द्रियों और पुष्टि के आधार पर प्रतिष्ठित हूँ, मैं पृथ्वी-आकाश तथा यज्ञ के आधार पर प्रतिष्ठित हूँ ॥ बृहस्पति के नेतृत्व में, सवितृ-देव की प्रेरणा पर, सुपूज्य, तीन, ग्यारह अथवा तेंतीस देव अन्य देवों के साथ मेरी रक्षा करें ॥

विभिन्न गृह्यसूत्रों में प्रथम मन्त्र के विभिन्न विनियोग दृष्टिगोचर होते हैं। गो० गृ० और खा० गृ० में इनका विनियोग अग्नि के पश्चिम में आस्तृत घास पर हाथ रखने के लिये किया गया है।[1] मं० ब्रा० में द्वितीय पंक्ति के पादों का परस्पर विपर्यय हो गया है। इसके अतिरिक्त इस पंक्ति में इसमें **आत्मन्** के स्थान पर **आत्मनि, प्राणेषु** के स्थान पर **प्राणे** तथा **पुष्टे** के स्थान पर **पुष्टौ** पाठान्तर हैं। भा० गृ० (२।२) में इसके द्वारा कर्ता के प्रत्यवरोहण-स्थल के अभिमन्त्रण का विधान है। शाङ्खायन और आपस्तम्ब के मतानुसार परिवार के सदस्यों को तृणास्तरण पर लेटते हुए इस मन्त्र का पाठ करना चाहिये।[2] मं० पा० में प्रथम पंक्ति तो ठीक हि० गृ० के समान है, किन्तु उसके पश्चात् निम्नलिखित पाठ है :—

प्रति प्रजायां प्रतितिष्ठामि भव्ये ।
इह धृतिरिह विधृतिरिह रन्तिरिह रमतिः ॥

शां० गृ० में **क्षत्रे** के स्थान पर **ब्रह्मन्**, **राष्ट्रे** के स्थान पर **क्षत्रे, प्राणेषु** के स्थान पर **पशुषु** और **पुष्टे** के स्थान पर **पुष्टौ** पाठ हैं। साथ ही इसमें **प्रत्यङ्गेषु प्रतितिष्ठाम्यात्मन्** शब्दों का अभाव है और हि० गृ० के मन्त्र की तृतीय पंक्ति के स्थान पर **प्रतिप्रजायां प्रतितिष्ठाम्यन्ने** पाठ है। आग्रहायणी में इस मन्त्र के उपर्युक्त विविध विनियोगों के अतिरिक्त पा० गृ० (१।१०।२) में विधान है कि यदि मार्ग में यान में कोई क्षति हो जाये तो नये यान पर बैठते हुए राजा अथवा वधू को इस मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये। बौ० गृ० (४।४।७) में भी इसी प्रसङ्ग में यान में पशु जोतनेके समय इसका विनियोग किया गया है। द्वितीय मन्त्र किसी अन्य गृह्यसूत्र में प्रयुक्त नहीं हुआ है।

---

१. गो० गृ० ३।६।११ (मं० ब्रा० २।२।२,३), खा० गृ० ३।३।१६।
२. शां० गृ० ४।१८।१०, आप० गृ० ७।१६।६ (मं० पा० २।१८।३-१७)

ये दोनों ही मन्त्र यजुर्वेदीय संहिताओं में साथ साथ ही नगण्य पाठान्तर-सहित उपलब्ध होते हैं।[1] इसी प्रकार से ब्राह्मणों और श्रौतसूत्रों में भी ये दोनों साथ साथ ही विद्यमान हैं।[2] इन सभी ग्रन्थों में प्रथम मन्त्र का विनियोग यजमान के दीक्षा-कर्म में यजमान द्वारा उच्चारणार्थ उस समय किया गया है जब वह यज्ञ-आसन्दी से मृगचर्म पर उतर कर आता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्राग्-गृह्यसूत्र साहित्य में भी यह मन्त्र अवरोहण अथवा विस्तृत अर्थ में भूमि-स्पर्श से सम्बद्ध था। पा० गृ० का नये यान पर बैठने के कर्म में इसका विनियोग भी इन कर्मों के बहुत निकट है। और इन सब विनियोगों के मूल में **प्रतितिष्ठामि** (प्रतिष्ठित होता हूँ) शब्द है। बौ० गृ० के विनियोग की केवल लक्षणा द्वारा ही यह व्याख्या की जा सकती है कि पशु को यान में जोतने के माध्यम से मानो वह अपने प्रतिष्ठित होने की बात कहना चाहता है। ब्राह्मण और श्रौत ग्रन्थों में द्वितीय मन्त्र का विनियोग विविध रूप से किया गया है। श० ब्रा० में इसका उल्लेख साम के **उक्थ** अथवा **प्रतिष्ठा** के रूप में किया गया है। का० श्रौ० के अनुसार इसका उच्चारण उदकाञ्जलि अर्पित करते हुए किया जाना चाहिये। तै० ब्रा० और आप० श्रौ० में विधान है कि मृगचर्म पर उतरने के पश्चात् आज्याहुतियों के साथ इनका पाठ किया जाना चाहिये। किन्तु इनमें से किसी विनियोग द्वारा हि० गृ० के विनियोग की पुष्टि नहीं होती।

शां० गृ० (४।१८।४) में निर्देश है कि भूमि पर जलाभिषेक करते हुए निम्न-लिखित मन्त्र (ऋ० ४।५८।१) का उच्चारण करना चाहिये :—

समुद्रादूर्मिर्मधुमाँ उदारदुपांशुना सममृतत्वमानट् ।
घृतस्य नाम गुह्यं यदस्ति जिह्वा देवानाममृतस्य नाभिः ॥ [१०२१]

यह माधुर्ययुक्त जल की लहर समुद्र से प्रकट हुई है और (सूर्य)—किरण के सान्निध्य में इसने अमृतभाव की प्राप्ति की है। यह (लहर) जो कि घृत का गुप्त नाम है, देवों की जिह्वा (रस) और अमरत्व का केन्द्र है।

आप० गृ० ४।१०।१२ (मं० पा० २।३।२) के अनुसार उपनयन के अन्तर्गत आचार्य को इस मन्त्र का पाठ करते हुए शिष्य द्वारा उस (शिष्य) के ऊपर तीन बार जलाभिषेक कराना चाहिये। मा० गृ० १।११।२२ में इसका विनियोग विवाह के अन्तर्गत सप्तपदी के पश्चात् अग्नि में तीन घृतानुलिप्त शमी-समिधाओं के आधान के

---

१. वा० सं० २०।१०।११, मै० सं० ३।११।८, का० सं० ३८।४।

२. श० ब्रा० १२।८।३।२२,२८, तै० ब्रा० २।६।५।६,७, का० श्रौ० १९।४।२३,२४, आप० श्रौ० १९।१०।२,३।

लिये किया गया है। यह मन्त्र यजुर्वेदीय-संहिताओं में भी विद्यमान है।[1] ऋग्वेदीय ब्राह्मणों और श्रौतसूत्रों में इस मन्त्र से आरम्भ होने वाले सम्पूर्ण सूक्त का विनियोग विविध कर्मों में आज्याहुतियों के लिये किया गया है।[2] आप० श्रौ० ५।१७।४ और मा० श्रौ० १।५।४।१६ में अग्न्याधान के अन्तर्गत अग्नि पर एक घृतानुलिप्त शमी-समिधा के आधान के समय इसके उच्चारण का विधान है। यहाँ मा० गृ० में इसके विनियोग का आधार प्रतीत होता है। इस मन्त्र के सभी श्रौत-विनियोगों से घृत अथवा आज्य के साथ इसका सम्बन्ध स्पष्ट होता है। किन्तु गृह्यसूत्रों में यह जल से भी सम्बद्ध है। मन्त्र के इस दोहरे विनियोग की पुष्टि शौनकीय सर्वानुक्रमणी से भी होती है क्योंकि वहाँ अग्नि, सूर्य, आपः अथवा घृत को इस समस्त सूक्त का देवता बताया गया है। परन्तु यास्क ने इसका केवल एक ही देवता—आदित्य अथवा सूर्य बताया है क्योंकि, "वह समुद्र और जल से उदय होता है।"[3] यद्यपि यास्क ने इसकी पुष्टि में ब्राह्मण-वाक्य उद्धृत किया है, तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि उसके ध्यान में इसका विनियोग नहीं आया।

का० गृ० ६०।६ में शय्या पर जलसिंचन करने के निमित्त सुप्रसिद्ध आपोहिष्ठीय मन्त्रों (ऋ० १०।९।१-३) का विनियोग किया गया है। इसके पश्चात् इसमें शय्या को शमीशाखा द्वारा झाड़ने के लिये निम्नलिखित मन्त्र[4] का विनियोग किया गया है :—

त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रं हवे हवे सुहवं शूरमिन्द्रम्।
ह्वयामि शक्रं पुरुहूतमिन्द्रं स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः॥ [१०२२]

मैं परित्राण करने वाले इन्द्र, रक्षक इन्द्र, प्रत्येक आह्वान पर सुखपूर्वक आह्वानयोग्य शूरवीर इन्द्र, अनेक जनों द्वारा आहूत शक्र (शक्तिशाली) इन्द्र का आह्वान करता हूँ। समृद्ध इन्द्र हमें कल्याण प्रदान करे॥

कौशिक और मानव ने इसका विनियोग विशिष्ट काम्य कर्मों में किया है। कौशिक० ५९।१४ के अनुसार समृद्धि के इच्छुक व्यक्ति को इसका उच्चारण करना चाहिये। मा० गृ० २।१५।६ में अपशकुनों के दुष्प्रभाव के उपशमन के निमित्त कर्म में तिलों की आहुति के साथ इसके उच्चारण का विधान है। इन दोनों गृह्यसूत्रों

---

१. वा०सं० १७।८९, मै०सं० १।६।२, का०सं० ४०।७।
२. ऐ०ब्रा० ५।१६।६, कौ०ब्रा० २५।१, आ०श्रौ० ८।९।२, शां०श्रौ० ११।१३।११।
३. नि० ७।१७ इत्यादित्यमुक्तं मन्यन्ते, समुद्राद् ह्येषोऽद्भ्य उदेतीति च ब्राह्मणम्॥
४. ऋ० ६।४७।११, अथर्व० ७।८६।११, वा० सं० २०।५०, तै० सं० १।६।१२।५, मै० सं० ४।९।२७, का० सं० १७।१८।

में अन्य कर्मों में भी इसका विनियोग किया गया है। मा० गृ० १।११।१६ में विवाह संस्कार में आहुतियों के साथ उच्चारणीय माङ्गल्य मन्त्रों में यह भी सम्मिलित है। कौशिक० १४०।६ में इन्द्रमहोत्सव में एक आहुति के साथ इसके उच्चारण का विधान है। आ० श्रौ० २।१०।४;६।६।५ में सामान्य समृद्धि प्राप्त करने के लिये उद्दिष्ट विविध काम्यकर्मों में इसका विनियोग किया गया है। का० श्रौ० १६।६।१३ में इसे पशु-पुरोडाश की आहुति के लिये याज्या के रूप में दिया गया है। वस्तुत: यह मन्त्र सामान्य समृद्धि की प्रार्थना है और उपर्युक्त सभी स्थलों पर इसकी विनियोगार्हता सिद्ध है।

शां०गृ० ४।१८।३ के अनुसार पलाश-शाखा द्वारा भूमि का सम्मार्जन करते हुए निम्नलिखित मन्त्र[1] का उच्चारण किया जाना चाहिये :—

शं नो मित्रः शं वरुणः शं नो भवत्वर्यमा।
शं न इन्द्रो बृहस्पतिः शं नो विष्णुरुरुक्रमः ॥ [१०२३]

हमारे लिये मित्र कल्याणकर हो, वरुण कल्याणकर हो, हमारे लिये अर्यमा कल्याणकर हो। हमारे लिये इन्द्र और बृहस्पति कल्याणकर हों, विस्तृत गति वाला विष्णु हमारे लिये कल्याणकर हो॥

इस मन्त्र का गृह्य-विनियोग श्रौत विनियोग द्वारा सम्पुष्ट है क्योंकि मा० श्रौ० ६।१।५।२२ में भी इसे वेदीचयन कर्म में भूमिसम्मार्जनार्थ दिया गया है।

शयन

कुछ गृह्यसूत्रों में विधान है कि परिवार के सभी सदस्यों को भूमि पर अथवा भूमि पर आस्तृत शय्या पर लेटते हुए निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये[2]:—

स्योना पृथिवि भवानृक्षरा निवेशनी। यच्छा नः शर्म सुप्रथः ॥
(दे० मं सं० ६६३)

कुछ अन्य गृह्यसूत्रों में भी इसी कर्म की अन्य क्रियाओं के लिये इस मन्त्र का विनियोग किया गया है। गोभिल, खादिर और आपस्तम्ब के अनुसार गृहस्थ को अपने हाथों से भूमिस्पर्श करते समय इसका उच्चारण करना चाहिये।[3] सम्भवतया

१. ऋ० १।६०।६, वा० सं ३६।६, अथर्व० १६।६।६—द्वितीय और चतुर्थ पाद परस्पर विपर्यासित, द्वितीय पाद का पाठ—शं विष्णुः शं प्रजापतिः।
२. आ० गृ० २।३।६, पा० गृ० ३।२।१३, का० गृ० ६०।८, हि० गृ० २।१७।६।
३. गो०गृ० ३।६।१८ (मं०ब्रा० २।२।७), खा०गृ० २।३।२४, आप०गृ० ७।१६।११ (मं० पा० २।१८।८)

गायत्री के स्थान पर अनुष्टुभ् छन्द बनाने के लिये मं० ब्रा० में इसके आगे देवान्मा भयादिति जोड़ा गया है। शां० गृ० ४।१८।५ में शयनार्थ शय्या बिछाने के लिये इसके उच्चारण का विधान है। मा० गृ० २।७।२ में नये वस्त्र से आच्छादित दर्भास्तरण पर जलाभिषेक करने के लिये इसका विनियोग किया गया है। भा० गृ० २।२ के अनुसार जिस स्थान पर उन्हें लेटना हो उसका अभिमन्त्रण इसके द्वारा किया जाना चाहिये। इस मन्त्र का विनियोग गृह्यसूत्रों में अन्य कर्मों में भी किया गया है। मानव और आपस्तम्ब ने वास्तुकर्म के अन्तर्गत गृहनिर्माण के लिये निर्दिष्ट भूमि के स्पर्श के समय इसके उच्चारण का विधान किया है।[1] शां०गृ० १।२७।९ में निर्देश है कि अन्नप्राशन संस्कार में शिशु को भूमि पर बिठाते समय इसका उच्चारण किया जाना चाहिये। इसी गृह्यसूत्र में अन्यत्र (३।१।१६ में) समावर्तन में रथावतरण के लिये इसका विनियोग किया गया है। मा० गृ० १।१०।५ के अनुसार विवाह-संस्कार में आसन बिछाने के समय भी इसका उच्चारण किया जाना चाहिये। कौशिक० ८०।३ में अन्त्येष्टि संस्कार के अन्तर्गत शव को भूमि पर उतारने के प्रसङ्ग में इसके उच्चारण का विधान है। स्पष्टतया उपर्युक्त सभी स्थलों में किसी न किसी प्रकार इस मन्त्र का सम्बन्ध या तो भूमि से, या उस पर किसी पदार्थ के रखने अथवा उतारने की क्रिया से है।

यह मन्त्र प्रायः सभी संहिताओं में विद्यमान है।[2] किन्तु तै० सं० में इसकी अनुपलब्धि आश्चर्यजनक है। निरुक्त ९।३२ में पृथ्वी को सम्बोधित मन्त्र के उदाहरणरूप इसे उद्धृत किया गया है। पृथ्वी-सम्बन्धी कर्मों से इसका सम्बन्ध श्रौत-सूत्रों में ही संस्थापित दिखाई देता है। आ० श्रौ० ८।१४।१८ के अनुसार महानाम्नी-अध्ययन के अवसर पर शिष्य को भूमिस्पर्श करते हुए इसका उच्चारण करना चाहिये। आप० श्रौ० १६।१७।१७ में अग्निचयन प्रसंग में आहवनीय-अग्निशाला में पदार्पण करते समय इसके उच्चारण का विधान है। शां०श्रौ० ९।२८।१३ में भी पृथ्वी को आहुति अर्पित करने के लिये इसके उच्चारण का निर्देश है।

हि० गृ० ३।१७।९ में कुशास्तरण पर शयनार्थ अधोलिखित मन्त्र का भी विनियोग किया गया है :—

बडित्था पर्वतानां खिद्रं बिभर्षि पृथिवि।
प्र या भूमिं प्रवत्वति मह्ना जिनोषि महिनि ॥ [१०२४]

---

१. मा०गृ० २।११।६,१०, आप०गृ० ७।१७।३ (मं०पा० २।१५।२)

२. ऋ० १।२२।१५, अथर्व० १८।२।१९, वा०सं० ३५।२१; ३६।१३, मै०सं० ४।१२।२, का०सं० ३८।१३

हे पृथ्वी, सत्य ही तुम पर्वतोंके बलको धारण किये हुए हो। हे महती, गमनशीला, (तुम ऐसी हो) जो अपने महत्त्व से भूमि को अर्थात् उसके निवासियों को (सुख-समृद्धि से) प्रसन्न करती हो ॥

आप० गृ० ७।१६।११ (मं० पा० २।१८।६) के अनुसार भूमिस्पर्श के समय इसका पाठ किया जाना चाहिये। यह ऋग्वेद और कृष्णयजुर्वेदीय संहिताओं में विद्यमान है।[1] मै० सं० में यह **स्योना पृथिवि** आदि मन्त्र के पश्चात् निर्बाधरूप से आता है। शां० श्रौ० तथा आप० श्रौ० में भी ये दोनों मन्त्र उपरिलिखित प्रसङ्ग में ही एक साथ प्रयुक्त किये गये हैं। उस मन्त्र के समान ही यह मन्त्र भी पृथ्वी को ही सम्बोधित है। कीथ ने इसे अस्पष्ट कहा है। इसका प्रमुख कारण **खिद्रम्** शब्द है। कीथ के अनुसार इसका अर्थ भार है।[2] ग्रिफ़िथ द्वारा अनुसृत सायण ने इसकी व्याख्या **पर्वतों अर्थात् मेघों का भेदन करने वाला बल** की है। मूल रूप में यह व्याख्या यास्क (नि० ११।३७) की है। परन्तु ऐसी व्याख्या के आधार में पृथ्वी के एक अन्तरिक्ष रूप की कल्पना अन्तर्निहित है।[3] तथापि इस मन्त्र के कर्म-विनियोग को दृष्टि में रखते हुए इस कल्पना की सीधी सङ्गति प्रतीत नहीं होती।

पा० गृ० ३।२।८ में विधान है कि परिवार के सदस्यों को कुशास्तरण पर लेटते हुए तीन मन्त्रों (वा० सं० २१।६-८) का उच्चारण करना चाहिये। उनमें से प्रथम (सुत्रामाणम् इत्यादि) मन्त्र का विवेचन विवाह संस्कार के अन्तर्गत किया जा चुका है (दे०मं०सं० २०६.)। इसी प्रकार तृतीय मन्त्र (आ नो मित्रावरुणा इत्यादि) का पूर्ण विवेचन आश्वयुजीकर्म के अन्तर्गत हो चुका है (दे०मं०सं० ९४४)। द्वितीय मन्त्र का पाठ निम्नलिखित है :—

सुनावमारुहेयमस्रवन्तीमनागसम्। शतारित्रां स्वस्तये ॥ [१०२५]

स्खलित न होने वाली, निर्दोष, सौ पतवारों वाली शोभन नौकारूपी पृथ्वी पर मैं कल्याणार्थ आरूढ़ होऊँ ॥

इसी गृह्यसूत्र में अन्यत्र (३।१५।१० में) नौकारोहण में इसका विनियोग हुआ है। इसकी तुलना तै० सं० १।५।११।५ और का० सं० २।३ के निम्नलिखित मन्त्र से की जा सकती है :—

इमां सुनावमारुहं शतारित्रां शतस्फ्याम्। अच्छिद्रां पारयिष्णुम् ॥ [१०२६]

---

१. ऋ० ५।८४।१, तै०सं० २।२।१२।३, मै०सं० ४।१२।२, का०सं० १०।१२।
२. तै०सं० (अनु०) पृ० १६१, पा०टि० २।
३. दुर्गः—त्वं भूमिं प्रजिन्वसीति व्यपदेशान्मध्यस्थाना ॥

इस सौ पतवारों वाली, सौ तलवारों वाली, छिद्ररहित, पार कराने वाली शोभन नाव (रूपी पृथ्वी) पर मैंने आरोहण किया है ॥

यह और वा० सं० मन्त्र, दोनों ही लाक्षणिक रूप में शोभन नाव कही गई पृथ्वी को सम्बोधित हैं।[1] कुशास्तरण पर लेटने की क्रिया में इसका विनियोग करते हुए पा० गृ० ३।२।८ में भी अप्रत्यक्षरूप से पृथ्वी की ओर ही संकेत किया गया है क्योंकि वस्तुत: यहाँ अभिप्राय भूमि पर अवरोहण का ही है। किन्तु नौकारोहण के प्रसङ्ग में विनियोग करते समय इसके रचयिता को सम्भवतया सुनावम् शब्द से प्रेरणा प्राप्त हुई।

मा०गृ० २।७।४ में निर्देश है कि गृहस्थ को परिवार के अन्य सदस्यों को निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए लेटने को प्रेरित करना चाहिये :—

शाम्यन्तु सर्पाः स्वशया भवन्तु ये अन्तरिक्ष उत ये दिवि श्रिताः।
इमां महीं प्रत्यवरोहेम।
शिवामजस्रां शिवां शान्तां सुहेमन्तामुत्तरामुत्तरां समां क्रियासम् ॥ [१०२७]

जो सर्प अन्तरिक्ष में, और जो आकाश में स्थित हैं, वे सब शान्त हो जायें, वे अपने आप में ही स्थित रहें। हम इस कल्याणकारिणी, निरन्तर कल्याणकारिणी और शान्त तथा शोभन हेमन्त ऋतु वाली, प्रत्येक आगामी वर्ष में क्रियाओं से पूर्ण पृथ्वी पर उतर आयें ॥

यह मन्त्र अन्यत्र उपलब्ध नहीं है।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि गृह्यपरम्परा में केवल इस विशिष्ट कर्म में ही इसका विनियोग किया गया है क्योंकि मन्त्र में भी सर्प-प्रार्थना है और यह कर्म भी सर्प-सम्बन्धी है। साथ ही मन्त्र में अवरोहण-क्रिया का भी उल्लेख है।

कुशास्तरण पर से उत्थान

पा०गृ० ३।२।१४ में विधान है कि कुशास्तरण पर से उठते हुए कौटुम्बिक-जनों को निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये :—

उदायुषा स्वायुषोत्पर्जन्यस्य वृष्ट्या पृथिव्याः सप्तधामभिः ॥ [१०२८]

समस्त आयु सहित, अपनी आयु सहित, पर्जन्य की वृष्टि (के सुफल)

१. यज्ञ को भी नाव माना गया है। उव्वट और महीधर ने इस विषय में यह श्रुति-वाक्य उद्धृत किया है—"तद्वै सर्वं एव यज्ञो नौः स्वर्ग्या।"

२. 'उत्तरामुत्तरां समाम्' शब्द ऋ० ४।५७।७ तथा अथर्व० १२।१।३३ के चतुर्थ पाद में आते हैं।

सहित, और पृथ्वी के सातों स्थानों (द्वीपों) सहित (हम) उठते हैं ॥

पृथिव्याः सप्तधामभिः शब्द ऋ० १।२२।१६ का तृतीय पाद है (दे०मं० सं० १०३०)। हि०गृ० २।१७।१० में उपर्युक्त कर्म में ही इस मन्त्र के अत्यन्त सन्निकट तै० सं० १।२।८।१ का विनियोग किया गया है :—

उदायुषा स्वायुषोदोषधीनां रसेनोत्पर्जन्यस्य शुष्मेणोदस्थाममृताँ अनु ॥

(समस्त आयुसहित, अपनी आयुसहित, ओषधियों के रससहित, पर्जन्य के बल सहित मैं देवों के प्रति उठता हूँ ॥)

हि०गृ० २।१७।११ में मन्त्र का आंशिक रूपान्तर **उदस्थाममृता अभूम** उत्थान के पश्चात् उच्चारणार्थ विनियुक्त है। आपस्तम्ब और भारद्वाज के अनुसार इसका उच्चारण उपनयन संस्कार में बाँह पकड़कर शिष्य को उठाते समय आचार्य द्वारा किया जाना चाहिये।[1] अथर्व० ३।३१।१० तथा ११ मन्त्रों के पूर्वार्धों को जोड़कर भी यह मन्त्र प्राप्त किया जा सकता है। पाठान्तर सहित यह अन्य यजुःसंहिताओं में भी विद्यमान है।[2] जिस प्रकार गृह्यसूत्रों में सर्वत्र इसका सम्बन्ध उत्थान-क्रिया से है, उसी प्रकार श०ब्रा०, का०श्रौ० और आप०श्रौ० में भी सोमयाग के अन्तर्गत इसका विनियोग हाथों में सोम लेकर राजा के उठने के प्रसङ्ग में किया गया है।[3]

शां०गृ० ४।१८।१३ के अनुसार कुशास्तरण पर से उठने की क्रिया के साथ निम्नलिखित मन्त्र (ऋ० १।११३।१६) का उच्चारण किया जाना चाहिये :—

उदीर्ध्वं जीवो असुर्न आगादप प्रागात् तम आ ज्योतिरेति।
आरैक् पन्थां यातवे सूर्यायागन्म यत्र प्रतिरन्त आयुः ॥ [१०२९]

हे उषाओ, तुम सब उठो (जिससे कि) प्राणों के रूप में जीव हमारे पास आ जाये, अन्धकार दूर चला जाये और प्रकाश आ जाये। सूर्य के जाने के लिये (उस) मार्ग को (अन्धकार) रिक्त कर दे जिसपर हम आयु को पार करते हुए चलते रहें ॥

इसी प्रसङ्ग में मा०गृ० २।७।५ में इस मन्त्र का जो रूप उद्धृत किया गया है, उसमें **आगादप** के स्थान पर **आगादपः** और **प्रतिरन्तः** के स्थान पर **प्रतरं नः** पाठ है। जैसा कि सभी विद्वानों ने स्वीकार किया है, यहाँ **आगादपः** का विसर्ग भ्रष्ट प्रतीत होता है।[4] ऐसा प्रतीत होता है कि इसके गृह्य-विनियोग की प्रेरणा आद्य

---

१. आप०गृ० ४।११।१८ (मं०पा० २।५।११), भा० गृ० १।९।
२. वा०सं० ४।२८, वा०सं०का० २।७।५, मै०सं० १।२।६, का०सं० २।६।
३. श०ब्रा० ३।३।३।१४, का०श्रौ० ७।९।३, आप०श्रौ० १०।२७।९।
४. मा०गृ० (अनु०) ड्रेस्डन, पृ० १३३, पा० टि० १४।

शब्द उदीर्ध्वम् से प्राप्त हुई होगी। अन्यथा इस मन्त्र की देवता उषाः है।

आ०गृ० २।३।१० में उत्थान के पश्चात् सभी कौटुम्बिकों द्वारा निम्नलिखित मन्त्र (ऋ० १।२२।१६) के उच्चारण का विधान किया गया है :—

अतो देवा अवन्तु नो यतो विष्णुर्विचक्रमे। पृथिव्याः सप्तधामभिः ॥[१०३०]

जहाँ पृथ्वी के सात स्थानों (द्वीपों) पर विष्णु ने संक्रमण किया है, वहाँ देवता हमारी रक्षा करें ॥

आ०श्रौ० १।११।१३;६।७।२ और शां०श्रौ० १३।७।५ में इसका विनियोग विभिन्न यागों में आहुति-अर्पणार्थ किया गया है। **विचक्रमे** शब्द में उत्थान की ध्वनि निकलती है और साथ ही मन्त्र में भूमि (के सात स्थानों) पर रक्षा की प्रार्थना की ही गई है। यही इसके गृह्यविनियोग का संयोजकसूत्र रहा होगा।

इसी गृह्यसूत्र में आगे चलकर (२।३।१२ में) यह विधान है कि उपर्युक्त मन्त्र के साथ-साथ सूर्य-देवताक सौर्य सूक्तों तथा मङ्गलवाचक स्वस्त्ययन सूक्तों का उच्चारण किया जाना चाहिये। भाष्यकार नारायण ने सौर्य सूक्तों के आद्य शब्द निम्नलिखित दिए हैं :—

सूर्यो नो दिवः............॥[१०३१]
उदु त्यं जातवेदसम्......॥[४७०]
चित्रं देवानाम्............॥[६३९]
नमो मित्रस्य... ......॥[१०३२]

ये चारों सूक्त क्रमशः ऋ० १०।१५८,१।५०।१-९, १।११५ और १०।३७ हैं। ऐ०ब्रा० ४।९।९-१२ और आ०श्रौ० ६।५।१८ में भी इन सूक्तों के उच्चारण का विधान सूर्यस्तुति में किया गया है और उन्हें **सौर्य** ही कहा गया है। इसके अतिरिक्त इन ग्रन्थों और आ०गृ० में इन सूक्तों का क्रम भी एक समान है।

स्वस्त्ययन सूक्तों के निम्नलिखित आद्य शब्दों को उद्धृत करते हुए नारायण ने यह भी कहा है कि उनमें **स्वस्ति** शब्द प्रत्येक में होता है :—

आ नो भद्राः............॥[१०३३]
स्वस्ति नो मिमीताम्...॥[५२७]
परावतो ये दिधिषन्त आप्यम्...॥[१०३४]

ये क्रमशः ऋ० १।८९; ५।५१।११-१५ और १०।६३ हैं। इनको स्वस्त्ययन मानने में स्टेंज्लर ने नारायण का ही अनुसरण किया है। किन्तु आप्टे का मत है कि "इस विषय में नारायण के मत की पुष्टि किसी पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती ग्रन्थ से नहीं

होती।"[1] बृहद्देवता (७।६०,८।७७,८७) और सर्वानुक्रमणी में ऋ० १०।१८५,१७८, ५७ का स्वस्त्ययन सूक्तों के रूप में उल्लेख किया गया है। ऋग्विधान (४।२३।२-३) में यह नाम इनमें से प्रथम दो सूक्तों का दिया गया है। ऐ० ब्रा० (४।२९) में इनमें से केवल द्वितीय को स्वस्त्ययन कहा गया है। इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से बृहद्देवता और सर्वानुक्रमणी का मत अधिक मान्य प्रतीत होता है। परन्तु स्वामी दयानन्द ने संस्कार विधि में स्वस्तिवाचन मन्त्रों के उल्लेख में नारायण का अभिमत ही स्वीकार किया है।

शूलगव

इस यज्ञ में रुद्र को वृषभ अथवा गौ की आहुति अर्पित की जाती है। इसके उपर्युक्त नामकरण का कारण यह है कि इसमें वृषभ अथवा गौ के अवयवों (गव्यानि) को लौहशलाकाओं (शूलों) पर पकाया जाता है। गृह्यसूत्रों के वर्णनानुसार इसके वार्षिक अनुष्ठान का अनुमान होता है।[2] इसके उद्देश्य के विषय में कहा गया है कि इस कर्म से बहुविधसमृद्धि प्राप्त होती है। नीचे के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि इस कर्म में विनियुक्त अधिकांश मन्त्रों के विनियोग का स्रोत श्रौतसूत्रों में है क्योंकि मूलरूप में यह कर्म वहाँ वर्णित है।

आ०गृ० ४।८।६ के अनुसार यजमान को पशुकुल में से श्रेष्ठ बछड़ा लेकर, जल द्वारा उसका अभिषेक करके निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए उसका संवर्धन करना चाहिये :—

रुद्राय महादेवाय जुष्टो वर्धस्व ॥ [१०३५]

रुद्र महादेव को अर्पित तुम वृद्धि को प्राप्त हो ॥

यह मन्त्र अन्यत्र अप्राप्य है।

आ०गृ० ४।८।१५ में आगे निर्देश है कि इस बछड़े के दाँत निकलने के पश्चात् यजमान को ग्राम से दूर एक यूप गाड़कर निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए बछड़े को उससे बाँधना चाहिये :—

यस्मै नमस्तस्मै त्वा जुष्टं नियुनज्मि ॥ [१०३६]

जिसको नमस्कार है, उसके लिये अर्पित तुम्हें मैं बाँधता हूँ।

शां०श्रौ० ४।१७।६ में इसी प्रसङ्ग में इससे मिलता जुलता मन्त्र रुद्राय त्वा जुष्टं नियुनज्मि रूप में प्राप्त होता है।

---

१. ऋ० मन्त्रज़ इन दि आ०गृ०, पृ० २७।

२. इं०वै०कल्प०, पृ० ४३२।

अगले सूत्र में आ०गृ० में उस पूर्ववर्ती (१।११) वाक्य की ओर संकेत किया गया है जहाँ पशुयाग के पूर्ण नियम दिये गये हैं। वहाँ पशु के स्पर्श और अभिषेक के लिये क्रमशः अधोलिखित दो मन्त्र निर्दिष्ट हैं :—

अमुष्मै त्वा जुष्टमुपाकरोमि ॥
अमुष्मै त्वा जुष्टं प्रोक्षामि ॥ [१०३७-१०३८]

अमुक के लिये अर्पित तुम्हारा मैं स्पर्श करता हूँ ॥ अमुक के लिये अर्पित तुम्हारा मैं अभिषेक करता हूँ ॥

इन मन्त्रों में **अमुष्मै** के स्थान पर जिस देवता को पशु अर्पित हो, उसका नाम दिया जाना चाहिये। बौ०गृ० २।७।४,६ और आग्नि०गृ०२।५।८ में भी प्रथम मन्त्र का विनियोग पशु-स्पर्श के लिये किया गया है। इन गृह्यसूत्रों में **अमुष्मै** के स्थान पर **ईशानाय** दिया गया है। ये दोनों मन्त्र शां०श्रौ०,४।१७।७,८ में शूलगव के अन्तर्गत ही उपर्युक्त दोनों कर्मों के लिये विनियुक्त हुए हैं। और वहाँ **अमुष्मै** के स्थान पर इस यज्ञ के देवता रुद्र का नाम दिया गया है।

आं०गृ० ४।८।१८-१९ में उल्लेख है कि पशु का वध करके यजमान को निम्नलिखित मन्त्र का पाठ करते हुए उसकी वपा की आहुति देनी चाहिये :—

हराय मृडाय शर्वाय शिवाय भवाय महादेवाय उग्राय
भीमाय पशुपतये रुद्राय शंकराय ईशानाय स्वाहा ॥ [१०३९]

यह आहुति हर, मृड, शर्व, शिव, भव, महादेव, उग्र, भीम, पशुपति, रुद्र, शंकर, ईशान को अर्पित है ॥

इस गृह्यसूत्र(४।८।२०,२१)में अन्तिम छः नाम या केवल **रुद्राय स्वाहा** बोलने का विकल्प भी दिया गया है। उपरिलिखित मन्त्र में रुद्र के विभिन्न नामों का परि-गणन किया गया है। अन्य गृह्यसूत्रों में भी इसी प्रकार के मन्त्रों का विनियोग किया गया है। पा०गृ०.३।८।६ का विधान है कि उसे वपा की आहुति रुद्र को, वसा की अन्तरिक्ष को और स्थालीपाकमिश्रित मांसखण्डों की आहुतियाँ अग्नि, रुद्र, शर्व, पशु-पति, उग्र, अशनि, भव, महादेव और ईशान को अर्पित करनी चाहियें। इस मन्त्र से तथा आगामी मन्त्रों से यह स्पष्ट होता है कि रुद्र के हर, मृड, शिव और शंकर नाम केवल आ०गृ० में दिये गये हैं, अन्य किसी गृह्यसूत्र में नहीं।

बौ०गृ० २।७।१८-२० और आग्नि० गृ० २।५।८ में निर्देश है कि वेदी के अग्रभाग में ओदन और आज्य मिश्रित मांसखण्डों की आहुतियाँ अर्पित करते हुए निम्नलिखित मन्त्रों का उच्चारण किया जाना चाहिये :—

भवाय देवाय स्वाहा ॥ शर्वाय देवाय स्वाहा ॥ ईशानाय………॥ पशुपतये…॥ रुद्राय…॥ उग्राय…॥ भीमाय…॥ महते…॥ [१०४०-१०४७]

भव देवं को यह आहुति अर्पित है ॥ शर्व देव को……॥ ईशान को……॥ पशुपति को……॥ रुद्र को……॥ उग्र को……॥ भीम को……॥ महादेव को……॥

आगे यह विधान है कि वेदी के मध्यभाग में ये ही आहुतियाँ **भवस्य देवस्य पत्न्यै स्वाहा** इत्यादि रूप में इन्हीं मन्त्रों के उच्चारण सहित अर्पित की जानी चाहियें। इस प्रकार इन मन्त्रों के चतुर्थ्यन्त शब्दों को षष्ठ्यन्त करके **स्वाहा** से पहले **पत्न्यै** का उच्चारण किया जाना चाहिये। इसी प्रकार वेदी के पृष्ठभाग में उपर्युक्त आहुतियाँ अर्पित करने के लिये इन मन्त्रों में **पत्न्यै** के स्थान पर **सुताय** शब्द रखा जाना चाहिये। आप०गृ०, हि०गृ० और भा०गृ० में इन्हीं मन्त्रों का विनियोग अग्नि में (मांस छोड़कर) केवल ओदन के अवदानों की आहुतियाँ अर्पित करने के लिये किया गया है।[1] ऊपर के समान ही इन गृह्यसूत्रों में भी इन देवों की पत्नियों को आहुतियाँ अर्पित करने के लिये **भवस्य देवस्य पत्न्यै स्वाहा** इत्यादि रूपान्तर किये गये हैं। किन्तु इन गृह्यसूत्रों में इन मन्त्रों के **पत्न्यै** के स्थान पर **सुताय** सहित तृतीय रूप नहीं दिये गये हैं।

शां०श्रौ० ४।१८।५ में इसी प्रकार के मन्त्रों का विनियोग शूलगव में वपा की आहुति के लिये किया गया है। इसमें रुद्र के भव, शर्व, पशुपति, उग्र, महा, रुद्र, ईशान और अशनि नामों का परिगणन है। यह आश्चर्यजनक बात है कि ऋग्वेदीय आ०गृ० की अपेक्षा यजुर्वेदीय गृह्यसूत्रों में इन नामों को अधिक ग्रहण किया गया है। इनमें **अशनि** को छोड़कर अन्य सभी नाम ले लिये गये हैं और इनमें केवल **भीम** जोड़ा गया है। और पा०गृ० में तो **अशनि** भी ले लिया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वेद से दोनों के सम्बद्ध होने पर भी आ०गृ० और शां०श्रौ० की परम्परा इस विषय में परस्परभिन्न है। दूसरी ओर यजुर्वेदीय गृह्यसूत्रों और शां०श्रौ० में एक अन्य समानता यह भी है कि दोनों में रुद्र के विविध नामों की पत्नियों का उल्लेख भी है। उदाहरणार्थ आहुतियों के अभिषिचनार्थ शां०श्रौ० ४।१९।५ में निम्नलिखित मन्त्रों का विनियोग किया गया है :—

भवान्यै स्वाहा शर्वाण्यै स्वाहा रुद्राण्यै ईशानान्यै स्वाहा अग्नाय्यै स्वाहा ॥

(यह आहुति भवानी, शर्वाणी, रुद्राणी, ईशानी, अग्नायी को अर्पित है ॥)

आ०गृ०, हि०गृ० और भा०गृ० में निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते

---

१. आप०गृ० ७।२०।४, मं०पा० २।१८।१४-३१, हि०गृ० २।८।६-९, भा०गृ० २।८,९

हुए एक और आहुति अर्पित करने का विधान है[1] :—

जयन्ताय स्वाहा ।। [१०४८]

यह आहुति जयन्त को अर्पित है ।।

यह मन्त्र अन्यत्र अनुपलभ्य है ।

बौ०गृ० २।७।१७ और आग्नि०गृ० २।५।८ के अनुसार वपा की आहुति के साथ निम्नलिखित दो मन्त्रों का उच्चारण किया जाना चाहिये :—

सहस्राणि सहस्रशो बाह्वोस्तव हेतयः ।
तासामीशानो भगवः पराचीना मुखा कृधि ।।
ईशानं त्वा भुवनानामभिश्रियम् ।।[१०४९-५०]

हे रुद्र, आपकी भुजाओं के आघात सहस्रों के सहस्रों हैं । हे भगवन्, आप ईशान (शासक) उन आघातों को हमसे पराङ्मुख कर दीजिये । सभी लोकों के शोभाभूत शासक आपकी (मैं स्तुति करता हूं) ।।

प्रथम मन्त्र यद्यपि सभी यजुर्वेदीय संहिताओं में विद्यमान है तथापि इसका गृह्यपाठ वा०सं० के एकसम होने के कारण वही इसका सीधा स्रोत प्रतीत होता है ।[2] अन्य संहिताओं में कुछ पाठान्तर हैं । उदाहरणार्थ तै०सं० में **सहस्रशः** के स्थान पर **सहस्रधा, बाह्वोः** के स्थान पर **बाहुवोः** पाठ हैं, तथा मै०सं० में **भगवः** के स्थान पर **मघवन्** पाठ है । इन सभी संहिताओं में तथा आप०श्रौ० १७।११।४ में इसे शतरुद्रीय स्तोत्र में सम्मिलित किया गया है । द्वितीय मन्त्र तै०ब्रा० २।४।७।११ में से उद्धृत प्रतीत होता है । वहाँ यह एक अन्य मन्त्र के अंशरूप में विद्यमान है । जिस रूप में यह गृह्यसूत्रों में प्राप्त होता है, उससे पूर्ण वाक्य नहीं बनता । तै०ब्रा० के पूर्ण मन्त्र की सहायता के बिना यह बोधगम्य नहीं । और वहाँ इसमें अग्नि की स्तुति की गई है । वहाँ से **स्तौमि** क्रिया का यहां अध्याहार करना चाहिये ।

बौ०गृ०२।७।२३ और आग्नि०गृ०२।५।२ में आगे विधान है कि ओदनमिश्रित मांस-शकलों की आहुतियों के पश्चात् यजमान को आहुतिशेष को अर्कपर्णों पर रखते हुए निम्नलिखित मन्त्र (तै०सं० ५।५।९।३) का पाठ करना चाहिये :—

---

१. आप०गृ० ७।२०।४ (मं०पा० २।१८।१४-३१), हि०गृ० २।८।६-९, भा०गृ० २।७, ९ ।

२. वा०सं० १६।५३, तै०सं० ४।५।१०।५, मै०सं० २।९।९, का०सं० १७।१६ । इसका अन्तिम पाद अथर्व० (६।१०६।२) के एक अन्य मन्त्र का अन्तिम पाद है ।

यो रुद्रो अग्नौ यो अप्सु य ओषधीषु यो रुद्रो विश्वा भुवना विवेश तस्मै रुद्राय नमोऽस्तु ॥[१०५१]

जो रुद्र अग्नि में, जो जल में, जो ओषधियों में है, जो रुद्र सब लोकों में प्रविष्ट है उस रुद्र को नमस्कार हो ॥

कुछ पाठान्तर-सहित यह मन्त्र का०सं० ४०।५ में विद्यमान है। इसमें **ओषधीषु** के आगे **यो वनस्पतिषु** जोड़कर उसके आगे विरामचिह्न दिया गया है। अन्त में **नमोऽस्तु** के स्थान पर **नमो अस्तु देवाः** पाठ है। यद्यपि तै०सं० के मन्त्र में बत्तीस अक्षर हैं, तथापि उसे पूर्ण अनुष्टुभ् छन्द नहीं कहा जा सकता। किन्तु का०सं०के मन्त्र में पुरस्ताज्ज्योतिस्त्रिष्टुभ् नामक पूर्ण छन्द बनता है जिसमें **अप्सु** तक प्रथम पाद में आठ अक्षर हैं और शेष तीनों में से प्रत्येक पाद में ग्यारह अक्षर हैं।[1] तै०सं० के इस मन्त्र से बहुत मिलता जुलता निम्नलिखित मन्त्र अथर्व० ७।८७।१ में विद्यमान है :—

यो अग्नौ रुद्रो यो अप्स्वन्तर्य ओषधीर्वीरुध आविवेश ।
य इमा विश्वा भुवनानि चाक्लृपे तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये ॥ [१०५२]

जो रुद्र अग्नि तथा जल के मध्य है, जो ओषधियों और वनस्पतियों में प्रविष्ट हुआ है, जिसने इन सब लोकों का निर्माण किया है, उस अग्नि (रूप) रुद्र को नमस्कार हो ॥

कौशिक० ५९।२९ के अनुसार समृद्धिकामी व्यक्ति को इसका जाप करना चाहिये। बौ० गृ० तथा आग्नि० गृ० में इस मन्त्र के विनियोग का स्रोत आप०श्रौ० १७।१२।१ और मा०श्रौ० ६।२।४।६ प्रतीत होते हैं क्योंकि उनके अनुसार वेदीचयन कर्म के अंगरूप में जिस इष्टका पर रुद्र को आहुतियाँ अर्पित की गई हैं उस पर गविधुक घास का आस्तरण करते समय इसका उच्चारण किया जाना चाहिये। श्रौतसूत्रों के घास बिछाने के कर्म में तथा गृह्यसूत्रों के आहुतिशेष रखने के कर्म में परस्पर-साम्य है क्योंकि दोनों कर्मों में कुछ रखने का भाव अन्तर्निहित है।

आ०गृ० ४।८।२२ में विधान है कि वपा की आहुति के पश्चात् गृहस्थ को चार दिशाओं में स्थापित कुशसूनाओं (कुश की रस्सियों) पर बलि अर्पित करते हुए निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये :—

यास्ते रुद्र पूर्वस्यां दिशि सेनास्ताभ्य एनं नमस्ते अस्तु मा मा हिंसीः ॥[१०५३]

---

१. युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा उद्धृत जयदेव, दे०वैदिकछन्दोमीमांसा, पृ०१५७,११। गृ० विं० ३०]

हे रुद्र, तुम्हारी जो सेनाएँ पूर्व दिशा में हैं, उन्हें यह बलि (देता हूँ), तुम्हें नमस्कार हो, मेरी हिंसा न करो ॥

जिस-जिस दिशा में बलि अर्पित की जाये उसके अनुसार मन्त्रस्थ दिशावाची शब्द में भी परिवर्तन किया जाना चाहिये, यथा दक्षिणस्याम् इत्यादि ।

पा०गृ० ३।८।११ में भी इससे मिलते-जुलते अधोलिखित मन्त्र का विनियोग चारों दिशाओं तथा ऊर्ध्व और अधोदिशा में रुधिर-बलि देने के लिए किया गया है :—

यास्ते रुद्र पुरस्तात् सेनास्ताभ्य एष बलिस्ताभ्यस्ते नमः ॥ [१०५४]

हे रुद्र, पूर्व दिशा में जो तुम्हारी सेनाएँ हैं उन्हें यह बलि (अर्पित है), उन्हें और तुम्हें नमस्कार ॥

यहाँ भी बलि के दिशापरिवर्तन के साथ मन्त्रस्थ दिशावाची शब्द को परिवर्तित करके (यथा दक्षिणतः, पश्चात् इत्यादि) इसका उच्चारण किया जाना चाहिये। ये मन्त्र किसी भी प्राग्-गृह्यसूत्र ग्रन्थ में प्राप्य नहीं हैं। इस प्रकार इस कर्म के साथ रुद्र के विशेष सम्बन्ध से (जैसा कि आगामी मन्त्रों में भी स्पष्ट है) यह प्रकट होता है कि सम्भवतया इसी सम्बन्ध की परिणति आगे चलकर उसके पशुपति शिव रूप में हुई होगी।

आ०गृ० ४।८।२३ के अनुसार ये बलियाँ अर्पित करके गृहस्थ को चार सूक्तों (ऋ० १।४३, ११४; २।३३; ७।४६) का पाठ करते हुए हुए चारों दिशाओं की उपासना करनी चाहिये। इन सभी सूक्तों का देवता रुद्र है। और वही शूलगव का अधिष्ठातृदेव भी है। किन्तु प्रथम सूक्त (ऋ० १।४३) में अन्तिम तीन मन्त्र सोम को सम्बोधित हैं। इस बात को ध्यान में रखते हुए नारायण ने इस सूक्त के इन तीनों मन्त्रों को छोड़ने का विधान किया है। द्वितीय सूक्त के विषय में आप्टे का कहना है कि "यह सूक्त तै० सं० ४।५।१०।१ इत्यादि में और वा० सं० १६।४८ में शतरुद्रीय स्तोत्र के रूप में विद्यमान है।"[1] किन्तु इस सूक्त के केवल पाँच मन्त्र (१,२,७,८,१०) तै०सं० में प्राप्त होते हैं और वा०सं० १६।४८ इस सूक्त का केवल प्रथम मन्त्र है। वा०सं० १६ में इस सूक्त का कोई अन्य मन्त्र प्राप्त नहीं होता। शां० श्रौ० ४।२०।२ में भी इन सूक्तों का विनियोग ठीक उपर्युक्त प्रसङ्ग में ही किया गया है।

पा०गृ० ३।८।१३ में निर्देश है कि पशु के अवशिष्टांशों को वायु की दिशा में रखकर रुद्रमन्त्रों (अर्थात् वा०सं० १६) द्वारा रुद्र की उपासना करनी चाहिये। पारस्कर ने वा०सं०के इस अध्याय में से केवल प्रथम और अन्तिम अनुवाकों के पाठ का

१. ऋ० मन्त्रज़ इन दि आ०गृ०, पृ० ५६।

विकल्प भी प्रदान किया है। वा० सं० की वर्तमान माध्यन्दिन शाखा में अनुवाकों में विभाजन नहीं प्राप्त होता। भाष्यकारों के अनुसार प्रथम अनुवाक में वा०सं० १६ के प्रथम सोलह मन्त्र तथा अन्तिम अनुवाक में इसके अन्तिम बीस मन्त्र आते हैं। किन्तु काण्व शाखा के सत्रहवें अध्याय में ये अनुवाक ठीक उसी प्रकार विभाजित हैं जैसा भाष्यकारों ने उल्लेख किया है। अतः यह बहुत सम्भव है कि यहाँ पारस्कर का संकेत वा० सं० की काण्व शाखा के प्रति हो। अन्यथा अनुवाकों का उल्लेख निरर्थक हो जायेगा। वा० सं० के इस अध्याय के विनियोग का प्राचीनतम उल्लेख श० ब्रा० ९।१।१।१४ और का०श्रौ० १८।१।१-५ में हुआ है। वहाँ शतरुद्रीय होम में आहुतियों के साथ इसके पाठ का विधान है। आप०श्रौ० १७।११।४ में भी वेदीचयन कर्म में रुद्र को आहुतियाँ अर्पित करने के लिये इसका विनियोग किया गया है।

मा०गृ० २।५।३ के अनुसार स्विष्टकृत् आहुति से पूर्व चार दिशाओं तथा चार अन्तर्दिशाओं में रुद्र को आठ शरावों में रुधिर अर्पित करते हुए यजमान को आठ अनुवाकों (मै०सं० २।९।२-९) का पाठ करना चाहिये। यहाँ अनुवाकों की संख्या का प्रमुख सम्बन्ध शरावों तथा दिशाओं की आठ संख्या से प्रतीत होता है। इसी प्रकार का०गृ० ५२।७ में छः कपालों में रुद्र को छः रुधिर-बलियाँ अर्पित करने के लिये छः अनुवाकों (का० सं० १७।११-१६) का विनियोग किया गया है। बौ० गृ० २।७।२१ और आग्नि०गृ० २।५।८ में स्विष्टकृत् आहुति से पूर्व आज्याहुतियों के साथ

रुद्र अनुवाकों (तै० सं० ४।५) [१०५५]

के उच्चारण का विधान किया गया है। आप० गृ० ७।२०।८-९, हि० गृ० २।८।११ और भा०गृ० २।१० में शूलगव के अन्तर्गत ही वृक्ष की शाखा पर पर्णमञ्जूषा में ओदनपिण्ड लटकाने के पश्चात् इन अनुवाकों के पाठ का निर्देश है। कृष्णयजुर्वेदीय संहिताओं के उपर्युक्त सभी अनुवाक वा०सं० १६ के अनुरूप हैं और इन सब में रुद्र की स्तुतियाँ और प्रार्थनाएँ हैं।

आ०गृ० ४।८।२७ में विधान है कि दर्भ घास अथवा कुशास्तरण पर रुधिर प्रवाहित करते हुए यजमान को निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये :—

श्वासिनीर्घोषिणीर्विचिन्वतीः समश्नुतीः सर्पा एतद्वोऽत्र तद्धरध्वम् ॥ [१०५६]

हे श्वास (फुंकार) वाली, घोष करने वाली, (अपने लक्ष्य को) ढूँढने वाली, और (लक्ष्य को) प्राप्त करने वाली सर्पिणियो, यहाँ यह (रुधिर) तुम्हारे लिये है, तुम उसे ग्रहण करो ॥

इसी मन्त्र का विनियोग आ०गृ० द्वारा अगले सूत्र में साँपों को यह रुधिर समर्पित करने के लिये किया गया है। इस मन्त्र की तुलना शां०श्रौ० ४।१९।७-८ में

शूलगव के अन्तर्गत रुद्र-सेनाओं को पर्णों पर यज्ञपशु का रुधिर अर्पित करने के लिये विनियुक्त निम्नलिखित मन्त्र से की जा सकती है :—

आघोषिण्यः प्रतिघोषिण्यः संघोषिण्यो विचिन्वत्यः श्वसनाः क्रव्याद एष वो भागस्तं जुषध्वं स्वाहा ॥ [१०५७]

हे घोष करने वाली, प्रतिघोष करने वाली, तीव्र घोष करने वाली, (लक्ष्य को) ढूंढने वाली, फुंकारने वाली, मांसभक्षिणी (सर्पिणियो), यह तुम्हारा भाग है, उसे स्वीकार करो ॥

आ०गृ० के मन्त्र की भाषा शां० श्रौ० के मन्त्र की भाषा से अधिक प्राचीन प्रतीत होती है क्योंकि उसमें विचिन्वत्यः इत्यादि के स्थान पर सम्बोधन के विचिन्वतीः इत्यादि अपवादात्मक रूप दिये गये हैं। यह बहुत सम्भव है कि इस मन्त्र की गृह्य परम्परा श्रौत परम्परा से नितान्त भिन्न हो और उपरिनिर्दिष्ट आर्ष प्रयोगों का कारण आश्वलायन का शाङ्खायन से पूर्ववर्ती होना हो। प्रत्युत जैसा कि डॉ० राम गोपाल ने दिखाया है, यह तथ्य आश्वलायन को शाङ्खायन का पूर्ववर्ती सिद्ध करने के लिये एक और तर्क हो सकता है।[1]

आ०गृ० ४।८।३६ में अन्त में यह निर्देश है कि यजमान को शन्तातीय सूक्त ऋ० ७।३५ का पाठ करते हुए अपने घर लौट जाना चाहिये। उस सूक्त का आद्य मन्त्र अधोलिखित है :—

शन्न इन्द्राग्नी भवतामवोभिः शन्न इन्द्रावरुणा रातहव्या।
शमिन्द्रासोमा सुविताय शंयोः शन्न इन्द्रापूषणा वाजसातौ ॥ [१०५८]

इन्द्र और अग्नि रक्षा के द्वारा हमारे लिये शान्तिप्रद हों, जिनको आहुति प्रदान की गई है ऐसे इन्द्र और वरुण हमारे लिये शान्तिप्रद हों। इन्द्र और सोम हमारी सन्तान के लिये शान्तिप्रद और सुखकर हों, इन्द्र और पूषा युद्ध में हमारे लिये शान्ति (धैर्य)-प्रद हों ॥

ऋग्वेद के इस सूक्त में अथर्ववेद के दो सूक्त (१९।१०,११) समाविष्ट हैं। वा०सं० (३६।११) में इसका केवल प्रथम मन्त्र विद्यमान है। इस सूक्त के सभी मन्त्रों में विभिन्न देवताओं से शान्ति प्रदान करने की प्रार्थना की गई है। सम्भवतया शान्ति की इस सामान्य प्रार्थना के आधार पर इस गृह्यसूत्र में और शां० गृ० में भी इसका विनियोग अन्य कर्मों में भी किया गया है। आ० गृ० ४।८।४२ में विधान है कि यजमान के पशुओं के रोगग्रस्त हो जाने पर अनुष्ठित कर्म में इसका पाठ किया

---

१. इं० वै० कल्प० पृ० ७१-७२।

जाना चाहिये । वास्तुपरीक्षा के अन्तर्गत भी इसी गृह्यसूत्र (२।८।११) में गृहनिर्माणार्थ निश्चित भूमि की परिक्रमा के लिये इसके उच्चारण का निर्देश है। और उसी कर्म में आगे चलकर (आ०गृ० २।९।७ में) यह उल्लेख है कि जलपूर्ण कलश की प्रदक्षिणा करते समय जल का प्रोक्षण करते हुए इस सूक्त का उच्चारण किया जाना चाहिये। शां०गृ० ५।१०।३ में विधान है कि यजमान के घर में मधुमक्खियों का छत्ता बन जाने पर अनुष्ठित कर्म में इसका जाप किया जाना चाहिये। यहाँ पर यह भी कहा गया है कि किसी भी कर्म की घोषणा हो जाने पर उसमें इसका जाप किया जाना चाहिये (सर्वेषु च कर्मसु प्रतिश्रुतादिषु)। आ० श्रौ० ८।१४।१८ में इसका विनियोग महानाम्नीव्रत में किया गया है। शां०श्रौ० ११।९।१२ में षडह याग के षष्ठ दिवस इसके उच्चारण का विधान है। शां०श्रौ० १६।१३।६ में शन्तातीय सूक्त नाम से इसका उल्लेख किया गया है।

आप०गृ०, हि०गृ० और भा०गृ० अन्य गृह्यसूत्रों से इस बात में भिन्न हैं कि इनमें किसी पशु की बलि का विधान नहीं है। इन गृह्यसूत्रों के अनुसार यजमान को स्थालीपाक बनाकर अग्नि की पश्चिम दिशा में दो कुटीर बनाने चाहियें और फिर शूलगव (आपस्तम्ब के अनुसार ईशान) को दक्षिण कुटीर में ले जाते हुए निम्नलिखित मन्त्र (मै०सं० २।९।१) का पाठ करना चाहिये[1]:—

आ त्वा वहन्तु हरयः सुचेतसः श्वेतैरश्वैरिह केतुमद्भिः ।
वातजवैर्बलवद्भिर्मनोजवैरस्मिन् यज्ञे हव्याय शर्व ॥ [१०५९]

हे शर्व, आहुति (प्राप्त करने) के लिये तुम्हें इस यज्ञ में (सूर्य के) शोभन चेतनायुक्त अश्व (अर्थात् किरणें) प्रकाशचिह्नों से युक्त, वायु के वेग वाले, बलवान्, मन के समान वेगवान् श्वेत अश्वों (अर्थात् किरणों) के साथ यहाँ ले आयें।

इस मन्त्र के चार आद्य शब्द ऋ० १।१६।१ का प्रथम पाद भी हैं। बौ०गृ० २।७।१६ और आग्नि०गृ० २।५।८ के अनुसार भी यजमान को पशु की वपा की आहुति से ठीक पूर्व इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए इस कर्म के अधिष्ठातृ-देव को यज्ञ-स्थली पर ले जाना चाहिये। मं०पा० के अतिरिक्त अन्य सभी गृह्यसूत्रों में इसी मन्त्र के अन्त में **ओम्** जोड़ा गया है। हि०गृ० में मन्त्र का पाठ मै०सं० के पाठ के लगभग एकसम है। सभी गृह्यसूत्रों में उपरिलिखित मै०सं० के **सुचेतसः**, **इह** तथा **वातजवैः** पाठों के स्थान पर क्रमशः **सचेतसः**, **सह** तथा **वाताजिरैः** शब्द दिये गये हैं। हि०गृ० और आग्नि०गृ० में **अस्मिन् यज्ञे** के स्थान पर **आयाहि शीघ्रम्** पाठ है। मं०पा० और

१. आप०गृ० ७।२०।१ (मं०पा० २।१८।१०), हि०गृ० २।८।२, भा०गृ० २।८।

शूलगव के अन्तर्गत रुद्र-सेनाओं को पर्णों पर यज्ञपशु का रुधिर अर्पित करने के लिये विनियुक्त निम्नलिखित मन्त्र से की जा सकती है :—

आघोषिण्य: प्रतिघोषिण्य: संघोषिण्यो विचिन्वत्य: श्वसना: क्रव्याद एष वो भागस्तं जुषध्वं स्वाहा ॥ [१०५७]

हे घोष करने वाली, प्रतिघोष करने वाली, तीव्र घोष करने वाली, (लक्ष्य को) ढूंढने वाली, फुंकारने वाली, मांसभक्षिणी (सर्पिणियो), यह तुम्हारा भाग है, उसे स्वीकार करो ॥

आ॰गृ॰ के मन्त्र की भाषा शां॰ श्रौ॰ के मन्त्र की भाषा से अधिक प्राचीन प्रतीत होती है क्योंकि उसमें **विचिन्वत्य:** इत्यादि के स्थान पर सम्बोधन के **विचिन्वती:** इत्यादि अपवादात्मक रूप दिये गये हैं। यह बहुत सम्भव है कि इस मन्त्र की गृह्य परम्परा श्रौत परम्परा से नितान्त भिन्न हो और उपरिनिर्दिष्ट आर्ष प्रयोगों का कारण आश्वलायन का शाङ्खायन से पूर्ववर्ती होना हो। प्रत्युत जैसा कि डॉ॰ राम गोपाल ने दिखाया है, यह तथ्य आश्वलायन को शाङ्खायन का पूर्ववर्ती सिद्ध करने के लिये एक और तर्क हो सकता है।[1]

आ॰गृ॰ ४।८।३९ में अन्त में यह निर्देश है कि यजमान को शन्तातीय सूक्त ऋ॰ ७।३५ का पाठ करते हुए अपने घर लौट जाना चाहिये। उस सूक्त का आद्य मन्त्र अधोलिखित है :—

शन्न इन्द्राग्नी भवतामवोभि: शन्न इन्द्रावरुणा रातहव्या।
शमिन्द्रासोमा सुविताय शंयो: शन्न इन्द्रापूषणा वाजसातौ ॥ [१०५८]

इन्द्र और अग्नि रक्षा के द्वारा हमारे लिये शान्तिप्रद हों, जिनको आहुति प्रदान की गई है ऐसे इन्द्र और वरुण हमारे लिये शान्तिप्रद हों। इन्द्र और सोम हमारी सन्तान के लिये शान्तिप्रद और सुखकर हों, इन्द्र और पूषा युद्ध में हमारे लिये शान्ति (धैर्य)-प्रद हों ॥

ऋग्वेद के इस सूक्त में अथर्ववेद के दो सूक्त (१९।१०,११) समाविष्ट हैं। वा॰सं॰ (३६।११) में इसका केवल प्रथम मन्त्र विद्यमान है। इस सूक्त के सभी मन्त्रों में विभिन्न देवताओं से शान्ति प्रदान करने की प्रार्थना की गई है। सम्भवतया शान्ति की इस सामान्य प्रार्थना के आधार पर इस गृह्यसूत्र में और शां॰ गृ॰ में भी इसका विनियोग अन्य कर्मों में भी किया गया है। आ॰ गृ॰ ४।८।४३ में विधान है कि यजमान के पशुओं के रोगग्रस्त हो जाने पर अनुष्ठित कर्म में इसका पाठ किया

१. इं॰ वै॰ कल्प॰, पृ॰ ७१-७२।

जाना चाहिये। वास्तुपरीक्षा के अन्तर्गत भी इसी गृह्यसूत्र (२।८।११) में गृहनिर्माणार्थ निश्चित भूमि की परिक्रमा के लिये इसके उच्चारण का निर्देश है। और उसी कर्म में आगे चलकर (आ०गृ० २।९।७ में) यह उल्लेख है कि जलपूर्ण कलश की प्रदक्षिणा करते समय जल का प्रोक्षण करते हुए इस सूक्त का उच्चारण किया जाना चाहिये। शां०गृ० ५।१०।३ में विधान है कि यजमान के घर में मधुमक्खियों का छत्ता बन जाने पर अनुष्ठित कर्म में इसका जाप किया जाना चाहिये। यहाँ पर यह भी कहा गया है कि किसी भी कर्म की घोषणा हो जाने पर उसमें इसका जाप किया जाना चाहिये (सर्वेषु च कर्मसु प्रतिश्रुतादिषु)। आ० श्रौ० ८।१४।१८ में इसका विनियोग महानाम्नीव्रत में किया गया है। शां०श्रौ० ११।९।१२ में षडह याग के षष्ठ दिवस इसके उच्चारण का विधान है। शां०श्रौ० १६।१३।६ में शन्तातीय सूक्त नाम से इसका उल्लेख किया गया है।

आप०गृ०, हि०गृ० और भा०गृ० अन्य गृह्यसूत्रों से इस बात में भिन्न हैं कि इनमें किसी पशु की बलि का विधान नहीं है। इन गृह्यसूत्रों के अनुसार यजमान को स्थालीपाक बनाकर अग्नि की पश्चिम दिशा में दो कुटीर बनाने चाहियें और फिर शूलगव (आपस्तम्ब के अनुसार ईशान) को दक्षिण कुटीर में ले जाते हुए निम्नलिखित मन्त्र (मै०सं० २।९।१) का पाठ करना चाहिये[1]:—

आ त्वा वहन्तु हरयः सुचेतसः श्वेतैरश्वैरिह केतुमद्भिः।
वातजवैर्बलवद्भिर्मनोजवैरस्मिन् यज्ञे हव्याय शर्व ॥ [१०५९]

हे शर्व, आहुति (प्राप्त करने) के लिये तुम्हें इस यज्ञ में (सूर्य के) शोभन चेतनायुक्त अश्व (अर्थात् किरणें) प्रकाशचिह्नों से युक्त, वायु के वेग वाले, बलवान्, मन के समान वेगवान् श्वेत अश्वों (अर्थात् किरणों) के साथ यहाँ ले आयें।

इस मन्त्र के चार आद्य शब्द ऋ० १।१६।१ का प्रथम पाद भी हैं। बौ०गृ० २।७।१६ और आग्नि०गृ० २।५।८ के अनुसार भी यजमान को पशु की वपा की आहुति से ठीक पूर्व इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए इस कर्म के अधिष्ठातृ-देव को यज्ञ-स्थली पर ले जाना चाहिये। मं०पा० के अतिरिक्त अन्य सभी गृह्यसूत्रों में इस मन्त्र के अन्त में **ओम्** जोड़ा गया है। हि०गृ० में मन्त्र का पाठ मै०सं० के पाठ के लगभग एकसमं है। सभी गृह्यसूत्रों में उपरिलिखित मै०सं० के **सुचेतसः**, **इह** तथा **वातजवैः** पाठों के स्थान पर क्रमशः **सचेतसः**, **सह** तथा **वाताजिरैः** शब्द दिये गये हैं। हि०गृ० और आग्नि०गृ० में **अस्मिन् यज्ञे** के स्थान पर **आयाहि शीघ्रम्** पाठ है। मं०पा० और

१. आप०गृ० ७।२०।१ (मं०पा० २।१८।१०), हि०गृ० २।८।२, भा०गृ० २।८।

भा०गृ० में उत्तरार्ध में बलवद्भिर्मनोजवैरस्मिन् यज्ञे शब्दों का अभाव है। इस मन्त्र के गृह्यविनियोग का स्रोत सम्भवतया मा०श्रौ० ११।७।१।१४ है क्योंकि वहाँ भी रुद्रजापयाग के अन्तर्गत रुद्र को निमन्त्रित करने के लिये इसके उच्चारण का विधान है।[1]

आप०गृ०, हि०गृ० और भा०गृ० में निर्देश है कि शूलगव, मीढुषी और जयन्त को तीन पृथक् कुटीरों में उदकाञ्जलि अर्पित करने के पश्चात् उसे तीनों देवताओं द्वारा ओदन-खण्डों का स्पर्श कराते हुए क्रमश: निम्नलिखित तीन मन्त्रों का उच्चारण करना चाहिये[2]:—

उपस्पृशतु मीढ्वान् मीढुषे स्वाहा ॥
उपस्पृशतु मीढुषी मीढुष्यै स्वाहा ॥
जयन्तोपस्पृश जयन्ताय स्वाहा ॥ [१०६०-६२]

समृद्धियुक्त (शूलगव) स्पर्श करे, उस समृद्धि युक्त को यह अर्पित है ॥ समृद्धियुक्त (उसकी पत्नी) स्पर्श करे, उसको यह अर्पित है ॥ हे जयन्त, इसका स्पर्श करो, यह जयन्त को अर्पित है ॥

यह मन्त्र किसी प्राग्-गृह्यसूत्र ग्रन्थ में उपलभ्य नहीं है।

इसके पश्चात् भवाय देवाय स्वाहा इत्यादि मन्त्रों का उच्चारण करते हुए भव, उसकी पत्नी और जयन्त को ओदन-खण्ड अर्पित किये जाने चाहियें। उन मन्त्रों के विवेचनार्थ दे०मं०सं० १०४०-१०४८।

आप०गृ० ७।२०।५ (मं०पा० २।१८।३२), और भा०गृ० २।६ में विधान है कि तत्पश्चात् अधोलिखित मन्त्र के द्वारा ईशान की उपासना की जानी चाहिये :—

स्वस्ति नः पूर्णमुखः परिक्रामतु ॥ [१०६३]

पूर्णमुख अर्थात् पूरित उदरवाला ईशान कल्याणकर होकर हमारी ओर आये ॥

हि०गृ० २।८।११ के अनुसार इससे मिलते जुलते निम्नलिखित मन्त्र का पाठ

---

१. यहाँ इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट करना अनुचित न होगा कि मा०श्रौ० में 'आ त्वा वहन्तु' इत्यादि मन्त्र को रुद्रगायत्री कहा गया है, किन्तु (प्रायः उद्धृत—दे० गेल्डर, अनु०, पृ० ३२१) उपर्युक्त मन्त्र गायत्री नहीं है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि गायत्रीछन्दस्क तथा रुद्रदेवताक 'आ त्वा वहन्तु' इत्यादि कोई मन्त्र वर्तमान संहिताओं में से किसी में भी उपलब्ध नहीं है।

२. आप०गृ० ७।२०।४ (मं०पा० २।१८।११-१३), हि०गृ० २।८।५, भा०गृ० २।८।

करते हुए यजमान को इस कर्म के सभी आवश्यक उपकरणों की परिक्रमा करनी चाहिये :—

पूर्णमुखं परिक्रामन्तु ॥ [१०६४]

ये सभी उपकरण पूर्णमुख अर्थात् पूरित उदर वाले ईशान के पास जायें अर्थात् उसे समर्पित हों ॥

उपर्युक्त दोनों मन्त्रों में से कोई भी किसी प्राग्-गृह्यसूत्र ग्रन्थमें उपलब्ध नहीं है ।

पञ्चदश अध्याय

अष्टकाएँ

इस कर्म में विनियुक्त मन्त्रों से प्रकट होता है कि इसे भी नववर्षोत्सव माना जाता था । अधिकांश गृह्यसूत्र एक वर्ष में तीन अष्टकाएँ मनाने के विषय में एकमत हैं । विभिन्न गृह्यसूत्रों के अनुसार इन अष्टकाओं के अनुष्ठान के विभिन्न समय हैं । अष्टकाओं की अनुष्ठानविधि के सम्बन्ध में भी गृह्यसूत्रों में मतभेद है । किन्तु साधारणतया सम्मति यह है कि प्रथमाष्टका का अनुष्ठान अपूपों के द्वारा, द्वितीय का मांस के द्वारा और तृतीय का शाक के द्वारा किया जाना चाहिये ।[1]

प्रथमाष्टका

हि०गृ० २।१४।३ और आग्नि०गृ० ३।२।१ में इस अष्टका की तैयारी के रूप में यह विधान है कि इससे पहले दिन पुरोडाश बनाने के निमित्त चार शरावों में से व्रीहि (चावल) उँडेलते हुए निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण किया जाना चाहिये:—

इममपूपं चतुःशरावं निर्वपामि क्लेशावहं पितॄणां साम्पराये देवेन सवित्रा प्रसूतः । देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां पितृभ्यः पितामहेभ्यः प्रपितामहेभ्यो वो जुष्टं निर्वपामि ॥[१०६५]

सवितृदेव की प्रेरणा से मैं परलोक में पितरों के क्लेश दूर करने वाले चार शरावों से निर्मित इस अपूप को यहाँ रखता हूँ। हे अपूप, पितरों, पितामहों, प्रपितामहों के लिये निर्दिष्ट तुम्हें मैं सवितृदेव की प्रेरणा से, अश्विनों की भुजाओं से और पूषा के हाथों से रखता हूँ ।

१. इस विषय में विस्तृत विवेचनार्थ दे०, इं०वै०कल्प०, पृ० ४१५-४१७ ।

इस मन्त्र का पूर्वार्ध किसी प्राग्-गृह्यसूत्र ग्रन्थ में प्राप्य नहीं है। उत्तरार्ध तै०सं० ७।१।११।१ में विद्यमान है। इस का विवेचन उपनयन के अन्तर्गत हो चुका है। दे०मं०सं० ५४१

हि०गृ० २।१४।४ के अनुसार उस चावल का पुरोडाश बनाकर उसे उसके अवदानों की आहुति अर्पित करते हुए निम्नलिखित तीन मन्त्रों का उच्चारण करना चाहिये :—

उलूखला ग्रावाणो घोषमक्रत हविः कृण्वन्तः परिवत्सरीणम् ।
एकाष्टके सुप्रजा वीरवन्तो वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ स्वधानमः ॥

[१०६६]

अपूपं देव घृतवन्तमग्ने स्वधावन्तं पितॄणां तर्पणाय ।
यथातथं वह हव्यमग्ने पुत्रः पितृभ्य आहुतिं जुहोमि ॥ स्वधानमः ॥

[१०६७]

अयं चतुश्शरावो घृतवानपूपः पयस्वानग्ने रयिमान्पुष्टिमांश्च ।
प्रतिनन्दन्तु पितरः संविदानाः स्विष्टोऽयं सुहुतो नमास्तु ॥ स्वधानमः ॥

[१०६८]

वार्षिक आहुति बनाते हुए ऊखलों और पाषाणों ने शब्द किया है। हे एकाष्टके, शोभन सन्तति वाले तथा वीरों से युक्त हम धन के स्वामी हो जायें॥ हे अग्निदेव पितरों के तर्पण के लिये स्वधायुक्त और घृतयुक्त अपूप-रूप आहुति को ठीक इसी रूप में ले जाओ, मैं पुत्र, पितरों को आहुति अर्पित करता हूँ। स्वधा नमस्कार॥ हे अग्नि, चार शरावों से बना हुआ यह अपूप घृतयुक्त, दुग्धयुक्त, समृद्धियुक्त और पोषणयुक्त है। इसको प्राप्त करने वाले पितर आनन्दित हों, शोभन प्रकार से अर्पित यह मेरे लिये शोभन यज्ञ हो॥ स्वधा नमस्कार॥

भा०गृ० २।१५ में इसी प्रसङ्ग में केवल प्रथम और तृतीय मन्त्रों का विनियोग किया गया है। तृतीत मन्त्र में इसमें **प्रतिनन्दन्तु** के स्थान पर **प्रतिगृह्णन्तु** पाठ है, और अन्त में **पितृभ्यः स्वाहा** जोड़ा गया है। केवल द्वितीय मन्त्र का प्रथम पाद सुप्रसिद्ध वात्सप्र सूक्त के एक मन्त्र के द्वितीय पाद के रूप में विद्यमान है।[1] इस सूक्त का विनियोग आप०गृ० ६।१५।१ (मं०पा० २।११।२८) द्वारा शिशु जन्म के तत्काल पश्चात्

---

१. ऋ० १०।४५।६, वा० सं० १२।२६, तै० सं० ४।२।२।३, मै० सं० २।७।६, का० सं० १६।६।

उसका स्पर्श करने के लिये किया गया है। तृतीय मन्त्र किसी भी प्राग्-गृह्यसूत्र ग्रन्थ में उपलभ्य नहीं है।

कुछ गृह्यसूत्रों में प्रथम मन्त्र का किञ्चिद् भिन्न प्रयोग किया गया है। आग्नि० गृ० ३।२।२ के अनुसार अष्टका से पहले दिन अपूप-खण्डों की आहुतियों के साथ उच्चारित होने वाले छः मन्त्रों में से यह एक है। इसी गृह्यसूत्र (३।२।६) में इसका विनियोग अग्नि में गोमांस की आहुतियाँ अर्पित करने के लिए भी किया गया है। इसमें **उलूखलाः** और **हविः** के स्थान पर क्रमशः **औलूखलाः** और **अपः पितृभ्यः** पाठ है तथा अन्त में **स्वधा नमः** से पूर्व **कामैः** जोड़ा गया है। गोभिल और आपस्तम्ब ने गोमांस के अवदानों के साथ अर्पित की जाने वाली ओदन की एक आहुति के साथ इसके उच्चारण का विधान किया है।[1] मं०ब्रा० और मं०पा० में इसका पाठ हि०गृ० में इसके पाठ के एकसम ही है—केवल **उलूखलाः** के स्थान पर **औलूखलाः** का अन्तर है। मा०गृ० (२।८।४) में प्रथमाष्टका में पायस के अवदानों की आहुति देते समय उच्चारणीय चार मन्त्रों में से एक यह दिया गया है। इसके पूर्वार्ध में **अक्रत** और **परिवत्सरीणम्** के स्थान पर क्रमशः **अकुर्वत** और **परिवत्सरीयम्** पाठ हैं। उत्तरार्ध में **सुप्रजा वीरवन्तः** के स्थान पर **सुप्रजसः सुवीराः** पाठ है और तत्पश्चात् **ज्योग्जीवेम बलिहृतो वयं ते** पाठ है। इसके अतिरिक्त इसमें इस मन्त्र के पश्चात् **सुराधसे स्वाहा** शब्दों के उच्चारण का निर्देश भी है। यह मन्त्र पाठान्तरसहित अथर्व० में विद्यमान है।[2] अथर्व० में यह अष्टका देवता वाले सूक्त का एक मन्त्र है।

आ० गृ० (२।४।६) के अनुसार अष्टका से पहले दिन गृहस्थ को ऋग्वेद के १०।१५ सूक्त के प्रथम आठ अथवा जितनी इच्छा हो उतने मन्त्रों का जाप करते हुए पितरों को ओदन, तिलौदन, पायस अथवा चतुःशरावपरिमित धान के अपूपों की आहुतियाँ अर्पित करनी चाहियें। उक्त सूक्त का आद्यमन्त्र निम्नलिखित है :—

उदीरतामवर उत् परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः।
असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु॥ [१०६६]

सोमसम्पादन करने वाले पृथ्वीस्थानीय पितर यहाँ आयें, द्युस्थानीय पितर यहाँ आयें, अन्तरिक्षस्थानीय पितर यहाँ आयें। जो (स्थूल शरीर त्यागकर प्राण (-रूप सूक्ष्मशरीर) को प्राप्त हुए हैं, वे शत्रुरहित (अथवा

---

१. गो० गृ० ४।१।१६ (मं० ब्रा० २।२।१३), आप० गृ० ८।२२।५ (मं० पा० २।२०।३४)।

२. अथर्व० ३।१०।५—उलूखलाः के स्थान पर वानस्पत्याः और सुप्रजा वीरवन्तः के स्थान पर सुप्रजसः सुवीराः (दे० ऊपर मा०गृ०)।

इच्छा रहित) सत्य (यज्ञ अथवा वृष्ट्युदक) के ज्ञाता पितर आह्वान करने पर हमारी रक्षा करें ।। ह० मि०

यह सम्पूर्ण सूक्त तो नहीं, किन्तु इसके कुछ मन्त्र अथर्व० और यजुर्वेद की संहिताओं में भी लगभग साथ-साथ ही विद्यमान हैं ।[1] ऐ०ब्रा० ३।३७।१२ में एक ही स्थान पर इस सूक्त के प्रथम तीन मन्त्र उद्धृत हैं । आ०श्रौ० (२।१६।२२) में महा-पितृयाग के प्रसङ्ग में इस सूक्त के अनेक मन्त्रोंका विनियोग किया गया है । शां०श्रौ० (३।१६।५) में भी साकमेध के अंगरूप अनुष्ठित पित्र्येष्टि में इस सूक्त के कई मन्त्रों के पाठ का विधान है । यह ऋग्वेद का एक पितृसूक्त है । अतः स्वाभाविक रूप से श्रौत तथा गृह्य दोनों ही कर्मों में पितरों से यह सम्बद्ध है ।

हि०गृ० (२।१४।५) में निर्देश है कि पुरोडाश के अवदानों की आहुतियों के पश्चात् स्थालीपाक की आहुतियाँ अर्पित करते समय अधोलिखित तीन मन्त्रों (तै०सं० ४।३।११।१,३,५) का उच्चारण किया जाना चाहिये :—

इयमेव सा या प्रथमा व्यौच्छदन्तरस्यां चरति प्रविष्टा ।
वधूर्जजान नवगज्जनित्री त्रय एनं महिमानः सचन्ते ।।
एकाष्टका तपसा तप्यमाना जजान गर्भं महिमानमिन्द्रम् ।
तेन दस्यून् व्यसहन्त देवा हन्ताऽसुराणामभवच्छचीभिः ।।
या प्रथमा व्यौच्छत् सा धेनुरभवद्यमे ।
सा नः पयस्वती धुक्ष्वोत्तरामुत्तरां समाम् ।। [१०७०-७२]

जो सर्वप्रथम प्रकाशित हुई, वह यही (पृथ्वी है), इस (पृथ्वी) में प्रविष्ट होकर वह चल रही है । नव प्रजनन करने वाली माता इस वधू ने (शिशुओं को) जन्म दिया है, तीन शक्तियां उनका अनुसरण करें ।। तपस्या के द्वारा परिश्रम करती हुई एकाष्टका ने इन्द्र की महिमारूप शिशु को जन्म दिया है। उसके द्वारा देवों ने दस्युओं को परास्त किया, वह (इन्द्र) अपनी दिव्य शक्तियों के द्वारा असुरों का संहारक हो गया ।। जो सर्वप्रथम प्रकाशित हुई, वह यम के राज्य में गौ बन गई । वह दुग्ध में समृद्ध तुम हमें वर्ष प्रतिवर्ष दुग्ध प्रदान करो ।।ओ०ब०

भा०गृ० २।१७ में अष्टका कर्म के अन्त में स्विष्टकृत् आहुति से पूर्व कुछ गौण आहुतियों के लिये इन तीनों मन्त्रों का विनियोग किया गया है । का०गृ०

---

१. अथर्व० १८।१।४४-४६,५१,५२, वा०सं० १९।४९,५१,५५-५७,५९,६०,६२,६३, ६६-६८, तै०सं० २।६।१२।२-४, मै०सं० ४।१०।६ ।

(६।१४,६) में भी ये तीनों मन्त्र पाठान्तर सहित उद्धृत किये गये हैं। तदनुसार प्रथम मन्त्र में **अन्तरस्याम्** और **जजान** के स्थान पर क्रमशः **सा वस्वन्तः** और **मिमाय** पाठ हैं तथा तृतीय मन्त्र में प्रथम पाद **प्रथमा ह व्युवास** हैं और **धुक्ष्व** के स्थान पर **दुहाम्** पाठ है। इसका द्वितीय मन्त्र उपरिलिखित द्वितीय मन्त्र से एकसम है। जहाँ तक इनके विनियोग का प्रश्न है, प्रथम मन्त्र के उच्चारण का विधान तृतीय अष्टका में एक आज्याहुति के साथ किया गया है। अन्तिम दोनों मन्त्रों का विनियोग स्थाली-पाक आहुति के साथ किया गया है। ये दोनों मन्त्र पा०गृ० (३।३।५) में प्रथम अष्टका के आरम्भ में दो आज्याहुतियों के साथ उच्चारणार्थ उद्धृत किये गये हैं। शां०गृ०, आप०गृ० और आग्नि०गृ० में इनमें से केवल प्रथम मन्त्र ही लिया गया है।[1] शां०गृ० में इसका विनियोग प्रथमाष्टका में शाक की एक आहुति के लिये किया गया है। इनमें **व्यौच्छत्**, **नवगत्** तथा **सचन्ते** के स्थान पर क्रमशः **व्युच्छत्**, **नवकृत्** और **सचन्ताम्** पाठ हैं। किन्तु कौ०गृ० (३।१५।३) में ये शब्द क्रमशः **व्यौच्छत्**, **नवकम्** और **सचन्ताम्** हैं। आप०गृ० के अनुसार एकाष्टका के दिन गोमांस सहित ओदन की आहुति देते हुए इस मन्त्र का उच्चारण किया जाना चाहिये। आग्नि०गृ० में इसका विनियोग अपूपावदान की द्वितीय आहुति अर्पित करने के लिये किया गया है। इसमें मन्त्र के अन्त में **कामैः स्वधा नमः** शब्द जोड़े गये हैं। गोभिल और खादिर के मतानुसार द्वितीय मन्त्र का उच्चारण एक विशेष कर्म में इन्द्राणी के लिये उद्दिष्ट स्थाली-पाक की आहुति अर्पित करते हुए किया जाना चाहिये।[2] मं०ब्रा० में इसके तृतीय पाद का पाठ **तेन देवा असहन्त शत्रून्** है। यद्यपि इस मन्त्र की देवता एकाष्टका है और इसीलिये भाष्यकारों ने इसे एकाष्टका कर्म से सम्बद्ध किया है, तथापि पहले के सूत्रों के प्रसङ्ग से इस सम्बन्ध की पुष्टि नहीं होती। अतः इस विषय में ओल्डनबर्ग के साथ सहमत होते हुए इस मन्त्र को किसी ग्राम्य उत्सव से सम्बद्ध करना अधिक समीचीन होगा।[3]

ये तीनों मन्त्र स्वल्प पाठान्तरसहित अथर्व० के एक ही सूक्त (३।१०।४,१३,१)

---

१. शां०गृ० ३।१२।२, आप०गृ० ८।२२।५ (मं०पा० २।२०।३०), आग्नि०गृ० ३।२।२।

२. गो०गृ० ४।४।३२ (मं०ब्रा० २।३।२१), खा०गृ० ३।५।४०।

३. से०बु०ई०, खं० ३०, पृ० ११४, सूत्र ३२-३४ पर पा०टि०, दे० ओल्डनबर्ग के शब्द-"गृह्यकर्मों में प्रायः यह देखने में आता है कि मन्त्रों का प्रयोग उन कर्मों में किया जाता है जिनका उन कर्मों से कोई सम्बन्ध नहीं जिनके लिये मूलरूप में उन मन्त्रों की रचना हुई थी।"

में विद्यमान हैं। वे पाठान्तर भी ऐसे हैं जिनसे अर्थ प्रायः अपरिवर्तित रहता है। कौशिक० (१६।२८) में इस समस्त सूक्त का विनियोग अष्टका के अन्तर्गत वपा और स्थालीपाक की आहुतियाँ प्रदान करने के लिये किया गया है। अन्यत्र (१३८।४ में) भी इसी सूत्र में इसी सूक्त के अनेक मन्त्र इसी कर्म में अन्य आहुतियाँ प्रदान करने के निमित्त विनियुक्त हुए हैं। का०सं० (३६।१०) में भी ये मन्त्र एक ही स्थल पर विद्यमान हैं। मै०सं० (२।१३।१०) में केवल प्रथम और अन्तिम मन्त्र हैं। अथर्व० में स्वयं प्रथम मन्त्र अन्यत्र (८।६।११ में) भी विद्यमान है। आप०श्रौ० (१७।२।१२) में वेदीचयन कर्म के अन्तर्गत व्युष्टि इष्टकाओं के आधान के लिये इन मन्त्रों का विनियोग किया गया है। मन्त्रों में आने वाले अष्टका नाम से ऐसा प्रतीत होता है कि इनकी मूल रचना अष्टका कर्म के लिये ही हुई थी।

पा०गृ० (३।३।५) के अनुसार स्थालीपाक बनाकर और आज्यभाग आहुतियाँ प्रदान करके तै०सं० के एक अनुवाक (४।३।११) के प्रधान अंश का पाठ करते हुए आज्याहुतियाँ अर्पित की जानी चाहियें। उस अनुवाकांश का प्रारम्भ निम्नलिखित मन्त्र से होता है :—

त्रिंशत् स्वसार उपयन्ति निष्कृतं समानं केतुं प्रतिमुञ्चमानाः।
ऋतूंस्तन्वते कवयः प्रजानतीर्मध्ये छन्दसः परियन्ति भास्वतीः॥ [१०७३]

(अष्टका की) तीस बहिनें (तिथियाँ) शुद्ध तथा समान चन्द्रादिरूप चिह्न धारण किये हुए (हविर्भाग ग्रहण करने के लिये अष्टका के) पास जाती हैं। पूर्वकाल के स्वरूप को जानती हुई क्रान्तदर्शना वे (हेमन्तादि) ऋतुओं का विस्तार करती हैं। दीप्तिमती वे व्यापक संवत्सर के मध्य आती रहती हैं॥[1] ज० रा०

इस अनुवाकांश के दो मन्त्र तो उपरिविवेचित द्वितीय और तृतीय मन्त्र हैं। का०सं० (३६।१०) में इस अंश के सभी मन्त्र विद्यमान हैं, परन्तु उनका क्रम भिन्न है। कुछेक मन्त्र मै०सं० (२।१३।१०) में भी आते हैं। यह आश्चर्यजनक है कि इन कृष्णयजुर्वेदीय संहिताओं में इस मन्त्र-समूह के विद्यमान होने पर भी किसी कृष्ण-यजुर्वेदीय गृह्यसूत्र में इसका सामूहिक विनियोग नहीं किया गया। इस विषय में पा०गृ० से गृह्यसूत्रों की इस सामान्य प्रवृत्ति का ज्ञान होता है कि कोई भी आवश्यक तत्त्व उन संहिताओं से ग्रहण किया जा सकता है जिनसे कोई विशेष गृह्यसूत्र सीधा

१. यहाँ त्रिंशत् स्वसारः का अर्थ मास की तीस उषायें भी हो सकता है। तदनुसार केतु सूर्य होगा और छन्दः संसार को आच्छादित करने वाला व्यापक आकाश होगा।

सम्बद्ध न हो। तै०सं० में इस मन्त्रसमूह का विनियोग वेदीचयन के अन्तर्गत व्युष्टि-इष्टकाओं के आधान के लिये किया गया है। इष्टकाधान के इस श्रौतकर्म में और आज्याहुति-अर्पण करने के गृह्यकर्म में यदि कोई साम्य है तो वह यही कि दोनों का सम्बन्ध प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में अग्नि से है। परन्तु आगे के मन्त्रों में **अष्टका** के उल्लेख से प्रतीत होता है कि इन मन्त्रों का गृह्यविनियोग इनकी मूलभावना के निकट है।

बौ०गृ० २।११।३५, हि०गृ०, २।१४।६ और भा०गृ० २।१५ में विधान है कि सर्पिः-मिश्रित अपूप और अन्न के अवदानों की आहुति के साथ **अग्नये कव्यवाहनाय** इत्यादि मन्त्र का उच्चारण किया जाना चाहिये। श्राद्ध-कर्म के अन्तर्गत इसका विस्तृत विवेचन हो चुका है। (दे०मं०सं०८०६)

मा०गृ० (२।८।४) में प्रत्येक अष्टका पर दूध में पकाये गये स्थालीपाक की आहुतियाँ अर्पित करने के लिये चार मन्त्रों का विनियोग किया गया है। उनमें से द्वितीय (उलूखलाः इत्यादि) का विवेचन ऊपर किया जा चुका है (दे०मं०सं १०६६)। अवशिष्ट तीन मन्त्र निम्नलिखित हैं :—

या देव्यष्टकेष्वपसापस्तमा स्वपा अवया असि।
त्वं यज्ञे वरुणस्यावया असि तस्यै त एना हविषा विधेम ॥ [१०७४]

यां जनाः प्रतिनन्दन्ति रात्रीं धेनुमिवायतीम्।
संवत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गली ॥ [१००३]

संवत्सरस्य प्रतिमां ये त्वा रात्रीमुपासते।
तेषामायुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण संसृजस्व ॥ [१००४]

हे देवि, जो तुम अष्टकों (आठ दिनों के समूहों) में अपने कार्य के कारण सबसे अधिक कार्यशील, शोभन कर्म वाली आयु रहित हो, तथा जो तुम वरुण के यज्ञ में आयुरहित हो, उस तुम्हारा हम इस आहुति द्वारा सम्मान करते हैं।[1]

इनमें से प्रथम मन्त्र की तुलना का०सं० ३५।१२ के एक मन्त्र से की जा सकती है। शेष दोनों मन्त्रों का विनियोग पाठान्तर-सहित विभिन्न गृह्यसूत्रों द्वारा अष्टका के विभिन्न कर्मों में किया गया है। गो०गृ० ४।१।१३ में ये आज्याहुतियों में विनियुक्त हैं। मं०ब्रा० २।२।१६ में इनमें से प्रथम मन्त्र में **जनाः** के स्थान पर **देवाः** पाठ है और उत्तरार्ध **सा नः पयस्वती दुहा उत्तरामुत्तरां समाम्** है। मं०ब्रा० २।२।१७

१. शेष दोनों मन्त्रों का अर्थ पहले किया जा चुका है। (दे०मं०सं० १००३-४)

में इनमें से दूसरे मन्त्र का पाठ बहुत भिन्न है। केवल प्रथम पाद एकसम है। अन्तिम पाद में **संसृजस्व** के स्थान पर **संसृज** पाठ होने से वह पूर्ण अनुष्टुभ् हो गया है। द्वितीय और तृतीय पाद क्रमशः **यां त्वा रात्रि यजामहे** और **प्रजामजर्यां नः कुरु** हैं। यह ध्यान देने योग्य है कि इन पाठान्तरों से भी मन्त्र के भाव में परिवर्तन नहीं हुआ है। अतः सम्भव है कि इस मन्त्र की मं०ब्रा० की परम्परा मा०गृ० की परम्परा से भिन्न रही हो। आग्नि०गृ० ३।२।७ के अनुसार इन दोनों मन्त्रों का उच्चारण अष्टका के तृतीय दिवस अन्न की आहुतियों के साथ किया जाना चाहिये। इनमें से प्रथम (यां जनाः इत्यादि) मन्त्र का पाठ तो इसमें मा०गृ० के एकसम है। द्वितीय मन्त्र में ये के स्थान पर **याम्** और **रात्रीम्** के स्थान पर **रात्रि** पाठ है, तथा उत्तरार्ध **प्रजां सुवीरां कृत्वा विश्वमायुर्व्यश्नवत् कामैः स्वधा नमः स्वाहा** है।

इसी गृह्यसूत्र में अन्यत्र (३।२।२ में) प्रथम (यां जनाः इत्यादि) मन्त्र का विनियोग अपूपावदानों की एक आहुति के लिये किया गया है। पुनः इसी गृह्यसूत्र (३।२।६) में इसका विनियोग मांस की आहुतियों में से एक के लिये किया गया है। भा० गृ० २।१७ में केवल द्वितीय (संवत्सरस्य प्रतिमाम् इत्यादि) मन्त्र का विनियोग अष्टका में आहुति के लिये किया गया है। यहाँ यह प्रतीकेन उद्धृत है। आप०गृ० और हि० गृ० के अनुसार एकाष्टका कर्म में केवल प्रथम मन्त्र का उच्चारण मांससहित ओदन की और अपूप की आहुतियों के साथ किया जाना चाहिये।[1] कुछ गृह्यसूत्रों में इन मन्त्रों का विनियोग प्रत्यवरोहण में भी किया गया है। (दे०मं०सं० १००३-१००४)

इन दोनों मन्त्रों का प्राचीनतम स्रोत अथर्व० (३।१०।२,३) है। तै० सं० ५।७।२।१ और का० सं० ४०।२ में केवल अन्तिम मन्त्र विद्यमान है। यद्यपि इन संहिताओं में इन मन्त्रों के पाठान्तर हैं, तथापि उनसे अर्थ में अधिक अन्तर नहीं पड़ता। आप०श्रौ० १७।६।३ में अन्तिम मन्त्र का विनियोग वेदीचयन कर्म के अन्तर्गत प्रजापति-इष्टका का आधान करने के लिये किया गया है। इस श्रौत-विनियोग का गृह्य-विनियोग से कोई साम्य नहीं है।

मा०गृ० (२।८।६) में विधान है कि इन चार स्थालीपाक-आहुतियों के पश्चात् उसे निम्नलिखित पाँच मन्त्रों का उच्चारण करते हुए पाँच आज्याहुतियाँ अर्पित करनी चाहियें :—

हेमन्तो वसन्तो ग्रीष्म ऋतवः शिवा नः शिवा नो वर्षा अभयाश्चिरं नः।
वैश्वानरोऽधिपतिः प्राणदो नो अहोरात्रे कृणुतां दीर्घमायुः॥ [१०७५]

---

१. आप०गृ० ८।२२।१,५ (मं०पा० २।२०।२७,२९), हि०गृ० २।१५।६।

शान्ता पृथिवी शिवमन्तरिक्षं द्यौर्नो देव्यभयं कृणोतु ।
शिवा दिशः प्रदिश आदिशो न आपो विद्युतः परिपान्त्वायुः ॥ [१०७६]

आपो मरीचीः परिपान्तु विश्वतो धाता समुद्रो अभयं कृणोतु ।
भूतं भविष्यदुत भद्रमस्तु मे ब्रह्माभिगूर्तं स्वराक्षाणः ॥ [१०७७]

कविरग्निरिन्द्रः सोमः सूर्यो वायुरस्तु मे अग्निर्वैश्वानरो अपहन्तु पापम् ।
बृहस्पतिः सविता शर्म यच्छतु श्रियं विराजं मयि पूषा दधातु ॥ [१०७८]

विश्व आदित्या वसवश्च सर्वे रुद्रा गोप्तारो मरुतश्च सन्तु ।
ऊर्जं प्रजाममृतं दीर्घमायुः प्रजापतिर्मयि परमेष्ठी दधातु ॥ [१०७९]

हेमन्त, वसन्त, ग्रीष्म ऋतुएँ हमारे लिये कल्याणकर हों, चिरकाल तक वर्षा हमारे लिये भयरहित और कल्याणकर हो। (सब देवताओं का) अधिपति वैश्वानर अग्नि हमें प्राणदान करे, दिनरात हमारी आयु दीर्घ करें ।। शान्त पृथ्वी, कल्याणकर अन्तरिक्ष और आकाश देवता हमें अभय दान दें। कल्याणकर दिशाएँ, उपदिशाएँ और ऊपर नीचे की दिशाएँ, जल तथा विद्युत् हमारी आयु की सब ओर से रक्षा करें ।। रश्मियुक्त जल सब ओर से रक्षा करें, धारक समुद्र अभय करे। भूत और भविष्य तथा स्वर्ग अथवा सुख में स्थित (स्वः आक्षाणः[1] ?), सर्वव्यापी ब्रह्म मेरे लिये कल्याण-कर हो ।। क्रान्तदर्शी अग्नि, इन्द्र, सोम, सूर्य, वायु मेरे लिये (सुखकर) हों, वैश्वानर अग्नि पाप नष्ट करे। बृहस्पति और सविता शरण प्रदान करें, पूषा मुझमें विराट् शोभा स्थापित करे। सभी आदित्य और वसु तथा सभी रुद्र और मरुत् (हमारे) रक्षक हों। सर्वोच्च स्थान का निवासी प्रजापति मुझमें ऊर्जा, प्रजननशक्ति, अमरत्व और दीर्घ आयु स्थापित करे ।।

चतुर्थ मन्त्र छोड़कर आ०गृ० २।४।१७ में अन्य सभी मन्त्रों का विनियोग पशु की वपा की आहुति के पश्चात् पशु के अवयवों और स्थालीपाक की आहुतियाँ प्रदान करने के लिये किया गया है। किन्तु इस गृह्यसूत्र में मन्त्रों का पाठ किञ्चिद् भिन्न है। तदनुसार प्रथम मन्त्र में **वसन्तः** का अभाव है, **हेमन्तः** और **ग्रीष्मः** का क्रमविपर्यय हो गया है, **वर्षाः** से पूर्व **शिवा नः** निकालकर उसके पश्चात् **शिवाः** जोड़ा गया है और **चिरम्** के स्थान पर **शरत्** पाठ है। द्वितीय मन्त्र में **कृणोतु, आदिशः** और **आयुः** के स्थान पर क्रमशः **नो अस्तु, उद्दिशः** और **सर्वतः** पाठ हैं। आ० गृ० में तृतीय मन्त्र का पाठ अधोलिखित है :—

---

१. अन्तिम पाद और विशेषतया अन्तिम शब्द अस्पष्ट है।

आपो मरीचीः प्रवहन्तु नो धियो धाता समुद्रोऽपहन्तु पापम् ।
भूतं भविष्यदभयं विश्वमस्तु मे ब्रह्माऽधिगुप्तः स्वाराक्षराणि ॥ [१०८०]

दीप्तिमती अबादि देवता हमारी बुद्धियों (अथवा कर्मों) को उत्कृष्ट स्थान पर ले जायें, धाता और समुद्र हमारे पाप को नीचे धकेल दे (अथवा नष्ट कर दे)। भूत, भविष्य और वर्तमान से सम्बद्ध सब कुछ मेरे लिये अभय हो, वेद (अथवा परमात्मा) द्वारा अभिरक्षित मैं अपनी (शक्तियों की ?) रक्षा करने में समर्थ होऊँ (स्वाः रक्षाणि) ॥ ह०मि०

यहाँ हरदत्त मिश्र ने अन्तिम शब्द का **स्वा रक्षाणि** पाठ लेकर जो **स्वाः स्वकीयाः रक्षितुं समर्थो भूयासम्** व्याख्या की है उसमें **स्वकीयाः** अस्पष्ट है। परन्तु आप्टे ने उपरिलिखित पाठ स्वीकार करते हुए ही **स्वारा क्षराणि** अन्वय करके "मैं स्वारों अर्थात् सामान्य गीतों को प्रवाहित करूँ" अर्थ किया है। इस अर्थ की व्याख्या करते हुए आगे बताया गया है कि "स्वार स्वरित में अन्त होने वाले साम का नाम है।"[1] पंचम मन्त्र में आ०गृ० में **सर्वे, च सन्तु** और **दीर्घमायुः** के स्थान पर क्रमशः **देवाः, सदन्तु** और **पिन्वमानः** पाठ हैं तथा पूर्वार्ध के अन्त में **नः** जोड़ा गया है।

पा०गृ० ३।३।६ में आज्याहुतियों के पश्चात् स्थालीपाकाहुतियों के साथ द्वितीय तृतीय और पञ्चम मन्त्रों के पाठ का विधान है। यहाँ द्वितीय मन्त्र में **द्यौर्नो देवी** के स्थान पर **शन्नो द्यौः** पाठ है और चतुर्थ पाद (अन्त में **व्यश्नवै** सहित) प्रथम मन्त्र का चतुर्थ पाद है। तृतीय मन्त्र में **विश्वतः** के स्थान पर **सर्वतः** पाठ है, द्वितीय पाद आ०गृ० के मन्त्र के द्वितीय पाद के समान है—केवल **प्रवहन्तु** के स्थान पर **अपहन्तु** पाठ है। मन्त्र का उत्तरार्ध भी आ०गृ० के पाठ के अधिक निकट है—**अभयम्, अधिगुप्तः** और **स्वाराक्षराणि** के स्थान पर क्रमशः **अकृन्तत्, अभिगुप्तः** और **सुरक्षितः स्याम्** पाठान्तर हैं। पंचम मन्त्र का पूर्वार्ध (मा०गृ० के **च सन्तु** सहित) तो आ० गृ० के पाठ के समरूप है और उत्तरार्ध मा०गृ० के पाठ के समरूप।

कुछ गृह्यसूत्रों में इन मन्त्रों का विनियोग अन्य कर्मों में भी किया गया है। प्रथम मन्त्र के अनुरूप मन्त्र का विनियोग शां० गृ० और पा० गृ० में प्रत्यवरोहण के अन्तर्गत किया गया है। गो०गृ० और खा०गृ० में भी इसके अनुरूप मन्त्र का विनियोग आग्रयण कर्म में हुआ है (दे०मं०सं० ८९९)। मा०गृ० १।११।१६ में पंचम मन्त्र को विवाह संस्कार में जय, अभ्यातान और राष्ट्रभृत् के पश्चात् आहुतियों के साथ उच्चारणीय माङ्गल्य मन्त्रों में से एक के रूप में प्रतीकेन उद्धृत किया गया है।

---

१. नॉन ऋ० मन्त्रज् इन दि आ०गृ०, पृ० ४६।

जहाँ तक इन मन्त्रोंके स्रोतका सम्बन्ध है, केवल द्वितीय मन्त्र कीतुलना अथर्व० १६।६।१ से की जा सकती है। शेष मन्त्र किसी प्राग्-गृह्यसूत्र ग्रन्थमें उपलब्ध नहीं।

शां० गृ० (३।१२।५) में प्रथमाष्टका के अन्त में अर्पणीय स्विष्टकृत् आहुति के साथ निम्नलिखित मन्त्र के उच्चारण का विधान किया गया है :—

यस्यां वैवस्वतो यमः सर्वे देवाः समाहिताः ।
अष्टका सर्वतोमुखी सा मे कामानतीतृपत् ।
आहुस्ते ग्रावाणो दन्तानूधः पवमानः ।
मासाश्चार्धमासाश्च नमस्ते सुमनामुखि स्वाहा ।। [१०८१]

जिसमें विवस्वान् (सूर्य) का पुत्र यम तथा सभी देव समाहित हैं, उस सर्वतोमुखी अष्टका ने मेरी कामनाएँ तृप्त की हैं। पत्थरों को तुम्हारे दाँत कहते हैं, पवमान (सोम) तुम्हारा ऊध है। (और उससे) मास और पक्ष (उत्पन्न हुए हैं)। हे प्रसन्नचित्त-मुख वाली तुम्हें नमस्कार है ।।

सम्भव है कि यह मन्त्र किसी ऐसी संहिता में से उद्धृत हो जो अब अनुपलब्ध है। इस मन्त्र में काव्यात्मक ढंग से अष्टका को सारे काल की नियन्त्रक शक्ति बताया गया है। सूर्यपुत्र यम स्वयं यहाँ काल का द्योतक प्रतीत होता है।

द्वितीयाष्टका

यह अष्टका मांसाष्टका के रूप में विख्यात है। गो० गृ० और खा० गृ० में विधान है कि प्रातःसन्ध्या के ठीक पूर्व आलम्भनीय गौ को अग्नि के पूर्व में स्थापित करके निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए आज्याहुति अर्पित की जानी चाहिए[1] :—

यत्पशवः प्रध्यायत मनसा हृदयेन च ।
वाचा सहस्रपाशया मयि बध्नामि वो मनः ।। [१०८२]

हे पशुओ, जो तुम अपने मन और बुद्धि से (अपने मरण का) चिन्तन करते हो, तुम्हारे उस चिन्तायुक्त मन को मैं अपरिमित बन्धन वाली (मन्त्र-रूप) वाणी से अपने में बाँधता हूँ ।। सा०

यह मन्त्र अन्यत्र अनुपलब्ध है। सम्भवतया यह शुद्ध गृह्य परम्परा का मन्त्र है।

इन्हीं गृह्यसूत्रों के अनुसार निम्नलिखित मन्त्र द्वारा आलम्भनीय गौ का अभिमन्त्रण किया जाना चाहिये[2] :—

---

१. गो० गृ० ३।१०।१७ (मं० ब्रा २।२।५), खा० गृ० ३।४।२।
२. गो० गृ० ३।१०।१८ (मं० ब्रा० २।२।६), खा० गृ० ३।४।३।

अनु त्वा माता मन्यतामनु पिताऽनु भ्राताऽनु सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्यः ॥[१०८३]

हे गौ, तुम्हारे माता, पिता, भ्राता, सहोदर तथा समान समूह वाला तुम्हारा मित्र तुम्हें यज्ञ में प्रयुक्त होने की अनुमति प्रदान करें ॥

यह मन्त्र सभी यजुर्वेद-संहिताओं में अनेक बार आया है।[1] यह मन्त्र ब्राह्मण और श्रौत साहित्य में ही गौ के साथ सम्बद्ध हो चुका था। श०ब्रा० और का०श्रौ० में लगभग गृह्यसूत्रों के समान ही इसका विनियोग यज्ञ-धेनु को यूप से बाँधकर उसका जलाभिषेक करने के निमित्त किया गया है।[2] इन्हीं ग्रन्थों में अन्यत्र भी सोमयाग के अन्तर्गत इस मन्त्र द्वारा सोमक्रयणी गौ का अभिमन्त्रण करने का विधान है।[3] यहाँ भी गौ के साथ इसका सम्बन्ध ध्यान देने योग्य है। तै०ब्रा० और आ०श्रौ० में इसका उल्लेख होता द्वारा उच्चारित अध्रिगु प्रैष के रूप में किया गया है।[4] यहाँ भी गौ के साथ ही इसका सम्बन्ध है। यास्क के मतानुसार भी गौ के साथ सम्बद्ध होने के कारण ही अध्रिगु मन्त्र होता है।[5] ऐ०ब्रा० (२।६।१२) में पुनः इसका विनियोग पशुयाग में आलम्भन करने हेतु पशु के अधिग्रहण के अवसर पर किया गया है।

कुछेक गृह्यसूत्रों के अनुसार इस अष्टका के अवसर पर अरण्य में कक्ष (काष्ठ-विशेष) जलाते समय अधोलिखित वाक्य का पाठ करना चाहिये[6] :—

एषा मे अष्टका ॥[१०८४] यह मेरी अष्टका है।

कुछ अन्य गृह्यसूत्रों में निर्देश है कि आलम्भन से पूर्व गौ का स्पर्श करते हुए यजमान को निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए उपाकरणीयाहुति अर्पित करनी चाहिये[7] :—

इमां पितृभ्यो गामुपाकरोमि तां मे समेताः पितरो जुषन्ताम् ॥ मेदस्वतीं घृतवतीं स्वधावतीं सा मे पितॄन् साम्पराये धिनोतु ॥ स्वधा नमः ॥ [१०८५]

---

१. वा०सं० ४।२०; ६।९, तै०सं० १।२।४।२; ६।१।७।७, मै०सं० १।२।४,१५; ३।७।६; ९।६, का०सं० २।५; ३।५; १६।२१; २४।३; २६।८।
२. श०ब्रा० ३।७।४।५, का०श्रौ० ६।३।३०।
३. श०ब्रा० ३।२।४।२०, का०श्रौ० ७।६।१५।
४. तै०ब्रा० ३।६।६।१, आ०श्रौ० ३।३।१।
५. नि० ५।२।११—अध्रिगुर्मन्त्रो भवति गव्यधिकृतत्वात्।
६. शां०गृ० ३।१४।५, आ०गृ० २।४।१०, गो०गृ० ४।१।२१
७. हि०गृ० २।१५।२, भा०गृ० २।१६, आग्नि०गृ० ३।२।५।

मैं पितरों के लिये इस वायुयुक्त, घृतयुक्त, और स्वधायुक्त गौ का स्पर्श करता हूं। मेरी इस गौ को पितर संयुक्त रूप में स्वीकार करें। वह गौ मेरे पितरों को परलोक में (आनन्दार्थ) प्रेरित करे॥ स्वधा नमस्कार॥

मन्त्र का उपरिलिखित पाठ हि०गृ० में से उद्धृत है। भा०गृ० में **उपाकरोमि** के स्थान पर उपाकरोति पाठ है और उसके पश्चात् **ऊर्जस्वतीं पयस्वतीम्** जोड़ा गया है तथा **समेता:** और **जुषन्ताम्** का क्रम-विपर्यय हो गया है। इस प्रकार भा०गृ० में पूर्ण त्रिष्टुभ् छन्द विकृत हो गया है। और निस्सन्देह यजमान के मुख से **उपाकरोमि** (हि०गृ०)ही उचित है। उत्तरार्ध में प्रथम तीन शब्द द्वितीयान्त के स्थान पर प्रथमान्त दिये गये हैं और **साम्पराये** के स्थान पर **साम्परायै** पाठ है। इस प्रकार इनका अन्वय **सा** के साथ किया जा सकता है, अन्यथा इनका सम्बन्ध **पितरः** (पूर्वार्ध) से होता है। परन्तु कुल मिलाकर पाठान्तरोंसे भी इस मन्त्रके अर्थमें अन्तर नहीं होता। आग्नि०गृ० में पूर्वार्ध का पाठ लगभग भा०गृ० के समान है। आग्नि०गृ० में **पयस्वतीम्, ताम्** और **समेता:** के स्थान पर क्रमशः **स्वधावतीम्, तत्** और **परेता:** पाठ हैं। उत्तरार्ध में प्रथम तीन शब्दों का नितान्त अभाव है तथा शेष हि०गृ० के समान है। भा०गृ० का **साम्परायै** भ्रष्ट पाठ प्रतीत होता है। अन्यत्र अनुपलब्ध होने के कारण यह गृह्यपरम्परा का मन्त्र प्रतीत होता है।

इस आहुति के पश्चात् हि० गृ० और आग्नि० गृ० में विधान है कि गौ का स्पर्श करते हुए निम्नलिखित वाक्य का उच्चारण किया जाना चाहिये :—

पितृभ्यस्त्वा जुष्टामुपाकरोमि॥ [१०८६]

पितरों को समर्पित तुम्हारा मैं स्पर्श करता हूँ।

आ०गृ० में भी इसका विनियोग गौ के स्पर्श के लिये किया गया है, किन्तु उसके अनुसार यह क्रिया उपर्युक्त आहुति से पूर्व की जानी चाहियें। यह वाक्य भी गृह्य-परम्परा का प्रतीत होता है।

कुछ गृह्यसूत्रों में निर्देश है कि निम्नलिखित वाक्य का उच्चारण करते हुए इस गौ का जलाभिषेक भी किया जाना चाहिये[1] :—

पितृभ्यस्त्वा जुष्टां प्रोक्षामि॥ [१०८७]

पितरों को समर्पित तुम पर जल छिड़कता हूँ।

वस्तुत: **उपाकरोमि** के स्थान पर **प्रोक्षामि** सहित यह पूर्वोक्त वाक्य ही है। गो०गृ० ३।१०।१६ और खा०गृ० ३।४।४ में भी इस क्रिया के लिये ऐसे ही वाक्य का

१. बौ०गृ० २।११।७,८, हि०गृ० २।१५।३, भा०गृ० २।१६, आग्नि०गृ० ३।२।१,५।

विनियोग किया गया है। वहाँ पितृभ्यः के स्थान पर अष्टकायै पाठ है।

गो०गृ० ३।१०।२० में विधान है कि गौ के चारों ओर एक जलती हुई लकड़ी घुमाते हुए निम्नलिखित मन्त्र का पाठ किया जाना चाहिये :—

परि वाजपतिः कविरग्निर्हव्यान्यक्रमीत्। दधद् रत्नानि दाशुषे ॥ [१०८८]

अन्नपति, क्रान्तदर्शी, अग्नि दानशील व्यक्ति को सम्पत्ति प्रदान करते हुए आहुतियों की परिक्रमा कर रहा है।

यह मन्त्र अथर्व० को छोड़कर अन्य सभी संहिताओं में विद्यमान है।[1] न तो यह गृह्यसूत्र में सकलपाठेन उद्धृत है और न ही यह मं०ब्रा० में दिया गया है। सम्भवतया इसका कारण यह है कि अन्य संहिताओं के साथ-साथ यह गो० गृ० की संहिता सामवेद में भी विद्यमान है।

लगभग गृह्यसूत्र के समान ही तै० ब्रा० ३।६।४।१ और आप० श्रौ० १६।६।७ में भी जलती हुई लकड़ी द्वारा किसी पदार्थ की प्रदक्षिणा करने के लिये इसका विनियोग किया गया है। श०ब्रा०, का०श्रौ० और आप०श्रौ० के विनियोगों में भी परिक्रमा का भाव विद्यमान प्रतीत होता है क्योंकि तदनुसार वेदीचयन के अवसर पर उखा (अग्नि-पात्र) बनाने के लिए खोदी जाने वाली मिट्टी के चारों ओर रेखाएँ खींचते हुए इसका उच्चारण किया जाना चाहिये।[2] इन सभी गृह्य और श्रौत विनियोगों में मन्त्र के 'परि...अक्रमीत्' शब्द का भाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है, यद्यपि मन्त्र में केवल अग्नि द्वारा परिक्रमा की बात कही गई है।

इसके पश्चात् गौ को जल दिये जाने पर और उसके द्वारा उसे पी लिये जाने पर गो०गृ० ३।१०।२२ के मतानुसार अवशिष्ट जल को पशु के नीचे प्रवाहित करते हुए अधोलिखित वाक्य (मं०ब्रा० २।२।७) का उच्चारण किया जाना चाहिये :—

आत्तं देवेभ्यो हविः [१०८९]

देवताओं के लिये आहुति ग्रहण कर ली गई।

ओल्डनबर्ग ने इसका अनुवाद "आहुति देवताओं से दूर ले ली गई" किया है। किन्तु भारतीय भाष्यकारों के समान देवेभ्यः को चतुर्थ्यन्त मानते हुए 'हे पशु तुमने देवताओं के लिये आहुति ग्रहण करली है' अर्थ करना अधिक उचित प्रतीत होता

---

१. ऋ० ४।१५।३, साम० १।३०, वा० सं० ११।२५, तै० सं० ४।१।२।५, मै० सं० १।१।९; ४।१३।४, का०सं० १६।२।२१; १९।३; ३७।१२।

२. श०ब्रा० ६।३।३।२५, का०श्रौ० १६।२।२३, आप०श्रौ० १६।३।१।

है।[1] परन्तु सायण ने मथा को आत्तम् का कर्त्ता मानते हुए निम्नलिखित व्याख्या की है: —यतस्त्वदीयमङ्गं देवेभ्यो देवार्थमात्तं स्वीकृतं मया। केवलभक्षणार्थहिंसाभावाद्देवतार्थमुपयुक्तत्वात्। ततः सर्वेऽप्यनुमतिं कुर्वन्त्वित्यभिप्रायः ॥ (क्योंकि मेरे द्वारा तुम्हारा शरीर देवताओं के लिये स्वीकार किया गया है, अतः केवल भक्षणार्थ हिंसा के अभाव से देवताओं के लिये उपयुक्त होने के कारण सभी अनुमति प्रदान करें।)

वपाहुति

प्रायः सभी गृह्यसूत्रों में वपा की आहुति के निमित्त निम्नलिखित मन्त्र (वा०सं० ३०।२०) का विनियोग किया गया है :[2]—

वह वपां जातवेदः पितृभ्यो यत्रैतान् वेत्थ निहितान् पराके।
मेदसः कुल्या उप तान् स्रवन्तु सत्या एषामाशिषः सन्नमन्ताम् ॥ [१०९०]

हे जातवेदा अग्नि, परलोक में जहाँ तुम इन पितरों को स्थिति जानते हो, वहाँ इनके लिये वपा का वहन करो। उनके पास चर्बी की धाराएँ प्रवाहों, (फलस्वरूप) इनके सत्य आशीर्वाद हमारे पास पहुंचें।

पा०गृ० और का०गृ० में यह मन्त्र प्रतीकेन उद्धृत है और सम्भवतया वा०सं० का उपर्युक्त पाठ ही निर्दिष्ट है। अन्य गृह्यसूत्रों में कुछ पाठान्तर हैं। आगामी विवेचन से यह स्पष्ट होगा कि यजुर्वेदीय गृह्यसूत्रों में न्यूनतम पाठान्तर हैं। हि०गृ० और आग्नि०गृ० में पूर्वार्ध उपरिलिखित मन्त्र के पूर्वार्ध के समान है। उत्तरार्ध में **स्रवन्तु** तथा **सन्नमन्ताम्** के स्थान पर क्रमशः **क्षरन्तु** और **सन्तु कामैः** पाठ है। मं०पा० और भा०गृ० में भी ये ही पाठान्तर हैं, केवल पूर्वार्ध में **एतान्** के स्थान पर **एनान्** पाठ है। किन्तु मा०गृ० की परम्परा इन सबसे भिन्न है। पूर्वार्ध में तो यह वा०सं० के एकसम है। उत्तरार्ध में **मेदसः** के आगे **घृतस्य** जोड़ा गया है, **उप ताः** के स्थान पर **अभिनिः** पाठ है तथा चतुर्थ पाद **सत्याः सन्तु यजमानस्य कामाः** है। शां०गृ० में भी इस पाद का यही पाठ है, किन्तु तृतीय पाद वा०सं० के एकसम है, और पूर्वार्ध में **एतान्** तथा **निहितान् पराके** के स्थान पर क्रमशः **एनान्** और **सुकृतस्य लोके** पाठ हैं। आ०गृ० में भी **एनान्** तो है किन्तु **निहितान्** के स्थान पर **निहिताः** है और उत्तरार्ध में **तान्**, **एषाम्** तथा **सन्नमन्ताम्** के स्थान पर क्रमशः **एनान्**, **एताः** और **सन्तु सर्वाः**

---

१. गुणविष्णु :—हे पशो आत्तं गृहीतं त्वया देवेभ्यो देवार्थं हविर्भक्ष्यमिति ॥

२. शां०गृ० ३।१३।३, आ०गृ० २।४।१३, पा०गृ० ३।३।९, मा०गृ० २।९।४, का०गृ० ६२।२, आप०गृ० ८।२२।४ (मं०पा० २।२०।२८), हि०गृ० २।१५।७, भा०गृ० २।१६, आग्नि०गृ० ३।२।५।

पाठ हैं। भा०गृ० और आग्नि०गृ० में आवश्यक परिवर्तन-सहित इस मन्त्र का विनियोग अपूपाष्टका और शाकाष्टका में भी किया गया है। तदनुसार भा०गृ० (२।१५) में प्रथमाष्टका के अवसर पर **वपाम्** और **मेदसः** को क्रमशः **अपूपम्** और **अपूपस्य** में परिवर्तित किया गया है। आग्नि०गृ० (३।१।२) में इन दोनों शब्दों के स्थान पर क्रमशः **आज्यम्** और **आज्यस्य** रखे गये हैं। शाकाष्टका के प्रसङ्ग में इन दोनों गृह्यसूत्रों (भा०गृ० २।१७, आग्नि०गृ० ३।२।७) में इन शब्दों के स्थान पर क्रमशः **अन्नम्** और **अन्नस्य** दिये गये हैं। गो०गृ० और खा०गृ० में पिण्डपितृयज्ञ में पाठान्तर सहित इस मन्त्र का विनियोग किया गया है।[1] पूर्वार्ध में मं०ब्रा० में **पराके** के स्थान पर **पराचः** तथा उत्तरार्ध में **उप** और **सन्नमन्ताम्** के स्थान पर क्रमशः **अभि** और **सन्तु कामात्** पाठ हैं। कुछेक गृह्यसूत्रों में इसका विनियोग मासिक श्राद्ध की आहुतियों में से एक के लिये किया गया है (दे०मं०सं० ८०७)। यह मन्त्र वा०सं० के अतिरिक्त किसी अन्य प्राग्-गृह्यसूत्र ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होता।

कुछ कृष्णयजुर्वेदीय गृह्यसूत्रों में घृतमिश्रित ओदन और मांस के अवदानों की आहुतियों के लिये निम्नलिखित दो मन्त्रों का विनियोग किया गया है[2] :—

एकाष्टकां पश्यत दोहमानामन्नं मांसवद्घृतवत्स्वधावत्।
तद् ब्राह्मणैरतिपूतमन्नं तमक्षितं तन्मे अस्तु स्वधा नमः॥ [१०९१]
एकाष्टका तपसा तप्यमाना संवत्सरस्य पत्नी दुदुहे प्रपीना।
तं दोहमुपजीवाथ पितरः संविदानाः स्विष्टोऽयं सुहुतो ममास्तु॥

मांसयुक्त, घृतयुक्त, और स्वधायुक्त अन्न को उत्पन्न करती हुई एकाष्टका को देखो। ब्राह्मणों के द्वारा अत्यधिक पवित्रित वह अन्न मेरे लिये क्षीण न हो, स्वधा नमस्कार॥ तपस्या से तृप्त होती हुई संवत्सर की स्थूल पत्नी एकाष्टका ने दुग्ध दिया है। परस्पर-समन्वित पितर उस दुग्ध का उपभोग करते हैं। यह (दुग्ध) मेरे लिये शोभन यज्ञ तथा शोभन आहुति रूप हो जाये॥

मन्त्रों का उपरिलिखित पाठ हि०गृ० में से उद्धृत है। इन मन्त्रों के पूर्वार्ध सभी गृह्यसूत्रों में समान हैं। मं०पा० में प्रथम मन्त्र के उत्तरार्ध में **अतिपूतम्** के पश्चात् **अनन्तमक्षय्यममुष्मिंल्लोके स्फीतिं गच्छतु मे पितृभ्यः स्वाहा** पाठ है। परन्तु इस पाठ से छन्दोभङ्ग हो गया है और उत्तरार्ध गद्य-वाक्य के रूप में परिणत हो गया है।

१. गो०गृ० ४।४।२२ (मं०ब्रा० २।१३।१८), खा०गृ० ३।४।२६।
२. आप०गृ० ८।२२।५ (मं०पा० २।२०।३३,३५), हि०गृ० २।१५।९, भा०गृ० २।१७, आग्नि०गृ० ३।२।६।

द्वितीय मन्त्र का उत्तरार्ध मं०पा० में **पितर:** तक तो उपरिलिखित मन्त्र के समान है, परन्तु उसके पश्चात् **सहस्रधारमक्षितिं अमुष्मिंल्लोके स्वाहा** पाठ है। भा०गृ० में प्रथम मन्त्र का उत्तरार्ध **अक्षय्यम्** तक मं०पा० के एकसम है, और उसके पश्चात् **मे अस्तु स्वधा नम: पितृभ्य:** पाठ है। द्वितीय मन्त्र का चतुर्थ पाद इसमें **सहस्रधा मुच्यमानां पुरस्तात् स्वधा नम: पितृभ्य: स्वाहा** है। आग्नि०गृ० में प्रथम मन्त्र का उत्तरार्ध मं०पा० के अनुरूप है—केवल **मे पितृभ्य:** के स्थान पर **कामै: स्वधा नम:** पाठ है। इसी प्रकार द्वितीय मन्त्र का उत्तरार्ध इसमें भा०गृ० के अनुरूप है—केवल **पुरस्तात्** के स्थान पर **कामै:** पाठ है और **पितृभ्य:** का अभाव है।

द्वितीय मन्त्र का प्रथम पाद एक अन्य मन्त्र के प्रथम पाद के एकसम है (दे०मं०सं० १०७१)। ये दोनों मन्त्र अन्यत्र उपलब्ध नहीं हैं।

का०गृ० (६२।५) में निर्देश है कि एक स्थालीपाक की और एक गौ की मांसपेशियों की आहुति अर्पित करने के लिये वा०सं १६।४५,४६ का उच्चारण किया जाना चाहिये। इन दोनों मन्त्रों का विस्तृत विवेचन एकादश अध्याय में सपिण्डीकरण में किया जा चुका है। (दे०मं०सं० ७७६,७८०)

आ०गृ० (२।४।१४) के अनुसार **अग्ने नय सुपथा** इत्यादि तथा **अग्ने त्वं पारया** इत्यादि (ऋ० १।१८९।१-२) का उच्चारण स्थालीपाक तथा मांस की प्रथम दो आहुतियों के साथ किया जाना चाहिये। इन मन्त्रों का विवेचन पहले भी किया जा चुका है (दे०मं०सं० ९२९-९३०)। प्रथम मन्त्र प्रसिद्धतम मन्त्रों में से एक है क्योंकि यह समस्त वैदिक वाङ्मय में विद्यमान है।[1] तै०सं०१।१।१४।३-४ और मै०सं०४।१४।३ में ये दोनों मन्त्र साथ-साथ आते हैं। तै०ब्रा० (२।८।२।३,५) के अनुसार प्रथम मन्त्र का उच्चारण मह्ला गौ की वपा की आहुति की पुरोनुवाक्या के रूप में, और द्वितीय का ब्रह्मवर्चस की कामना वाले के द्वारा हवि अर्पित करने के लिये किया जाना चाहिये। शां०श्रौ० (५।५।२) में इन दोनों का विनियोग सोमयाग के अंगरूप प्रायणीय इष्टि अर्पित करने के लिये किया गया है। तै०ब्रा० का विनियोग इन मन्त्रों के गृह्यविनियोग के समानान्तर है क्योंकि दोनों में पशु का आलभन अन्तर्निहित है।

स्थालीपाक और मांस की ही अन्तिम आहुति के लिये आ०गृ० (२।४।१४) में **प्रजापते न त्वदेतानि** इत्यादि (ऋ० १०।१२१) का विनियोग किया गया है। इस मन्त्र का अधिकांश विवेचन भी पहले किया जा चुका है (दे०मं०सं० २३ और ३९२ तथा ३९३ के मध्य)। हि०गृ०, भा०गृ० और आग्नि०गृ० के अनुसार इसका उच्चारण विभिन्न अष्टकाओं के अन्त में अर्पणीय आहुतियों में से एक के साथ किया

---

१. दे०वै०कॉन्०, पृ० २४-२५।

जाना चाहिये।[1] कौशिक० (५।६) में इसका विनियोग दर्शपौर्णमासयाग की आहुतियों में से एक के लिये किया गया है। किन्तु आ०गृ० के इसके विनियोग की तुलना शां०श्रौ० (४।१८।४) के विनियोग से की जा सकती है क्योंकि वहाँ शूलगव के अन्तर्गत पशु की वपा के अधिश्रपण तथा जल द्वारा उसके अभिषेकके पश्चात् आज्याहुतियों में से एक के साथ इसके उच्चारण का विधान है।

हि०गृ० २।१५।३ और भा०गृ० २।१५ के अनुसार निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए अष्टका के अन्त में एक अन्य आहुति देनी चाहिये :—

त्वमग्ने अयास्ययासन् मनसा हितः।
अयासन् हव्यमूहिषेऽया नो धेहि भेषजम्॥ [१०९२]

हे अग्नि, तुम गमनशील हो (और इसीलिये) बिना प्रयास के भी तुम मन के द्वारा (हमारे लिये) हितकर हो। गमनशील तुम आहुति वहन करते हो; हे गमनशील हमें भेषज प्रदान करो॥

अधिकांश गृह्यसूत्रों में पाकयज्ञों की प्रकृतिभूत आज्याहुतियों में से एक के साथ इसके उच्चारण का विधान है।[2] कौ०गृ० और पा०गृ० में इस मन्त्र का निम्नलिखित पाठ प्राप्त होता है:—

अयाश्चाग्नेऽस्यनभिशस्तिपाश्च सत्यमित्त्वमयासि।
अया नो यज्ञं वहास्यया नो धेहि भेषजम्॥

हे अग्नि, तुम गमनशील हो और आक्रामक के अरक्षक हो, सत्य ही तुम गमनशील हो। गमनशील तुम हमारे यज्ञ (आहुतियों) का वहन करते हो। हे गमनशील, तुम हमें भेषज प्रदान करो॥

का०गृ०में इन दोनों पाठों का मिश्रण हो गया है—पूर्वार्ध तो पा०गृ०के समान है और उत्तरार्ध अन्य गृह्यसूत्रों के समान। पूर्वार्ध में **अनभिशस्तिपाः** के स्थान पर **अनभिशस्तिः** पाठ है तथा अन्त में **अयाः** और **असि** का सन्धि-विच्छेद कर दिया गया है। उत्तरार्ध में आद्य **अयासन्** से पूर्व **अयासा मनसा कृतः** जोड़ा गया है।

यह मन्त्र मै०सं० १।४।३ और का०सं० ३४।१९ में विद्यमान है। ब्राह्मण

१. हि०गृ० २।१५।१३ भा०गृ० २।१५,१७, आग्नि०गृ० ३।२।२,६,७।

२. कौ०गृ० १ ५।२९, पा०गृ० १।२।८, आप०गृ० २।५।२ (मं०पा० १।४।१६), का०गृ० ४७।१४, मा०गृ० २।२।२३, वा०गृ० १।३०, हि०गृ० १।३।६, आग्नि०गृ० २।७।२।

और श्रौत साहित्य में इसका सुविस्तृत विनियोग हुआ है। वहाँ यज्ञसम्बन्धी विभिन्न त्रुटियों के प्रायश्चित्तार्थ अर्पित आहुतियों में से एक के साथ इसके उच्चारण का विधान है।[1] इसके गृह्यविनियोग में भी यही भावना विद्यमान है।

शां०गृ० ३।१४।२ और कौ०गृ० ३।१५।६ में विधान है कि अन्तिम अष्टका में एक अपूपाहुति अर्पित करते हुए निम्नलिखित मन्त्र बोलना चाहिये :—

उक्थ्यश्चातिरात्रश्च सद्यस्क्रीश्छन्दसा सह।
अपूपकृदष्टके नमस्ते सुमनामुखि स्वाहा ॥ [१०९३]

(यह कर्म) उक्थ्य और अतिरात्र तथा छन्द सहित सद्यस्क्री है। हे अपूपनिर्मात्रि, शोभनचित्त मुख वाली अष्टके, तुम्हें नमस्कार, स्वाहा ॥

आप०गृ० ८।२२।६ (मं०पा० २।२१।१) में भी अन्तिम अष्टका के अन्त में दुग्ध में पकाये गये पिष्ट अन्न की आहुति अर्पित करने के लिये इसका विनियोग किया गया है। मं०पा० में **च** और **अतिरात्रः** के मध्य **असि** का समावेश है तथा **सद्यस्क्रीः** के स्थान पर **साद्यस्क्रीः** पाठ है। इसमें उत्तरार्ध का पाठ **अपूपघृताहुते नमस्ते अस्तु मांसपिप्पले स्वाहा** है।

तै०ब्रा० (३।१०।१।४) में उक्थ्य और अतिरात्र का उल्लेख दो विशिष्ट यज्ञों के रूप में किया गया है। इस मन्त्र के द्वितीय पाद की तुलना अथर्व० ११।७।८,१० के द्वितीय पाद से की जा सकती है।

आप०गृ० ८।२२।७ (मं०पा० २।२१।२-९) के निर्देशानुसार उपर्युक्त आहुति के पश्चात् निम्नलिखित आठ मन्त्रों का उच्चारण करते हुए आठ आज्याहुतियाँ अर्पित की जानी चाहियें :—

भूः पृथिव्यग्निनर्चामुं मयि कामं नियुनज्मि स्वाहा ॥
भुवो वायुनान्तरिक्षेण साम्नामुं मयि............॥
स्वर्दिवादित्येन यजुषामुं मयि...............॥
जनदद्भिरथर्वाङ्गिरोभिरमुं मयि.........॥
रोचनायाजिरायाग्नये देवजातवे स्वाहा ॥
केतवे मनवे ब्रह्मणे देवजातवे स्वाहा ॥
स्वधा स्वाहा ॥ [१०९४-११००]
अग्नये कव्यवाहनाय स्वधा स्वाहा ॥

---

१. तै०ब्रा० ३।७।११।३; १२।६, तै०आ० २।३।१;४।१;४।२०।३, शां०श्रौ० ३।१९।३, आ०श्रौ० १।११।१३, का०श्रौ० २५।१।११, आप०श्रौ० ३।११।२; ९।१२।४।

भूमि ! पृथ्वी, अग्नि, ऋचा के द्वारा इस कामना को अपने आपमें स्थापित करता हूँ ।। अन्तरिक्ष ! वायु, अन्तरिक्ष, साम के द्वारा···।। आकाश ! आकाश, आदित्य, यजु के द्वारा···।। उत्पादक जल, अथर्वाङ्गिराओं के द्वारा···।। दीप्तिमान्, पुराने न होने वाले, देवताओं के जन्मरूप अग्नि को यह आहुति समर्पित है ।। केतु (सब मानवों के चिह्न), मनु, देवताओं के जन्मरूप ब्रह्म को···।। स्वधा, यह आहुति समर्पित है ।। कव्यवाहन अग्नि को स्वधा, यह आहुति समर्पित है ।।

प्रथम चार मन्त्र परस्पर समान हैं और एक ही मन्त्र के रूपान्तर प्रतीत होते हैं। पञ्चम और षष्ठ मन्त्रों में भी यही विशेषता है। गो०गृ० और खा०गृ० के अनुसार अन्वष्टक्यकर्म के अन्त में हविर्भागों की आहुतियों के साथ अन्तिम मन्त्र तथा एक अन्य मन्त्र (स्वाहा सोमाय पितृमते) का उच्चारण किया जाना चाहिये।[1] इस अन्तिम मन्त्र का विनियोग हि०गृ० २।१५।१० और भा०गृ० २।१७ द्वारा अष्टकाकर्म के अन्त में स्विष्टकृत् आहुति के लिये भी किया गया है। तदनुसार **कव्यवाहनाय** शब्द के आगे **स्विष्टकृते** भी जोड़ा जाना चाहिये। कुछ गृह्यसूत्रों में श्राद्धकर्म में भी इसका विनियोग किया गया है। इसका विस्तृत विवेचन किया जा चुका है। (दे०मं०सं० ८०६)। **स्वाहा सोमाय पितृमते** मन्त्र का विनियोग भी कुछेक गृह्यसूत्रों द्वारा श्राद्ध में किया गया है।[2]

मा०गृ० (२।८।७,८) में प्रत्येक अष्टका के अन्त में स्विष्टकृत् आहुति के साथ **इडामग्ने पुरुदंसम्** इत्यादि मन्त्र के उच्चारण का विधान है। शां०श्रौ० (५।१६।६) में इसका विनियोग मा०गृ० के विनियोग के समानान्तर है क्योंकि वहाँ पशुयाग में स्विष्टकृत् आहुति की पुरोनुवाक्या के रूप में इसका उल्लेख हुआ है। इस मन्त्र का विस्तृत विवेचन चतुर्थ अध्याय में किया जा चुका है। (दे०मं०सं० २४३)

अन्वष्टक्य

गो०गृ० ४।२।३३ और खा०गृ० ३।५।१६ में विधान है कि निमन्त्रित ब्राह्मणों को साधारण जल प्रदान कर, यजमान को उन्हें तिलोदक प्रदान करते हुए निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये :—

असावेतत्ते तिलोदकं ये चात्र त्वामनु यांश्च त्वमनु तस्मै ते स्वधा ॥ [११०१]

हे अमुक, यह तिलोदक आपके लिये है तथा यहाँ जो आपके अनु-

---

१. गो०गृ० ४।३।३६ (मं०ब्रा० २।३।१,२), खा०गृ० ३।५।१२।
२. हि०गृ० २।१०।७, जै०गृ० २।१, मा०गृ० २।६।१३।

गामी हैं, और जिनके आप अनुगामी हैं (उनके लिये है), उस प्रकार के आपको स्वधा।

असौ के स्थान पर उसे अपने पिता का नमोच्चारण करना चाहिये। यह मन्त्र गृह्यपरम्परा से ही आया प्रतीत होता है।

गो०गृ० (४।२।२६) में विधान है कि जब वह आहुतियाँ अर्पित करने लगे तो उसे निम्नलिखित वाक्य द्वारा ब्राह्मणों को सम्बोधित करना चाहिये :—

अग्नौ करिष्यामि ॥ [११०२]

अग्नि में (अर्पित) करूंगा।

मा०श्रौ० (११।९।१।६) में भी दोनों शब्दों के मध्य **करणम्** सहित इस वाक्य का विनियोग श्राद्धकल्प में आहुतियाँ अर्पित करने के हेतु ब्राह्मणों की अनुज्ञा प्राप्त करने के लिये किया गया है।

इस प्रसङ्ग में यह ध्यान देने योग्य है कि अष्टका के अनेक मन्त्र श्राद्धमन्त्रों के बहुत समान हैं। इसीलिये का०गृ० (६६।१-२) में कहा गया है कि अष्टका के द्वारा ही श्राद्ध के नियमों की व्याख्या हो जाती है। अष्टका में विनियुक्त मन्त्रों का ही एकवचन में यहाँ ऊह किया जाना चाहिये।[1] इस मन्त्रसाम्य का कारण प्रकटरूप में यह है कि दोनों में पूर्णतया अथवा आंशिकरूप से पितर ही उपासना के विषय हैं।

का० गृ० (६५।६,७) में कर्षुओं (नालियों) में दूध भरकर उसे पितरों को अर्पित करते हुए निम्नलिखित वाक्य के उच्चारण का विधान है :—

ये चात्र रसाः स्युरेतद् भवद्भ्यः। तृप्यन्तु भवन्तः ॥ [११०३]

जो भी रस यहाँ हों, वह आपको (अर्पित हैं), आप तृप्त हो जायें।

स्त्रियों को अर्पण करते समय **भवद्भ्यः** और **भवन्तः** के स्थान पर क्रमशः **भवतीभ्यः** और **भवत्यः** प्रयोग किया जाना चाहिये। यह मन्त्र भी गृह्यपरम्परागत ही प्रतीत होता है।

---

१. अथ प्रथमश्राद्धस्याष्टकया धर्मो व्याख्यातः। एकवन्मन्त्रानूहेत् ॥

मन्त्रानुक्रमणिका

(मन्त्रों के आगे पुस्तक में विवेचित मन्त्रों की क्रम-संख्या है। विवेचन-स्थल पर क्रम-संख्या मन्त्र के अन्त में बड़े कोष्ठक [ ] में दी है।)

ह

सहायक-ग्रन्थ

अरविन्द···वेदरहस्य, प्रथम खण्ड, पांडीचेरी, १९४८।

अल्तेकर, ए. एस.···एजुकेशन इन एन्शेंट इण्डिया, वाराणसी, १९४८।

,, ···दी पोजीशन ऑफ विमॅन इन हिन्दू ग्रिविलाइज़ेशन, वाराणसी, १९३८।

आप्टे, वी. एम.···नॉन ऋग्वैदिक मन्त्रज़ रुब्रिकेटड इन दी आश्वलायन गृह्यसूत्र : सोर्सेज़ एंड इंटरप्रिटेशन, न्यू इंडियन एंटिक्वेरी, खं० ३, अंक २-७ में से पुनर्मुद्रित।

,, ऋग्वैदिक मन्त्रज़ इन देयर रिचुअल सैट्टिंग इन दी गृह्यसूत्रज़, (विद स्पेशल रेफरेंस टू दी आ०गृ०), बुलेटिन ऑफ दी डेकन कॉलेज रिसर्च इंस्टीच्यूट के खं० १, पृ० १४-४४, १२७-१५२ में से पुनर्मुद्रित।

,, सोशल एण्ड रिलिजस लाइफ़ इन दी गृह्यसूत्रज़, बम्बई, १९५४।

आयंगर, पी. टी. एस.—लाइफ़ इन एन्शेंट इंडिया, मद्रास, १९१२।

ओल्डनबर्ग, हर्मन···सेक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट, खं २९-३०, ऑक्सफोर्ड, १८९२।

,, ···दी रिलिजन देस वेद, बर्लिन, १८९४।

कीथ, ए. बी.—दी रिलिजन एंड फ़िलॉसॉफ़ी आफ़ दी वेद एण्ड दी उपनिषदुस्, कैम्ब्रिज, मैसाचुसेट्स, १९२५।

कैलेंड विलेम···आल्तिदिशेस आह्नन्कल्ट, लेडन, १८९३।

,, ···दी आल्तिदिशेन् तॉद्तेन उन्त् बेस्तात्तुंग्स्गेब्रारखे, आम्सटर्डम, १८९६।

,, ···उबर दास रिचुअॅल्ले सूत्र देस बौधायन, लीप्त्ज़िग, १९०३।

गङ्गानाथ झा···पूर्वमीमांसा इन इट्स् सोर्सेज़, वाराणसी, १९४२।

डुबोई, ए. जे. ए.···हिन्दू मैनर्ज़, कस्टम्स एंड सेरेमनीज़, ऑक्सफोर्ड, १९०६।

त्रिपाठी, जी. एम.···मैरिज फॉर्म्स अंडर एन्शेंट हिन्दू लॉ, बम्बई, १९०६।

दयानन्द सरस्वती···संस्कारविधि, वाराणसी, वि०सं० २०२३।

दास, ए. सी.···ऋग्वैदिक कल्चर, कलकत्ता, १९२५।

दास.एस. के.···दी एजुकेशनल सिस्टम ऑफ दी एन्शेंट हिन्दूज़, कलकत्ता १९३०।

देशपांडे कमलाबाई···दी चाइल्ड इन एन्शेंट इंडिया, पूना, १९३६।

पिल्ले, पी. के. नारायण···नॉन-ऋग्वैदिक मन्त्रज़ इन दी मैरिज सेरेमनीज़, त्रिवेन्द्रम्, १९५८।

पिशल, आर. और गेल्डनर···वेदिशें स्टूडिअॅन, स्टुट्गार्ट, १८८९-१९०१।

प्रियरत्न आर्ष···यमपितृपरिचय, दिल्ली, वि०सं० १९९०।

फ़े्य् ई. डब्लू···दी ऋग्वेद मन्त्रज़ इन दी गृह्यसूत्रज़, रोम्रनोक, १८९९।

बैनर्जी, जी.···दो हिन्दू लॉ ऑफ मैरिज एंड स्त्रीधन, कलकत्ता, १९२३।

बैरो, आर. एच.···दी रोमन्ज़ ।

ब्लॉख़, टीएच.···उबर दास गृह्यउन्त् धर्मसूत्र दॅर वैखानस, लीप्ज़िग, १८९६ ।

ब्लूमफ़ील्ड, मॉरिस···दी अथर्ववेद एंड दी गोपथब्राह्मण, स्ट्रास्स्बर्ग, १८९९ ।

,, ···दी रिलिजन ऑफ दी वेद, न्यूयॉर्क, १९०८ ।

,, ···ऋग्वेद रेपिटिशन्स, हार्वर्ड ओ. सिरीज़, खं० २०-२४ ।

,, ए वैदिक कॉन्कॉर्डेंस, द्वितीय संस्करण, दिल्ली, १९६४ ।

,, एड्गर्टन, एफ़. और एमेनाऊ, एम. बी···वैदिक वेरिएंट्स् ।

भगवद्दत्त···वैदिक वाङ्मय का इतिहास. प्रथम भाग, लाहौर, १९३५ ।

मजुमदार, आर. सी.···वैदिक एज, लन्दन, १९५१ ।

मैक्डॉनल, ए. ए.···ए हिस्टरी ऑफ़ संस्कृत लिटरेचर, लन्दन, १९०० ।

,, ···वैदिक माइथॉलॉजी, स्ट्रास्स्बर्ग, १८९७ ।

,, ···वैदिक ग्रामर फ़ॉर स्टूडेंट्स, लन्दन, १९५३ ।

,, और कीथ, ए. बी.···वैदिक इंडेक्स, दो खंड, लन्दन, १९१२ ।

मैक्सम्युलर...हिस्टरी ऑफ़ एन्शेंट संस्कृत लिटरेचर, इलाहाबाद, १९२६ ।

युधिष्ठर मीमांसक...वैदिकछन्दोमीमांसा, अमृतसर, १९५९ ।

रघुनन्दन शर्मा...वैदिक सम्पत्ति, बम्बई, वि०सं० २०१६ ।

राजबली पाण्डेय...हिन्दू संस्कारज़, वाराणसी, १९४९ ।

राधाकृष्णन्, सर्वपल्ली...दी हिन्दू व्यू ऑफ़ लाइफ़ लन्दन, १९२७ ।

राम गोपाल...इंडिया ऑफ़ वैदिक कल्पसूत्रज़, दिल्ली, १९५९ ।

राम गोपाल...वैदिक व्याकरण, दिल्ली, १९६७,६९ ।

लछमीधर...आर्यन सेक्रामेंट्स्, दिल्ली, १९३८ ।

लेले, बी.सी....सम आथर्वनिक पोर्शन्स् इन दी गृह्यसूत्रज़, बॉन, १९२७ ।

विन्तरनित्स, एम....ए हिस्टरी ऑफ़ इंडियन लिटरेचर, खं. १, कलकत्ता, १९२७ ।

विन्तरनित्स, एम....दास अल्तिंदिशॅ हॉख़्त्ज़ाइत्‌रित्तुअल—नख़ देम आपस्तम्बीय गृह्यसूत्र उन्त् आइनिगॅन आंदेरॅन फ़ेरवांदेतॅन वॅर्कॅन, विअॅन्ना, १८९२ ।

विलियम्स, मोनियर...हिन्दुइज़्म ।

विश्वबन्धु...वैदिकपदानुक्रमकोश, होशियारपुर ।

वेबर, ए....इंडिशॅ स्टूडियन, खं० १-१५ ।

वेस्टरमार्क, ई०...हिस्टरी ऑफ़ ह्यूमन मैरिज, खं० १-३, लन्दन, १९२१ ।

वैद्य, सी० वी०...हिस्टरी ऑफ़ संस्कृत लिटरेचर (वैदिक), पूना, १९३० ।

वोगल, जे० पीएच०...इंडियन सर्पेंट लोर, लन्दन, १९२६ ।

शास्त्री, ए० चिन्नस्वामी...यज्ञतत्त्वप्रकाश, मद्रास, १९५३।
श्वाब, आर०...दास आल्तिदिशँ तीअर्-ऑप्फ़र, अॅरलांगॅन, १८८६।
हॉग, मार्टिन...ऐतरेय ब्राह्मण (अंग्रेज़ी अनुवाद), इलाहाबाद, १९२२।
हिल्लॅब्रांट, ए०...रिचुअल् लितरातुर, वेदिशॅ ऑप्फ़ुर उन्त् त्सॉबॅर, स्ट्रास्स्बर्ग, १८९७
,, दास आल्तिदिशॅ नॉय् उन्त् फ़ॉल्लमॉन्दुस् ऑप्फ़र, येना, १८७९।
इंडियन एंटिक्वेरी।
इंडियन कल्चर, कलकत्ता।
इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, कलकत्ता।
एनाल्स ऑफ़ दी भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना।
एनाल्स ऑफ़ दी वेंकटेश्वर ओरिएंटल इंस्टीट्यूट, तिरुपति।
जर्नल ऑफ़ दी अमेरिकन ओरिएंटल सोसाइटी।
जर्नल ऑफ़ दी एशियाटिक सोसाइटी ऑफ़ बंगाल, कलकत्ता।
जर्नल ऑफ़ ओरिएंटल रिसर्च, मद्रास।
जर्नल ऑफ़ बनारस हिन्दु यूनिवर्सिटी, वाराणसी।
जर्नल ऑफ़ दी बॉम्बे ब्रांच ऑफ़ दी रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, बम्बई।
जर्नल ऑफ़ दी बॉम्बे हिस्टोरिकल सोसाइटी, बम्बई।
जर्नल ऑफ़ दी रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ़ ग्रेट ब्रिटेन एंड आयरलेंड, लन्दन।
जर्नल ऑफ़ वैदिक स्टडीज़, लाहौर।
न्यू इंडियन एंटिक्वेरी।
पूना ओरिएंटलिस्ट, पूना।
प्रोसीडिंग्ज़ ऑफ़ दी ऑल इंडिया ओरिएंटल कॉन्फ़रेंसज़।
विश्वेश्वरानन्द इंडॉलॉजिकल जर्नल, होशियारपुर।